मुद्रा तथा बैंकिंग

(MONEY AND BANKING)

[अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विदेशी विनिमय तथा राजस्व सहित]

लेखक

आर० सी० गुप्ता | ए० के० सिंह

व्यावहारिक अर्थशास्त्र एवं वित्त विभाग,

राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर

प्रकाशक .
बी. एम. माहेश्वरी
रमेश बुक डिपो,
जयपुर

: तेरह रुपये पचास पैसे

मुद्रक ·
झूलेलाल प्रिन्टर्स,
जयपुर

दो शब्द

राष्ट्रभाषा हिन्दी मे उपलब्ध अर्थशास्त्र विषयक उच्चस्तरीय पुस्तको मे ाखिल सामग्री तथा नीरस आकडो के सकलन पर तो विशेष ध्यान दिया गया है रन्तु इनमे विषय के मौलिक सिद्धान्तो की सम्यक व्याख्या का अभाव है। यह पुस्तक स अभाव की पूर्ति की दिशा मे एक विनम्र प्रयास है।

वर्तमान युग मे मौद्रिक व्यवस्था आर्थिक तन्त्र की महत्वपूर्ण कडी है। मौद्रिक ाबन्ध तथा नियन्त्रण के द्वारा समस्त आर्थिक क्रियायें सचालित एव प्रभावित होती है। पूँजी आर्थिक तन्त्र का जीवन रक्त है, जो बैंको मे एकत्रित होती है। बैंक हृदय की भाति उस रक्त को तन्त्र की धमनियो मे प्रवाहित कर उसे जीवन प्रदान करते हैं। ऐसे गुरुत्तर विषय का गहन अध्ययन तथा मनन किसी भी विकासशील राष्ट्र के लिए परमावश्यक है। वित्तीय विश्लेषण समझने मे कठिन तथा अध्ययन मे अरुचिकर प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत पुस्तक ऐसे जटिल विषय को सरस, सरल तथा बोधगम्य बनाने की दिशा म एक प्रयास है। इसमे लब्धप्रतिष्ठ अर्थशास्त्रियो के विचारो को सरल एव ग्राह्य शैली मे विभिन्न सिद्धान्तो क विश्लेषणार्थ, प्रयुक्त किया गया है। पुस्तक मे भारतीय बैंकिंग के विभिन्न क्षेत्रो की नवीनतम गतिविधियो, प्रगति तथा आँकडो का भी समावेश है। बैंको के सामाजिक नियन्त्रण तथा राष्ट्रीयकरण के प्रश्न, व्यापारिक बैंको की वर्तमान समस्याये तथा उनके समाधान और बैंकिग आयोग तथा उनके समक्ष विचारणीय प्रश्नो का विवेचन किया गया है।

पुस्तक सात भागो मे विभाजित है—प्रथम भाग मे मुद्रा, द्वितीय भाग मे साख तथा अधिकोषण, तृतीय भाग मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विदेशी विनिमय चतुर्थ भाग मे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सस्थायें, पचम भाग मे भारतीय मुद्रा का इतिहास षष्टम भाग मे भारतीय बैंक-व्यवस्था तथा सप्तम भाग म सार्वजनिक वित्त का विवेचन किया गया है।

हम विभिन्न सदर्भ ग्रन्थो के रचयिताओ के आभारी हैं, जिनकी रचनाये इस पुस्तक के निर्माण मे प्रेरक सिद्ध हुई हैं।

हमे आशा ही नही पूर्ण विश्वास है कि हमारा यह प्रयास छात्रो के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। आशा है कि प्राध्यापक बन्धु इस पुस्तक का उचित मूल्यांकन करेंगे। उनके सुझाव इसके भावी परिमार्जन मे अत्यधिक सहायक सिद्ध होगे।

हम अपने प्रकाशक के आभारी है जिन्होने अत्यल्प समय मे पुस्तक का सुन्दर ढग से प्रकाशन किया। हम पुस्तक के मुद्रक, अखिल भारतीय मुद्रणालय के भी आभारी हैं, जिन्होने वडी लगन के साथ समय पर पुस्तक का मुद्रण किया।

लेखक द्वय

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ संख्या

भाग १

मुद्रा

भाग २

साख तथा अधिकोपण

भाग ३

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विदेशी विनिमय

भाग ४
अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थायें

भाग ५
भारतीय मुद्रा का इतिहास

भाग ६
भारतीय बैंक व्यवस्था

भाग १
Part One

"No complaint, however, is more common than that of a scarcity of money. Money, like wine, must always be scarce with those who have neither wherewithal to buy it, nor credit to borrow it."

Adam Smith

मुद्रा
(Money)

1

मुद्रा का विकास
(Evolution of Money)

"The longer history of money has shown an almost unbroken evolution from common place, concrete and simple forms to the representative, incorporeal and abstract"

F.D Graham
C. R. Whittlesey

वस्तु विनिमय का युग :

मुद्रा का विकास मानव समाज के विकास से सम्बद्ध है। मनुष्य जब आत्म-निर्भर अवस्था मे था तो उसे मुद्रा की आवश्यकता नही थी। अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुए वह स्वय उत्पादित करता था एव उनके उपभोग से सतुष्टि प्राप्त करता था। जनसख्या बढने तथा सामाजिक सरचना मे परिवर्तन होने के कारण मनुष्य की आवश्यकताओ मे भी वृद्धि हुई। उत्पादन के क्षेत्र मे श्रम विभाजन एव विशिष्टीकरण का सूत्रपात हुआ तथा मनुष्य को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए वस्तुओ के लेन-देन की आवश्यकता अनुभव हुई। वस्तु विनिमय का युग शुरू हुआ।

वस्तु विनिमय के अन्तर्गत अपेक्षाकृत निरर्थक वस्तु के बदले अपेक्षाकृत आवश्यक वस्तु प्राप्त की जाती है। जेवन्स ने तो सम्पूर्ण विनिमय क्रिया को इसी रूप मे परिभाषित किया है, उनके अनुसार— "Exchange is the barter of the comparatively superfluous with the comparatively necessary." वस्तु विनिमय युग मे मनुष्य वस्तु विशेष का उत्पादन करता था और उसी के द्वारा अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुए प्राप्त करता था। उस समय लेन-देन बडे-छोटे पैमाने पर किया जाता था क्योकि मनुष्य यथासम्भव आत्मनिर्भर रहने का प्रयत्न करता था। वस्तु विनिमय के लिए कुछ ही वस्तुए उपलब्ध होती थी और वह भी थोडी मात्रा मे।

वस्तु विनिमय क्रिया के प्रारम्भ होने से लोगो को अधिक आवश्यकताओ को पूरा करने का अवसर मिलने लगा। उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि हुई क्योकि अब उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र मे विशेष रूप से कुशल व्यक्तियो द्वारा ही उत्पादन होने लगा। व्यक्ति को अपनी रुचि एव कुशलता के अनुसार कार्य करने एव दक्षता दिखाने का अवसर मिला। साथ ही उपभोग की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए

परस्पर निर्भरता बढी और सहयोग एव एकता का युग प्रारम्भ हुआ। अब दूसरो के सहयोग के बिना आवश्यकताओ को पूरा करना कठिन होने लगा।

इस प्रकार विशिष्टीकरण ने वस्तु विनिमय को जन्म दिया और वस्तु विनिमय ने विशिष्टीकरण के क्षेत्र को विस्तृत एव विकसित किया। परन्तु जहा एक तरफ विशिष्टीकरण ने वस्तु विनिमय को जन्म दिया वहां दूसरी तरफ उसके विकास ने वस्तु विनिमय मे कठिनाइयां भी उत्पन्न की। वस्तु विनिमय की अनेक कठिनाइयो मे निम्नलिखित उल्लेखनीय है :—

1 **पारस्परिक मागों की अनुरूपता सम्बन्धी कठिनाई** (Lack of double Coincidence of wants) – वस्तु विनिमय उसी समय सम्भव हो सकता है जब दो पक्ष परस्पर एक दूसरे की वस्तु को इच्छित परिमाण मे लेने–देने के लिए तैयार हो। दूसरे शब्दो मे वस्तु विनिमय के लिए दो पक्षो की मागो मे अनुरूपता होना आवश्यक है। परन्तु इस प्रकार की अनुरूपता व्यवहार मे पाना कठिन है। छोटे एव पिछडे समाज मे मांगो की ऐसी अनुरूपता सहज रूप मे प्राप्त हो सकती है परन्तु बडे एव जटिल समाज मे ऐसी अनुरूपता प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

2 **मूल्यांकन सम्बन्धी कठिनाई** (Lack of a Common measure of Value)—वस्तु विनिमय की दूसरी महत्वपूर्ण कठिनाई विनिमय की जाने वाली वस्तुओ के मूल्याकन की है। दो पक्षों द्वारा आदान–प्रदान की जाने वाली वस्तुओ का मूल्याकन करने का सर्वमान्य साधन नही होता। प्रत्येक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु कितनी मात्रा मे दी जायगी यह लेन-देन करने वाले पक्षो की एक–दूसरे की वस्तु सम्बन्धी आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर करता है। प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग वस्तुओ और व्यक्तियो के सन्दर्भ म अलग-अलग मूल्य होता है। इस प्रकार सर्वमान्य मूल्य मापक के अभाव मे होने वाली कठिनाइयो का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

3 **विभाजन सम्बन्धी कठिनाई** (Lack of a means of Sub-division)–वस्तु विनिमय की तीसरी कठिनाई असमान मूल्य या महत्व की वस्तुओ के लेन-देन के सम्बन्ध मे उपस्थित होती है। अनेक वस्तुए ऐसी होती है जिनके टुकडे नही किये जा सकते या टुकडे करने पर उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए घडी या पशुओ के बदले छोटी या कम महत्व की वस्तु प्राप्त करना हो तो वस्तु विनिमय असम्भव हो जायगा।

4. **सामान्य क्रय शक्ति के सचय की कठिनाई** (Lack of a Store of Value)—वस्तु विनिमय की अवस्था मे मूल्य सचय का सामान्य साधन नही होता। वस्तुओ के रूप मे ही क्रय शक्ति का भी सचय किया जा सकता है। परन्तु वस्तुओ के रूप मे क्रय शक्ति सचित करने का दोष यह है कि वस्तुओ के मूल्य मे उतार–चढाव

हुआ करता है। इसके लिए सचित करने की कठिनाई भी होती है। वस्तुओ के खराब होने का भी भय रहता है। इसके अतिरिक्त आवश्यकता के समय शीघ्रता से उसके बदले आवश्यक वस्तु प्राप्त करना भी कठिन होता है।

5 भावी भुगतान के आधार की कठिनाई (Lack of a Standard for deferred payments)—भावी भुगतान सम्बन्धी प्रसविदा विनिमय-प्रधान अर्थ-व्यवस्था की प्रमुख विशेषता है। मजदूरी, ब्याज और किराए इत्यादि सम्बन्धी प्रसविदाए इसी प्रकार की श्रेणी मे आती हैं। वस्तु विनिमय के युग मे जिस किसी वस्तु को ऐसी प्रसविदाओ का आधार बनाया जाता था, भविष्य मे उसकी पूर्ति परिवर्तित हो जाने के कारण उसके मूल्य और गुण सम्बन्धी विवाद पैदा हो जाना साधारण बात थी।

आधुनिक युग में वस्तु विनिमय का स्थान
(Place of barter in the Present age)

उपरोक्त कठिनाइयो के कारण वस्तु विनिमय प्रणाली आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। अनन्त आवश्यकताओ वाले जटिल औद्योगिक समाज मे जिन असख्य आर्थिक निर्णयो की आवश्यकता पडती है उनको मूल्य के आधार पर ही किया जाता है। इतने बडे पैमाने पर निर्णय करना अथवा लेन-देन करना बिना किसी सर्वमान्य मूल्याकन प्रणाली के असम्भव है। आधुनिक अर्थ-व्यवस्था का रूप समाजवादी हो अथवा पूजीवादी, सभी आर्थिक निर्णय मौद्रिक आधार पर किए जाते है। मुद्रा के अभाव मे आधुनिक उत्पादन प्रणाली एव व्यापार, तथा श्रम विभाजन एव विशिष्टीकरण इतना विस्तृत एव जटिल नही हो पाता। भावी भुगतान के साधन के अभाव मे उधार लेन-देन जो आधुनिक व्यापार की धुरी है, का अन्त हो जाता, व्यवसाय की सार्थकता एव सफलता अथवा हानि लाभ का अनुमान मुद्रा के अभाव मे कठिन होता और पूजी निर्माण की कल्पना केवल कल्पना रह जाती क्योकि वस्तु विनिमय प्रणाली मे मूल्य सचय अत्यन्त कठिन है। स्पष्टत आधुनिक अर्थ-व्यवस्था मे वस्तु विनिमय कोई महत्व नही रखता। अर्थ व्यवस्था के पिछडे हुए क्षेत्रो मे अभी भी इसका सीमित प्रचलन है परन्तु वह भी वस्तु विनिमय का प्रारम्भिक एव मौलिक रूप नही है वरन् उसका सुधरा हुआ रूप है क्योकि मूल्याकन के रूप मे मुद्रा की सहायता वहा भी ली जाती है। इस प्रकार के सौदो की सख्या आधुनिक युग मे नगण्य सी है। वस्तुत आज की प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था मौद्रिक अर्थ व्यवस्था है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे होने वाले द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतो को भी कुछ लोग वस्तु विनिमय का रूप मानते हैं परन्तु यह भ्रम मात्र है क्योकि ऐसे समझौतो मे भी मूल्याकन का आधार मुद्रा ही होती है।

पत्र मुद्रा के प्रयोग को भी सीमित कर दिया है और स्वयं मुद्रा का स्थान ग्रहण करते जा रहे हैं।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संकेत

(1) वस्तु विनिमय मे अनुभव की जाने वाली असुविधाओ की व्याख्या कीजिए तथा प्रदर्शित कीजिए कि मुद्रा चलन द्वारा ये कैसे दूर होती हैं ?

(राजस्थान, टी० डी० सी० फाइनल 1966)

[सकेत—प्रथम भाग मे वस्तु विनिमय की असुविधाओ जैसे पारस्परिक मांगो की अनुरूपता सम्बन्धी कठिनाई, मूल्याकन सम्बन्धी कठिनाई इत्यादि का वर्णन कीजिए। दूसरे भाग मे यह बताइये कि मुद्रा के चलन से वे कठिनाइया किस प्रकार दूर हुई हैं।]

(2) मुद्रा के विकास पर एक सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

[सकेत—मुद्रा के विकास के क्रमिक इतिहास पर प्रकाश डालिए।]

2

मुद्रा की परिभाषा, कार्य तथा महत्व
(Definition, Functions and Importance of Money)

"We must neither underestimate nor overestimate the influence of money and monetary policy on the functioning of an economic system."

Lester V. Chandler

मुद्रा क्या है ? (What is Money) :

मौद्रिक समस्याओ और मौद्रिक व्यवस्था की सम्यक व्याख्या करने के लिए "मुद्रा क्या है" यह जानना आवश्यक है। मुद्रा की परिभाषा विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न प्रकार से दी है। कुछ लोग मुद्रा के कार्यों को अपनी परिभाषा का आधार मानते है और उन पर विशेष जोर देते है, कुछ लोग मुद्रा की सामान्य स्वीकृति की विशेषता को परिभाषा मे प्रमुख स्थान देते है एव कुछ लोग मुद्रा के वैधानिक या सरकारी पक्ष पर अधिक जोर देते हैं। यहाँ हम मुद्रा की उचित परिभाषा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

यह सर्वविदित है कि मुद्रा का प्रयोग विनिमय के माध्यम के रूप मे किया जाता है तथा सामान्यतया इसी मे मूल्यो का निर्धारण भी किया जाता है। अतएव कोई वस्तु मुद्रा है या नही इसका निर्णय प्रो. एल व्ही चैण्डलर के अनुसार निम्न-लिखित कसौटियो पर किया जाना चाहिए—

1. क्या वह वस्तु सामान्यतया भुगतान के साधन के रूप मे प्रयोग की जाती है ?

2. क्या वह वस्तु सेवाओ और वस्तुओ के बदले सामान्य रूप से स्वीकार की जाती है ? कोई भी वस्तु जो इन शर्तों को पूरा करती है उसे मुद्रा कहा जायगा।

भुगतान के साधन के रूप मे सर्वस्वीकार्यता का गुण वैधानिकता और प्रयोग मे सुविधा एव आदत के कारण उत्पन्न हो सकता है। परन्तु वास्तव मे विनिमय या भुगतान के माध्यम के रूप मे सामान्यतया सभी लोग सहर्ष उसी वस्तु को स्वीकार करेंगे जिसमे लोगो का विश्वास हो। यदि किसी वस्तु मे लोगो का विश्वास नही है तो सरकार द्वारा कानूनी मुद्रा घोषित किए जाने पर भी उसमे सामान्य स्वीकृति के

गुण का अभाव होगा और वह वस्तु मुद्रा के रूप मे चलन मे नही रह सकती। जर्मनी मे प्रथम महायुद्ध के बाद जब अत्यधिक मुद्रा प्रसार हुआ तो वहाँ के लोगो ने वहा की वैधानिक मुद्रा मार्क को विनिमय एव भुगतान के माध्यम के रूप मे स्वीकार करना बन्द कर दिया। इसलिए स्पष्ट है कि मुद्रा के लिए सरकारी घोषणा या कानूनी रूप प्रदान करना केवल सर्वस्वीकार्यता को सहज बना सकता है, सर्वस्वीकार्यता को जन्म नही देता। सर्वस्वीकार्यता तो विश्वास से ही आ सकती है। अत: मुद्रा ऐसी वस्तु होनी चाहिए जो बिना किसी सकोच के विनिमय एव भुगतान मे सहर्ष स्वीकार की जाय। *जो लोग मुद्रा के राज्य सिद्धात के पोषक हैं उनमे नैप (Knapp)* का नाम प्रमुख है इनके अनुसार कोई भी वस्तु जो राज्य द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाय वह मुद्रा है। परन्तु केवल राज्य की घोषणा सामान्य स्वीकृति पैदा नही कर सकती यह बात जर्मनी के उदाहरण से स्पष्ट है।

मुद्रा का प्रयोग मूल्य मापक के रूप मे भी किया जाता है। व्यवहार मे एक ही वस्तु का मूल्य मापक और विनिमय का माध्यम होना आवश्यक नही है। यदि मूल्य मापक कोई अन्य वस्तु हो तो भी विनिमय किया जा सकता है लेकिन ऐसी परिस्थिति मे यह आवश्यक है कि मूल्य मापक वस्तु और विनिमय के माध्यम मे एक निश्चित सम्बन्ध हो। उदाहरण के लिए यदि किसी वस्तु का मूल्य माप डालर मे किया जाय तो भारत मे उसका विनिमय हो सकता है क्योकि डालर और रुपए का सम्बन्ध ज्ञात है। यह अवश्य है कि यदि मूल्य मापक और विनिमय का माध्यम एक ही वस्तु है तो अधिक सुविधा होगी। अत: स्पष्ट है कि मुद्रा होने के लिए किसी वस्तु का मूल्य मापक भी होना आवश्यक नही है। श्री बेनहम ने अपनी पुस्तक "अर्थशास्त्र" (Economics) मे इस बात का समर्थन करते हुए लिखा है कि यद्यपि विनिमय के माध्यम और लेखा की इकाई मे साधारणतया अन्तर नही होता फिर भी यदि दोनो के अनुपात को बनाये रखा जाय तो विनिमय का माध्यम और मूल्य मापक अलग-अलग वस्तुए हो सकती हैं।

उपरोक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट है कि मुद्रा की प्रकृति के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बाते महत्वपूर्ण हैं।

1. वस्तुओ और सेवाओ का अतिम भुगतान करने की क्षमता होना।
2. *हस्तान्तरण की योग्यता होना।*
3. मूल्यो और ऋणो को व्यक्त करने का साधन होना।

मुद्रा को उपरोक्त ढग से परिभाषित करने वाले कुछ अर्थशास्त्रियो को उद्धृत कराना असंगत नही होगा :—

1. "Money can be defined as a claim which is generally acceptable in settlement of debts". —A. C L. Day.

2 Money.... is that by delivery of which debt contracts and price contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held." —Keynes

3. "Money.. is any thing which is widely acceptable in discharge of obligations" —Robertson

4 "Money includes all those things which are (at any given time or place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities or services and of defraying expenses" —Marshall

5. "Money consists of those things which, within a Society, are of general acceptability" —Ely

6 'Money is some thing that is widely accepted for the settlement of debts." —Sayers

7. "Money is some thing that is readily and generally accepted by the public in payment for the sale of goods, services and other valuable assets and for the payment of debts" —R. G Thomas

उपरोक्त परिभाषाओ मे शब्दो और कुछ हद तक विचारो मे भी भिन्नता पाई जाती है। परन्तु सभी परिभाषाए मुद्रा मे सर्वस्वीकार्यता का गुण होना आवश्यक मानती हैं।

परिभाषाओ का एक अन्य समूह भी है जिसमे मुद्रा के कार्यों पर अधिक जोर दिया गया है।[1] इसमे कोई सन्देह नही कि मुद्रा की सभी परिभाषाए प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मुद्रा के कार्यों को ध्यान मे रखकर ही लिखी गई है परन्तु परिभाषा को वैज्ञानिक और पूर्ण बनाने के लिए उसके कार्यों का उल्लेख करना ही पर्याप्त नही होता। परिभाषा तभी पूर्ण और वैज्ञानिक कही जा सकती है जब मुद्रा की प्रमुख विशेषताओ और गुणो का बोध परिभाषा पढने मात्र से हो सके। इसलिए ट्रेस्काट कोलबोर्न और नोगारो आदि की परिभाषाए पूर्ण और वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती।[2] वास्तव मे ये परिभाषाए केवल मुद्रा के कार्यों का उल्लेख करती हैं।

---

[1] "Money is one of those concepts which . . .... are definable primarily by the use or purpose which they serve". —R G Hawtrey.

[2] 1. "Whatever serves as money is money..." —Trescott

2. "Money may be defined as the means of valuation and of payment" —Coulborn

3. Money is a commodity which serves as an intermediary in exchanges and as a common measure of value —Nogaro

4 The word money has been used to designate the medium of exchange as well as the standard of value" —Halm

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कुछ परिभाषाए सकुचित हैं, कुछ परिभाषाए विस्तृत हैं और कुछ मध्यमार्गी हैं और उचित हैं। कुछ लोग मुद्रा की वैधानिकता को अनिवार्य बतलाते हैं परन्तु वास्तव मे वैधानिकता केवल सर्वस्वीकार्यता को सहज बना देती है इसलिए अनिवार्यता सर्वस्वीकार्यता की ही है, हालाकि व्यवहार मे सामान्यतया सरकार द्वारा घोषित वस्तु ही मुद्रा के रूप मे सर्वस्वीकार्य होती है। अत कोई भी वस्तु जिसमे सर्वस्वीकार्यता का गुण और अन्तिम भुगतान की शक्ति है वह मुद्रा है।

क्या विनिमय पत्र, प्रतिज्ञा पत्र और चेक मुद्रा हैं ?

(Are bills of exchange, Promisory notes and Cheques money ?)

प्राय सभी देशो मे सरकार द्वारा घोषित मुद्रा (सिक्के तथा नोट) के अतिरिक्त विनिमय पत्र, प्रतिज्ञा पत्र और चेको आदि का प्रयोग विनिमय के साधन के रूप मे किया जाता है। प्रश्न यह है कि क्या इन सबको मुद्रा की सज्ञा दी जा सकती है ? कोई भी वस्तु मुद्रा तभी कही जा सकती है जब उसमे (1) सामान्य स्वीकृति तथा (2) अन्तिम भुगतान की शक्ति दोनो ही हो।

बिल और प्रतिज्ञा पत्र उपरोक्त कसौटी पर खरे नही उतरते क्योकि सभी लोग इन्हे स्वीकार नही करते और जिन देशो मे या स्थानो पर इन्हे लोग स्वीकार भी करते हैं वहाँ भी ये केवल सामयिक भुगतान ही करते हैं अन्तिम भुगतान किसी अन्य वस्तु या मुद्रा द्वारा ही किया जाता है।

चेक की स्थिति बिल और प्रतिज्ञा पत्र से कुछ भिन्न है। अत्यधिक विकसित देशो मे चेक को सामान्य स्वीकृति प्राप्त है और यह अन्तिम भुगतान करने मे भी समर्थ हैं क्योकि चेक बैंक जमा का प्रमाण है। चेक द्वारा बैंक जमा का हस्तान्तरण किया जाता है। यदि किसी चेक के पीछे बैंक जमा न हो तो उसे सर्वस्वीकार्यता नही प्राप्त हो सकती इसलिए चेक उसी हद तक मुद्रा का रूप ग्रहणकर सकता है जिस हद तक वह बैंक जमा का समानार्थी है। वास्तव मे बैंक जमा ही मुद्रा का रूप लेती है। चेक केवल बैंक जमा के हस्तान्तरण का आदेश मात्र है। जो देश अभी आर्थिक दृष्टि से विकसित नही हैं वहाँ चेको का प्रयोग केवल सीमित क्षेत्र मे ही होता है अत ऐसे देशो के सदर्भ मे चेक या बैंक जमा को मुद्रा की सज्ञा देना उचित नही है क्योकि इसमे मुद्रा की प्रमुख विशेषता सामान्य स्वीकृति (General acceptability) का अभाव है। इस विवरण से यह भी स्पष्ट है कि कोई वस्तु मुद्रा है या नही यह एक विशेष सदर्भ और समय पर निर्भर करता है। एक ही वस्तु सदैव के लिए और सर्वत्र मुद्रा नही कही जा सकती।

मुद्रा के ही समान (Near Money) :

कुछ तरल सम्पत्तियो मे सामान्य स्वीकृति का गुण न होने पर भी कई अर्थशास्त्री उन्हे मुद्रा के समान ही मानते हैं। इसका कारण यह है कि तरल सम्पत्ति मे मुद्रा की अनेक विशेषताए पाई जाती हैं। सरकारी बाण्ड या प्रतिभूतिया यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से भुगतान के काम नही ली जाती और उन्हे प्रत्यक्ष रूप से मुद्रा की सज्ञा नही दी जाती लेकिन इस तथ्य से कोई इन्कार नही कर सकता कि इन्हे इच्छानुसार तुरन्त मुद्रा मे परिवर्तित किया जा सकता है और हमारी खर्च की आदतो पर इनका भी वैसे ही प्रभाव पडता है जैसा बैंक जमा का। उसी प्रकार समय जमा (Time Deposit) तथा बचत खाता भी लगभग वही प्रभाव रखते है जैसा मुद्रा या माग जमा (Demand Deposit) रखती है। इसलिए अर्थशास्त्री इन्हे "लगभग मुद्रा" (Near money) की सज्ञा देते है।

मुद्रा के कार्य (Functions of Money)

सामाजिक अर्थ व्यवस्था सदैव से ही मौद्रिक अर्थ व्यवस्था रही है और सम्भवत सदैव ही रहेगी। परिवर्तनशील जगत मे मुद्रा की निरतरता इस बात को सहज ही स्पष्ट कर देती है कि सामाजिक अर्थ व्यवस्था मे उसके कार्य कितने महत्वपूर्ण है। श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण तथा विनिमय पर आधारित अर्थ व्यवस्था मुद्रा के विना कार्य नही कर सकती। जैसे जैसे किसी समाज का आर्थिक, औद्योगिक एव व्यापारिक विकास होता है वैसे-वैसे मुद्रा के कार्य भी बढते जाते हैं। लेस्टर व्हो चेण्डलर का कथन है कि वस्तुओ और सेवाओ के विनिमय को सुविधाजनक बनाना ही मुद्रा का मौलिक कार्य है। मुद्रा जो अन्य कार्य करती है वे सब इसी पर आधारित हैं। इस श्रेणी के सभी कार्य मुद्रा के निष्क्रिय या टेक्निकल कार्य कहे जाते हैं। परन्तु अर्थ व्यवस्था की बढती हुई जटिलता ने मुद्रा के अन्य महत्वपूर्ण कार्यों को प्रकाश मे लाया है जिन्हे सक्रिय या प्रवैगिक (Dynamic) कार्य कहा गया है। हम मुद्रा के कार्यों की व्याख्या निम्नलिखित वर्गों मे करेंगे —

1 निष्क्रिय या स्थितिक कार्य (Passive or Static functions)

2. मुद्रा और कीमत निर्धारण क्रिया (Money and the Price Mechanism)

3 सक्रिय या प्रवैगिक कार्य (Active or Dynamic functions)

1 निष्क्रिय या स्थितिक कार्य :

अ. प्रधान कार्य (Primary Functions)

ब गोण काय (Secondary Functions)

अ प्रधान कार्य— i–विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange)

ii–मूल्य का माप (Measure of Value)

ब. गौण कार्य— i–मूल्य-संचय का साधन (Store of Value)
ii–भावी भुगतान का आधार (Standard of deferred payments)

विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange) :

मुद्रा अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे इसी कार्य के लिए प्रयुक्त हुई थी। मुद्रा को सामान्य क्रय शक्ति (Generalised purchasing power) कहा जाता है। इसके बदले मे कोई भी वस्तु या सेवा प्राप्त की जा सकती है क्योकि इसमे सर्वस्वीकार्यता का गुण विद्यमान है। केवल क्रय-विक्रय के माध्यम के रूप मे ही नही वरन् सभी प्रकार के भुगतानो के (कर, दान, दण्ड आदि) माध्यम के रूप मे भी इसे ही प्रयोग किया जाता है। मुद्रा के इस कार्य ने, वस्तु विनिमय मे जिस शक्ति और समय का अपव्यय होता था उससे हमे बचा लिया है। आज किसी भी व्यक्ति के सामने किसी अन्य ऐसे व्यक्ति को तलाश करने की आवश्यकता नही है जिसके पास उसकी इच्छित वस्तु है और वह उसके बदले मे प्रथम व्यक्ति की वस्तु लेने को तैयार है। अब किसी भी वस्तु के बदले मुद्रा प्राप्त की जा सकती है और फिर मुद्रा से अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए मुद्रा को "इच्छा वाहक" (Bearer of option) कहा गया है। इससे इस बात का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा के प्रयोग ने चुनाव (Choice) की कितनी स्वतन्त्रता प्रदान की है। मुद्रा के इस कार्य ने विनिमय के क्षेत्र को इतना व्यापक बनाया है और उत्पादन तथा श्रम विभाजन की जटिलताओ को आसान बनाकर आर्थिक विकास को गतिमान बनाया है। इस कार्य ने कीमत निर्धारण की प्रणाली को (Price mechanism) पूर्णता प्रदान की है तथा श्रमिक की उत्पादकता को बढाया है।

मूल्य का माप (Measure of Value) :

मुद्रा के प्रधान कार्यो मे मूल्य-माप का कार्य भी है। यद्यपि मूल्य माप एक विषयगत चीज है और उसे परिमाण (Quantity) मे व्यक्त नही कर सकते[1], अनेक वस्तुओ का तुलनात्मक मूल्य मुद्रा के माध्यम से ही ज्ञात किया जाता है। कोलवोर्न के अनुसार मूल्य-माप का कार्य सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओ मे सवप्रधान है। विनिमय की प्रथम आवश्यकता वस्तु या सेवा का मूल्य माप करना ही है। मूल्य की अभिव्यक्ति के बिना विनिमय क्रिया सीमित मात्रा मे ही सम्भव हो सकती है। मूल्य माप की क्रिया ने लेखा कार्य (Accounting) को भी आसान कर दिया है क्योकि

---

1 "The most that any one can say of the value of things is that he assesses the value of one thing more highly than that of another, but he cannot say that the value of any thing is any measurable quantity." —J. L. Hanson

इसी के आधार पर लाभ या हानि का अनुमान लगाया जा सकता है। जिस प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्रों मे मापदण्डो का प्रयोग करना आवश्यक होता है उसी प्रकार वस्तुओ और सेवाओ का मूल्य (Price) जानने के लिए मुद्रा की आवश्यकता होती है। वस्तु विनिमय काल मे सवमान्य मूल्य का माप न होने के कारण यह जानना कठिन था कि अमुक वस्तु के बदले मे अमुक वस्तु कितनी मात्रा मे दी जाय और इस कारण विनिमय मे एक पक्ष प्राय अनुचित परिमाण मे हानि उठाता था। मूल्य माप मुद्रा मे सम्भव होने के कारण विनिमय सतोषप्रद ढग से होता है। परन्तु इस सम्बन्ध मे सबसे बडी कठिनाई यह है कि मापदण्डो (मीटर, किलो आदि) की भाति मुद्रा सदैव एक निश्चित माप दण्ड नही है क्योकि मुद्रा का मूल्य स्वय परिवर्तित होता रहता है। अत सन्तोषजनक मूल्य मापक होने के लिए स्वय मुद्रा के मूल्य मे अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व होना चाहिए।

मूल्य-सचय का साधन (Store of Value).

यह मुद्रा का गौण काय है क्योकि यह मुद्रा के प्रधान कार्यों से उत्पन्न हुआ है इसीलिए इसे उत्पन्न (Derived) कार्य भी कहते हैं। जब मुद्रा को विनिमय माध्यम और मूल्य-मापक के रूप मे प्रयोग किया जाता है तो स्वत ही लोग उसे मूल्य-सचय के साधन के रूप मे अपना लेते हैं क्योकि मुद्रा रखने वाले के पास वास्तव मे सामान्य क्रय शक्ति (Generalised purchasing power) सचित होती है जिसका प्रयोग किसी भी समय वस्तु के लिए किया जा सकता है। उसे ज्ञात है कि मुद्रा हर समय वस्तुओ और सेवाओ के बदले जनता द्वारा सहर्ष स्वीकार की जायगी। मुद्रा मूल्य सचय के अच्छे साधन के रूप मे इसलिए प्रयोग की जाती है क्योकि सचयकर्त्ता का यह विश्वास रहता है कि भविष्य मे भी मुद्रा की क्रय शक्ति वतमान क्रय शक्ति के समान ही रहेगी। व्यवहार मे मुद्रा इस काय मे पूर्ण रूप से सफल नही रही है क्योकि मुद्रा के मूल्य मे पूर्ण स्थायित्व का अभाव रहा है। यह भी याद रखना आवश्यक है कि मुद्रा एक समय मे ही विनिमय-माध्यम और मूल्य-सचय के साधन के रूप मे कार्य नही कर सकती। यदि मूल्य-सचय के रूप मे उसका प्रयोग किया जा रहा है तो उस समय वह विनिमय का माध्यम नही बन सकती।

भावी भुगतानो का आधार (Standard for Deferred Payments) :

विनिमय माध्यम के रूप मे सामान्यतया प्रयोग मे आते ही, स्वाभाविक रूप से मुद्रा, भावी भुगतानो को व्यक्त करने की इकाई का रूप धारण कर लेती है। उधार लेन-देन आधुनिक अर्थ-व्यवस्था का अपरिहार्य अग है। भविष्य म जब उधार का भुगतान करना होता है तो मुद्रा को ही आधार बनाया जाता है। उधार के अतिरिक्त कई ऐसे प्रसविदे होते हैं जिनमे भविष्य मे भुगतान की आवश्यकता होती है जैसे लाभाश, सम्पत्ति कर (Lease) वेतन आदि इनका प्रयोग और भुगतान

मुद्रा द्वारा ही होता है । इस प्रकार स्थगित भुगतान-मान के रूप मे मुद्रा का आधुनिक युग मे अत्यन्त महत्व है । परन्तु मुद्रा यह कार्य करने मे इसीलिए समर्थ है क्योकि (i) मुद्रा के मूल्य मे अपेक्षाकृत स्थायित्व होता है, (ii) मुद्रा क्षयशील नहीं होती और (iii) मुद्रा मे सामान्य क्रय शक्ति और सर्वस्वीकार्यता का गुण होता है । मुद्रा के इस कार्य ने आधुनिक अर्थतन्त्र मे आर्थिक क्रियाओ को प्रोत्साहन देकर वास्तविक विनियोग की मात्रा मे आशातीत वृद्धि का अवसर प्रदान किया है। लेकिन मुद्रा भावी भुगतान का सन्तोषप्रद मान तभी रह सकती है जब उसकी क्रय शक्ति मे स्थिरता रहे । क्रय शक्ति मे परिवर्तन होने से लेन-देन की क्रिया मे अनिश्चितता तथा जोखिम का समावेश हो जायगा और मुद्रा के इस कार्य का महत्व कम हो जायगा ।

2. मुद्रा और कीमत निर्धारण क्रिया (Money and Price Mechanism) :

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे मुद्रा का एक और महत्वपूर्ण कार्य है । अर्थशास्त्र का यह आधार भूत सिद्धान्त है कि वस्तुओ और सेवाओ की मात्रा माग की अपेक्षा कम होती है क्योकि उत्पादन के साधन सीमित होते हैं । ऐसी अर्थव्यवस्था मे किसी ऐसे तरीके की आवश्यकता होती है जो विभिन्न साधनो का विभिन्न प्रयोगो मे आवटन (allotment) कर सके । उसी प्रकार उत्पादित वस्तुओ को उपभोक्ताओ मे वितरित करने की समस्या का सामना करना पडता है । यह दोनो ही कार्य कीमत निर्धारण-क्रिया (Price Mechanism) द्वारा होते है तथा कीमत निर्धारण-(Price Mechanism) मुद्रा के बिना सम्भव नही है । इस कार्य द्वारा उत्पादन के साधनो का विभिन्न उत्पादन क्षेत्रो मे इस प्रकार बटवारा हो जाता है कि उपभोक्ताओ को इच्छित वस्तुए इच्छित मात्रा मे मिल सके । किसी भी वस्तु की माग या पूर्ति का परिवर्तन स्वत. ही कीमतो मे परिलक्षित हो जाता है ।

3 मुद्रा का सक्रिय या प्रावैगिक कार्य (Active or Dynamic Functions) :

मुद्रा के उपरोक्त कार्य अर्थव्यवस्था को सुचारू रूप से सचालित करने मे केवल सहायक होते हैं उनसे अर्थव्यवस्था स्वय प्रभावित नही होती । इन कार्यों से कीमत की गति या आर्थिक क्रियाओ की मात्रा (Price movements or the volume of economic activity) प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नही होती । एक समय था जब इनके अलावा मुद्रा का अन्य कार्य नही समझा जाता था । परन्तु आजकल प्राय सभी देशो की सरकारो का लक्ष्य पूर्ण वृत्ति (Full employment) प्राप्त करना और उसको बनाए रखना है । इस उद्देश्य की प्राप्ति के साधनो मे मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित और नियमित करना भी एक महत्वपूर्ण साधन है जिससे उत्पादन स्तर को प्रभावित किया जाता है । क्रय शक्ति की मात्रा को बढा कर माग को

प्रोत्साहित (Stimulate) किया जा सकता है तथा कीमतो और आर्थिक क्रियाओ को गिरने से रोका जा सकता है। इसकी विपरीत स्थिति मे क्रय शक्ति की मात्रा को घटा कर स्थिति पर नियन्त्रण किया जा सकता है। इस प्रकार मुद्रा अपना सक्रिय कार्य (Dynamic function) कीमत (Price) को प्रभावित करके पूरा करती है। पिछले लगभग पचास वर्षों मे मौद्रिक सिद्धान्त (Monetary theory) का स्थान अर्थशास्त्र मे बहुत बढ गया है जो इस बात का प्रमाण है कि मुद्रा को अब निष्क्रिय नही बल्कि सक्रिय माना जाता है। मुद्रा के इस कार्य द्वारा सभी देश और मुद्रा-सस्थाए अपने विकास के कार्यक्रमो को सचालित करती हैं।

प्रो० किनले तथा कुछ अन्य लेखको ने मुद्रा के समाव्य कार्यों (Contingent Functions) का उल्लेख किया है। इन कार्यों मे इन लेखको ने सीमान्त उपयोगिता मे समानता लाना, पूजी मे तरलता लाना श्रम विभाजन मे सहायक होना तथा साख का आधार होना आदि को सम्मिलित किया है। परन्तु मुद्रा के महत्व की व्याख्या से पाठक को यह स्पष्ट हो जायगा कि उपरोक्त बातें वास्तव मे मुद्रा के महत्व को या उसकी उपयोगिता को स्पष्ट करती हैं। इन्हे मुद्रा की उपयोगिता कहना ही उचित होगा क्योकि ये कोई पृथक कार्य नही हैं।

मुद्रा का महत्व
(Importance of Money)

विशिष्टीकरण-प्रधान एव जटिल अर्थ व्यवस्था मे सदैव ही मुद्रा को एक महत्वपूर्ण वस्तु माना गया है परन्तु इसका अर्थ यह नही कि मुद्रा को सभी अर्थशास्त्री प्राथमिक महत्व देते रहे हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने कहा है कि मुद्रा केवल समय और श्रम की बचत मात्र करती है। यह किसी समाज की अर्थव्यवस्था की सबसे महत्वहीन वस्तु है।[1] इनके अलावा कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो की भी यही धारणा है कि मुद्रा आधुनिक अर्थतन्त्र के लिए अनिवार्य नही है तथा किसी अर्थव्यवस्था मे अधिकतम उत्पादन के लिए मुद्रा ही पर्याप्त नही है। अधिकतम उत्पादन तो उत्पादन के वास्तविक साधनो के अनुकूल एव उचित सयोग (Combination) पर निर्भर करता है। आधुनिक अर्थशास्त्री प्रो० डी० राबर्टसन ने भी इसी विचारधारा का समर्थन किया है। इनके अनुसार मुद्रा को जितना महत्वपूर्ण समझा जा रहा है वह वास्तव मे उतनी महत्वपूर्ण नही है।[2] प्राचीन

[1]. "There cannot..... be intrinsically a more insignificant thing, in the economy of a society, than money, except in the character of a contrivance for sparing time and labour." —*J S Mill*

[2] "Money is not such a vital subject as is often supposed .." —*D Robertson*

काल मे जब आत्मनिर्भरता का युग था, जनसख्या कम थी, और लेन-देन सीमित क्षेत्र मे होता था तब मुद्रा का महत्व वास्तव मे इतना अधिक नही था परन्तु आधुनिक जटिल अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ म उपरोक्त दृष्टिकोण तर्क सगत नही जान पडता। क्राउथर ने अर्थव्यवस्था मे मुद्रा को वही स्थान दिया है जो राजनीति मे मत (Vote) का है। मार्शल के अनुसार "मुद्रा वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारो ओर अर्थतन्त्र घूमता है।"[3] इस प्रकार आधुनिक युग को मुद्रा युग कहा गया है। और इस युग म मुद्रा ही 'राजा' है। एक लेखक के अनुसार 'जिसके पास 6 पेन्स है वह 6 पेन्स की सीमा तक सब मनुष्यों का सार्वभौम राजा है 6 पेन्स की सीमा तक रसोइयो को अपना पेट भरने के लिए, दार्शनिको को पढाने के लिए, राजाओं को अपनी रक्षा के लिए, अपने अधिकार मे रखता है।'[4] अब हम मानव जीवन मे मुद्रा के महत्व को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेगे।

पूजीवादी अर्थ व्यवस्था मे महत्व
(Importance of Money in Capitalist Economy)

1 मुद्रा और आर्थिक जीवन (Money and Economic Life) : आधुनिक युग म मुद्रा और आर्थिक क्रियाए अटूट सम्बन्ध रखती है। उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण की सभी क्रियाए मुद्रा द्वारा ही चालित होती हैं। पूजीवाद का नेता, साहसी (enterprises) लोगो का माना जाता है और इनका उद्देश्य अधिक मुद्रा प्राप्त करना होता है। चैण्डलर ने लिखा है "Their motivation is to 'make money", as much as possible" मुद्रा के असीम महत्व का अन्य कारण विशिष्टीकरण तथा विनिमय के क्षेत्र का अत्यधिक विस्तृत होना है। इसके कारण उत्पादन की प्रक्रिया विस्तृत और सहज हुई है। मुद्रा के प्रयोग ने बचत करने का उत्तम साधन उपलब्ध किया है और उचित समय देखकर विनियोग करने का अवसर प्रदान किया है। पूजी निर्माण और पूजी की गतिशीलता का बढान म मुद्रा का महत्वपूर्ण योगदान है। उत्पादनकर्त्ता मुद्रा के आधार पर ही उत्पादन प्रणाली उत्पादन-साधनो का अनुपात उत्पादन-वस्तु और मात्रा आदि के सम्बन्ध मे निश्चय करता है।

उपभोक्ता के दृष्टिकोण से भी मुद्रा बहुत महत्वपूर्ण है। अधिक सतुष्टि की प्राप्ति मुद्रा के प्रयोग द्वारा ही सम्भव हो सकती है। आवश्यकता की तीव्रता

[3] "Money is the pivot around which economic science clusters"
—Marshall in Money, Credit and Commerce

[4] "Who so has six pence is sovereign (to the length of six pence) over all men, commands cookers to feed him, philosophers to teach him, kings to mount guard over him—to the length of six pence"
—Quoted by W J Weston, Economics for Businessman, P. 152

और उपयोगिता की तुलना का मापदण्ड मुद्रा ही है। एक प्रकार से आर्थिक आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखने वाली प्रवृत्तियों को मुद्रा द्वारा ही व्यक्त किया जाता है। मुद्रा उपभोक्ता को अपनी क्रय शक्ति को उचित प्रकार से प्रयोग करने में सहायता देती है। प्रो० राबर्टसन ने अपनी पुस्तक 'money' में इस सम्बन्ध में लिखा है "The existence of a monetary economy helps society to discover what people want and how much they want it and so to decide what shall be produced and in what quantities, and to make the best use of its limited productive power And it helps each member of society to ensure that the means of enjoyment to which he has access, yield him the greatest amount of actual enjoyment which is within his reach."

विनिमय के क्षेत्र में मुद्रा का सर्वाधिक महत्व है। विनिमय का क्षेत्र मुद्रा के प्रयोग के पूर्व अत्यन्त ही सीमित था। परन्तु मुद्रा ने विनिमय–क्षेत्र को आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया है। मुद्रा ने श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण सम्भव बनाकर बाजार को विस्तृत किया। मुद्रा के बिना उत्पादन और विनिमय बाजार का इतना विस्तार केवल कल्पना रह जाती। लोग आत्मनिर्भर अर्थ–व्यवस्था में रहकर उपभोग के लिए ही उत्पादन करते परन्तु आज विनिमय के लिए उत्पादन करना मुद्रा ने ही सिखाया है। इस क्षेत्र में मुद्रा के महत्व का वर्णन करते हुए Whittlesey, Freedman and Herman ने अपनी पुस्तक—Money and Banking Analysis and policy, में लिखा है "This contributes to economic efficiency and is essential to the development of regional, national and international markets that have fostered and sustained the mass production methods of modern industrialised countries."

उत्पादन कार्य, उत्पादन के साधनों के सहयोग से ही सम्भव है। उत्पादन के साधनों में उत्पादित पदार्थ को वितरित करने का कार्य मुद्रा के आधार पर किया जाता है। मुद्रा के माध्यम से ही ब्याज, मजदूरी, लगान और लाभ का निर्धारण किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा उत्पादन के साधनों का उचित भाग दिलाकर उन्हे उत्पादन कार्य में सहयोग करने को प्रोत्साहित करती है[1] और इतने बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव हो पाता है।

राज्यवित्त आधुनिक युग में प्रत्येक देश में सामाजिक न्याय का एक प्रबल साधन माना जाता है। कर आदि मुद्रा में ही निर्धारित और वसूल किये जाते है तथा उनका प्रयोग अधिकतम कल्याण के सिद्धात पर मुद्रा के माध्यम से किया जाता है।

[1] "Money is the indispensable pre-requisite to the assembling of the concrete instruments of production." —H G. Moulton

इस प्रकार मुद्रा आर्थिक और औद्योगिक विकास के क्षेत्र मे बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। पीगू ने इस महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है 'In modern world industry is closely enfolded in a garment of money" इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र मे मुद्रा के महत्व का उल्लेख करते हुए ट्रेस्काट ने इसे अर्थतन्त्र का रक्तस्रोत कहा है।[2]

आर्थिक क्षेत्र मे विकास का अवसर प्रदान करने के साथ-साथ मुद्रा ने मनुष्य को आर्थिक स्वतन्त्रता भी दी है। आज लोग अपनी इच्छा के अनुसार अपना व्यवसाय चुन सकते हैं एव आर्थिक दासता से मुक्त हैं। प्राचीन काल मे जब मुद्रा का प्रयोग नही होता था तो अनाज या जिस वस्तु मे मजदूरी का भुगतान होता था, उसी का उपयोग करना होता था चाहे इच्छा भले ही कुछ और हो। आज मुद्रा रखने वाला व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र है।

2 **मुद्रा और सामाजिक जीवन :** पीगू के अनुसार मुद्रा एक ऐसा बहुमूल्य सामाजिक हथियार है जिसने आर्थिक कल्याण मे बहुत योगदान किया है। मुद्रा के प्रयोग से पारस्परिक सम्बन्धो मे घनिष्ठता आई है क्योकि विनिमय के लिए लोगो को एक-दूसरे के सम्पर्क मे आना होता है। इस सम्पक के कारण मानव सभ्यता का विकास अधिक हुआ है क्योकि एक सस्कृति दूसरी सस्कृति के सम्पर्क मे आती है और उनके तत्वो (Traits) का सम्मिश्रण होता रहता है। रूढियो को तोडने मे भी मुद्रा ने सहायता की है। अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास मे भी मुद्रा ने महत्वपूर्ण योग दिया है। आज विकास की होड लगी है। हर देश केवल अपना ही नही वरन् दूसरो के रहन–सहन के स्तर को ऊचा उठाने मे सहयोग कर रहा है। इस सम्बन्ध मे श्री डेवनपोर्ट का विचार उद्धरणीय है—

"Almost all great political issues and almost all absorbing social problems, and almost all international complications rest upon a pecuniary standard".

3. **मुद्रा और राजनैतिक जीवन ·** मुद्रा ने जनता मे राजनैतिक जागरण लाने का कार्य किया है। आज प्रत्येक नागरिक यह जानता है कि उसके द्वारा चुकाये गये कर द्वारा ही शासन चलाया जाता है। अत. वह राजनीति मे दिलचस्पी रखता है। मुद्रा के प्रयोग ने कई दशो मे राजनैतिक दलो की स्थापना मे मदद की और उनको अपनी शक्ति बढाने मे सहायता देकर राजनैतिक वातावरण मे परिवर्तन लाया है। मुद्रा के प्रयोग ने राष्ट्रीय एकता को दृढ किया है।

4. **मुद्रा तथा अन्य क्षेत्र** मुद्रा का महत्व केवल उपरोक्त क्षेत्रो तक ही सीमित नही है। वास्तव मे मानव जीवन के प्रत्येक व्यवहार और विचार पर आज

[2] "If money is not the heart of our economic system, it can certainly be considered its blood stream" —Trescott

मुद्रा की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। गायक, नर्तक या कलाकारो की कृतियो का मूल्यांकन मुद्रा मे ही किया जाता है। जिसकी कृतियो को अधिक मुद्रा मिलती है वह बडा कलाकार कहलाता है। आज किसी भी काय का पारितोषिक भी मुद्रा मे दिया जाता है और प्रतियोगिता का स्तर पारितोषिक की मात्रा पर निभर करता है। इस प्रकार मुद्रा मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को आच्छादित किये हुए है। यही भाव Horace की निम्न पक्तियो मे निहित है—

All things human and divine, renown,
Honour and worth, at money's shrine, go down

समाजवादी अर्थव्यवस्था मे मुद्रा का महत्व कहा जाता है कि पेरू के इन्कस (Incas) ने स्पेनवासियो के आने के पहले पूर्ण नियोजित अर्थ व्यवस्था की स्थापना की थी जिसमे उत्पादन और वितरण राज्य द्वारा नियोजित होता था तथा मुद्रा के बिना भी सुचारु रूप मे काम चलता था। प्रारम्भ मे साम्यवादियों ने मुद्रा को पूँजीवादी शोषण का यन्त्र और चिन्ह कह कर पुकारा और उनकी यह धारणा थी कि इस अनावश्यक वस्तु को समाप्त कर देने से आर्थिक-बन्धुत्व (Economic Brotherhood) तथा राजनैतिक एकता मे वृद्धि होगी। परन्तु आधुनिक साम्यवादी सिद्धान्ततः तथा व्यवहारिक दोनो ही रूपो मे नियोजित अर्थव्यवस्था मे, मुद्रा को प्रयोग मे लाते हैं क्योकि नियोजित अर्थ-व्यवस्था भी मुद्रा के प्रयोग से अधिक सरलता से सचालित की जा सकती है। ट्राटस्की ने कहा है "The blueprints produced by the offices, must demonstrate their economic expediency through commercial calculation Without a firm monetary unit commercial accounting can only increase the chaos." इसी प्रकार रूसी क्रांति के महान नेता लेनिन ने यह स्वीकार किया है कि साम्यवादी सफलता, गणना और नियत्रण (Calculation and Control) के बिना सम्भव नही है। यद्यपि समाजवादी अर्थ-तन्त्र मे उत्पादन के साधनो पर राज्य का अधिकार होता है और उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो मे उनका बटवारा भी राज्य द्वारा ही किया जाता है। उत्पादन की मात्रा, किस्म तथा मजदूरी की दरें आदि योजनाबद्ध तरीके से राज्य द्वारा ही निश्चित की जाती हैं। परन्तु पूर्व निश्चित अनुमान मुद्रा के रूप मे ही किया जाता है। मजदूरी मुद्रा मे ही चुकाई जाती है हालाकि आर्थिक स्वतन्त्रता उतनी अधिक नही होती जितनी पूँजीवाद मे। कुछ लोगो का कहना है कि यदि उपभोग की स्वतन्त्रता को समाप्त कर दिया जाय तो मुद्रा की आवश्यकता समाप्त हो सकती है। यह ठीक है कि ऐसा करने से समस्या आसान हो जायगी परन्तु फिर भी मूल्य निर्धारण प्रक्रिया (Price Mechanism) की आवश्यकता अवश्य रहगी। श्री ए पी लर्नर ने कहा है कि बिना मुद्रा के किसी भी जटिल अर्थ व्यवस्था का कुशल सचालन असम्भव है—"Without price mechanism it is impossi-

ble for an econom'c system of any complexity to function with any reasonable degree of efficiency" साधनों की सीमितता के कारण हम जो चाहे वही और उसी मात्रा में नहीं पैदा कर सकते। उनको सर्वोत्तम प्रयोग में (Best use) लाने के लिए कीमत निर्धारण प्रक्रिया (Price mechanism) के आधार पर ही उनकी विभिन्न प्रयोगों की उपयोगिता की तुलना की जा सकती है। श्री जी एन. हाम ने अपनी पुस्तक 'Monetary Theory' में लिखा है कि एक सामाजिक अर्थ-व्यवस्था सदैव मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था रहेगी।

"a social economy will remain a monetary economy."

मुद्रा के दोष (Evils of Money)

1. आर्थिक अस्त-व्यस्तता—जिन प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा को महत्वहीन वस्तु कहा है वे भी इस बात को मानते हैं कि अनियन्त्रित एव अव्यवस्थित मुद्रा स्वतन्त्र और विशेष महत्व रखती है। जान स्टुअर्ट मिल ने लिखा है – "...it only exerts a distinct and independent influence of its own when it gets out of order."। इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि आर्थिक अस्त-व्यस्तता को रोकने के लिए मुद्रा को संयत (in order) रखना बहुत महत्वपूर्ण है। आधुनिक अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि मुद्रा अधिकांशतः संयत नहीं रहती और इस कारण आर्थिक अवस्था दीर्घकालीन साम्यावस्था नहीं प्राप्त कर पाती। मौद्रिक-व्यय में परिवर्तन होने से आर्थिक क्रियाओं में उतार-चढ़ाव होता रहता है। तेजी और मन्दी का चक्र चलता रहता है और इनका समाज पर निम्नलिखित महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है —

(i) **मौद्रिक व्यय में कमी का प्रभाव**—विनिमय के क्षेत्र में जब मुद्रा का प्रयोग किया जाता है तो उपयुक्त वस्तु प्राप्त होने तक उसका व्यय स्थगित किया जाना एक सामान्य बात है परन्तु जब मुद्रा असाधारण कारणों से व्यय नहीं की जाती तो उसका अर्थ-व्यवस्था को पंगु बना देने वाला प्रभाव होता है। मन्दी काल के अनुभव इस बात को प्रमाणित करते हैं। आय और रोजगार की स्थिति दयनीय हो जाती है।

(ii) **मौद्रिक व्यय में वृद्धि का प्रभाव**—मौद्रिक व्यय में वृद्धि होने से आय, रोजगार और कीमत स्तर में वृद्धि होती है। उत्पादन लागत बढ़ती जाती है। अत्यधिक प्रसार का भय रहता है। समाज में निश्चित आय वाले लोगों का वास्तविक उपभोग बहुत कम हो जाता है। एक तरफ पूंजीपति वर्ग का दिनों दिन विकास होता है और दूसरी ओर श्रमिक वर्ग निरन्तर निर्धन होता जाता है। यह स्थिति कभी-कभी राजनैतिक उथल पुथल का निमन्त्रण सिद्ध होती है।

मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था का सतुलन उपयुक्त (right) मुद्रा की मात्रा के बिना बिगड़ जाता है। उपयुक्त मुद्रा की मात्रा का तात्पर्य उस मात्रा से है जो मौद्रिक

कार्यों के लिए पर्याप्त तथा आर्थिक विकास को प्रोत्साहन दे सके।[1] दुर्भाग्य से ऐसी मौद्रिक पूर्ति के लिए कोई सरल और आसान कसौटी नही है एव व्यवहार मे कोई भी मौद्रिक विधि (Monetary System) इन शर्तों की पूर्ति नही कर सकी है। इसलिए कीमत स्तर मे परिवर्तन होते रहे हैं। कीमतों के गिरने से आकस्मिक हानि (windfall losses) तथा कीमतो के बढन से आकस्मिक लाभ (windfall gains) होते हैं और परिवर्तित कीमत दर की अधिकाश बुराइया इन्ही के कारण पैदा होती हैं।

2 सामाजिक बुराइयो को जन्म—लुडविग वान माइजे का कथन है कि मुद्रा को चोरी, धोखा और खून का कारण समझा जाता है। व्यभिचार और अन्याय मुद्रा की ही देन है।[2] मुद्रा का प्रेम ही सभी बुराइया की जड है। "The love of it is the root of all evil"। आधुनिक मौद्रिक युग मे वास्तविक सुख का स्थान भौतिक सुख ने ग्रहण कर लिया है। भौतिक सुखो की प्राप्ति मुद्रा द्वारा ही हो सकती है इसलिए जैसे भी मुद्रा प्राप्त करना ही लक्ष्य बन गया है। आज नैतिकता का कही स्थान नही दिखाई देता। आज की राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था उसी को आदर प्रदान करती है जिसके पास मुद्रा है। मुद्रा रहने पर राजनैतिक सत्ता प्राप्त हो सकती है। प्रजातन्त्र मे ऐसे उदाहरण अनेक मिल सकते हैं। पैसे से मत और मतदाता खरीदना एक आम बात हो गई है। लगता है पुन मुद्रा साधन न रहकर साध्य बन गई है।

बुराइयाँ क्यो ? मुद्रा के जो भी दोष हैं वह इसीलिए हैं कि मुद्रा को निरकुश छोड दिया जाता है। जिस प्रकार सेवक निरकुश हो जाने पर सेवा के स्थान पर असेवा करने लगता है उसी प्रकार मुद्रा भी मानव समाज की सेवा उसी समय तक करती है जब तक उस पर नियन्त्रण रहता है। प्रो रावर्टसन का निम्न कथन इस सम्बन्ध मे सत्य प्रतीत होता है—"Money which is a source of so many blessings to mankind, becomes also, unless we control it, a source

[1] "In general the right quantity of money is that which fits neatly into the monetary job at hand and encourages sound economic growth and progress" —R G Thomas

[2] Money is regarded as the cause of theft and murder, of deception and betrayal Money is blamed when the prostitute sells her body, and when the bribed Judge perverts the law. It is money against which moralist declaim when he wishes to oppose excessive materialism Significantly enough, avarice is called the love of money and all evil is attributed to it"

—Ludwig Von Mises—The Theory of Money and Credit, P 93

of peril and confusion ' मुद्रा के दोषों के कारण मुद्रा का प्रयोग आधुनिक जटिल व्यवस्था में छोड़ा नहीं जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि कीमत-स्तर के परिवर्तनों को रोका जाय। ऐसे मौद्रिक परिवर्तन न लाए जाय जो कीमत स्तर को बहुत अधिक प्रभावित करें। मौद्रिक नियन्त्रण की नीति का पालन किया जाय जिससे मौद्रिक कारणों से उत्पन्न चक्रीय परिवर्तनों (Cyclical changes) को रोका जा सके। मुद्रा एक बड़ा ही कोमल हथियार है। इसका प्रयोग बड़ी सतर्कता से ही किया जा सकता है।

मुद्रा का स्वभाव
(Nature of money)

1 मुद्रा गतिशील है—मुद्रा आधुनिक युग में निष्क्रिय, तटस्थ और निश्चेष्ट साधन नहीं अपितु सक्रिय और सचेष्ट साधन है।

".. Money can no longer be thought of as the drab, utilitarian handmaiden of economic society Instead it stands forth as a kind of genie with tremendous, all pervading powers over economic good and evil" —R G Thomas

मुद्रा के माध्यम से अर्थ-व्यवस्था के सभी अवयवों को प्रभावित किया जाता है। विकासशील अर्थव्यवस्था में मुद्रा का सक्रिय भाग स्पष्ट दिखाई देता है। अब मुद्रा २ पथ नहीं जो तिनका नहीं पैदा करता बल्कि एक ऐसा मार्ग प्रशस्त करता है जो आर्थिक गतिविधियों का स्वयं मार्ग दर्शन करता है।

2 मुद्रा एक पर्दा है (Money is a veil) प्राचीन अर्थ-शास्त्री मुद्रा को एक पर्दा की सज्ञा देते थे। उनके विचार से मुद्रा वह अवगुण्ठन है जिसके पीछे वास्तविक आर्थिक शक्तियां कार्य करती हैं तथा मुद्रा आर्थिक क्रियाओं को स्वतन्त्र रूप से प्रभावित नहीं करती। परन्तु जैसा ऊपर दिये गये विवरण से स्पष्ट है यह कथन अब इतिहास की बात है। वर्तमान युग में मुद्रा एक स्वतन्त्र और महत्वपूर्ण कारक है। वस्तुओं के अपर्याप्त होने पर, मुद्रा होते हुए भी उनका इस्तेमाल नहीं हो पाता इसलिए श्री राबर्टसन ने मुद्रा को इस अर्थ में आवरण कहा है। परन्तु ऐसी स्थिति असाधारण समय में पैदा होती है जब उपभोक्ता की आर्थिक स्वतन्त्रता को नियन्त्रित कर दिया जाता है। सामान्य परिस्थितियों में यह बात नहीं लागू होती।

3. **मुद्रा साधन है साध्य नहीं (Money is a means not end) :** मुद्रा का आविष्कार विनिमय क्रिया को सुविधाजनक बनाने के लिए हुआ। इसका प्रयोग मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होना चाहिए। मुद्रा स्वयं मुद्रा के लिए नहीं है। यदि मुद्रा साधन के स्थान पर साध्य बन जाती है तो मुद्रा बुराइयों की

जड बन जाती है । मुद्रा पर नियन्त्रण की आवश्यकता होती है । नियन्त्रण न रहने से यह सेवक से स्वामी बन जाती है । 'मुद्रा एक अच्छा सेवक है परन्तु बुरा स्वामी ।'[1]

परीक्षा प्रश्न तथा सकेत

1. मुद्रा के आकस्मिक कार्यों (Contingent functions) को स्पष्ट कीजिए ? उन्हे आकस्मिक क्यो कहा जाता है ? मुद्रा अन्य कौन-कौन से कार्य करती है ।

(राजस्थान, टी० डी० सी० फाइनल 1961)

[सकेत : यहा पर मुद्रा के आकस्मिक या समान्य कार्यों (Contingent functions) जैसे सीमान्त उपयोगिता मे समानता लाना, पूजी मे तरलता लाना इत्यादि की व्याख्या कीजिए । इन्हे आकस्मिक कहने के कारण बताते हुए मुद्रा के प्रधान तथा गौण कार्यो की भी व्याख्या कीजिये]

2. मुद्रा की व्याख्या कीजिए । मुद्रा के लाभ एव हानियो का विवेचन कीजिये । (राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल 1965)

[सकेत प्रथम भाग मे मुद्रा की विभिन्न परिभाषाओं की व्याख्या करते हुए उपयुक्त परिभाषा दीजिए । दूसरे भाग मे मुद्रा के लाभ तथा हानियों का वर्णन कीजिए ।]

3 निम्नलिखित में से किन्ही दो को स्पष्ट कीजिये—

(अ) 'आधुनिक जीवन मे धातु मुद्रा का महत्व समाप्त हो गया है ।'

(ब) "मुद्रा एक अच्छा सेवक है परन्तु बुरा स्वामी ।"

(स) "मुद्रा वह धुरी है जिसके चारो ओर अर्थ-विज्ञान घूमता है ।"

(राजस्थान, टी० डी० सी० फाइनल 1962)

[सकेत : (अ) के स्पष्टीकरण मे यह बताइये आधुनिक जीवन मे धातु मुद्रा के स्थान पर पत्र मुद्रा का महत्व बढा है । (ब) के स्पष्टीकरण मे मुद्रा को नियन्त्रण मे रखकर प्राप्त सेवायें का उल्लेख कीजिए तथा अनियन्त्रित मुद्रा के भयावह परिणामो से अवगत कराइये । (स) भाग मे मुद्रा के महत्व पर प्रकाश डालिए]

4. "मुद्रा ही वह धुरी है जिसके चारो ओर अर्थ-शास्त्र केन्द्रित है" इसकी विवेचना तथा मुद्रा के अन्य कार्यो का उल्लेख कीजिये ।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल)

[सकेत : प्रथम भाग मे मुद्रा का महत्व समझाइये । दूसरे भाग मे मुद्रा के प्रधान, गौण तथा आकस्मिक कार्यो का वर्णन कीजिये ।]

---

1. "Money is a good servant but a bad master."

5. मुद्रा के महत्व का वर्णन कीजिए। मुद्रा के क्या दोष हैं ? क्या मुद्रा के दोषो का उन्मूलन सामाजिक व्यवस्था के बदलने से सम्भव है ? सक्षिप्त विवेचन कीजिये। (राजस्थान, टी० डी० सी० फाइनल 1969)

[सकेत प्रथम भाग मे मुद्रा का महत्व बताइये। दूसरे भाग मुद्रा के दोषो तथा हानियो की व्याख्या कीजिये। अन्त मे सिद्ध कीजिये कि सामाजिक व्यवस्था के बदलने से मुद्रा के दोषो का उन्मूलन सम्भव नही है।]

6. मुद्रा के मुख्य कार्य कौन-कौन से है ? समाज को मुद्रा के लाभो का वर्णन कीजिये। (राजस्थान, टी० डी० सी० फाइनल 1968)

[सकेत प्रथम भाग मे मुद्रा के प्रधान, गौण तथा आकस्मिक कार्यों का वर्णन कीजिये। दूसरे भाग मे मुद्रा का महत्व समझाइये।]

---

3 ४

मुद्रा का वर्गीकरण
(Classification of Money)

"Every branch of knowledge has its fundamental discovery. In mechanics, it is the wheel, in Science, fire, in Politics, the vote. Similarly, in Economics in the whole commercial side of man's social existence, money is the essential invention on which all the rest is based"

Crowther

मुद्रा के भौतिक रूप के आधार पर वर्गीकरण
(Classification on the basis of physical form of money)

इस आधार पर मुद्रा को निम्नलिखित वर्गों मे वर्गीकृत किया गया है :—

1. धातु मुद्रा (Metallic money)
2. पत्र मुद्रा (Paper money)
3. बैंक जमा (Deposit money)

धातु मुद्रा (Metallic Money)

मुद्रा के इतिहास से पता चलता है कि प्रथम महायुद्ध के पहले ससार के अधिकाश देशो मे सोने या चादी के सिक्के चलन मे थे। वास्तव मे धातु मुद्रा वस्तु मुद्रा का अन्तिम और स्थाई रूप था। धातुओ मे सोने या चादी का मुद्रा के रूप मे इसलिए प्रयोग किया गया क्योकि उनमे परिचयता, उपयोगिता, सव-स्वीकार्यता, वहनीयता, विभाजकता, अक्षयता, स्थायित्व (मूल्य मे), एक-रूपता और टकरणशीलता थी। धातु मुद्रा को सिक्का (coin) की सज्ञा दी जाती थी। सिक्के विशेष आकार प्रकार के धातु के ऐसे टुकडो को कहते है जिनकी विश्वसनीयता, भार तथा शुद्धता प्रमाणित रहती हैं और जा विनिमय के माध्यम के रूप मे सर्व-स्वीकार्य होते हैं।

सिक्को की किस्मे (Kinds of Coins)

1. प्रामाणिक सिक्के (Standard Coin)
2. प्रतीक सिक्के (Token Coin)

1 प्रामाणिक सिक्के (Standard Coin) : प्रमाणिक सिक्को मे निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं।

1. अंकित कीमत धात्विक मूल्य के बराबर होती है।
2. यह असीमित विधिग्राह्य होता है।
3. इसकी स्वतन्त्र ढलाई होती है।
4. यह देश की प्रधान मुद्रा होती है।

प्रामाणिक सिक्कों के चलन से मुद्रा का मूल्य एक धातु से सम्बन्ध हो जाता है। आधुनिक युग मे प्रामाणिक सिक्को का चलन समाप्त हो चुका है।

2 प्रतीक सिक्के : इनकी निम्नलिखित विशेषताए होती है

(i) यह देश की सहायक मुद्रा के रूप मे चलन मे रहते हैं।
(ii) धात्विक मूल्य अंकित मूल्य से कम होता है।
(iii) इनकी ढलाई सीमित होती है।
(iv) यह सीमित विधिग्राह्य होते हैं।

प्राय: सभी देशों में प्रतीक सिक्कों का ही चलन है। इनका प्रयोग छोटे-छोटे भुगतानो के लिए किया जाता है।

ढलाई व्यवस्था : ढलाई के दो प्रमुख ढग काम मे लाये गये हैं

1. स्वतन्त्र ढलाई (Free Coinage)
2- सीमित ढलाई (Restricted Coinage)

1. स्वतन्त्र ढलाई (Free Coinage) : इसके अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति धातु ले जाकर उसके सिक्के ढलवा सकता है। टकसाल सरकार की होती है परन्तु जनता के प्रयोग के लिए खुली रहती है। यह ढलाई व्यवस्था बहुत समय तक कायम रही। भारत मे 1835 से 1893 तक यही व्यवस्था थी।

इस व्यवस्था को चूंकि सरकार चलाती है इसलिए टकसाल चलाने का जो व्यय होता है वह या तो सरकार को सहन करना पडता है या टकसाल का प्रयोग करने वाली जनता को। इस प्रकार स्वतन्त्र ढलाई दो प्रकार से हो सकती है—

(i) सशुल्क स्वतन्त्र ढलाई (Non-gratuitous Coinage)
(ii) नि.शुल्क स्वतन्त्र ढलाई (Gratuitous Coinage)

(i) सशुल्क ढलाई (Non-gratuitous Coinage) : सरकार जब जनता से ढलाई व्यय वसूल करती है तो इसे सशुल्क ढलाई कहते हैं। शुल्क लेने के दो तरीके हैं। यदि सिक्के ढालने का वास्तविक व्यय जनता से वसूल किया जाय तो ऐसे शुल्क को ढलाई व्यय (Mintage or Brassage) कहते हैं। इस शुल्क मे लाभ का अंश नही होता। दूसरा तरीका व्यय के साथ कुछ लाभ जोडकर शुल्क के रूप मे वसूल

करने का है इसको 'सलाम शुल्क' (Seigniorage) कहते हैं। शुल्क की प्राप्ति भी दो प्रकार से की जा सकती है। एक तरीका तो यह है कि धातु के पूर्ण मूल्य के सिक्के ढाल दिए जाय और अलग से मुद्रा के रूप मे ढलाई व्यय वसूल किया जाय। दूसरा तरीका यह है कि धातु मे से ढलाई व्यय के बराबर धातु निकाल ली जाय और उसके बदले सस्ती धातु मिलाकर सिक्के ढाल दिए जाय।

(ii) निःशुल्क स्वतन्त्र ढलाई (Gratuitous Coinage) : जब सरकार *सिक्कों की ढलाई के लिए जनता से किसी प्रकार का शुल्क वसूल नही करती तो* उसे निःशुल्क ढलाई व्यवस्था कहा जाता है। टकसाल चलाने का पूरा व्यय सरकार स्वय सहन करती है।

2. सीमित ढलाई (Restricted Coinage) : इस व्यवस्था मे सरकार स्वय आवश्यकतानुसार मुद्रा की ढलाई करती है। जनता को सिक्के ढलाने का अधिकार नही होता। सरकार के आदेश पर ही सिक्के ढाले जाते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था मे सरकार को मुद्रा की मात्रा आवश्यकता अनुसार घटाने बढाने का अवसर प्राप्त रहता है जिसका प्रयोग मूल्यो को स्थिर रखने के लिए किया जा सकता है। स्वतन्त्र टकण व्यवस्था मे मुद्रा की मात्रा व्यावसायिक आवश्यकता या सरकार की नीति पर निर्भर नही करती। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र ढलाई खर्चीली होती है। आधुनिक युग मे सीमित ढलाई व्यवस्था ही अधिक उपयुक्त है।

धातु मुद्रा के गुण
(Advantages of Metallic Money)

1. धातु का मूल्य : केवल मुद्रा के रूप मे ही धातु मुद्रा का मूल्य नही होता बल्कि धातु के रूप मे भी होता है। यदि मुद्रा के रूप मे उसे विमुद्रित (Demonetise) कर दिया जाय तो भी उसका वास्तविक मूल्य होगा। इसी प्रकार घिस जाने पर उसे धातु के रूप मे प्रयोग किया जा सकता है।

2. मूल्य में स्थिरता : धातु के उत्पादन मे अत्यधिक परिवर्तन न होने के कारण इसका मूल्य अपेक्षाकृत स्थिर रहता है।

3. अक्षयता : अन्य वस्तुओ और कागजी मुद्रा की तुलना मे धातु मुद्रा बहुत अधिक दिनो तक स्थाई रहती है, नष्ट नही होती।

4. प्रसार का भय नहीं—धातु मुद्रा का मनमाना प्रसार नही किया जा सकता क्योकि धातु रहने पर ही मुद्रा की मात्रा बढाई जा सकती है। इसके विपरीत पत्र मुद्रा मे अत्यधिक प्रसार का दोष पाया जाता है।

धातु मुद्रा के दोष (Disadvantages of Metallic Money) :

1. अपव्यय : बहुमूल्य धातु, मुद्रा के रूप मे बेकार हो जाती है क्योकि धातु

स्वयं चलन मे रहती है, उसके टंकण पर अधिक व्यय होता है और चलन मे रहने के कारण धातु घिसती रहती है।

2 भुगतान मे कठिनाई अधिक मात्रा मे भुगतान करने मे बडी कठिनाई होती है। समय और शक्ति व्यर्थ की गणना और परख मे नष्ट होती हैं। धातु मुद्रा को रखने के लिए भी अधिक स्थान की आवश्यकता पडती है।

3. स्थानान्तरण मे कठिनाई : अधिक भार के कारण धातु मुद्रा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने मे कठिनाई और जोखिम दोनो ही रहती हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने मे व्यय भी अधिक होता है।

पत्र मुद्रा (Paper Money)

सिक्को के प्रयोग की असुविधाओं के कारण पत्र मुद्रा का चलन प्रारम्भ हुआ। पत्र मुद्रा के विकास क्रम मे पत्र मुद्रा ने कई रूप धारण किया जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय है–

1. प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (Representative Paper Money)
2. परिवर्तनीय पत्र मुद्रा (Convertible Paper money)
3. अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Money)

1. प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (Representative Paper Money) . वह मुद्रा जो पूर्ण रूप से धातु कोष पर आधारित हो अर्थात् जिसके पीछे शत प्रतिशत धातु का कोष रखा जाता हो प्रतिनिधि पत्र मुद्रा कही जाती है। वास्तव मे प्रारम्भ मे पत्र मुद्रा का वास्तविक मूल्य (intrinsic Value) न होने के कारण जनता के विश्वास को प्राप्त करने के लिए शत प्रतिशत कोष रखना आवश्यक था। पत्र मुद्रा केवल धातु की प्रतिनिधि मानी जाती थी इसलिए लोगो का विश्वास पत्र मुद्रा मे कायम हो सका। सब लोग प्रतिनिधि पत्र मुद्रा को सहर्ष बिना सदेह स्वीकार करते थे। लोगो को पत्र मुद्रा के बदले धातु मुद्रा प्राप्त करने की स्वतन्त्रता थी।

प्रतिनिधि पत्र मुद्रा काल मे यह अनुभव किया गया कि सभी लोग एक साथ पत्र मुद्रा के बदले धातु मुद्रा की माग नही करते और धातु, मुद्रा कोष मे, बेकार पडी रहती है।

2. परिवर्तनीय पत्र मुद्रा (Convertible Paper Money) . प्रतिनिधि पत्र मुद्रा के अनुभव ने परिवर्तनीय पत्र मुद्रा को जन्म दिया। जनता का विश्वास बनाए रखने के लिए धातु मे परिवर्तन करने की सुविधा को बनाए रखते हुए शत प्रतिशत कोष के स्थान पर केवल आशिक रूप मे धातु रखने का सिद्धान्त अपनाया गया। आवश्यकता पडने पर जनता नोटों के बदले धातु या सिक्के प्राप्त कर सकती है परन्तु इसमे प्रतिनिधि पत्र मुद्रा के अपव्यय से बचने का प्रयत्न किया गया है। यह प्रतिनिधि पत्र मुद्रा की अपेक्षा सस्ती होने के साथ, लचीली और सुविधाजनक भी है।

3. अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा (Inconvertible Paper Money) • पत्र मुद्रा का आधुनिक रूप अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा है। इसमे जनता को नोटो के बदले धातु या धातु मुद्रा प्राप्त करने का अधिकार नही होता। इसलिए नोटो के पीछे धात्विक कोष रखने की भी आवश्यकता नही होती। धात्विक कोष यदि रखा भी जाता है तो अत्यधिक प्रसार को रोकने के उद्देश्य से। यह मुद्रा चलन मे विधिग्राह्य मुद्रा होने के कारण जनता का विश्वास प्राप्त कर पाती है। इसे प्राविष्ट मुद्रा (Fiat Money) की सज्ञा दी जाती है।[1] यह मुद्रा लोच, मितव्ययिता और सुविधा के दृष्टिकोण से अधिक उपयुक्त है।

पत्र मुद्रा के गुण (Advantages of Paper Money)

1. लोच सिक्को की अपेक्षा परिवर्तनशील और अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा में लोच की मात्रा अधिक होती है। सरकार की इच्छा और व्यवसाय तथा अर्थव्यवस्था की आवश्यकता के अनुसार मुद्रा की मात्रा को बढाया या घटाया जा सकता है। प्रामाणिक सिक्को मे इस गुण का नितात अभाव होने के कारण वे कभी-कभी अर्थव्यवस्था के लिए बाधक सिद्ध होते हैं। परन्तु पत्र मुद्रा आर्थिक विकास को आगे बढाने मे विशेष रूप से सहायक होती है।

2 मितव्ययिता : धातु मुद्रा की तुलना मे पत्र मुद्रा कई दृष्टिकोणो से मितव्ययितापूर्ण है (1) बहुमूल्य धातु की आवश्यकता नही पडती इसलिए उनका प्रयोग विदेशी भुगतान या कलात्मक वस्तुओ के निर्माण के लिए किया जा सकता है। धातु मुद्रा व्यर्थ ही धातु को अनुत्पादक रूप मे प्रयोग करती है और आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध करती है। पत्र मुद्रा इस दृष्टि से मितव्ययी है। (2) पत्र मुद्रा जारी करने मे बहुत ही कम व्यय होता है। धातु मुद्रा जारी करने मे जिस श्रम और धन का व्यय होता है उस बचाकर यह अन्य उत्पादक कार्यों मे लगाने का अवसर प्रदान करती है। (3) पत्र मुद्रा मे कागजी नोट चलन मे रहते है। धातु के चलन मे रहने पर जो घिसावट होती है वह इसके प्रयोग से बच जाती है। (4) पत्र मुद्रा चालू करने का खर्च बहुत ही कम होता है क्योकि इसके लिए केवल कुछ कागज इक तथा प्रिंटिंग प्रेस की आवश्यकता होती है।

3. सुविधा • पत्र मुद्रा का प्रयोग बहुत ही सुविधाप्रद है। इसमे वहनीयता का गुण प्रचुर मात्रा म होने के कारण बडी से बडी रकम एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुविधापूर्वक ले जाई जा सकती है। धातु मुद्रा के स्थानान्तरण मे जो जोखिम

[1] "Any thing which is intended to serve as a medium of exchange simply because it is officially sanctioned as money is known as Fiat money."

— J L Hanson, Monetary Theory and Practice, 1962 P 12

होती है वह भी पत्र मुद्रा मे समाप्त हो जाती है क्योकि अवांछनीय तत्वो को यह पता नही लग पाता कि किस व्यक्ति के पास मुद्रा है और कितनी मात्रा मे है। बडे से बडा भुगतान शीघ्रता और सरलता से किया जा सकता है क्योकि पत्र मुद्रा को गिनना तथा उसकी जाँच करना अपेक्षाकृत आसान है ।

4. सरकार के लिए उपयुक्त सरकार के दृष्टिकोण से पत्र मुद्रा एक प्रकार का अप्रत्यक्ष कर है। इसलिए आवश्यकता के समय यह सरकार के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। जब मुद्रा बाजार मे लाभप्रद ऋण मिलने मे कठिनाई उपस्थित हो जाती है तो सरकार पत्र मुद्रा जारी कर सकती है जो एक प्रकार से बिना ब्याज का ऋण है। सकटकालीन परिस्थितियो मे पत्र मुद्रा जारी करके बजट सतुलित करने के उदाहरण द्वितीय विश्वयुद्ध काल मे कई मिलते हैं। विकासशील देशो ने भी यह लाभ अनेक बार उठाया है। इस प्रकार पत्र मुद्रा सरकार के दृष्टिकोण से भी लाभप्रद है।

पत्र मुद्रा के दोष (Disadvantages of Paper Money) :

पत्र मुद्रा मे अनेक गुणो के साथ कुछ अवगुण भी हैं जो नोट जारी करने वाली सस्था के असावधान रहने पर भयकर परिणाम ला सकते हैं। नोटो के दोषो का प्रमुख कारण उनके मूल्य की अस्थिरता है। पत्र मुद्रा का निजी मूल्य कुछ भी नही होता केवल कानूनी और परम्परागत (Customary) मूल्य होता है। उसकी कानूनी मान्यता समाप्त होते ही उसका मूल्य शून्य हो जाता है। पत्र मुद्रा के प्रमुख दोष निम्नलिखित है —

1. मुद्रा प्रसार का भय सकटकालीन और असाधारण स्थितियो मे सरकार अत्यधिक नोट जारी कर देती है और अपने बजट को सतुलित करने का प्रयत्न करती है। अर्थ-व्यवस्था की वास्तविक आवश्यकता से अधिक नोट जारी कर देने से मुद्रा का मूल्य गिर जाता है कीमत स्तर बढने लगता है तथा समाज मे, विशेषकर व्यवसाय मे अनिश्चितता का वातावरण व्याप्त हो जाता है। अवाछनीय सट्टों (Speculations) की सख्या बढने से व्यवसायी वर्ग मे औचित्य और नैतिकता की कमी होती जाती है। आयातो मे वृद्धि और निर्यातो मे कमी होने के कारण व्यापार सतुलन बिगड जाता है। कभी कभी नोटो की सख्या इतनी अधिक बढ जाती है कि जनता उन्हे मुद्रा के रूप मे स्वीकार करने से इन्कार कर देती है जैसा प्रथम महा युद्ध के बाद जर्मनी मे हुआ।

2 सीमित चलन क्षेत्र : पत्र मुद्रा का अपना निजी मूल्य न होने के कारण इसका चलन किसी देश की सीमाओ तक ही सीमित है। दूसरे देश के लोग इसे स्वीकार नही करते इसलिए विदेशी व्यापार मे अन्य तरीको का सहारा लेना पडता

है स्वर्ण मुद्रा की तरह पत्र मुद्रा कभी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का रूप शायद ही ग्रहण कर सकती है।

3. नश्वरता : पत्र मुद्रा धातु मुद्रा के समान टिकाऊ नही होती है। यह जल, अग्नि, तेल और समय द्वारा नष्ट हो जाती है। कागज अल्पकालीन प्रयोग मे ही गदा होने के साथ-साथ फट जाता है और इसका मूल्य नष्ट हो जाता है। इस दोष के कारण कई अर्थशास्त्री इसे समाज के प्रति एक धोखा (Fraud on Society) की सज्ञा देते है।

4. मूल्यहीनता : पत्र मुद्रा का केवल कानूनी या परम्परात्मक मूल्य होता है उसका आन्तरिक मूल्य (Intrinsic value) कुछ भी नही होता। धातु मुद्रा का प्रयोग धातु के रूप मे भी किया जा सकता है परन्तु पत्र मुद्रा का ऐसा कोई प्रयोग नही हो सकता है। विमुद्रीकरण (Demonetisation) कर देने से पत्र मुद्रा केवल मूल्यहीन कागज मात्र रह जाती है। पत्र मुद्रा मे जनता सरकारी शक्ति के कारण ही विश्वास रखती है।

जमा मुद्रा
(Deposit Money)

उपरोक्त दो प्रकार की मुद्राओ (धातु मुद्रा और पत्र मुद्रा) को सामान्यतया एक ही नाम '(Currency' or 'hand-to-hand money" or pocket book money") से सबोधित किया जाता है परन्तु व्यापारिक बैंको की चेको द्वारा हस्तान्तरणीय माग देय (demand habilities) को 'बैंक-मुद्रा' या 'बैंक-जमा' या 'जमा-मुद्रा' के नाम से जाना जाता है।

सामान्य मुद्रा (common money) सभी लोगो द्वारा नि सकोच स्वीकार की जाती है परन्तु अनेक बार भुगतान करने के लिए इसकी आवश्यकता नही पडती है। हम चैंको के द्वारा भुगतान करते है और इन चैंको को कभी भी मुद्रा के रूप मे परिवर्तित नही कराया जाता। सामान्य मुद्रा का लेन-देन न होने पर भी विनिमय माध्यम का कार्य सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार माग-जमा (Demand deposit) को यदि बिना पूर्व सूचना के बैंक से सामान्य मुद्रा निकालने का अधिकार कहा जाय तो हम यह कह सकते हैं कि सामान्य मुद्रा का अधिकार (Claims on Common money) उतना ही उपयोगी है जितना सामान्य मुद्रा स्वय है। इसी अधिकार मुद्रा (claim money) को बैंक–मुद्रा या जमा-मुद्रा या चैक बुक मनी कहा जाता है।

जमा-मुद्रा का निर्माण व्यापारिक बैंको द्वारा किया जाता है। जमा-मुद्रा निर्माण की विधि की व्याख्या "बैंको द्वारा साख सृजन" अध्याय मे की गई है। यहा केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि बैंको द्वारा जमा-मुद्रा का निर्माण असीमित मात्रा मे नही किया जा सकता। मौद्रिक अधिकारी (monetary Authority) प्रत्यक्ष रूप

से सामान्य मुद्रा (common money) और अप्रत्यक्ष रूप से जमा-मुद्रा (Deposit money) पर नियन्त्रण रखता है।

जमा-मुद्रा, धातु मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा की तुलना मे अधिक वहनीय है क्योंकि इसका भार नही के बराबर है। लोच और सुरक्षा के दृष्टिकोण से भी यह अन्य प्रकार की मुद्राओ से श्रेष्ठ है। अपने इन्ही गुणो के कारण आजकल इसने आधुनिक व्यावसायिक जगत को आच्छादित कर रखा है।[1]

मुद्रा की वैधानिक मान्यता के आधार पर वर्गीकरण
(Classification on the basis of legal recognition of money)

1. विधिग्राह्य मुद्रा (Legal Tender money)
2. ऐच्छिक मुद्रा (Optional money)

विधि ग्राह्य मुद्रा (Legal Tender Money): विधि-ग्राह्य मुद्रा वह मुद्रा है जिसे वस्तुओ और सेवाओ के बदले स्वीकार करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति कानूनी तौर पर बाध्य होता है। कुछ प्रकार की मुद्राओ को सरकार द्वारा यह शक्ति प्रदान की जाती है। इसके द्वारा मुद्रा की स्वीकार्यता मे वृद्धि हो जाती है तथा ऋणी और ऋणदाता के भुगतान सम्बन्धी दायित्वो के बारे मे कानूनी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। आधुनिक युग म, जब 'जमा मुद्रा' का प्रयोग बढता जा रहा है, मुद्रा की कानूनी शक्ति का महत्व कम होता जा रहा है। लोग मुद्रा स्वीकार करते समय उसके कानूनी पक्ष के प्रति सामान्यतया उदासीन रहते हैं। केवल मौद्रिक व्यवस्था की सकटकालीन स्थिति मे मुद्रा की कानूनी शक्ति मे जन सामान्य की रुचि दिखाई पडती है। विधि-ग्राह्य मुद्रा के दो भेद हैं—

1. असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा (unlimited legal tender money) ऋणो के अन्तिम भुगतान मे किसी भी मात्रा मे जिस मुद्रा द्वारा भुगतान स्वीकार करने को बाध्य किया जा सके उसे असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा कहते हैं।

2, सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा (limited legal tender money) इस प्रकार की मुद्रा को भी भुगतानो मे स्वीकार करने के लिए लोग कानून द्वारा बाध्य होते हैं परन्तु एक निश्चित मात्रा तक ही। निर्धारित सीमा से अधिक मुद्रा स्वीकार करना भुगतान प्राप्त करने वाले की इच्छा पर निर्भर करता है। प्रोफेसर राबर्टसन ने इस प्रकार की मुद्रा को सहायक मुद्रा (subsidiary money) कहा है।

---

[1] "Because of its flexibility and safety, deposit money is predominant in mediating financial and other business transactions"
—Whittlesey Freedman Herman
—Money and Banking :
—Analysis and Policy 1963 - P. 20.

ऐच्छिक मुद्रा (Optional Money) : ऐच्छिक मुद्रा साधारणतया भुगतान के रूप मे स्वीकार की जाती है परन्तु इसे स्वीकार करने के लिए कानूनी बाध्यता नही होती। इस प्रकार की मुद्रा के अन्तर्गत साखपत्र, चेक, बिल ग्राफ एक्सचेंज, प्रतिज्ञा पत्र ग्रादि को शामिल किया जाता है। इनके पीछे सरकारी शक्ति का सहारा नही होता बल्कि इन्हे भुगतान करने वाले की साख मे विश्वास के कारण स्वीकार किया जाता है।

प्रोफेसर राबर्टसन ऐच्छिक मुद्रा के अन्तर्गत चेक ग्रादि को शामिल नही करते। इसमे वे ऐसी चीजो को शामिल करते हैं जो परम्परागत भुगतान के साधन के रूप मे प्रयोग होती है (जैसे भारत मे बीसवी सदी के प्रारम्भिक वर्षों मे सोने की गिन्नी और बाद मे चाँदी के सिक्के वैधानिक मान्यता न होने पर भी भुगतान के लिए प्रयोग होते थे।) राबर्टसन ने विधिग्राह्य मुद्रा, सहायक मुद्रा और ऐच्छिक मुद्रा को सामूहिक रूप से 'साधारण मुद्रा" की सज्ञा दी है।

राबर्टसन के अनुसार असीमित विधिग्राह्य मुद्रा के भी दो भेद हैं (1) परिवर्तनीय विधिग्राह्य और (2) प्रामाणिक विधिग्राह्य। परिवर्तनीय विधिग्राह्य वह मुद्रा है जिसके बदले सरकार से अन्य प्रकार की मुद्रा प्राप्त की जा सके और प्रामाणिक विधिग्राह्य वह है जिसके बदले अन्य प्रकार की मुद्रा प्राप्त करने का अधिकार नही होता इनमे सभी दायित्वो का अन्तिम भुगतान हो जाता है।

खाता रखने के ग्राधार पर मुद्रा का वर्गीकरण (Classification of money on the basis of maintenance of account.)—लार्ड कीन्स ने मुद्रा के दो प्रमुख भेदो का उल्लेख किया है (1) लेखा मुद्रा (Money of Account) (2) वास्तविक मुद्रा (Money Proper)। लेखा मुद्रा वह मुद्रा है जिसमे कीमतो, ऋणो तथा सामान्य क्रय-शक्ति को व्यक्त किया जाता है—*"In which debts prices and general purchasing power are expressed."* यह एक प्रकार का नाम है, पद है, जो निरन्तर बना रहता है। वास्तविक मुद्रा वह है जो वास्तव मे विनिमय माध्यम के रूप मे चलन मे रहती है। यह वह रूप है जिसमे सामान्य क्रयशक्ति निहित रहती है। यह वह वस्तु है जो लेखा मुद्रा के पद को ग्रहण करती है। जैसे रुपया भारत की लेखा मुद्रा है, सिक्का, नोट ग्रादि वास्तविक मुद्रा है।

कीन्स ने लेखा मुद्रा के भी दो वर्ग किए हैं (1) राज्य मुद्रा (State Money) और (2) बैंक मुद्रा (Bank Money)। राज्य मुद्रा राज्य द्वारा जारी की जाती है। इसके अन्तर्गत विधिग्राह्य मुद्रा, बैंक द्वारा जारी किए गए नोट तथा केन्द्रीय बैंक जमा शामिल है। बैंक मुद्रा के अन्तर्गत व्यापारिक बैंको की जमा मुद्रा शामिल की जाती है। वास्तव मे यह व्यक्तिगत ऋणो की स्वीकृति मात्र है। कीन्स ने बैंक नोट तथा

केन्द्रीय बैंक जमा को प्रतिनिधि मुद्रा भी कहा है। वस्तुतः राज्य मुद्रा के तीन रूप बताए जाते हैं। (1) वस्तु मुद्रा—कोई दुर्लभ वस्तु जो मुद्रा के कार्यों के लिए चुनी जाय, (2) प्रबन्धित मुद्रा (Managed Money) में कोई वास्तविक मूल्य नहीं होता, परन्तु इसके मूल्य को परिवर्तनशीलता के द्वारा या अन्य प्रकार से निश्चित रखा जाता है और (3) प्रादिष्ट मुद्रा (Fiat Money) यह प्रतीक मुद्रा है और विधानतः परिवर्तनीय नही होती है। मुद्रा के इन भेदो के अलावा कीन्स ने "चालू मुद्रा" का भी उल्लेख किया है। 'चालू मुद्रा' के अन्तर्गत इन्होने जनता के पास राज्य मुद्रा तथा सदस्य बैंको की जमा मुद्रा को शामिल किया है।' चालू मुद्रा' के तीन उपभेद बताये हैं (i) आय मुद्रा–वह मुद्रा जो आय प्राप्ति के समयो के बीच के खर्च के लिए जनता के पास हो, (ii) व्यापार मुद्रा—वह मुद्रा जो व्यापारिक कार्यो को जारी रखने के लिए रखी जाय और (iii) सचय मुद्रा—वह मुद्रा जो विनियोग के लिए रखी जाय।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) विभिन्न प्रकारों के पत्र-मुद्रा की विवेचना कीजिए। इसके गुणों एव दोषो पर विचार कीजिए। (राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1964)

[सकेत—प्रथम भाग मे पत्र मुद्रा के प्रकार—प्रतिनिधि, परिवर्तनीय तथा अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा, बताइये। साथ ही साथ इनके गुणो तथा दोषों पर प्रकाश डालिए।]

(2) निम्न में भेद कीजिए—

(i) वास्तविक मुद्रा तथा हिसाब की मुद्रा।
(ii) पदार्थ मुद्रा तथा प्रतिनिधि पत्र मुद्रा।
(iii) विधिग्राह्य मुद्रा तथा ऐच्छिक मुद्रा।

(राजस्थान बी० काम०, 1960)

[सकेत—विभिन्न प्रकार की मुद्राओ का अर्थ स्पष्ट करते हुए उनमे भेद कीजिए।]

मौद्रिक मान
(Monetary Standards)

"It is impossible to have an International financial system alongside a commercial system that is fiercely and jealously national"
Crowther

मौद्रिक मान का सिद्धान्त (Concept) किसी मौद्रिक व्यवस्था की अन्तिम मुद्रा (Ultimate money) के जारी करने से सम्बन्धित शर्तों तथा स्वभाव से सबद्ध है। अन्तिम मुद्रा या प्रामाणिक मुद्रा वह मुद्रा है जिसमे मौद्रिक अधिकारी (Monetary authority) स्वय अपने दायित्वो का अन्तिम रूप से निपटारा कर सके। प्रो० हॉम के शब्दो मे प्रामाणिक मुद्रा के विनिमय मूल्य तथा परिमाण के नियन्त्रित करने की प्रमुख पद्धति (Method) ही मौद्रिक मान है।[1] प्रामाणिक मुद्रा का जो रूप होता है उसी के अनुसार उस मौद्रिक मान का नामकरण होता है। उदाहरणार्थ यदि स्वर्ण को प्रामाणिक मुद्रा की इकाई के रूप मे प्रयोग किया जाता है तो उसे स्वर्णमान कहा जायेगा। परन्तु इसके साथ यह भी स्मरण रखना होगा कि *मौद्रिक मान का मुख्य सम्बन्ध प्रामाणिक मुद्रा के आन्तरिक तथा बाह्य मूल्य के नियन्त्रण से है।*

आदर्श मौद्रिक मान
(Ideal Monetary Standard)

किसी देश और काल के सन्दर्भ मे मौद्रिक मान का रूप उसके लक्ष्यो द्वारा निर्धारित होता है। प्रत्येक देश की मौद्रिक व्यवस्था के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं। प्रथम, मौद्रिक व्यवस्था देश की आन्तरिक आवश्यकताओ के अनुरूप होनी चाहिए। दूसरे शब्दो मे मौद्रिक व्यवस्था को देश की प्रगति मे साथ देना चाहिए। द्वितीय, चूंकि कोई भी राष्ट्र ससार मे अन्य देशो से बिलकुल अलग नहीं रह सकता इसलिए

[1] "...We may therefore define monetary standard from the view-point of economics as the principal method of regulating the quantity and the exchange value of standard or definitive money."
Halm Monetary Theory, P 105

प्रत्येक देश की मौद्रिक व्यवस्था का एक अन्तर्राष्ट्रीय पहलू भी होता है। अन्तर्राष्ट्रीय पहलू की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस मौद्रिक व्यवस्था को विनिमय दर की स्थिरता बनाए रखने का प्रयत्न करना चाहिए। विभिन्न देशों की आर्थिक विषमता तथा प्रगति की असमानता आन्तरिक तथा बाह्य दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति को जटिल बना देते हैं इसलिए दोनों उद्देश्यों के बीच सामजस्य रखना ही मौद्रिक मान का आदर्श है। किसी भी आदर्श मौद्रिक मान में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है —

1. जनता का विश्वास—जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए मौद्रिक मान का सरल होना आवश्यक है। सरलता का तात्पर्य यह है कि मौद्रिक व्यवस्था के सभी पहलुओं को साधारण जनता समझती हो। जनता के विश्वास के अभाव में कोई भी मौद्रिक मान सफल नहीं हो सकता। दूसरी बात जो जनता के विश्वास को दृढ बनाती है वह है मौद्रिक मान की अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं से अनुरूपता। राजनैतिक स्थिरता भी मौद्रिक मान में जन-विश्वास को बढाती है।

2 लोच—कोई भी अर्थ-व्यवस्था तभी प्रगति कर सकती है जब मौद्रिक मान में लोच हो अर्थात् आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा प्रसार या सकुचन की नीति अपनाई जा सके जिससे व्यापारिक मांगे पूरी होती रहें, परन्तु साथ ही अनावश्यक रूप से मुद्रा की मात्रा अधिक या कम न हो।

3 *मूल्य में स्थायित्व—प्रामाणिक मुद्रा के मूल्य में अपेक्षाकृत स्थायित्व होना* चाहिए अन्यथा मुद्रा के कार्य सफलता पूर्वक नहीं किए जा सकते। विनिमय-माध्यम के रूप में मुद्रा सर्व स्वीकार्य तभी हो सकती है जब वह अपने कार्य सुगमता पूर्वक सचालित कर रही हो। मुद्रा के मूल्य में अधिक परिवर्तन होने से मुद्रा प्रसार या मुद्रा सकुचन के दुष्परिणामों से अर्थ-व्यवस्था के विश्रृंखलित होने की आशंका रहती है।

4 मितव्ययिता—मौद्रिक मान को आदर्श तभी कहा जा सकता है जब उसके सचालन में मितव्ययिता हो। यदि मौद्रिक मान खर्चीला है तो पिछड़े हुए देशों के लिए किसी भी परिस्थिति में उपयुक्त नहीं हो सकता क्योंकि इससे उनकी आर्थिक प्रगति में सहायता के स्थान पर बाधा पहुंचेगी। मितव्ययिता होने से दूसरा लाभ यह है कि सस्ते मौद्रिक मान में अधिक स्थायित्व रहता है। खर्चीला मौद्रिक मान आर्थिक सकट की परिस्थिति में टूट जाता है परन्तु सस्ता मौद्रिक मान विपन्नता में भी साथ देता रहता है।

5 कम हस्तक्षेप की आवश्यकता : आदर्श मौद्रिक मान की प्रवृत्ति स्वय-चालित होनी चाहिए। पूर्ण स्वयचालिता तो केवल कल्पना है वास्तव में होना यह चाहिए कि मौद्रिक मान के सचालन में कम से कम हस्तक्षेप की आव-

श्यकता पडे । यथा समय मुद्रा की मात्रा स्वतः व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार बदलती रहे । मौद्रिक मान का प्रबन्ध एवं नियमन भी सरल हो ।

मौद्रिक मान के रूप
(Types of Monetary Standards)

मुख्य रूप से मौद्रिक मानो को दो वर्गों मे बाटा जा सकता है ।

1 धातु मान (Metallic Standards)

2 पत्र मान (Paper Standards)

धातु मान के निम्नलिखित भेद हो सकते हैं ।

1. एक धातुमान (Monometallism)
2. द्विधातुमान (Bimetallism)
3. मिश्रित धातुमान (Symmetallism)
4. समष्टि वस्तु मान (Composite Commodity Standard)

एक धातुमान
(Monometallism)

एक धातुमान उस मौद्रिक मान को कहते हैं जिसके अन्तर्गत किसी एक धातु को मूल्यमान के रूप मे अपनाया जाता है । इस व्यवस्था मे किसी एक धातु (मूल्यमान के रूप मे अपनाई गई) के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा के रूप मे चलन मे होते हैं या उस धातु मे परिवर्तनीय होते है । इस मौद्रिक मान की प्रमुख विशेषताए निम्नलिखित हैं—

1. किसी एक निश्चित धातु को प्रामाणिक मुद्रा का आधार बनाया जाता है ।

2. प्रामाणिक सिक्का चलन मे होता है या प्रामाणिक मुद्रा धातु मे परिवर्तनीय होती है ।

3. यदि सिक्को को चलन मे रखा जाता है तो उनकी ढलाई भी स्वतन्त्र होती है ।

4. प्रामाणिक मुद्रा असीमित विधिग्राह्य होती है ।

5 सहायक मुद्राए भी चलन मे होती हैं परन्तु वे केवल सीमित विधि ग्राह्य होती हैं ।

एक धातु मान के लाभ (Advantages of Monometallism) :

1. जनता का विश्वास : एक धातुमान के अन्तर्गत किसी धातु के सिक्के चलन मे होते हैं *या प्रामाणिक मुद्रा धातु मे परिवर्तनीय* होती है इसलिए इसमे जनता का विश्वास अधिक होता है ।

2. सरलता : यह व्यवस्था जनता को आसानी से समझ मे आ जाती है इसलिए इसका सचालन सुगम होता है ।

3. विदेशी व्यापार मे आसानी : विदेशी मे भुगतान करने मे आसानी होती है क्योंकि एक धातुमान के रूप मे चादी या सोने को प्रामाणिक मुद्रा को आधार माना जाता है जो सभी देशों मे स्वीकार की जाती है । इस पद्धति मे विनिमय दर की स्थिरता बनाए रखना भी आसान रहता है ।

एक धातुमान के दोष (Disadvantages of Mono-metallism) : एक धातुमान का प्रमुख दोष यह है कि इसमें लोच का अभाव है । किसी भी मौद्रिक मान को आदर्श तभी कहा जा सकता है जब देश की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप उसमे परिवर्तन किया जा सके । एक धातुमान मे चूकि प्रामाणिक मुद्रा का धातु से सम्बन्ध होता है इसलिए उसकी मात्रा मे तभी परिवर्तन किया जा सकता है जब धातु की पूर्ति म पूर्ण लोच हो । यह कठिनाई मुद्रा की मात्रा बढाने मे अधिक होती है क्योंकि धातु की पूर्ति नहीं बढाई जा सकती । दूसरी तरफ यदि धातु की पूर्ति अचानक नई खानो की खोज के कारण बढ जाय तो उस धातु के मूल्य मे बडी कमी आ जाती है और प्रामाणिक मुद्रा के मूल्य तथा निश्चित मात्रा-धातु का मूल्य समान बनाए रखना कठिन हो जाता है ।

एक धातुमान की किस्मे (Kinds of mono-metallism) ·

एक धातुमान की दो मुख्य किस्म हैं—

1. स्वर्ण धातु मान (Gold Standard)
2. रजत मान (Silver Standard)

स्वर्णमान (Gold Standard) : वह मौद्रिक मान जिसमे मुद्रा के मौद्रिक मूल्य एव निश्चित मात्रा–स्वर्ण की कीमत स्वतन्त्र बाजार मे समान रखने का प्रयत्न किया जाता है । स्वर्णमान का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय मे किया जायेगा ।

रजत मान (Silver Standard) — रजत मान के अन्तर्गत मुद्रा के मौद्रिक मूल्य को एक निश्चित मात्रा-रजत की कीमत के बराबर रखा जाता है । इसमे चादी के सिक्के चलन में होते हैं *या मुद्रा चादी मे परिवर्तनीय होती है । सिक्कों का* चलन होने पर स्वतन्त्र ढलाई होती है । इसी के आधार पर विदेशो मे भुगतान किया जाता है । चादी के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध नही होता ।

रजत मान का प्रयोग 1870 के पूर्व कई देशों मे किया गया, परन्तु इसका व्यापक और दीर्घकालीन प्रयोग भारत और चीन मे हुआ । भारतवर्ष मे रजत मान 1835 से 1893 तक पूर्ण अर्थो मे कायम रहा । 1870 के बाद चादी के मूल्य मे निरन्तर कमी आने के कारण इसका सचालन कठिन होता गया । 1870 के

बाद अनेक योरोपीय देशों ने स्वर्णमान अपना लिया और भारत को विदेशी व्यापार मे कठिनाई होने लगी। अन्त. भारत ने 1893 मे रजत मान त्याग दिया परन्तु चादी की प्रामाणिक मुद्रा 1940 तक रखी गई। चीन मे रजत मान की व्यवस्था 1935 तक रही।

द्विधातुमान
(Bi metallism)

यदि किसी मौद्रिक व्यवस्था मे दो धातुओ के प्रामाणिक सिक्को की ढलाई की जा रही हो तथा दोनो ही धातुओ के सिक्के सरकार द्वारा निर्धारित अनुपात में विनिमय के माध्यम क रूप मे असीमित विधि ग्राह्य हो तो उसे द्विधातुमान कहा जायेगा।[1] द्विधातुमान उस समय तक सफलतापूर्वक चलता रहता है जब तक कानून द्वारा निर्धारित अनुपात अन्तर्राष्ट्रीय बाजार मे प्रचलित मूल्य अनुपात से मेल खाता है। कानूनी अनुपात एव वास्तविक मूल्य अनुपातो मे अन्तर होते ही एक धातु की स्वतन्त्र ढलाई अधिक कराई जाने लगती है और बदले मे दूसरी धातु प्राप्त कर उन देशो को भेजी जाने लगती है जहा उसका मूल्य अधिक है।

द्विधातुमान की विशेषताए (Characteristics of Bi-metallism)—

1 सोने और चादी दोनो ही धातुओ के सिक्के प्रामाणिक एव असीमित विधिग्राह्य होते हैं।

2. दोनो धातुओ के सिक्को की स्वतन्त्र ढलाई होती है।

3. दोनो धातुओ के सिक्को का पारस्परिक विनिमय अनुपात सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। इसी अनुपात म किसी भी धातु के सिक्को द्वारा भुगतान किया जा सकता है।

4 दोनो धातुओ के सिक्के पूर्णकाय मुद्रा होती हैं।

द्विधातुमान इस धारणा के कारण व्यवहार मे लाया गया कि एक धातु की मुद्रा, (पूर्ति कम होने के कारण) मुद्रा सकुचन के दुष्परिणामो क बिना मौद्रिक मांग को पूरी नहीं कर सकती। अठारहवी सदी क अन्त मे अधिकांश योरोपीय देशो मे द्विधातुमान का चलन था। जिन देशो मे द्विधातुमान अपनाया गया था उनमे फ्रास, यूनान, इटली, बेल्जियम तथा स्विटजरलैंड उल्लेखनीय हैं। अमेरिका ने भी द्विधातुमान 1792 मे अपनाया था जब एक सोने का सिक्का पन्द्रह चाँदी के सिक्को के बराबर माना गया। अमेरिका मे द्विधातुमान 1879 तक चलता रहा। भारत

[1] "If two metals can be coined freely as standard money and if the ratio between the value of the two metals in terms of the unit of account is fixed by law..., then we have a bimetallic standard or double standard" —Halm · "Monetary Theory" pp 108 - 109

मे द्विधातुमान 1835 के पूर्व चलन मे था । 1870 के बाद चादी का मूल्य गिरने के कारण दोनो धातुओ के मूल्यो के अनुपात को बनाये रखना कठिन हो गया और स्वर्णमान अपनाया जाने लगा । बीसवी सदी के प्रारम्भ तक द्विधातुमान समाप्त हो गया ।

द्विधातुमान के गुण (Merits of Bi metallism)

1. विदेशी व्यापार मे सहायक : द्विधातुमान से विदेशी भुगतान मे सुगमता आ जाती है क्योकि प्रत्येक देश को चाहे वे स्वर्णमान पर हो या रजतमान पर आसानी से भुगतान किया जा सकता है। विदेशी भुगतान के लिए विनिमय दर निर्धारित करने मे कोई कठिनाई नही होती है क्योकि धातुओ के अनुपात मे दर निर्धारित की जा सकती है । द्विधातुमान के अन्तर्गत आयात-निर्यात स्वतन्त्र होते है इसलिए विनिमय दर मे भी अधिक परिवर्तन नही होते ।

2. उचित प्रारक्षित निधि सम्भव : एक धातुमान मे उचित मात्रा मे धातु कोष बनाये रखना कठिन होता है, परन्तु द्विधातुमान मे एक धातु दूसरी धातु की कमी को पूरी कर देती है। धातु की कमी के कारण कभी-कभी मुद्रा की परिवर्तनशीलता का त्याग करना पडता है जैसा प्रथम महा युद्ध काल मे हुआ और इस कारण जनता का विश्वास उस मुद्रा से उठ जाता है और मौद्रिकमान असफल हो जाता है। द्विधातुमान मे दो धातुओ के होने के कारण परिवर्तनशीलता बनाए रखना आसान है ।

3 कीमत स्तर मे स्थायित्व द्विधातुमान के अन्तर्गत कीमत स्तर को स्थिर रखना आसान होता है क्योकि एक धातु की पूर्ति के कम अधिक होने से कीमत पर जो प्रभाव पडता है दूसरी धातु की वृद्धि और कमी से वह समाप्त हो जाता है । सरकार भी दोनों के अनुपात को बनाये रखने मे प्रयत्नशील रहती है इसलिए मुद्रा के मूल्यो मे परिवर्तन अधिक नही होता । परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जब दोनो धातुओ के मूल्यो मे भिन्न-भिन्न अनुपात होता है तो देश उस धातु को खोने लगता है जिसका दूसरे देशो की तुलना मे कम मूल्य रखा है ।

4. बैंको का कोष निर्धारण कम खर्चीला : द्विधातुमान के अन्तर्गत दोनो ही धातुओ के सिक्के असीमित विधि-ग्राह्य होने के कारण बैंक किसी भी धातु को कोष मे रख सकते हैं । दो धातुओ के सिक्को की ढलाई स्वतन्त्र होने से कुल मुद्रा की मात्रा भी अधिक होती है साख निर्माण अधिक होता है और उद्योगो तथा व्यापार को सस्ती मुद्रा उपलब्ध होती है ।

द्विधातुमान के दोष
(Demerits of Bi-metallism)

1. ग्रेशम का नियम क्रियाशील · द्विधातुमान मे ग्रेशम का नियम शीघ्र क्रियाशील हो जाता है क्योकि सरकार द्वारा घोषित अनुपात और बाजार मे प्रचलित

अनुपात मे अन्तर आते ही एक धातु की मुद्रा दूसरी धातु की मुद्रा की अपेक्षा लाभप्रद हो जाती है, जो धातु बाजार मे मँहगी है, उसकी मुद्रा चलन के बाहर चली जाती है और उसे गला कर उसका धातु के रूप मे विक्रय होने लगता है।

2. **अपव्यय** : द्विधातुमान मे खर्च बहुत होता है क्योकि दोनो प्रकार के सिक्को की ढलाई का व्यय वहन करना पडता है तथा सिक्को के चलन मे रहन के कारण उनका ह्रास होता है।

3. **सट्टेबाजी को प्रोत्साहन** सोने या चादी की पूर्ति म परिवर्तन होते ही उनके मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो के अनुमान के आधार पर सट्टेबाजी की प्रवृत्ति बढ जाती है और इसका बुरा प्रभाव पडता है।

4. **क्षतिपूर्ति नियम का लागू न होना** : वास्तव मे द्विधातुमान मे जब एक धातु की कमी हो जाती है तो उसकी पूर्ति दूसरी धातु द्वारा नही हो पाती। जिस धातु की मात्रा कम हो जाती है उसकी मुद्रा चलन से ही बाहर हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जब दो देशो मे इन धातुओ के मूल्यो का अनुपात अलग होता है तो द्विधातुमान का बनाये रखना कठिन हो जाता है।

द्विधातुमान के दोषो के दूर करने के सुझाव (*Suggestions for removing defects of Bi-metallism*) **प्रथम,** सुझाव यह दिया जाता है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान की स्थापना हो जाय जिससे क्षतिपूरक क्रिया सफलता से लागू हो सके और दो धातुओ की टकसाल दर तथा बाजार दर विश्व स्तर पर एक ही अनुपात मे होगी। उन्नीसवी सदी के अन्त मे किये गये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलनो मे यह सुझाव दिया गया था।

द्वितीय सुझाव यह दिया जाता है कि दोनो धातुओ के बाजार मूल्य म परिवर्तन होने के साथ-साथ घोषित अनुपात मे भी उसी प्रकार परिवर्तन कर दना चाहिए। ऐसा करने से ग्रेशम के नियम से बचा जा सकता है।

जिस प्रकार के द्विधातुमान का अब तक वर्णन किया गया है उसे शुद्ध द्विधातुमान कहा जाता है। परन्तु जैसा कि पहले बताया गया है इस प्रकार के द्विधातुमान की प्रमुख कठिनाई दोनो धातुओ के सिक्को के पारस्परिक विनिमय अनुपात को बनाये रखने की है। प्राय: बाजार मे जो इन धातुओ का पारस्परिक अनुपात होता है वह सरकारी अनुपात से भिन्न होता है और कई कारणो से सरकार उस पर नियन्त्रण नही रख पाती। इसलिए द्विधातुमान को अन्य रूपो मे भी अपनाया गया, जिनका वर्णन नीचे किया गया है।

पगु द्विधातुमान (Limping Standard) : जब किसी देश मे सोने और चादी दोनो ही धातुओ के प्रामाणिक सिक्के असीमित विधिग्राह्य मुद्रा के रूप म

चलन मे हो और उनका पारस्परिक विनिमय अनुपात सरकार द्वारा निश्चित हो, परन्तु दोनो मे से केवल एक धातु की स्वतन्त्र ढलाई की व्यवस्था हो तो उसे पगु द्विधातुमान कहा जाता है। जो धातु सस्ती हो जाती है उसकी स्वतन्त्र ढलाई नहीं की जाती। इसका उद्देश्य सस्ती धातु के सिक्को की ढलाई बन्द कर विनिमय अनुपात को स्थिरता प्रदान करना होना है। इस प्रकार पगु-द्विधातुमान की निम्नलिखित विशेषताए होती है—

1 सोने तथा चादी के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा के रूप मे चलन मे रहते हैं।

2 दोनो का धातु मूल्य एव मौद्रिक मूल्य बराबर रहता है और वे असीमित विधिग्राह्य होते है।

3 दोनो का पारस्परिक विनिमय अनुपात कानून द्वारा निश्चित कर दिया जाता है।

4 दोनो मे से अपेक्षाकृत महगी धातु की स्वतन्त्र ढलाई होती है एव अपेक्षाकृत सस्ती धातु की सीमित ढलाई होती है।

समानान्तर द्विधातुमान (Parallel Standard) यह द्विधातुमान भी शुद्ध द्विधातुमान का परिवर्तित रूप है। इसमे भी दोनो धातुओ के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा के रूप मे असीमित विधिग्राह्य होते हैं तथा उनकी स्वतन्त्र ढलाई की व्यवस्था रहती है, परन्तु दोनो धातुओ के सिक्को का पारस्परिक विनिमय अनुपात सरकार कानून द्वारा निश्चित नही करती। दोनो का पारस्परिक विनिमय अनुपात बाजार भाव के अनुसार निश्चित होता है। इसलिए विनिमय अनुपात निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। इस प्रकार समानान्तर द्विधातुमान की निम्नलिखित विशेषताए हैं—

1 दोनो धातुओ के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा के रूप मे चलन मे होते हैं।

2 दोनो की स्वतन्त्र ढलाई होती है।

3 दोनो असीमित विधिग्राह्य एव पूर्णकाय (full bodied) होते हैं।

4 दोनों का पारस्परिक विनिमय अनुपात बाजार भाव के अनुसार निर्धारित होता है।

मिश्रित धातुमान
(Symmetallism)

मिश्रित धातुमान एक काल्पनिक मान है क्योकि इसका किसी देश द्वारा वास्तविक प्रयोग नहीं किया गया। वास्तव मे उन्नीसवी सदी के अन्तिम चरण मे सोने और चादी की कमी के कारण तथा द्विधातुमान मे लागू होने वाले ग्रेशम के नियम से बचने के विकल्प के रूप मे अनेक अर्थशास्त्रियो ने, जिनमे मार्शल का नाम प्रमुख है, यह सुझाव दिया कि दोनो ही धातुओ के मिश्रण को मौद्रिक मान के रूप अपनाया जाय। इस योजना के अन्तर्गत सरकार एक निश्चित अनुपात मे मिलाई

गई सोने व चाँदी की छडो को अथवा उसी अनुपात मे अलग-अलग धातुओ को मुद्रा की एक दी हुई मात्रा द्वारा खरीदने अथवा बेचने के लिए तैयार रहती है। मिश्रित धातुमान के बारे मे मतभेद भी है। कई लोगो के अनुसार सोने चादी क अलावा अन्य धातुओ के सयोग (combination) की व्यवस्था भी अपनाई जा सकती है।

समष्टि वस्तुमान
(Composite Commodity Standard)

यदि मिश्रित धातुमान का सैद्धांतिक प्रसार (Extension) किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि प्रामाणिक मौद्रिक ईकाई मे धातुओ को ही नही अपितु अर्थ व्यवस्था मे उत्पादित सभी चुनी हुई वस्तुए सम्मिलित हो। ह्विटलसी, फ्रीडमन, हरमन ने अपनी पुस्तक 'Money and Banking' मे लिखा है—

"...Composite commodity money resembles symmetallism, but the standard unit, instead of consisting of metals only would be made up of an assorted list of staple commodities "

परीक्षा प्रश्न और उनके सकेत

1. द्विधातुमान तथा एक धातुमान की विशेषताओ की विवेचना कीजिए और बताइये कि द्विधातुमान, एक धातुमान की अपेक्षा मूल्य-स्तर को स्थायी रखता है। —(राजस्थान 1955, आगरा बी० काम० 1961)

[सकेत—प्रथम भाग मे द्विधातुमान तथा एक धातुमान का अर्थ समझाते हुए उनके मुख्य लक्षण बताइये। दूसरे भाग म द्विधातुमान मे दो धातुओ के सिक्के होने के कारण मुद्रा की कुल पूर्ति मे अधिक उच्चावचन होने की सम्भावना नही होती। अत द्विधातुमान मे मूल्य-स्तर अधिक स्थायी रहता है।]

2. द्विधातुमान से क्या अभिप्राय है? इसके गुणो तथा अवगुणो का विवेचन कीजिए। — (आगरा 1959, गोरखपुर 1959, विक्रम 1959)

[सकेत—प्रथम भाग मे द्विधातुमान की परिभाषा देते हुए इसकी मुख्य विशेषताओ की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे द्विधातुमान के लाभ तथा हानिया बताइये।]

5

ग्रेशम का नियम

(Gresham's Law)

"May it please your Majesty to understand that the first occasion of the fall of the exchange did grow by the king's Majesty, your late father, in debasing his coin from VI ounces fine to III ounces fine Whereupon, the exchanges fell from XXVI s VIII d to XIII s IV d which was the occasion that all your fine gold conveyed out of this your realm."

Sir Thomos Gresham.

मुद्रा-चलन के सम्बन्ध मे मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति को नियम के रूप मे प्रतिपादित करने का श्रेय ब्रिटिश अर्थशास्त्री सर टामस ग्रेशम को है। इस नियम को ग्रेशम का नियम कहा जाता है जो वास्तव मे मुद्रा के चलन का स्वाभाविक नियम है। महारानी एलिजाबेथ प्रथम अपने शासन काल में निकृष्ट सिक्कों के चलन से बहुत चिन्तित थी क्योंकि इससे कीमतो मे वृद्धि हो रही थी और व्यापारी वर्ग इसे तौल कर भुगतान लेने की पद्धति अपनाने लगा था। स्थिति को सुधारने के दृष्टिकोण से नये सिक्को को ढलवा कर प्रचार मे रखने का प्रयत्न किया गया तथा यह आशा की गई कि लोग नए पूर्ण मूल्य सिक्कों का प्रयोग करेंगे तथा पुराने और निकृष्ट सिक्के स्वत प्रचार स बाहर हो जायेंगे। परन्तु परिणाम इसके ठीक विपरीत हुआ, नए सिक्के प्रचार से गायब होने गए। इस स्थिति के बारे मे स्पष्टीकरण देते हुए महारानी के आर्थिक सलाहकार सर टामस ग्रेशम ने मानव स्वभाव पर आधारित मुद्रा चलन के नियम की व्याख्या की। इसके अनुसार "बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर कर देती है परन्तु अच्छी मुद्रा बुरी मुद्रा को चलन से बाहर नही कर पाती।" (Bad money drives out good, but good money does not drive out bad.) इस प्रकार इस नियम के अनुसार यदि अच्छी और बुरी मुद्राए साथ-साथ चलन मे हों तो अच्छी मुद्रा बुरी मुद्रा को चलन से बाहर कर देती है। यहा पर यह उल्लेखनीय है कि बुरी मुद्रा का तात्पर्य ऐसी मुद्रा से है जिसका धात्विक मूल्य अच्छी मुद्रा की अपेक्षा कम है ("Bad money or over valued money is

that which contains less bullion value for a stated face value than the good or undervalued money."

ग्रेशम के नियम की व्याख्या डा० मार्शल ने भी अपनी पुस्तक Money, Credit and Commerce मे की है। मार्शल ने इस नियम की परिभाषा देते समय इसकी सीमाग्रो का भी उल्लेख किया है। इनके अनुसार "यदि निकृष्ट मुद्रा सीमित मात्रा मे न हो तो वह उत्कृष्ट मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है।"[1]

कारण—सर टामस ग्रेशम ने इस नियम की व्याख्या धातु मुद्रा के संदर्भ म ही की थी। धातु मुद्रा मे इस नियम के लागू होने के कई कारण है—

1 घटिया मुद्रा के चलन मे रहने का कारण यह है कि लोग पूर्ण मूल्य मुद्रा को जमा करने लगते हैं इसलिए वह चलन से बाहर हो जाती है तथा घटिया मुद्रा का प्रयोग होता ह।

2 पूर्ण मूल्य मुद्रा को गलाकर उसका धातु के रूप म प्रयोग होने लगता है।

3 पूर्ण मूल्य मुद्रा का प्रयोग विदेशी भुगतानो के लिए किया जाने लगता है और घटिया मुद्रा आन्तरिक चलन मे रह जाती है।

इस प्रकार उपरोक्त कारणो के आधार पर एक धातुमान मे इस नियम की व्याख्या की गई, परन्तु वास्तव मे यह नियम द्विधातुमान एव पत्र मान मे भी लागू होता है।

द्विधातुमान—द्विधातुमान मे दोनो धातुग्रो के सिक्को का अनुपात कानून द्वारा निश्चित रहता है परन्तु बाजार मे दोना धातुग्रो के मूल्य का अनुपात कानून द्वारा निश्चित अनुपात से भिन्न भी हो सकता है। ऐसी स्थिति मे एक धातु का अधि मूल्यन हो जाता है और दूसरी का अपेक्षाकृत अवमूल्यन। जिस सिक्के का अधि मूल्यन (Overvalued) हो जाता है वह चलन मे रहता है और जिसका अवमूल्यन (Undervalued) होता है वह चलन के बाहर चला जाता है। उदाहरण के लिए यदि 1 स्वर्ण मुद्रा को 15 चाँदी की मुद्राग्रो के बराबर घोषित किया गया हो परन्तु बाजार मे 1 स्वर्ण मुद्रा का मूल्य 16 चाँदी की मुद्राग्रों के मूल्य के बराबर है तो ऐसी परिस्थिति मे 1 स्वर्ण मुद्रा को गलाकर उसक बाजार मे 16 चाँदी की मुद्रा प्राप्त की जा सकती है और सरकार से 16 चादी के सिक्को मे से 15 सिक्को क बदले 1 स्वर्ण का सिक्का प्राप्त किया जा सकता है और 1 चादी के सिक्के का लाभ उठाया जा सकता है। इस प्रकार स्वर्ण के सिक्के चलन के बाहर चले जायेंगे और चाँदी के सिक्के चलन मे रह जावेंगे।

[1] "An inferior currency, if not limited in quantity, will drive out the superior currency."

पत्रमान—पत्र मान मे ग्रेशम का नियम कोई विशेष महत्व नही रखता। परन्तु मानव स्वभाव के कारण यह नियम पत्र मान मे भी लागू होता है। सामान्यतया जनता मे नए नोटो के प्रति आकर्षण होता है और जब किसी के पास नए तथा पुराने दोनो प्रकार के नोट होते हैं तो वह पहले पुराने नोटो को ही खर्च करना चाहता है इसलिए उनका चलन वेग अधिक होता है। यदि पत्र मान और धातु मुद्रा दोनो चलन मे हो तो नि सदेह पत्र मुद्रा चलन मे रहती है और धातु मुद्रा की प्रकृति चलन से बाहर हो जाने की होती है।

नियम के अपवाद (Exceptions to the Law) – यह नियम अर्थ-शास्त्र के अन्य नियमो की तरह केवल सामान्य प्रवृत्ति की ओर सकेत करता है। यह सार्वभौमिक नही है, कई परिस्थितियो मे अच्छी और बुरी दोनो प्रकार की मुद्राए चलन मे होती हैं।

1. यदि निकृष्ट मुद्रा की मात्रा बहुत कम हो तो यह नियम लागू नही होता क्योंकि थोडी मात्रा मे होने के कारण वह उस देश के सभी प्रकार के भुगतानो का माध्यम नही बन सकती और अच्छी मुद्रा को आवश्यक रूप से प्रयोग करना होगा।

2. यदि समाज द्वारा निकृष्ट मुद्रा का बहिष्कार कर दिया जाय तो भी वह चलन मे नही रह सकती तथा अच्छी मुद्रा ही चलन मे प्रयोग की जायेगी। निकृष्ट मुद्रा मे सर्व स्वीकार्यता का गुण समाप्त हो जायेगा।

3. यदि जनता किसी मुद्रा का दीर्घ काल तक प्रयोग करते रहने के कारण उसकी अभ्यस्त हो और उसकी सामान्य स्वीकार्यता मे कोई सदेह न करती हो तथा मुद्रा को विनिमय माध्यम के अतिरिक्त मूल्यहीन समझने की स्थिति मे पहुँच गई हो तो भी यह नियम लागू नही होगा।

4. यदि देश मे बैंकिग का विकास हो गया हो और लोगों में बैंकिग भावना घर कर गई हो तो यह नियम प्रभाव हीन होगा।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि ग्रेशम के नियम के दो पहलू हैं, अच्छी मुद्रा का चलन से बाहर होना और निकृष्ट मुद्रा के चलन वेग मे वृद्धि होना। विनिमय माध्यम मे अविश्वास पैदा होने की स्थिति मे उसका चलन वेग बढ जाता है लोग शीघ्रातिशीघ्र उसे हस्तान्तरित करना चाहते है। ऐसी स्थिति मे अच्छी मुद्रा निश्चित रूप से चलन से बाहर चली जायेगी। अत: अपवादो के होते हुए भी यह नियम सामान्यत: लागू रहता है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) मुद्रा सम्बन्धी ग्रेशम के नियम की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। भारतीय चलन प्रणाली से आवश्यक उदाहरण दीजिए।

(राजस्थान बी० काम०, 1961)

[सकेत—ग्रेशम के नियम की व्याख्या कीजिए तथा उसकी सीमाओ का सकेत करते हुए यह बताइये कि आधुनिक पत्र मुद्रा व्यवस्था मे इसका कोई व्यावहारिक महत्व नही है। भारतीय चलन इतिहास से उदाहरण देकर अपने कथन की पुष्टि कीजिए।]

(2) निम्नलिखित मे से किन्ही तीन पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए —

(i) ग्रेशम का नियम

(ii) ....

(iii) ....

(iv) ....

(राजस्थान बी० काम०, 1968)

(आगरा 1968)

[सकेत – सक्षेप मे ग्रेशम के नियम की व्याख्या, लागू होने के कारण, लागू होने के क्षेत्र तथा अपवादों की चर्चा कीजिए।]

(3) "बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर कर देती है।" व्याख्या कीजिए।

(नागपुर 1960)

अथवा

ग्रेशम के नियम पर टिप्पणी लिखिए।

[सकेत—प्रथम भाग मे ग्रेशम के नियम की परिभाषायें देते हुए उसकी व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे नियम के लागू होने का क्षेत्र तथा नियम की सीमायें बताइये।]

6

स्वर्ण मान
(Gold Standard)

"The Gold Standard is a jealous God It will work, provided it is given exclusive devotion"

Crowther

स्वर्ण मान (**Gold Standard**) धातु मान के इतिहास मे सर्वाधिक प्रचलित रूप स्वर्ण मान का ही रहा है। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध मे स्वर्णमान का प्रारम्भ व्यापक रूप मे हुआ। सर्वप्रथम स्वर्ण मान का प्रारम्भ इगलैंड ने 1916 मे किया परन्तु उन्नीसवी सदी के अन्त तक ससार के प्रायः सभी देशो मे स्वर्ण मान प्रचलित हो गया था।

स्वर्णमान एक ऐसी मौद्रिक व्यवस्था है जिसमे देश की प्रामाणिक अथवा प्रधान मुद्रा की इकाई का मूल्य किसी न किसी रूप मे, स्वर्ण की निश्चित मात्रा के बराबर रखा जाता है। प्रामाणिक मुद्रा या तो निश्चित मात्रा और शुद्धता के बराबर स्वर्ण की बनी होती है या निश्चित मात्रा और शुद्धता के स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है। विस्तृत अर्थों मे यह भी कहा जा सकता है कि स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण की स्वतन्त्र ढलाई होती है परन्तु स्वर्णमान के इतिहास के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र ढलाई इसकी अनिवार्य विशेषता नही है। रावर्टसन के अनुसार ' स्वर्ण मान एक ऐसी स्थिति है जिसमे कोई देश अपनी मौद्रिक इकाई और एक निश्चित मात्रा स्वर्ण का मूल्य बराबर रखता है।"[1] इसी प्रकार हाट्रे का मत है कि स्वर्ण मान के अन्तर्गत प्रधान मुद्रा का मूल्य स्वर्ण से जोड दिया जाता है। जे. एल. हैन्सन के अनुसार "A country is said to be on the gold standard when the basic unit of its currency consists of a definite weight of gold of a certain degree of fineness."[2]

---

[1] "Gold Standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and the value of a defined weight of gold at an equality with one another."

[2] "Monetary theory and Practice" P. 144

—Robertson Money, P 97.

स्वर्ण मान की उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि स्वर्ण मान के अन्तर्गत देश की प्रमुख मुद्रा का स्वर्ण के साथ निश्चित सम्बन्ध होता है। स्वर्ण और प्रमुख मुद्रा का यह सम्बन्ध कई प्रकार से रखने का प्रयत्न किया गया जिसके कारण स्वर्ण मान ने कई रूप ग्रहण किया। स्वर्ण मान के कुछ प्रमुख रूपो का वर्णन नीचे दिया गया है।

स्वर्ण मान के प्रमुख रूप (द्वितीय महायुद्ध के पूर्व)

1. स्वर्ण चलन मान (Gold Coin Standard or Gold Currency Standard) :

प्रथम महायुद्ध के पूर्व स्वर्ण मान का यही रूप प्रचलित था। इस प्रकार के स्वर्ण मान मे निश्चित तौल एव शुद्धता के सिक्के ही देश की प्रमुख एव प्रामाणिक मुद्रा की इकाई होते हैं। इन सिक्को का धात्विक एव मौद्रिक मूल्य एक होता है। इस प्रकार प्रामाणिक मुद्रा का स्वर्ण के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार के सिक्को की स्वतन्त्र ढलाई होती है, स्वर्ण के निर्यात एव आयात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही होता। असीमित विधि ग्राह्य होते हैं। यदि स्वर्ण चलन मान के अन्तर्गत अन्य प्रकार की पत्र मुद्रा या सांकेतिक मुद्रा चलन मे रहती है तो वह प्रामाणिक सिक्के मे परिवर्तनीय होती है। किसी को भी स्वर्ण रखने या गलाने या किसी प्रकार प्रयोग करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है।

इस प्रकार का स्वर्णमान 1914 के पूर्व इगलैंड मे प्रचलित था। ब्रिटिश 'सावरेन' मे 123 27447 ग्रेन का $\frac{11}{12}$ शुद्ध सोना था। अमेरिका मे भी 1934 के पूर्व इसी प्रकार का स्वर्णमान था और डालर मे 25·8 ग्रेन का 9/10 शुद्ध सोना था। फ्रास मे भी प्रथम महायुद्ध के पूर्व इसी प्रकार का स्वर्ण मान था।

स्वर्ण मान के इस रूप मे प्रचलित रहने का प्रमुख लाभ यह था कि मौद्रिक व्यवस्था मे सरकार को हस्तक्षेप करने का अवसर नही मिलता था। इसका दूसरा गुण यह था कि इससे स्वर्ण के बाजार मूल्य मे स्थिरता रहती थी। अनेक देशो द्वारा इस प्रकार का स्वर्ण मान अपनाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान की स्थापना हुई और विनिमय दर मे स्थायित्व प्राप्त किया जा सका। परन्तु इन गुणो के साथ इसमे अनेक दोष भी थे। इसका सबसे बडा दोष इसका अत्यधिक खर्चीला होना था। बहुमूल्य धातु चलन मे रहने के कारण घिसती थी। टकसाल का व्यय अनावश्यक था। विदेशी व्यापार की अवस्था के अनुसार मुद्रा की मात्रा मे घट बढ होती थी अर्थात् मुद्रा पर विदेशो की परिस्थितियो का प्रभाव पडता था जिससे आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था अनावश्यक रूप से अस्त-व्यस्त हो जाती थी। यदि देश की आर्थिक व्यवस्था को देखते हुए अधिक मुद्रा की आवश्यकता महसूस होती थी तो भी सोने के

अभाव में मुद्रा की मात्रा नही बढाई जा सकती थी अर्थात् उचित लोच की मात्रा का अभाव था ।

2 A स्वर्ण पिण्डमान (Gold Bullion Standard) :

प्रथम महायुद्ध के बाद 1925 मे पुन जब स्वर्ण मान की पुनर्स्थापना हुई तो उसमे स्वर्ण चलन मान के दोषो से बचने का प्रयास किया गया । स्वर्ण मान का एक नवीन एव सुधरा हुआ रूप अपनाया गया जो स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा अधिक मितव्ययी था । इस रूप मे स्वर्ण मान के अन्तर्गत चलन मे सोने के सिक्के नही थे और न ही उनकी स्वतन्त्र ढलाई की व्यवस्था थी । विनिमय माध्यम के रूप मे नोटो और सांकेतिक सिक्को का प्रयोग किया गया । इन नोटो और सिक्कों के बदले सोने के सिक्के देने की भी व्यवस्था नही थी परन्तु प्रामाणिक नोटो के बदले सरकार स्वर्ण पिण्ड देने को तैयार थी बशर्ते वह एक निश्चित परिमाण से कम न हो । इसी प्रकार घोषित दर पर स्वर्ण पिण्ड खरीदने को भी तैयार रहती थी । सोने को बाहर भेजने या मगाने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी ।

इस प्रकार का स्वर्ण पिण्डमान इगलैंड मे 1925 से 1931 तक प्रचलित था और बैंक आफ इगलैंड 400 औंसो से अधिक का स्वर्ण पिण्ड बेचने और खरीदने को तैयार रहता था परन्तु इससे कम के नोटो के बदले स्वर्ण पिण्ड नही प्राप्त किया जा सकता था । फ्रास ने भी 1928 मे स्वर्ण पिण्डमान अपनाया ।

स्वर्ण पिण्डमान मे स्वर्ण चलन मान की अच्छाइयो के साथ साथ मितव्ययिता का गुण भी था । इसम शत प्रतिशत स्वर्णकोष की आवश्यकता नही थी और न ही टकसाल का व्यय था । शत प्रतिशत कोष की आवश्यकता न होने के कारण इसमे लोच की मात्रा भी विद्यमान थी जो एक अच्छे मौद्रिक मान का आवश्यक गुण है । किन्तु स्वर्ण पिण्डमान भी वाह्य कारणो के प्रभाव से अर्थ-व्यवस्था को मुक्त नही रख पाता था, यही इसका सबसे बडा दोष था ।

2 B सीमित स्वर्ण पिण्डमान (Limited Gold Bullion Standard) :

1934 मे अमेरिका मे डालर का स्वर्ण मूल्य कम कर दिया गया और चलन से स्वर्ण के सिक्के हटा लिये गये तथा सिक्को की ढलाई बन्द कर दी गई । उसी समय से यह व्यवस्था कर दी गई कि ट्रेजरी, लाइसैंस प्राप्त स्वर्ण रखने वालो से 35 डालर प्रति औंस शुद्ध सोना खरीद सकती है और भुगतान के रूप मे विक्रेता को ट्रेजरी ड्राफ्ट दिया जाता था । इस प्रकार स्वर्ण पिण्ड मान स्वतन्त्रतापूर्वक जमा मुद्रा मे परिवर्तित कराया जा सकता है । परन्तु ब्रिटिश स्वर्ण पिण्डमान की तरह सरकार स्वर्ण बेचने के लिये तैयार नही है । ट्रेजरी से केवल औद्योगिक कार्यों या निर्यात के लिये ही स्वर्ण प्राप्त हो सकता है । अमेरिका का स्वर्ण पिण्डमान अग्रलिखित विशेषताओ से युक्त है :

1. व्यक्ति व्यक्तिगत सचय के लिये स्वर्ण या स्वर्ण सिक्के नही प्राप्त कर सकता।

2. व्यक्ति या बैंक निजी निर्यात (Private Export) के लिए मुद्रा को स्वर्ण मे नही बदलवा सकते।

3. ट्रेजरी द्वारा स्वर्ण का क्रय-विक्रय ट्रेजरी सचिव के विवेक (discretion) पर निर्भर करता है।

3. स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) :—

स्वर्ण विनिमय मान स्वर्ण पिण्ड मान से मितव्ययी है। इस प्रकार के मान मे एक देश अपनी मुद्रा को परोक्ष रूप से स्वर्ण से सम्बन्धित करता है। वह किसी ऐसे देश की मुद्रा को अपने कोष मे रखता है जो स्वर्ण मान पर आधारित है। देश की प्रमुख मुद्रा स्वर्ण के सिक्को या पिण्डो मे परिवर्तनीय नही होती, परन्तु केन्द्रीय बैंक यह उत्तरदायित्व लेता है कि विदेशो मे भुगतान करने के लिए अन्य देश की मुद्रा अपने देश की मुद्रा के बदले मे उपलब्ध करेगा। इस प्रकार के स्वर्ण मान को स्वर्ण चलन विनिमय मान (Gold currency Exchange Standard) भी कहा जाता है। यदि सम्बन्धित देश कई ऐसे देशो की मुद्रा अपने कोष मे रखता है जो स्वर्ण मान पर आधारित हैं और भुगतान के लिए उन्हे देने का उत्तरदायित्व स्वीकार करता है तो उसे स्वर्ण विनिमय मान कहा जाता है। परन्तु मौलिक रूप से दोनो एक ही हैं और स्वर्ण विनिमय मान के नाम से ही जाने जाते हैं।

इस प्रकार का स्वर्ण मान फिलीपीन मे 1903 मे अपनाया गया। देश के अन्दर चाँदी का पीसो (Silver Peso) चलन मे था परन्तु स्वर्ण पीसो, जिसका वास्तव मे कोई सिक्का नही था, प्रामाणिक मौद्रिक इकाई बनाया गया और उसका मूल्य अमेरिका की मुद्रा के पचास सेण्ट रखा गया। 1934 के बाद इसका रूप बदल कर डालर विनिमय मान हो गया। परन्तु स्वर्ण विनिमय मान का वास्तविक रूप, 1920 के बाद जब स्वर्ण मान को पुन स्थापित करने का प्रयत्न किया गया, स्पष्ट रूप से सामने आया और अनेक देशो मे स्वर्ण मान को इस रूप मे अपनाया गया। वैसे भारतवर्ष मे स्वर्ण विनिमय मान सबसे अधिक कुशलतापूर्वक सचालित किया गया था। 1914 के पूर्व तथा 1924 से 1931 तक भारत मे स्वर्ण विनिमय मान ही चलन मे था।

स्वर्ण विनिमय मान जब तक अपेक्षाकृत छोटे देशो द्वारा अपनाया गया तब तक यह पूर्ण रूप से स्वर्ण मान पर आधारित देशो के साथ विनिमय दर मे स्थायित्व लाने मे सफल रहा। लेकिन जब यह योरोप के देशो म विस्तृत क्षेत्र म प्रयोग होने लगा तो इसकी कई त्रुटियाँ सामने आई। इसका एक बडा दोष यह था कि राष्ट्रीय मुद्रा विदेशी मुद्राओ पर आश्रित हो जाती थी। इसके अलावा केन्द्रीय बैंक को

विदेशी मुद्रा की काफी मात्रा कोष मे रखनी पडती थी। यह कोष सम्बन्धित देश के (विदेशी मुद्रा वाला देश जिसकी मुद्रा से परोक्ष रूप मे सम्बन्ध जोडा जाता था) केन्द्रीय बैंक के पास ही रखा जाता था और आवश्यकता के अनुसार उसका प्रयोग किया जाता था। जो देश स्वर्ण विनिमय मान पर होते थे अपना कोष बढाते जाते और अपने आयातों को सदैव कम रखने की नीति अपनाते। परन्तु इस प्रकार उनका कोष बढने से स्वर्ण मान पर आधारित देश जो डिपाजिटरी का काम करते उनको कठिनाई होती। उनकी मौद्रिक व्यवस्था तथा बैंक व्यवस्था पर स्वर्ण बाहर जाने का (उतनी बडी मात्रा मे) भयानक प्रभाव पडे। इगलैंड को इसी कठिनाई के कारण 1931 मे स्वर्ण मान त्याग देना पडा। इसके साथ ही स्वर्ण विनिमयमान पर आधारित देश को उस समय भयानक हानि होती, जब स्वर्ण मान पर आधारित देश स्वर्ण मे भुगतान करना बन्द कर देता। 1931 मे इगलैण्ड के स्वर्ण मान त्याग देने पर तथा स्वर्ण भुगतान बन्द कर देने पर फ्रास को बडी मात्रा मे हानि उठानी पडी।

4 स्वर्ण कोष मान (Gold Reserve Standard) :

स्वर्ण कोष मान की स्थापना का उद्देश्य विनिमय दर मे स्थिरता लाना था। 1931 मे ब्रिटेन, 1933 मे अमरीका तथा 1936 मे फ्रास द्वारा स्वर्ण मान का त्याग कर देने से उन देशो की विनिमय दर की स्थिरता समाप्त हो गई थी। अपनी-अपनी स्थिति को ठीक रखने के लिए इन देशो ने विनिमय समानी करण कोष (Exchange Equalisation Fund) की स्थापना अलग-अलग समय पर की जिसका उद्देश्य विनिमय दर को स्थिर रखना था। 1936 मे इन तीन देशो मे (ब्रिटेन, अमरीका, फ्रास) के बीच एक समझौता हुआ जिसे त्रिपक्षीय समझौता (Tripartite Agreement) कहा जाता है। इस समझौते के अनुसार तीनो ने विनिमय दर को विनिमय समानीकरण कोषो की सहायता से स्थिर रखने का वचन दिया। बाद मे इस समझौते मे अन्य देश (बल्जियम, हालैंड तथा स्विटजरलैंड) भी सामिल हुए।

इस प्रणाली मे स्वर्ण को विनिमय का माध्यम या मूल्य का मापक नही बनाया जाता और न ही कागजी नोटो के बदले स्वर्ण देने की व्यवस्था ही की जाती है। स्वर्ण के आयात तथा निर्यात की स्वतन्त्रता नही होती। केवल सरकार द्वारा ही मौद्रिक कार्यों के सम्बन्ध मे स्वर्ण आयात या निर्यात किया जा सकता है। इस प्रणाली मे विनिमय समानीकरण कोष (Exchange Eqalisation Fund) की स्थापना प्रत्येक सदस्य देश के लिए आवश्यक है।

इस व्यवस्था के अन्तर्गत जब किसी देश के समानीकरण कोष मे विदेशी मुद्रा की पूर्ति बहुत बढ जाती तो सम्बन्धित देश से उसकी मुद्रा के बदले स्वर्ण प्राप्त किया जा सकता था। इस प्रकार एक देश मे दूसरे देश से सोने का स्थानान्तरण

होता रहता था। परन्तु इस प्रकार के स्थानान्तरणो को गोपनीय रखने का प्रयास किया जाता था।

इस व्यवस्था का एक विशिष्ट लाभ यह था कि विनिमय दर मे स्थिरता भी रखी जा सकती थी और आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय हितो के सामन घुटने टेकने की आवश्यकता नही थी। आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर विदेशी विनिमय की माग तथा पूर्ति की घट-बढ का कोई प्रभाव नही पडता था। परन्तु यह व्यवस्था अधिक दिनो तक कार्य नही कर सकी क्योकि 1939 मे द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और असामान्य स्थितियो के कारण समाप्त हो गई।

स्वर्ण मान का रूप (द्वितीय महायुद्ध के बाद)

स्वर्ण समतामान (Gold Parity Standard) इस प्रकार के मान की स्थापना द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के साथ हुई। प्रत्येक सदस्य देश को अपनी मुद्रा का स्वर्ण मूल्य घोषित करना पडता है तथा सदस्यो के बीच विनिमय दर इन्ही घोषित मूल्यो के अनुपात मे निश्चित होती है। चूकि विनिमय दर का आधार स्वर्ण समताए होती हैं इसलिए इसे स्वर्ण समता मान कहा जाता है। वास्तव मे यह एक प्रकार का विनिमय मान (Exchange Standard) है क्योकि इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान स्वर्ण मे नही किये जाते, बल्कि विदेशी विनिमय द्वारा किये जाते है और विनिमय दर को स्थिर रखा जाता है। विभिन्न मुद्राओ की स्वर्ण समता की घोषणा केवल विभिन्न मुद्राओं के सम्बन्ध स्थापित करने के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है।

इस व्यवस्था में आन्तरिक क्षेत्र में मुद्रा का स्वर्ण से नाम मात्र का भी सम्बन्ध नही होता और प्रत्येक देश अपनी मौद्रिक नीति का स्वतन्त्र रूप से चयन करता है। किसी अन्य देश का इस विषय मे कोई हस्तक्षेप नही होता।

इस प्रणाली मे लोच का भी अभाव नही है क्योकि मौलिक असतुलन (Fundamental disequilibrium) की स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष स्वर्ण समता मे परिवर्तन करने की भी अनुमति देता है। विनिमय दर की स्थिरता बनाए रखने के उद्देश्य से सदस्यो को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण भी प्राप्त करने का प्रावधान है।

स्वर्ण मान के उद्देश्य अथवा कार्य
(Objectives of Gold Standard)

स्वर्ण मान चाहे जिस किसी रूप मे प्रचलित हो आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो मे, कुछ उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए ही अपनाया जाता है। इन क्षेत्रो मे स्वर्ण मान के क्या उद्देश्य है और उनको कैसे प्राप्त किया जाता है इसका वर्णन नीचे किया जायेगा।

आन्तरिक क्षेत्र मे स्वर्णमान—

1. नकद मुद्रा की मात्रा : आन्तरिक क्षेत्र मे स्वर्ण मान का प्रमुख उद्देश्य मुद्रा के परिमाण एव आन्तरिक मूल्य (Internal Value of Money) को नियत्रित करना है। जब कोई देश स्वर्ण मान पर आधारित होता है तो नकद मुद्रा की मात्रा स्वर्ण के स्टाक द्वारा निर्धारित होती है। यदि स्वर्ण चलन मान है तो स्वर्ण के सिक्को की ढलाई के लिए स्वर्ण चाहिए और यदि उस देश मे नकद का तात्पर्य केवल सिक्को मे है तो स्वर्ण के प्राप्त स्टाक पर ही नकद की मात्रा निर्भर करेगी। यदि नकद मे नोटो को भी शामिल किया जाता है तो नोट जारी करने वाली सस्था को अपने प्रत्येक नोट के लिए कोष मे स्वर्ण रखना होगा। यदि स्वर्ण पिण्डमान है तो भी जारी किये नोटो के एक निश्चित अनुपात मे स्वर्ण रखना आवश्यक होगा और नोट जारी करने वाली सस्था मनमानी नकद की मात्रा नहीं बढा सकती। उसकी सीमा प्राप्त स्वर्ण-स्टाक द्वारा ही निर्धारित होगी। स्पष्ट है कि नकद मुद्रा की मात्रा तभी बढाई जा सकती है जब स्वर्ण के स्टाक मे वृद्धि हो और जब स्वर्ण का स्टाक कम हो जाता है तो नकद मुद्रा की मात्रा को भी कम करना होता है।

2. बैंक मुद्रा की मात्रा स्वर्ण मान के अन्तर्गत स्वर्ण-स्टाक द्वारा केवल नकद की मात्रा ही निर्धारित नही होती वरन् बैंक मुद्रा अथवा जमा भी निर्धारित होती है। व्यापारिक बैंको की बैंक जमा निर्माण की प्रमुख सीमा उनका नकद अनुपात है। (Cash Ratio) यदि नकद अनुपात (Cash Ratio) मे परिवर्तन न किया जाय तो बैंक जमा निर्माण पर देश मे नकद मुद्रा की मात्रा का अत्यधिक प्रभाव पडता है। देश की कुल नकद मुद्रा की मात्रा स्वर्ण-स्टाक पर निर्भर करती है इसलिए बैंक जमा की मात्रा भी परोक्ष रूप से इसी पर आधारित है। केन्द्रीय बैंक, बैंको की ऋण नीति पर बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाओ तथा अन्य उपायो से नियन्त्रण करता है। स्वर्ण मान पर आधारित देश का केन्द्रीय बैंक इन उपायो का प्रयोग अपने स्वर्ण स्टाक को ध्यान मे रख कर ही कर सकता है। इस प्रकार इन परिस्थितियो मे मौद्रिक नीति देश की आन्तरिक आर्थिक स्थिति को देख कर नही निर्धारित की जाती बल्कि यह स्वर्ण-स्टाक के परिवर्तनो को ध्यान मे रख कर बनाई जाती है। सम्भव है कि विकासशील अर्थ-व्यवस्था के हितो को देखते हुए मुद्रा की मात्रा बढाना आवश्यक हो, फिर भी स्वर्ण-स्टाक की कमी होने के कारण मुद्रा की मात्रा घटाना पडे। उसी प्रकार मुद्रास्फीति की स्थिति होते हुए भी यदि स्वर्ण स्टाक में वृद्धि हो रही है तो आवश्यक न होते हुए भी मुद्रा की मात्रा बढाई जाती है। इस प्रकार स्वर्ण मान के अन्तर्गत मौद्रिक नीति का आधार आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकता नही होती। एक प्रकार से स्वर्ण मान पर आधारित देश द्वारा अपनाई गई मौद्रिक नीति वाह्य परिस्थितियो द्वारा थोप दी जाती है।

3 मुद्रा-मूल्य : स्वर्ण मान के अन्तर्गत मुद्रा का आन्तरिक मूल्य (Internal Value of the Currency) स्थायी रखना भी सम्भव होता है क्योंकि बैंक नोट सदैव ही स्वर्ण की उस मात्रा के मूल्य के बराबर मूल्य रखते है जिसका वे प्रतिनिधित्व करते है। वास्तव मे स्वर्ण मान अपनाने का सबसे बडा प्रलोभन ही यही था कि इसमे मुद्रा के मूल्य को स्थाई रखा जा सकता है। इगलैंड ने चादी के मूल्यो म अत्यधिक उतार-चढाव एव द्विधातुमान सचालन मे कठिनाई अनुभव की तो स्वर्णमान अपनाने का निश्चय किया क्योंकि इसके मूल्य मे स्थिरता थी। वास्तव मे जब तक विश्व म स्वर्ण की पूर्ति प्रतिवर्ष बहुत कम मात्रा मे बढती रही तब तक स्वर्ण के मूल्य मे भी अपेक्षाकृत बहुत अधिक स्थायित्व था। परन्तु स्वर्ण की नई खोजो और प्राप्तियो ने स्वर्ण के मूल्य को घटा दिया और अन्य वस्तुओ की कीमतें बढी (क्योंकि मौद्रिक इकाई का सम्बन्ध स्वर्ण की मात्रा से था)। विश्व म 1850–70 के बीच सामान्यत: कीमत स्तर बढा जिसका कारण कैलिफोर्निया और आस्ट्रेलिया मे स्वर्ण की नवीन उपलब्धियां थी। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि स्वर्ण मान पर आधारित मुद्राओं के मूल्यों में एकरूपता रहती है तथा उनकी कीमत स्तर मे साथ ही और एक ही दिशा मे परिवर्तन होता है। स्वर्ण मान पर आधारित देशो की कीमत स्तर मे अधिक परिवर्तन के दोष नही आ पाते।

स्वर्ण मान अपने आन्तरिक पक्ष (Domestic aspect) के उद्देश्यो की पूर्ति करने मे 1914 के पूर्व प्राय सफल रहा परन्तु प्रथम महायुद्ध और उसके बाद की गतिविधियो के सदर्भ मे यदि स्वर्णमान का अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वर्ण मान इन उद्देश्यो को प्राप्त करने मे पूर्ण रूप से सफल नही हो सका। प्रथम महायुद्ध काल मे और उसके बाद स्वर्ण के मूल्य मे काफी परिवर्तन हुए एव कीमत स्तर को स्थिर नही रखा जा सका। स्वर्ण के स्टाक का ध्यान रखे बिना ही बडी मात्रा मे नोट जारी किये गये। फिर भी 1914 के पूर्व का स्वर्ण मान मूल्य की स्थिरता बनाए रखने मे तथा मुद्रा की मात्रा नियन्त्रित करने मे सफल रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे स्वर्ण मान—

वास्तव मे स्वर्ण मान अपने उद्देश्यो के घरेलू पक्ष के लिए उतना महत्वपूर्ण नही है जितना अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष के लिए। स्वर्ण मान का प्रमुख महत्व अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य मान और विनिमय के माध्यम के रूप मे ही अधिक है। देश के अन्दर मुद्रा कानूनी विधिग्राह्य होने के कारण मूल्यमान और विनिमय के माध्यम के रूप मे सर्वमान्य रहती है परन्तु विदेशो मे भुगतान के लिए सभी प्रकार की मुद्राएं स्वीकार्य नही हो सकती। इसलिए स्वर्ण मान का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के रूप मे किया गया। परन्तु अन्तर्राष्टीय भुगतान-माध्यम के रूप मे स्वर्ण मान का सचालन कुछ आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एव राजनैतिक शर्तों को पूरा होने की अपेक्षा

करता है। जिन शर्तों या नियमों का पालन अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान की सफलता के लिए आवश्यक है उन्हें स्वर्ण मान सचालन के नियम (Rules of the Gold Standard Game) के नाम से जाना जाता है। ये नियम निम्नलिखित हैं :—

1. मौद्रिक नीति सम्बन्धी नियम – अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के सदस्यों की मौद्रिक नीति आन्तरिक उद्देश्यो पर आधारित नही होनी चाहिए। जहा आन्तरिक उद्देश्यो का अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यो से विरोध हो वहा अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। लार्ड केन्स के शब्दो मे—"The main criterion of the banking policy of each country should be the average behaviour of all other members, its own voluntary and independent contribution being a modest one."

स्वर्ण मान के सचालन का एक प्रमुख नियम यह है कि स्वर्ण निर्यात वाले देश मुद्रा सकुचन एव स्वर्ण आयात वाले देश मुद्रास्फीति की नीति का अनुसरण करे। यदि स्वर्ण प्राप्त होने पर कोई देश मुद्रास्फीति की नीति नही अपनाता तो वह इस नियम की अवहेलना करता है। स्वर्ण की मात्रा इकट्ठी करके वह अपनी घरेलू मौद्रिक एव ऋण नीति के द्वारा ही स्वर्ण के मूल्य को निर्धारित करने लगेगा, परन्तु स्वर्ण मान मे स्वर्ण-मूल्य अन्य सदस्यो के व्यवहार पर भी निर्भर करना चाहिए। इस नियम का पालन न करने से स्वर्ण निर्यात करने वाले देश पर मुद्रा सकुचन का दबाव बढता जाता है जिससे उत्पादन एव रोजगार मे कमी आती जाती है और अन्त मे वह देश स्वर्ण मान का परित्याग कर देता है।

2. मुक्त व्यापार नीति – उपरोक्त नियम का वास्तविक उद्देश्य मौद्रिक नीति द्वारा भुगतान सतुलन अर्थात् आयात एव निर्यात मे आवश्यक परिवर्तन लाना होता है। अतएव यदि स्वर्ण आयात करने वाले देश मे मुद्रास्फीति की नीति को अपनाई जाय परन्तु उस देश के कीमत स्तर एव आय तल मे लोच की कमी हो तो कीमत स्तर मे परिवर्तन नही होगा तथा आयात एव निर्यात की मात्रा प्रभावित नही होगी। उसी प्रकार स्वर्ण निर्यात करने वाले देश मे भी यदि मुद्रा सकुचन की नीति अपनाने के बावजूद भी कीमत स्तर कम नही होता तो निर्यात (वस्तुओ का) नही बढेगा। इसी प्रकार यदि स्वर्ण प्राप्त करने वाला देश आयातो पर कर की मात्रा बढा दे तो स्वर्ण निर्यात करने वाले देश को अपना निर्यात (वस्तुओ का) बढाने के लिए कीमत तल बहुत अधिक गिराना पडेगा जो अर्थ-व्यवस्था के लिए बहुत ही खतरनाक हो सकता है। इसलिए स्वर्ण मान पर आधारित देशो को विशेष रूप से स्वर्ण प्राप्त करने वाले देश को मुक्त व्यापार (Free Trade) की नीति अपनानी आवश्यक है। यही स्वर्ण मान का दूसरा नियम है जिसका पालन इसकी सफलता के लिए आवश्यक है। प्रो॰ हाम के शब्दो मे—"..... an increasing amount of control

measures and restrictions of international commerce hinder those adjustments which are the very essence of the mechanism"

3. अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के लेन देन सम्बन्धी नियम—स्वर्ण मान के सफल सचालन का तीसरा नियम यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी का लेन-देन करने वाले देश अपनी नीति मे आकस्मिक परिवर्तन न करे। यदि इन नियमो का पालन नही किया जायेगा तो भुगतान शेष मे साम्यावस्था लाने के लिए काफी मात्रा मे स्वर्ण भेजना होता है तथा कीमत तल को हानिकारक स्तर तक नीचे गिराना पडता है। जिससे पूर्ण स्वर्ण मान व्यवस्था ही भग हो सकती है। प्रो० हाम के शब्दो मे—"Flight capital movements are entirely heedless of variations in the respective rates of interest and are capable of destroying the whole gold mechanism.—1930 मे इस नियम का उलघन कर अमेरिका ने जब जर्मनी का एकाएक ऋण देना बन्द कर दिया तो जर्मनी के लिए भुगतान शेष को सतुलित रखना कठिन हो गया और उसने विनिमय नियन्त्रण की नीति अपनाई।

4 स्वतन्त्र स्वर्ण आयात एव निर्यात—स्वर्ण मान को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सचालित करने के लिए यह भी आवश्यक है कि स्वर्ण के आवागमन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो। यदि स्वर्ण प्राप्त करने वाला देश प्रलोभन मे आकर स्वर्ण निर्यात पर रोक लगा दे तो स्वर्ण मान सफल नही होगा। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय हितों को राष्ट्रीय हित से ऊपर रखना आवश्यक है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान की सफलता के लिए कुछ नियमो का पालन करना आवश्यक है। इन नियमो की अवहेलना होने पर स्वर्ण मान की समाप्ति निश्चित है। इसी विचार से प्रेरित होकर क्राउथर ने कहा है

"The Gold Standard is a jealous God. It will work, provided it is given exclusive devotion."

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की उपलब्धिया

1 विनिमय दर की स्थिरता—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर की स्थिरता को बनाए रखना सम्भव है। प्रत्येक देश की मौद्रिक इकाई का मूल्य स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा के बराबर घोषित किया गया रहता है और उसी अनुपात मे उनके विनिमय दर निर्धारित होते हैं। इसे टकसाली विनिमय दर (Mint Par of Exchange) कहा जाता है। वास्तविक विनिमय दर इसी विनिमय दर के इर्द-गिर्द स्वर्ण आयात एव स्वर्ण निर्यात बिन्दुओ की सीमाओ मे घूमा करता है। जब कभी विनिमय बाजार मे विदेशी मुद्रा का मूल्य बढने लगता है तो लोग विदेशो मे भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा मे भुगतान करने के स्थान पर

स्वर्ण धातु मे भुगतान करने लगते हैं क्योकि स्वर्ण मान मे स्वर्ण के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नही होता । इसलिए विनिमय बाजार मे विदेशी मुद्रा की माग कम हो जाती है और विनिमय पुन टकसाली दर की ओर आने लगती है । स्थायी विनिमय दर होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एव पूँजी के लेन-देन मे एक विश्वास का वातावरण होता है । अपने इस गुण के कारण स्वर्ण मान को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से एक पूर्ण मौद्रिक व्यवस्था के रूप मे माना जाता था और अन्य व्यवस्थाओ से अच्छा समझा जाता था ।

2 **अन्तर्राष्ट्रीय आय एव कीमत तलों मे सामजस्य**—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान मे स्वर्ण के आयात निर्यात की स्वतन्त्रता होने के कारण न केवल विनिमय दर के परिवर्तनो को सीमा बद्ध करने मे सहायता मिलती है वरन् अन्तर्राष्ट्रीय कीमत-तल म सामजस्य भी स्थापित किया जाता है । स्वर्ण मान के अन्तर्गत थोडी मात्रा मे मुद्रा प्रसार या मुद्रा सकुचन तो किया जा सकता है परन्तु बडे पैमाने पर ऐसा करना सम्भव नही है । कोई भी एक देश बडे पैमाने पर और लम्बे समय तक इस प्रकार की नीति नही अपना सकता जब तक अन्य सदस्य भी वैसी ही नीति न अपनावें । यदि एक देश मुद्रा प्रसार या सकुचन की नीति अपनाता है तो उसे बाध्य होकर कुछ समय बाद इस नीति का त्याग कर देना होगा । उदाहरणार्थ यदि एक देश कीमत स्तर बढाता है तो उसके निर्यात कम और आयात अधिक होगे और भुगतान शेष प्रतिकूल हो जायेगा एव विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु की ओर बढेगी । स्वर्ण निर्यात होने के कारण देश मे स्वर्ण का स्टाक कम होगा मुद्रा का परिमाण कम हो जायेगा और कीमत स्तर पुनः अपने पूर्वास्तर पर पहुच जायेगा । इस प्रकार उस देश की कीमतो और अन्य देशो की कीमतो मे पहले जैसा सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा । इसीलिए प्रो० हाम ने कहा है— 'The gold flow acts as an automatic brake on credit expansion and credit contraction'

3 **स्वय चालिता**—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को 'स्वय चालित मान' (Automatic Standard) के नाम से भी सबोधित किया जाता है । स्वर्ण मान के सचालन मे कोई जटिलता नही होती और प्राय किसी प्रकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता नही होती । सभी सदस्य स्वर्ण मान क्रीडा-नियमो से परिचित होते हैं और यदि वे उनका पालन करते रहे तो स्वर्ण मान स्वय सचालित होता रहता है । इससे एक लाभ यह भी है कि किसी देश की मौद्रिक सस्था क्या कदम उठाएगी इसका भी अन्य देशो को पता रहता है जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे एक प्रकार की निश्चितता आ जाती है । फिर भी उपरोक्त बातें सैद्धान्तिक रूप से ही पूर्ण सही कही जा सकती है, व्यवहार मे बडी कुशलता की आवश्यकता होती है । स्वर्ण के आवागमन का सदस्य देशो की राष्ट्रीय ऋण व्यवस्था पर जटिल प्रभाव पडते हैं और उनका

सतर्कता के साथ प्रबन्ध करना आवश्यक हो जाता है। कीमतो मे स्वत ही इतना परिवर्तन हो जिससे आयात और निर्यात प्रभावित हो इसके लिए बहुत बडी मात्रा मे स्वर्ण का आवागमन होना चाहिए। इसके साथ ही स्वत सामजस्य होने मे समय भी अधिक लगता है। इतनी बडी मात्रा म स्वर्ण के आवागमन होने से स्वर्ण निर्यातक देश को स्वर्ण मान बनाए रखना कठिन हो जाता है इसलिए मौद्रिक सस्था हस्तक्षेप करती है और ऐसी नीति अपनाती हैं कि बिना बडी मात्रा मे स्वर्ण भेजे ही, स्थिति को ठीक किया जा सके। स्वर्ण मान का इतिहास बताता है कि स्वर्णमान के सचालन मे बैंक दर तथा मुद्रा नीति का कितना हाथ रहा है। जब विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु के निकट होती तो बैंक दर मे वृद्धि करके पूजी आयात को प्रोत्साहित किया जाता एव आय एव कीमत तल मे कमी आने लगती। स्वर्ण निर्यात के पहले ही स्वर्ण निर्यात से सम्बद्ध परिणाम प्राप्त हो जाते। विनिमय दर के स्वर्ण आयात बिन्दु के निकट हाने पर बैंक दर को कम करके अपेक्षित परिणाम प्राप्त किए जाते हैं। इसीलिए कुछ अर्थशास्त्रियो ने अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को केवल आशिक रूप से ही स्वय-चालित (Semi-automatic) कहा है।

4 **स्वर्ण-मूल्य की स्थिरता**—यह कहना अतिशयोक्ति नही होगी कि स्वर्ण मान के अन्तर्गत एक लम्बी अवधि तक स्वर्ण के मूल्य को स्थिर रखा गया। परन्तु स्वर्ण मूल्य की स्थिरता का कारण प्राय इसकी पूर्ति की स्थिरता ही थी। चूकि स्वर्ण के मूल्य मे स्थिरता थी इसलिए स्वर्ण पर आधारित मुद्रा की क्रय-शक्ति भी स्वर्ण के मूल्य के बराबर बनी रही।

5 **स्वर्ण का उचित वितरण**—स्वर्ण मान विश्व के स्वर्ण-स्टाक का सदस्य देशो मे न्यायपूर्ण वितरण करता है। यदि स्वर्ण मान के नियमो का उचित रूप से और निष्ठा के साथ पालन किया जाय तो स्वर्ण के प्रति मोह समाप्त हो जाता है और उसके अन्यायपूर्ण वितरण का भय नही रहता है। स्वर्ण मान की प्रक्रिया इस प्रकार की है कि जब स्वर्ण के निर्यात करने से स्वर्ण स्टाक मे कमी होती है तो स्वत ही, अधिक निर्यात, कम आयात तथा अल्प कालीन पूंजी के आयात के परिणामस्वरूप वह कमी पूरी भी होने लगती है।

6 **स्वर्ण-उत्पादक देशो को लाभ :** स्वर्ण का विश्व व्यापी मौद्रिक प्रयाग होन के कारण उन देशो को विशेप लाभ होता है जिनको स्वर्ण उत्पादित करने का सौभाग्य प्राप्त है। सभी देशो द्वारा स्वर्ण की माग होन के कारण इन देशो को स्वर्ण बेचने मे सुविधा रहती है और अपेक्षाकृत स्वर्ण की कीमत स्थिर रहने के कारण उनको प्राप्ति निश्चित रहती है। ऐसी अवस्था मे वे अपनी आर्थिक विकास की गति को बनाए रखने मे समर्थ होते हैं।

7. अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का कोष : अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के अन्तर्गत जब आवश्यक कोष से अधिक स्वर्ण कोष की स्थिति आ जाती है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय तरलता कोष के रूप मे कार्य करता रहता है । यदि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सतुलन बिगड जाता है तो स्वर्ण के आवागमन से, इस कोष के कारण, तात्कालिक मुद्रा प्रसार एव सकुचन की स्थिति पैदा होने से रोका जा सकता है । इस प्रकार यह एक प्रकार से शाक एब्जारबंर (Shock absorber) का कार्य करता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के दोष

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान की अनेक उपलब्धियो के होते हुए भी इसमें अनेक दोष है । दो महायुद्धो के बीच की अवधि मे स्वर्ण मान के अनेक दोष प्रकट रूप से विश्व के सामने आए । यह कहा जा सकता है कि स्वर्ण मान मे इसलिए दोष आ गए क्योकि सदस्यो ने स्वर्ण मान सचालन के नियमो की अवहेलना की । परन्तु इस बात से भी इन्कार नही किया जा सकता कि चाहते हुए भी सदस्य देश इन नियमो का पालन नही कर सके । यह इस बात का सकेत है कि स्वय स्वर्ण मान मे दोष अन्तर्निहित हैं वे केवल उस समय के ऐतिहासिक वातावरण के कारण नही पैदा हुए थे । स्वर्ण मान के निम्नलिखित दोष उल्लेखनीय है —

1 केवल अच्छे समय मे सफल होने वाला मान प्रो० हाम ने कहा है "It is a fair weather craft of doubtful sea worthiness in stormy waters. When the necessary conditions can not be fulfilled, the gold standard is abandoned and it becomes the task of "paper" standards to manage the bad situation" । इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि स्वर्ण मान केवल शान्त और सामान्य परिस्थितियो मे ही सफलतापूर्वक क्रियाशील रह सकता है । परिस्थितियो के कारण जब स्वर्णमान की शर्तों का पालन करना कठिन हो जाता है तो स्वर्ण मान का त्याग कर देना पडता है । परिस्थितियो को सामान्य बनाए रखने के लिए विश्व की अर्थ व्यवस्था मे लोच एव स्थायित्व का होना आवश्यक हैं । यदि सदस्य देशो के बीच के सम्बन्ध बिगड जाते हैं तो शका के वातावरण मे स्वर्ण मान असफल हो जाता है । 1914 के पहले स्वर्ण मान की वास्तविक परख नही की जा सकी क्योकि विश्व मे कोई प्रमुख अशाति की घटना नहीं घटी तथा कीमत स्तर स्वर्ण मूल्य से सम्बद्ध रखा जा सका । परन्तु प्रथम महायुद्ध के कारण वातावरण मे जो उथल पुथल हुई उसके बाद अधिकाश देशो मे स्वावलम्बी अर्थ व्यवस्था बनाने की एक लहर सी पैदा हो गई । राष्ट्रीय हितो को सर्वाधिक महत्व दिया जाने लगा और स्वर्णमान सम्बन्धी नियमो की खुले रूप से अवहेलना होने लगी । स्वर्ण मान का त्याग कर दिया गया ।

2 राष्ट्रीय हितों को गौण स्थान स्वर्ण मान की सफलता सदस्यो से जिस प्रकार के अनुशासन और त्याग की अपेक्षा करती है वह अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के

असतुलित होने की स्थिति मे अत्यन्त कठिन है । एक राष्ट्र द्वारा व्यवस्थित (Managed) मौद्रिक मान को अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक मान के आदर्शों के अनुरूप रखना उस समय कठिन हो जाता है जब उन आदर्शो के पालन से आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था पर बहुत अधिक दबाव पडे या उसके अस्त-व्यस्त हो जाने का भय हो। पिछडे हुए राष्ट्रों के लिए इन नियमो और आदर्शो का पालन करना और भी कठिन हो जाता है क्योकि उन्हे अपने विकास को बढाने के लिए आयातो पर प्रतिबन्ध तथा कीमतो मे उचित परिवर्तन लाना आवश्यक होता है ।

3. एक देश की आर्थिक अस्थिरता से दूसरा देश भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहता : स्वर्ण मान के अन्तर्गत स्वर्ण का स्वतन्त्र आयात-निर्यात होने के कारण एक देश की आर्थिक अस्थिरता दूसरे देश मे स्थानान्तरित हो जाती है । आर्थिक अस्थिरता राजनैतिक अस्थिरता को भी जन्म देती है। इस प्रकार अगर कुछ देश मुद्रास्फीति या सकुचन की नीति का अनुसरण करें तो अन्य देशो मे भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति पैदा हो जायेगी।

आधुनिक युग मे मौद्रिक नीति सम्पूर्ण अर्थनीति के सदर्भ मे निर्धारित की जाती है । आज की ऋण नीति एव सरकार का व्यय पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक साधन माने जाते हैं इसलिए इनको विनिमय दर की स्थिरता की वेदी पर बलिदान नही किया जा सकता । इसलिए जब कोई देश स्वर्ण मान के नियमो को छोडकर इस प्रकार के उद्देश्यो को ध्यान मे रखकर अपनी नीति बनाता है तो सदस्यो के बीच सामजस्य नही रह पाता और स्वर्ण मान भग हो जाता है । आज की अर्थ नीति आतरिक स्थिरता को अधिक महत्व देती है और विनिमय दर की स्थिरता को उसी सीमा तक ध्यान मे रखा जाता है जिससे आतरिक उथल-पुथल न हो सके ।

4 स्वर्ण मान का मुद्रा सकुचन की ओर अधिक झुकाव प्रो० राबिन्सन के शब्दो मे स्वर्ण मान मे सकुचन की ओर निहित झुकाव है ("inherent bias towards deflation) । स्वर्ण निर्यात करने वाले देश को निश्चित रूप से मुद्रा सकुचन करना पडता है, परन्तु स्वर्ण आयात करने वाले देश के समक्ष मुद्रा प्रसार करने की उतनी अनिवार्यता नही है । इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि केन्द्रीय बैंको के अधिकार मुद्रा सकुचन के लागू करने मे अधिक सशक्त हैं एव मुद्रा प्रसार के लिए कम सशक्त हैं । जान. एच विलियम्स के अनुसार इस दोष के दो अन्य कारण भी हैं । प्रथम कुछ देशो के लिए विदेशी व्यापार अन्य देशो की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होता है । द्वितीय, कुछ देश बडे होते हैं कुछ छोटे । परन्तु स्वर्ण मान का सिद्धान्त, एक रूप तथा लगभग एक आकार प्रकार के देशो के सम्बन्धो के आधार पर प्रतिपादित किया गया था ।

5. बेरोजगारी को बढावा : स्वर्ण मान के अन्तर्गत रोजगार को प्रोत्साहन नही मिलता । स्वर्ण मान के अन्तर्गत मजदूरी की वृद्धि प्राय: रोजगार को कम करके ही सम्भव है । यदि मजदूरी को रोजगार कम किए बिना बढने दिया जाये तो कीमत स्तर बदलता है परन्तु स्वर्ण मान मे कीमत तल में स्थिरता का प्रयत्न किया जाता है । चूकि मौद्रिक मजदूरी को मौद्रिक उपायो से नियन्त्रित नही किया जा सकता इसलिए स्थिर कीमत तल के विरुद्ध मौद्रिक मजदूरी बढने का परिणाम बेरोजगारी के रूप मे सामने आयेगा ।

6 स्वर्ण मान मे भी प्रबंधित-मुद्रा से छुटकारा नहीं . लार्ड कीन्स के अनुसार आधुनिक युग मे जहा, पत्र मुद्रा एव बैंक मुद्रा का बाहुल्य है, प्रबंधित मुद्रा (Managed Currency) से छुटकारा नही मिल सकता चाहे वह स्वर्ण मे परिवर्तनीय ही क्यो न हो क्योंकि स्वर्ण का मूल्य स्वय केन्दीय बैंको की नीति पर निर्भर करता है ।[1] आजकल पूर्ण स्वयचालित मौद्रिक मान की कल्पना करना व्यावहारिकता से अपरिचित होने के समान है । चुनाव केवल इस बात मे करना है कि प्रबन्ध किस अश तक हो । स्वय चालित मौद्रिक मान द्वारा आन्तरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय स्थिरता प्राप्त की जा सकती है यह इतिहास द्वारा असत्य प्रमाणित हो चुका है । इसलिए मौद्रिक मान का प्रबन्ध राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय हित मे करना आवश्यक है ।

7. खर्चीला मौद्रिक मान स्वर्ण मान अपने प्रारम्भिक रूप मे बहुत ही अपव्ययी था । आनुपातिक स्वर्ण कोष भी केवल स्वर्ण मान के अन्तर्गत स्वत मुद्रा सकुचन की दृष्टि से एव पत्र मुद्रा मे जनता का विश्वास पैदा करने के लिए आवश्यक था । परन्तु जब मौद्रिक एव ऋण नीतियाँ सस्थाओ के विवेक पर निर्भर करती हैं तो बिना स्वर्ण कोष रखे भी मौद्रिक नीति का सफलता पूर्वक सचालन किया जा सकता है । यदि स्वर्ण का प्रयोग मुद्रा के पीछे कोष रखने के रूप मे नही किया जाय तो वह अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का बहुत बडा कोष हो सकता है और अस्थायी भुगतान असन्तुलन को ठीक करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है तथा आन्तरिक क्षेत्र मे आर्थिक नीति निर्धारित करने की प्रत्येक देश को स्वतन्त्रता प्रदान कर सकता है । कुछ अर्थशास्त्रियो ने तो यहां तक कहा है कि स्वर्ण उत्पादन पर लगाई पूंजी और श्रम भी बेकार जाता है । अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान को यदि साख व्यवस्था (Credit Arrangements) द्वारा अथवा बनावटी मौद्रिक इकाई (Artificial

---

[1] "In the modern world of paper currency and bank credit there is no escape from a managed currency whether we wish it or not;—convertibility into gold will not alter the fact that the value of gold itself depends on the policy of the central banks"
—J. M. Keynes:, Monetary Reform, P. 184.

Monetary Unit) द्वारा सम्भव बनाया जा सके तो मौद्रिक प्रयोग के लिए स्वर्ण उत्पादन एक प्रकार का अपव्यय मात्र है। चार्ल्स प्रो० हार्डी ने लिखा है, "When gold no longer performs that service (service of reducing the need for credit management) gold mining becomes sheer waste" परन्तु यह उस अवस्था मे सही है जब पूर्ण रोजगार की स्थिति हो और श्रम का अभाव हो। जहा श्रम बेकार पडा है वहा तो बेकार बैठ रहने की अपेक्षा गड्ढा खोदना भी अच्छा है।

स्वर्ण मान का स्वर्णिम युग (1816–1914)
(The Golden Period of Gold Standard)

यद्यपि व्यापक रूप से स्वर्णमान को 1870 के बाद ही अपनाया गया। परन्तु इसका सूत्रपात 1816 मे इगलैण्ड ने कर दिया था। इंगलैण्ड द्वारा स्वर्ण मान अपनाने का कारण यह था कि रजत के मूल्यों मे उतार-चढ़ाव होने के कारण इगलैण्ड को द्विधातुमान बनाए रखने मे बडी कठिनाई हो रही थी। बढते हुए व्यापार एव उद्योगो ने ऋणो के लेन-देन को बहुत बढावा दिया परन्तु चादी के मूल्य मे अस्थिरता होने के कारण रजत मुद्रा को भावी भुगतान का आधार मानने में लोगो को कठिनाई अनुभव हो रही थी। स्वर्ण का मूल्य अपेक्षाकृत अधिक स्थिर था इसलिए स्वर्ण मान की तरफ ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक था।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व स्वर्ण मान को सचालित करने मे कोई कठिनाई अनुभव नही की गई। विश्व मे शाति का वातावरण इस अवधि मे बना रहा। किसी भी देश को दूसरे देश का आर्थिक दबाव नही सहन करना पडा। सभी देशो ने स्वर्ण मान क्रीडा नियमो का आस्था और दृढता से पालन किया। इसलिए इस युग मे विनिमय दर मे स्थिरता रखी जा सकी और अन्तर्राष्ट्रीय आय एव कीमत तल मे सामजस्य रखा जा सका। स्वर्ण का आयात एव निर्यात अबाध गति से होता रहा और आन्तरिक हितो को अन्तर्राष्ट्रीय हितो के समक्ष गौण स्थान दिया जाता रहा। इसी अवधि मे वास्तव मे स्वर्ण मान अपने पूर्ण रूप मे विकसित एव सफल रहा। इसीलिए इसे स्वर्ण मान का स्वर्णिम युग कहा जाता है।

स्वर्ण मान का स्थगन (1914–1918)

प्रथम महायुद्ध छिडने के पूर्व स्वर्ण मान को एक अच्छे मौद्रिक मान के सभी गुणों से सम्पन्न समझा जाता था। लेकिन युद्ध के प्रारम्भ होते ही स्वर्ण मान को इतना गहरा धक्का लगा कि विनियोजको का विश्वास (इस मौद्रिक मान मे) डगमगा गया। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान समाप्त हो गया। आन्तरिक क्षेत्रो मे भी स्वर्ण मान स्थगित कर दिया गया। प्रो० सी. पी. श्रीवास्तव के शब्दो मे "It (war)

left behind it a long legacy of financial crises, unprecedented inflation of currencies, abnormal rise in prices, and a complete break down of the domestic and foreign exchange machineries of practically all the countries of the world "

युद्ध की असामान्य परिस्थितियो ने, युद्ध सचालन के लिए आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन एव वितरण की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता ने, तथा करो द्वारा उचित मात्रा मे आय प्राप्त होने की कठिनाईयो ने, युद्ध मे सलग्न सभी देशो मे अपूर्व मुद्रा स्फीति को जन्म दिया। स्वर्ण के आयात निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। स्वतन्त्र व्यापार की नीति को त्याग दिया गया। विनिमय दरें परिवर्तित होने लगी। स्वर्ण तथा वस्तुओ की कीमतो मे अत्यधिक वृद्धि हुई। सभी उत्पादक क्रियाओं मे वृद्धि हुई एव व्यापारी वर्ग तथा उद्योगपतियो ने खूब लाभ उठाया। सट्टे की प्रवृत्ति मे आशातीत वृद्धि हुई। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि अमेरिका के अलावा सभी देशो मे स्वर्ण मान का अन्त हो गया। विनिमय दरो मे अस्थिरता आ गई तथा अत्यधिक मुद्रा प्रसार हुआ।

युद्ध के बाद - युद्ध समाप्त होने के बाद एक प्रकार से स्वतन्त्र विनिमय नीति अपनाई गई थी परन्तु यह अनुभव बडा ही दुखद रहा। युद्ध के बाद अनेक देशो को अपनी जर्जरित अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण करना आवश्यक था और इसके लिए उन्हे विदेशो से भारी मात्रा मे सामग्री मगानी पडी। उनके पास अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का अभाव होने के कारण उनकी मुद्रा का बाह्य मूल्य निरन्तर गिरने लगा। दूसरे देशो ने अल्पावधि ऋण देना बन्द कर दिया तथा पहले से लगी पूँजी को वापस प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। यही नही, स्वय उन देशो के विनियोजकों ने विदेशो म पूजी लगाना अधिक लाभदायक समझा। इस प्रकार विदेशी विनिमय की निरन्तर बढने वाली माग के फलस्वरूप इन देशो की आर्थिक स्थिति बडी ही शोचनीय हो गई। परन्तु आन्तरिक नियन्त्रणो तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के द्वारा स्थिति को काबू मे रखने का प्रयत्न किया गया।

स्वर्ण मान की पुनर्स्थापना
(Rehabilitation of Gold Standard)

युद्ध समाप्त होने के बाद स्वतन्त्र विनिमय नीति के दुखद अनुभव के कारण भावी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था की रूप-रेखा पर शीघ्र ही विचार-विनिमय प्रारम्भ हो गया और यह विचार धारा प्रबल होती गई कि स्वर्ण मान की पुनर्स्थापन ही युद्धोत्तर के कुप्रभावो को दूर कर सकती है। लीग आफ नेशन्स के तत्त्वावधान मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो ने इस विषय पर विचार विमर्श किया। उस समय दो विचार-धाराएं सामने आई। एक विचार धारा के अनुसार स्वर्णमान की पुनर्स्थापना

आवश्यक थी। इसके समर्थकों मे प्रो० गुस्टव कैसेल का नाम प्रमुख है। दूसरी विचार धारा, जिसके प्रमुख समर्थकों मे लार्ड कीन्स का नाम उल्लेखनीय है, वैज्ञानिक ढग से नियन्त्रित पत्र मान की स्थापना पर जोर दे रही थी। प्रो० कीन्स ने स्वर्ण को भूतकाल का राक्षसी अवशेष कह कर सम्बोधित किया (Gold is a barbarous relic of the past), परन्तु अन्ततोगत्वा स्वर्ण मान के समथकों की विजय हुई और स्वर्णमान को पुन: स्थापित करने का निश्चय किया गया।

स्वर्ण मान की पुनर्स्थापना का निर्णय लेने के बाद दूसरा विवाद इस विषय पर प्रारम्भ हो गया कि मुद्रा के मूल्य को किस दर पर सोने के साथ जोडा जाय, अर्थात् (1) युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व की दर अपनाई जाय या (2) प्रचलित दर पर मुद्रा और स्वर्ण की समता निर्धारित की जाय या (3) भविष्य की परिस्थितियों का अनुमान लगा कर कोई अन्य दर अपनाई जाय। युद्ध के पूर्व अधिकाश देशो की मुद्राओ का जो मूल्य था युद्ध के बाद मुद्रा स्फीति के कारण उसमे भारी गिरावट आ गई थी। इसलिए युद्ध के पूर्व की दर अपनाने का तात्पर्य मुद्रा सकुचन द्वारा मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि करना था परन्तु मुद्रा सकुचन के प्रभाव कितने भयानक हो सकते हैं, यह सर्व विदित था। प्रचलित दर स्वीकार करने का तात्पर्य अवमूल्यन करना था। भविष्य की दर का अनुमान लगाना कठिन था, इसलिए उसे व्यावहारिक रूप नही दिया जा सकता था। अतएव मुद्रा सकुचन तथा अवमूल्यन की नीति का विकल्प सदस्यो के समक्ष था। अलग-अलग देशो ने इस सम्बन्ध मे अपना स्वतन्त्र निर्णय लिया। अमेरिका ने युद्ध पूर्व की दर को ही कायम रखा। इसके अतिरिक्त हालैंड, स्विटजरलैड, स्वीडन तथा नार्वे ने भी युद्ध के पूर्व की दर को अपनाया। इगलैड ने, अवमूल्यन के कारण स्टर्लिंग के महत्व मे कमी की आशका के कारण, युद्ध के पूर्व की दर को ही अपनाया, हालाकि यह उसके वर्तमान मूल्य से अधिक था। फ्रास ने युद्ध के बाद वर्तमान दर को अपनाया। 1928 तक स्वर्ण मान पुन स्थापित हो चुका था परन्तु इसकी रूप रेखा युद्ध के पूर्व के स्वर्ण मान से भिन्न थी। प्रत्यक्ष स्वर्ण मान का स्थान अप्रत्यक्ष स्वर्ण मान ने ग्रहण कर लिया था। इस नए स्वर्ण मान की कुछ प्रमुख विशेषताए निम्नलिखित थी —

1. **स्वर्ण चलन मान का अन्त** युद्ध के बाद स्वर्ण चलन मान का परित्याग कर दिया गया तथा इसके स्थान पर स्वर्ण पिण्ड मान तथा स्वर्ण विनिमय मान को अपनाया गया। सोने के सिक्कों का चलन समाप्त हो गया।

2. **नए सदस्य** युद्ध के बाद जिन देशो ने स्वर्ण मान को अपनाया उनमे कई देश ऐसे थे जो युद्ध के पूर्व स्वर्ण मान पर नही थे। दक्षिणी अमेरिका तथा कई योरोपीय देश इसके उदाहरण हैं। अत नए स्वर्ण मान का क्षेत्र अधिक व्यापक था।

3 अधिक नियन्त्रण युद्ध के बाद का वातावरण स्वर्ण मान के नियमों के पालन के लिए अनुकूल न होने के कारण मौद्रिक संस्थाओं या सरकारों को स्वर्ण मान को ठीक रखने के लिए नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप करना पड़ता था। यह स्वयं चालिता का गुण प्राय खो बैठा था।

4. कीमत तल की स्थिरता को प्रधानता . युद्ध के पूर्व के स्वर्ण मान की यह विशेषता थी कि राष्ट्रीय हितों को गौण स्थान दिया जाता था तथा अन्तर्राष्ट्रीय हितों को प्रधान। परन्तु युद्ध के बाद सभी देश आन्तरिक कीमत तल की स्थिरता को प्रधान तथा विनिमय दर की स्थिरता को गौण स्थान देने लगे थे।

स्वर्ण मान का पतन (Break-down of Gold Standard)

प्रथम महा युद्ध के बाद जो स्वर्ण मान स्थापित हुआ उसका इतिहास अत्यन्त ही अल्पकालीन एवं असफलताओं से परिपूर्ण है। 1928 तक स्वर्ण मान को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाने का कार्य समाप्त हुआ, परन्तु शीघ्र ही 1931 में इंगलैंड के स्वर्ण मान का त्याग करते ही स्वर्ण मान का अन्त प्रारम्भ हो गया। वैसे 1929 से ही कई छोटे देशों ने स्वर्णमान को त्याग करना शुरू कर दिया था।

वास्तव में 1914 के पूर्व स्वर्ण मान की सफलता का श्रेय इंगलैंड को ही था। युद्ध के बाद इंगलैंड ने जब स्वर्ण मान अपनाया तो युद्ध के प्रभाव के कारण आन्तरिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था और विदेशी बाजार में उसकी श्रेष्ठता (Supremacy) समाप्त होने लगी थी। अमेरिका इस दिशा में निरंतर आगे बढ़ रहा था। इंगलैंड द्वारा युद्ध के पूर्व की स्वर्ण समता की दर अपनाने के कारण उसकी प्रतियोगिता शक्ति विदेशों में और कमजोर हो गई थी। विदेशी व्यापार शिथिल हो जाने के कारण उद्योगों की हालत शोचनीय होने लगी और बेरोजगारी निरंतर बढ़ने लगी। भुगतान शेष असतुलित होता गया। 1929 की महान मंदी ने स्थिति को और खराब कर दिया और इंगलैंड के लिए स्वर्ण मान पर बने रहना कठिन हो गया और अन्त में 1931 में इसने स्वर्ण मान का सदैव के लिए त्याग कर दिया। इंगलैंड के स्वर्ण मान छोड़ते ही अनेक देशों ने स्वर्णमान का त्याग कर दिया और 1936 में फ्रांस के स्वर्णमान त्यागने के साथ स्वर्ण मान पूर्ण रूप से समाप्त हो गया।

स्वर्ण मान के पतन के कारण
(Causes of the break down of Gold Standard)

1. प्रतिकूल वातावरण (Unsuitable atmosphere) :

युद्ध के बाद स्वर्ण मान की स्थापना द्वारा यह आशा की गई थी कि युद्ध के पूर्व जिस प्रकार विनिमय दर में स्थिरता एवं कीमत तल में सामंजस्य बनाए रखा जाता था, उसी प्रकार की स्थिरता पुन प्राप्त की जा सकती है। परन्तु युद्ध के बाद

का सामाजिक, आर्थिक, एव राजनैतिक वातावरण पूर्णतया भिन्न था एव अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अनुकूल नहीं था। इस वातावरण की निम्न लिखित विशेषताए थी :

(अ) अतर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना का लोप . प्रत्येक देश मे राष्ट्रीयता की भावना का उदय हो चुका था एव हर देश अपनी आन्तरिक आर्थिक परिस्थितियो के प्रति अधिक जागरूक था। अब अन्तर्राष्ट्रीय हितो को प्रधानता नही दी जाती थी। अन्तर्राष्ट्रीय हितो का वही तक ध्यान रखा जाता है जहा तक उनका राष्ट्रीय हितो से कोई विरोध नही होता। कीमत-स्तर की स्थिरता तथा विनिमय दर की स्थिरता मे जब चुनाव करना होता तो कीमत-स्तर को ही प्रधानता दी जाती थी। अब प्रत्येक देश बाह्य आर्थिक प्रभावो से आन्तरिक अर्थ व्यवस्था को बचाने मे प्रयत्नशील रहता था जबकि स्वर्ण मान की सफलता के लिए बाह्य आर्थिक प्रभावो का आतरिक अर्थव्यवस्था पर पूर्ण प्रभाव पडना चाहिए इन । प्रकार युद्धोपरान्त स्वर्ण मान के अनुकूल वातावरण का अभाव था।

(ब) आर्थिक और वित्तीय परिस्थितियों मे परिवर्तन युद्ध के पूर्व इगलैंड, आर्थिक जगत का अगुआ था परन्तु युद्ध के बाद अमरिका की स्थिति सुदृढ हुई और इसको प्रथम स्थान प्राप्त हो गया। लन्दन का स्थान न्यूयार्क ने ले लिया। परन्तु ऋण-दाता देश के रूप मे जिन जिम्मेदारियो का पालन इगलैंड ने युद्ध के पूर्व के वर्षो मे किया, अमेरिका युद्ध के बाद के वर्षो मे उन्हे निभाने मे असमर्थ रहा।

(स) स्वर्ण का असमान वितरण : युद्ध का एक प्रमुख प्रभाव यह रहा कि स्वर्ण का विश्व के देशो मे असमान वितरण हो गया। स्वर्ण का अधिकाश भाग केवल दो देशो—अमरिका तथा फ्रास, के पास केन्द्रित हो गया। अन्य देशो के पास स्वर्ण का भडार बहुत कम होने के कारण वे स्वर्ण के निर्यात द्वारा उसे और कम करने के लिए तैयार नही थे और उन्होने स्वर्ण मान छोडना ही अधिक उचित समझा।

(द) मौद्रिक मान के सम्बन्ध मे स्वर्ण मान के विपक्षी विचार : युद्ध के बाद स्वर्ण मान की पुन स्थापना के विरोधी विचारको ने स्वर्ण के मौद्रिक प्रयोग को बेकार एव अपव्ययी बताया। उनके अनुसार पत्र मुद्रा के नियमन द्वारा भी वही उद्देश्य प्राप्त किए जा सकते हैं जो स्वर्ण मान मे प्राप्त करने का दावा करता है। साथ ही इसमे स्वर्ण मान की अपेक्षा अत्यधिक मितव्ययिता है। उनका यह भी कहना था कि जनता पत्र मुद्रा के प्रयोग की युद्ध के दिनो मे अभ्यस्त होने के कारण उसे अपनाने मे नही हिचकेगी। इसके अतिरिक्त पत्र मुद्रा लेन देन मे सुविधाजनक है। इस प्रकार के विचारो के कारण स्वर्ण मान के प्रति वह अन्धभक्ति समाप्त हो चली थी जो युद्ध पूर्व के वर्षो मे थी।

इस प्रकार ऐसे प्रतिकूल वातावरण में स्वर्ण मान सफलता नहीं प्राप्त कर सका और अन्त में समाप्त हो गया।

2. स्वर्ण मान सचालन के नियमो की अवहेलना
(Violation of the Rules of the Gold Standard) :

स्वर्ण मान के पतन का सबसे प्रमुख कारण यह था कि युद्ध के बाद के वर्षों में स्वर्ण मान सचालन के नियमों का पालन नहीं किया गया। स्वर्ण मान के अन्तर्गत सदस्य देशों से जिस अनुशासन, त्याग तथा सहयोग की अपेक्षा की जाती है, उसका इस अवधि में नितान्त अभाव था। अनेक देशों की आर्थिक स्थिति इतनी अव्यवस्थित हो गई थी कि इन नियमों का पालन करना प्रायः असम्भव था।

(अ) स्वर्ण मान की सफलता स्वतन्त्र व्यापार की नीति पर निर्भर करती है जिससे सदस्य देश अपने भुगतान सन्तुलन को ठीक करके विनिमय दर की स्थिरता बनाए रख सके। परन्तु युद्ध के बाद के वर्षों में स्वतन्त्र व्यापार नीति का पालन नहीं किया गया। व्यापार पर नियन्त्रण रखा जाने लगा। जिन देशों में स्वर्ण आयात हो रहा था—फ्रास और अमेरिका, उन्होंने विदेशी वस्तुओं पर ऊंची दर पर आयात कर लगा दिया। परिणामस्वरूप सोना खोने वाले देश सोना वापस पाने की बजाय खोते ही चले गए। इसके कारण आन्तरिक मुद्रा की माग पूरी करना भी कठिन हो गया और उन्हें भी आयात-नियन्त्रण की नीति अपनानी पडी और स्वर्ण-मान का अन्त होने लगा।

(ब) स्वर्ण मान सचालन का दूसरा नियम यह है कि सोना पाने वाला देश मुद्रा प्रसार की नीति अपनाए, तथा सोना भेजने वाला देश मुद्रा सकुचन की नीति अपनाए परन्तु युद्ध के बाद के वर्षों में अमेरिका सोना प्राप्त करने के बावजूद भी मुद्रा प्रसार की नीति नहीं अपना रहा था क्योंकि वह आतरिक स्थिरता को भग नहीं करना चाहता था। उसी प्रकार फ्रास ने भी यही नीति अपनाई। फलस्वरूप उनकी कीमतों में आवश्यक वृद्धि नहीं हुई और उनका निर्यात ज्यों का त्यों बना रहा। सोना खोने वाले देशों में मुद्रा सकुचन का हानिकारक स्तर पर पहुचने से रोकने के लिए नोट प्रसार एवं साख निर्माण को बढ़ाने की नीति अपनानी पडी। इस प्रकार स्वर्ण मान को समाप्ति के पथ पर अग्रसर किया गया।

(स) अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में भी आकस्मिक परिवर्तन किये गये जो स्वर्ण मान सचालन के नियम के विरुद्ध है। अमेरिका ने अचानक जर्मनी को ऋण देना बन्द कर दिया और जर्मनी को विवश होकर विनिमय नियन्त्रण का सहारा लेना पडा और स्वर्ण मान सकट में पड गया। इसी प्रकार फ्रास भी आर्थिक मंदी के कारण सभी देशों से अपनी पूँजी खीचने लगा। यह स्वर्ण मान के लिए और भी घातक सिद्ध हुआ।

(द) युद्ध के पूर्व बैंक दर के प्रयोग से उचित ऋण नीति द्वारा बिना अधिक मात्रा में स्वर्ण को निर्यात किए ही पूँजी के आयात को प्रोत्साहित किया जाता था तथा भुगतान शेष को ठीक कर लिया जाता था। युद्ध के बाद शकापूर्ण वातावरण मे बैंक दर को बढाने का अर्थ यह लगाया जाने लगा कि उस देश की आर्थिक स्थिति विश्वसनीय नही है। इसलिए बैंक दर का विपरीत प्रभाव पडने लगा और स्वर्ण मान का सचालन कठिन हो गया।

3. 1929 की महान आर्थिक मदी .

अमेरिका का वालस्ट्रीट सकट जब विश्वव्यापी बन गया तो विश्व के सभी देशों मे कीमतो म भारी गिरावट एव उत्पादन मे ह्रास का वातावरण छा गया। स्वर्ण मान के सफल सचालन पर इस व्यापक मदी का बडा बुरा प्रभाव पडा। स्वर्ण मान पर आधारित अधिकाश देश अपनी स्थिति को ठीक रखने के लिए दीर्घकालीन *विदेशी ऋणों का सहारा लेते थे। परन्तु मदी के फलस्वरूप ऋणदाता देशों ने ऋण* देना बन्द कर दिया। साथ ही मदी के कारण निर्यातों से प्राप्त होने वाली कुल राशि मे भी कमी आने लगीं। ऐसी परिस्थितियों मे ऐसे देशो के लिए स्वर्ण मान पर कायम रहना कठिन हो गया जिनका स्वर्ण कोष बहुत कम था। यह परेशानी ऋण-दाता देशो द्वारा दिए गए पुराने ऋणों की वसूली के कारण और भी बढ गई।

आस्ट्रिया के क्रेडिट अन्स्टाल्ट (Credit Anstalt) जैसे सुदृढ बैंक को भी इस महान मदी के कारण फेल होना पडा क्योंकि इस बैंक का अधिकाश विनियोग उद्योगो मे लगा हुआ था और हानि के कारण उद्योगो के बन्द होने से इसका भाग्य भी उन्ही उद्योगों के साथ सो गया। इस घटना से विदेशी जमाकर्त्ताओं मे ही नहीं स्वय उस देश के जमाकर्त्ताओ मे भी बैंको के प्रति विश्वास उठ गया। आस्ट्रिया को स्वर्ण मान छोडना पडा। स्वर्ण मान पर विदेशी प्रभाव शीघ्र पडते हैं इसलिए इस घटना से अन्य देशो मे भी जनता ने मुद्राओ के बदले स्वर्ण की माग करना प्रारम्भ कर दिया तथा बैंको से अपनी जमा निकालने लगे। पहले तो आस्ट्रिया इसका शिकार हो ही चुका था अब दूसरा नम्बर जर्मनी का था। विदेशो से काफी मात्रा मे ऋण लेकर भी जर्मनी निक्षेपो की वापस प्राप्त करने की माग को पूरा नही कर *सका तथा अन्त मे उसे भी स्वर्ण मान का त्याग करना पडा।* जर्मनी से हटकर यह सकट इगलैंड मे पहुँचा। बैंक आफ इगलैंड ने इस सकट से बचने के लिए बैंक दर आदि का सहारा लिया परन्तु इससे स्थिति मे सुधार आने के स्थान पर और भी जटिलता आ गई। अमेरिका और फ्रास से बडी मात्रा मे ऋण लेकर भी इगलैंड स्वर्ण मान की रक्षा नही कर सका और 1931 मे इसने स्वर्ण मान त्याग दिया। इगलैंड के स्वर्ण मान छोडते ही सभी साम्राज्य देशो ने भी इसका त्याग कर दिया और इस प्रकार स्वर्ण मान महान मन्दी की चपेट से बच नही सका।

4. प्रथम महायुद्ध की क्षतिपूर्ति का भुगतान ·

जर्मनी द्वारा स्वर्ण मान का त्याग करने के कारणों में क्षतिपूर्ति-भुगतान का प्रमुख स्थान था। शांति समझौते की शर्तों के अनुसार विजित जर्मनी को अमेरिका तथा फ्रांस को जो क्षति-पूर्ति भुगतान करना था, उसे जर्मनी स्वयं वस्तुओं के रूप में करना चाहता था परन्तु फ्रांस एवं अमेरिका ने स्वर्ण के रूप में भुगतान पाने पर जोर दिया इसलिए जर्मनी को क्षतिपूर्ति–भुगतान करने के लिए बड़ी मात्रा में सोने की आवश्यकता हुई। उसके पास स्वर्ण मान संचालन के लिए स्वर्ण कोष रखने में कठिनाई होने लगी और जर्मनी ने स्वर्ण मान त्याग दिया।

5 अल्पकालीन पूँजी का आतंक ·

युद्ध के पूर्व के वर्षों में योरोप के अनेक देशों की अल्पकालीन पूँजी विदेशों में लगी हुई थी परन्तु युद्धकाल में अनेक ऋणी देशों ने ब्याज तथा मूलधन की वापसी पर प्रतिबन्ध लगा दिए। इसके अतिरिक्त विदेशी विनिमय दर में (युद्ध के बाद) परिवर्तन करने से भी इन विनियोजकों को हानि हुई। परिणाम यह हुआ कि अल्पकालीन विदेशी पूँजी भयभीत होकर उचित आश्रय की तलाश में एक से दूसरे देश में जाने लगी। परन्तु इस शरणार्थी पूँजी के आकस्मिक आवागमन से सम्बन्धित देशों की अर्थ व्यवस्थाओं में काफी उथल पुथल पैदा हो गई, जिससे स्वर्ण मान बनाए रखना कठिन हो गया।

6 युद्धोपरान्त की अर्थ-व्यवस्थाओं में आंतरिक लोच का अभाव

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान की सफलता के लिए आंतरिक कीमत तल एवं आय में पर्याप्त लोच का होना आवश्यक है। स्वर्ण की मात्रा कम होने पर मुद्रा की मात्रा एवं कीमत स्तर कम करना पड़ता है कीमत को कम करने के लिए लागत को कम करना भी आवश्यक है परन्तु युद्ध के बाद की परिस्थितियों में लागत को कम करना कठिन था क्योंकि लागत का प्रमुख तत्व मजदूरी को कम करने में श्रमिक संघों के घोर विरोध का सामना करना पड़ता था। यह स्थिति स्वर्ण मान के लिए घातक सिद्ध हुई।

इस प्रकार स्पष्ट है कि युद्ध के बाद की आर्थिक व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक वातावरण एवं अन्य परिस्थितियां स्वर्ण मान के अनुकूल नहीं थीं। सभी देश अपनी जर्जरित अवस्था को सुधारने के लिए आर्थिक प्रगति करना चाहते थे इसलिए आवश्यक था कि उनकी मौद्रिक नीति उनकी आर्थिक आशाओं के अनुरूप हो तथा आन्तरिक स्थिति में स्थायित्व हो, जिससे अबाधगति से उनका विकास होता रहे। बढ़ती हुई आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अधिक मुद्रा की आवश्यकता, सोने की पूर्ति कम एवं असमान होने के कारण, पूरी नहीं की जा सकती थी। सभी देश धीरे-धीरे स्वर्ण मान से असंतुष्ट होते गए और स्वर्ण मान का अन्त हो गया।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) स्वर्ण मान किसे कहते है ? इसके लाभ तथा हानियो का वर्णन कीजिए। (राजस्थान बी० काम०, 1962)

[सकेत—प्रथम भाग मे स्वर्ण मान की परिभाषा देते हुए उसकी मुख्य विशेषताओ की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे स्वर्ण मान के लाभ तथा हानियो का वर्णन कीजिए।]

(2) स्वर्ण पाट प्रमाप की मुख्य विशेषतायें बताइये तथा स्वर्ण विनिमय प्रमाप से इसका मुकाबला कीजिए। (राजस्थान बी० काम० 1963)

[सकेत—स्वर्ण पाट मान की परिभाषा देते हुए उसकी मुख्य विशेषताओ की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे स्वर्ण पाट मान तथा स्वर्ण विनिमय मान के अन्तर की मुख्य बातें बताइये।]

(3) अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-मान के पतन के कारणो का विवेचन कीजिए। (राजस्थान बी० काम०, 1965)

[संकेत—अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वर्ण मान के त्यागने के मुख्य कारणो की सविस्तार व्याख्या कीजिए।]

(४) स्वर्ण प्रमाप की उत्कृष्टताओ तथा दोषो का विवेचन कीजिए तथा उनके भविष्य के विषय मे अपने विचार प्रकट कीजिए। (राजस्थान बी० काम, 1966)

[सकेत—प्रथम भाग मे स्वर्ण मान के लाभ तथा हानियो की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे बताइये कि स्वर्ण मान की पुन स्थापना सम्भव नही है।]

(5) निम्नलिखित मे से किन्ही तीन पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(i) ....?

(ii) ....?

(iii) स्वर्ण पाट मान

(iv) ....? (राजस्थान बी० काम, 1968)

[सकेत—स्वर्ण पाट मान की परिभाषा देते हुए उसकी मुख्य विशेषताओ की व्याख्या सक्षेप मे करिए तथा उसके लाभ तथा हानिया भी सक्षेप मे बताइय।]

(6) स्वर्ण मान के सचालन मे किन-किन नियमो का पालन करना आवश्यक है ? यह बताइये कि इन नियमो का पालन न करने से किस प्रकार सन् 1931 मे स्वर्ण मान टूट गया।

[सकेत—प्रथम भाग मे स्वर्ण मान के चार नियमो मौद्रिक नीति सम्बन्धी नियम, मुक्त व्यापार नीति, अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के लेन-देन सम्बन्धी नियम तथा स्वतन्त्र

स्वर्ण आयात तथा निर्यात की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे यह बताइये कि 1931 मे स्वर्ण मान के पतन का मुख्य कारण ससार के देशो द्वारा इन नियमो का उल्लघन था।]

(7) दो महायुद्धो के बीच के काल मे स्वर्ण मान की कार्य प्रणाली मे क्या कठिनाइयाँ अनुभव की गई ? निकट भविष्य मे स्वर्ण मान के पुन स्थापन के लिए आवश्यक शर्तों की चर्चा कीजिए।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल 1961)

[सकेत—प्रथम भाग मे दो महायुद्धो के बीच के काल मे स्वर्ण मान की कार्य प्रणाली मे जो कठिनाइया आई उनका विवेचन कीजिए और बताइये कि इन्ही कठिनाइयो के कारण स्वर्ण मान का पतन हो गया। द्वितीय भाग मे ससार मे स्वर्णमान की पुनर्स्थापना के लिए आवश्यक शर्तों की चर्चा कीजिए। उपसहार मे बताइये कि वे शर्तें आज के ससार मे पूरी नही हो सकती, अत स्वर्ण मान क पुनर्स्थापना की कोई सम्भावना नही।]

———

7

पत्र मान
(Paper Standard)

"In modern times, the confidence of the people in currency depends not on what people might get in exchange of currency notes, but on sound economic and financial policies followed by the government and banking authority"

पत्र मान (Paper Standard)

पत्र मुद्रा का इतिहास तो काफी पुराना है परन्तु पत्र मान का प्रारम्भ अपेक्षाकृत कम समय से हुआ है। पत्र मुद्रा का आरम्भ धातुमान के युग मे ही उसकी असुविधाओ से मुक्ति पाने के उद्देश्य से किया गया। परन्तु इस प्रकार की पत्र मुद्रा को पत्र मान के अन्तर्गत शामिल नही किया जाता क्योकि इसका नियत्रण वस्तुत धातुमान के सिद्धान्तो पर होता था।

पत्र मान के अन्तर्गत पत्र मुद्रा का मूल्य किसी भी वस्तु या धातु के आधार पर नियमित नही किया जाता। नोटो मे परिवर्तनशीलता का गुण नही होता केवल अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा तथा साकेतिक सिक्को का चलन होता है। ऐसे पत्र मान का विकास प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ। युद्ध की कठिन परिस्थितियो से बाध्य होकर अनेक देशो ने पत्र मुद्रा असाधारण मात्रा मे जारी की जिसे परिवर्तनीय नहीं रखा जा सका और पत्र मान को अनिच्छा पूर्वक अपनाया गया। युद्ध के बाद धातुमान को अपनाने का पुन प्रयत्न किया गया जो असफल रहा और पत्र मान का आधिपत्य बढता गया। बाद मे ऐसे देशो ने भी पत्र मान अपना लिया जो परिस्थितियो से विवश नही थे। इस प्रकार प्राय सभी देशो मे पत्र मान का युग आ गया।

पत्र मान के दो भेद किए जा सकते है—

1 स्वतत्र पत्र मान (Free Paper Standard)

2 नियत्रित पत्र मान (Controlled Paper Standard)

(1) स्वतत्र पत्र मान (Free Paper Standard)—स्वतत्र पत्र मान के अन्तर्गत एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा से स्वतत्र सम्बन्ध है। विनिमय दर परिवर्तित होने को स्वतत्र रहती है। उनके स्थिर बनाए रखने का कानूनी

प्रयत्न नही किया जाता। परन्तु विनिमय दर मे स्थायित्व लाने के लिए विदेशी विनिमय बाजार को विनिमय स्थिरीकरण कोष (Exchange Stabilisation Fund) आदि के द्वारा प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है।

(2) नियंत्रित पत्र मान (Controlled Paper Standard)—नियन्त्रित पत्र मान के अन्तर्गत विनिमय दर को पूर्ण रूप से नियन्त्रित किया जाता है। विनिमय दर बाजार शक्तियों (Market forces) द्वारा निर्धारित होने के लिए स्वतन्त्र नहीं होती। नियन्त्रित पत्र मान के अन्तर्गत बहुमुखी विनिमय दर का बोल बाला रहता है। जर्मनी ने 1930 के दशक मे रीश मार्क की डालर विनिमय दर अलग-अलग वस्तुओं के सदर्भ मे अलग रखी थी। द्वितीय महायुद्ध के बाद विभिन्न अंशों मे नियन्त्रित पत्र मान चलता रहा।

पत्र मान के अन्तर्गत मुद्रा के परिमाण मे मौद्रिक संस्था द्वारा असाधारण रूप से परिवर्तन कर दिया जाता जिसके फलस्वरूप मुद्रा का मूल्य स्थिर नही रह पाता और वह मुद्रा के कार्यों को विशेष रूप से भावी भुगतान के आधार के रूप में कार्य सुचारु रूप से नही कर पाती। मुद्रा के मूल्य को स्थिरता प्रदान करने के लिए कई प्रकार के पत्र मान सुझाए गए हैं।

तालिका मान (Tabular Standard)—यद्यपि इस प्रकार के मान का अध्ययन लोव (Lowe) तथा पोलट स्क्राप (Poulett Scrope) द्वारा किया गया था परन्तु इसका सुझाव प्रा० फिशर द्वारा दिया गया तथा यह मान उन्ही के नाम स विशेष रूप से सम्बद्ध हैं। इस मान का उद्देश्य विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के सदर्भ म मुद्रा का मूल्य स्थिर रखना है जिससे विलंबित देनो से सम्बन्धित पक्षो को असुविधा या हानि न हो। इस सम्बन्ध मे यह सुझाव दिया गया था कि विनिमय म अधिकाशत प्रयुक्त होन वाली वस्तुओ क आधार पर निर्देशाक बनाया जाना चाहिए जिससे कीमतो क परिवर्तन का बाध हो सक और परिवर्तित कीमतो के आधार पर विलंबित देनो का भुगतान किया जाना चाहिए। ऋण लेते समय यदि निर्देशाक 100 हो और अदायगी के समय यदि निर्देशाक 200 हो तो ब्याज के अतिरिक्त ऋण की दूनी रकम भुगतान की जानी चाहिए और यदि भुगतान के समय निर्देशाक 50 है तो ब्याज के अतिरिक्त ऋण की आधी रकम भुगतान की जानी चाहिए।

प्रत्यक्ष रूप स इस प्रकार के मान मे पर्याप्त औचित्य दिखाई देता है परन्तु व्यावहारिक स्तर पर इसम अनेक कठिनाइया आ सकती है। इसमे पूरी व्यवस्था का आधार निर्देशाको का बनाया जाता है परन्तु निर्देशाको को पूर्ण विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त ऋणी और ऋणदाता बडी ही अनिश्चित अवस्था मे होंग क्योंकि किसी को यह मालूम नही रहेगा कि उस कितनी रकम देनी

है अथवा लेनी है। इसलिए साख-पद्धति जो वर्तमान अर्थ-व्यवस्था की रीढ है घातक रूप से प्रभावित होगी।

स्थिरीकृत पत्र मान (Stabilised Paper Standard)—इस प्रकार के पत्रमान का सुझाव भी इसी उद्देश्य से दिया गया था कि मुद्रा के मूल्य म होने वाले परिवर्तनो के प्रभाव से बचा जा सके। इस सुझाव के अनुसार चलन म पत्र मुद्रा होनी चाहिए परन्तु उसका मूल्य धातु मे निश्चित कर दिया जाना चाहिए किन्तु यह धातु मूल्य कीमत स्तर मे परिवर्तन हान के साथ घटता बढता रहना चाहिए। कीमत स्तर के परिवर्तन को ज्ञात करन के लिए इसमे निर्देशाको का प्रयोग किया जायेगा। यदि कीमत स्तर दूना बढा है—दूसरे शब्दो म मुद्रा का मूल्य आधा रह गया है, तो पत्र मुद्रा का धातु मूल्य उसी अनुपात मे बढा दिया जायगा जिससे मुद्रा का मूल्य पूर्ववत हो जाय।

यह व्यवस्था भी व्यावहारिक स्तर पर दोषपूर्ण है क्योकि इसमे निर्देशाको का सहारा लेना पडता हे जो स्वय दोषपूर्ण होते हैं। इसके अतिरिक्त इसमे प्रत्यक कीमत परिवर्तन के साथ मुद्रा के धातु मूल्य को परिवर्तित करना हागा जो व्यवस्था के दृष्टिकोण से कठिन है। यही नही अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मे भी कठिनाई होगी क्योंकि विनिमय दर निश्चित नही रहेगा।

पत्र मान के गुण (Merits of Paper Standard)—

1. लोच—अपने लोच के गुण के कारण पत्र मुद्रा आर्थिक आवश्यकताओ को पूरा करने मे समर्थ रहती है। प्रगतिशील देशो की आर्थिक आवश्यकताए निरतर बढती रहती हैं और धातु की कमी तथा खर्चीलपन के कारण उनकी पूर्ति का सर्वोत्तम साधन पत्र मान है।

2 प्रबन्ध की सुविधा—पत्र मान का सचालन बडा सरल है तथा सरकार इसके प्रबन्ध मे पूर्ण रूप से स्वतत्र होती है। बाह्य शक्तियो का प्रभाव सरकार की मौद्रिक एव आर्थिक नीति पर नही पडता। सरकार अपनी आर्थिक एव मौद्रिक नीति देश के हितो एव आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर निर्धारित कर सकती है।

पत्र मान के दोष (Demerits of Paper Standard)—

1. अत्याधिक प्रसार का भय—सबसे बडा दोष यह है कि पत्र मान पूर्णरूप से सरकार पर आश्रित होता है और सरकार पर किसी प्रकार का अकुश न होने के कारण मुद्रा की मात्रा के सम्बन्ध मे राजनैतिक निर्णय लिए जाने की शका रहती है जो आर्थिक हितो मे वृद्धि के स्थान पर कमी कर सकती है। अत्यधिक मुद्रा प्रसार या सकुचन के परिणाम कितने घातक हो सकते है फ्रास एव जर्मनी इसके ज्वलत उदाहरण हैं।

2. विदेशी भुगतान सम्बन्धी कठिनाई—पत्रमान का दूसरा प्रमुख दोष यह है कि इसमे विनिमय दर निर्धारित करने का कोई आधार नही होता है। विनिमय दर मे आन्तरिक कीमतो के साथ घटने बढने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु जब कुछ मुद्राओ की साख विश्वव्यापी हो जाती है तो विदेशी व्यापार मे कोई कठिनाई नही होती क्योकि अधिकाश देश उन अच्छी साख वाली मुद्राओ को कोष मे रखते हैं और उन्ही के माध्यम से भुगतान करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नियन्त्रण मे रहकर ही पत्रमान आन्तरिक अर्थ व्यवस्था का समुचित विकास करने मे सहायक हो सकता है एव विदेशी व्यापार मे गतिरोध का कारण बनने से बच सकता है।

पत्र मुद्रा का निर्गमन (Note Issue)

बहु निर्गमन पद्धति (Multiple Issue System)—प्रारम्भ मे नोट निर्गमन की इसी पद्धति को अपनाया गया था और इस कार्य को व्यापारिक बैंक सम्पन्न करते थे। भारतवर्ष मे यह पद्धति 1861 के पूर्व क्रियाशील थी। परन्तु इस प्रणाली म कई दोष थे जिनका वर्णन नीचे किया गया है :—

1 नोटों मे एकरूपता का अभाव :—विभिन्न व्यापारिक बैंको द्वारा नोट जारी किए जाने के कारण उनके आकार-प्रकार, डिजाइन आदि मे अन्तर रहता था जिससे उनका चलन-क्षेत्र विस्तृत नहीं होता था।

2 बैंको मे प्रतियोगिता —नोट जारी करने वाले बैंक कभी-कभी होड मे आकर आवश्यकता से अधिक नोट जारी कर देते थे जो राष्ट्र के हितो के प्रतिकूल होता था।

3 जनता के विश्वास मे कमी —बैंको की साख में सामान्य जनता का अधिक विश्वास न होने के कारण इन नोटो मे जनता का विश्वास कम होता था।

4. अधिक कोष की आवश्यकता .—अनेक बैंकों द्वारा नोट जारी किए जान क कारण कोष के रूप मे अपेक्षाकृत अधिक धातु की आवश्यकता पडती थी।

5. नोट निगमन-नीतियो मे अन्तर '—अलग-अलग बैंक नोट जारी करने की अलग-अलग नीति अपनाते थे जिससे पूरे देश की एक सुव्यवस्थित मुद्रा-नीति नहीं बन पाती थी।

उपरोक्त कमियो के कारण प्राय सभी देशो ने एकाकी नोट निर्गमन पद्धति को अपनाया और नोट जारी करने का कार्य स्वय सरकार या केन्द्रीय बैंक को सौपा।

एकाकी नोट-निर्गमन पद्धति (Single Issue System) :—इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट जारी करने के सम्बन्ध मे उचित विधान की व्यवस्था द्वारा नोट जारी

करने का कार्य एक सस्था को सौंप दिया जाता है। वह सस्था केन्द्रीय बैंक हो सकता है या स्वय सरकार।

नोट कौन जारी करे ? :—यद्यपि एकाकी प्रणाली मे सरकार स्वय भी नोट जारी करने का दायित्व ले सकती है फिर भी अनेक कारणो से केन्द्रीय बैंको द्वारा नोट जारी करना अधिक उपयुक्त है। यहा पर सरकार द्वारा नोट जारी करन के गुण दोषो का तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट जारी करने के पक्ष मे दिए गए तर्कों का उल्लेख करना आवश्यक है।

सरकार द्वारा नोट जारी करने के पक्ष मे तर्क :

1. राष्ट्र का हित :—आधुनिक सरकारें कल्याणकारी सरकारें कही जाती है और उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे जो भी कार्य करेंगी राष्ट्रीय हित का ध्यान मे रख कर करेंगी। इसलिए सरकार द्वारा नोट जारी किए जाने पर राष्ट्र हित का समुचित ध्यान रखा जा सकेगा।

2 अधिक विश्वास :—सरकार की साख मे जनता का अधिक विश्वास होने के कारण उसके द्वारा जारी किए गए नोटो मे भी जनता का विश्वास अधिक होगा।

3. कुशल प्रबन्ध :—सरकार की विशालता एव साधन सम्पन्नता के कारण योग्य कर्मचारियो की सेवाओ को प्राप्त किया जा सकता है और नोट जारी करने का कार्य कुशलतापूर्वक सम्पादित किया जा सकता है।

4 मौद्रिक नीति का शीघ्रता से पालन :—नीति निर्धारण एव उसके अनुसार नोट जारी करने का काम दोनो ही सरकार के हाथ मे रहने पर नीतियो के अनुसार नोट जारी करने मे शीघ्रता से काम लिया जा सकता है।

परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से अगर इन तर्कों का विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी तर्क भ्रमपूर्ण हैं। सरकार का ध्यान विशेष रूप से राजनैतिक एव सामाजिक समस्याओं मे लगा रहने के कारण कभी-कभी व्यावसायिक आवश्यकताओ एव समस्याओ की ओर उसका ध्यान उचित मात्रा मे नही जा पाता और नोट जारी करने की सभी सुविधाए नही मिल पाती। राजनैतिक प्रभाव कभी-कभी आर्थिक दृष्टि से आधारभूत नीतियो का पालन करने मे बाधक सिद्ध हो सकता है एव अत्यधिक मुद्रा-प्रसार का कारण बन सकता है। जहा तक कुशल प्रबन्ध का सम्बन्ध है प्राय यही देखा जाता है कि सरकारी कार्यो में अत्यन्त शिथिलता होती है। मौद्रिक कार्यों मे शिथिलता बडे भयानक परिणाम का कारण बन सकती है।

केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट निर्गमन के पक्ष मे तर्क :

1. आर्थिक आवश्यकता के अनुरूप लोच :—केन्द्रीय बैंक किसी भी देश की बैंक व्यवस्था की धुरी होता है और वह देश के व्यापारिक बैंको के निकट सम्पर्क मे होता है। उसे देश की आर्थिक अवस्था का सही सही ज्ञान होता है। इसलिए वह आवश्यकता के अनुसार नोटो की मात्रा परिवर्तित करने की स्थिति मे होता है।

2. केन्द्रीय बैंक राजनैतिक प्रभाव से दूर :—केन्द्रीय बैंक नियमो के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतत्र होता है एव अपने निर्णयो पर पहुँचने मे केवल आर्थिक आवश्यकताओ और देश के हित का ध्यान रखता है। उस पर राजनैतिक प्रभाव पडने की सम्भावना कम होती है।

3. कुशल प्रबन्ध :—सरकार की अपेक्षा केन्द्रीय बैंक अपनी व्यवस्था एव प्रशासन मे अधिक क्रियाशीलता एव कुशलता प्राप्त कर सकता है। एक प्रकार का कार्य करने से यह विशेषज्ञ बन जाता है।

नोट निर्गमन के सिद्धान्त (Principles of Note Issue)

नोट जारी करने की आदर्श प्रणाली मे कुछ विशेषताओ का होना आवश्यक है। वे विशेषताए निम्नलिखित है —

1. अत्याधिक प्रसार हीनता —नोट जारी करने की आदर्श प्रणाली वही हो सकती हैं जिसके अनुसार नोट जारी करने पर मुद्रा का अधिक प्रसार होने की सम्भावना न रहे।

2. लोच —व्यापार एव उद्योग का विकास तभी सम्भव है जब मुद्रा की मात्रा व्यावसायिक माग के अनुरूप परिवर्तित की जा सके अर्थात् उसम लोच हो।

3. स्वत. चालिता :—नोटो की मात्रा मे बिना किसी हस्तक्षेप के व्यावसायिक माग के अनुसार स्वत परिवर्तन होता रहना चाहिए। इसके लिए नोट जारी करने का आधार ऐसा होना चाहिए जो व्यापारिक गतिविधि के परिवर्तित होते ही प्रभावित हो सके। जैसे व्यापारिक बिलो को नोट जारी करने का आधार बनाने से ऐसा हो सकता है।

4 मितव्ययिता .—नोट जारी करने की प्रणाली कम खर्चीली होनी चाहिए। यदि मितव्ययिता नही होगी तो इसमे और धातु मुद्रा मे कोई अन्तर नही।

5. सरलता :—पत्र मुद्रा को प्रचलन मे बनाए रखने के लिए जनता का विश्वास आवश्यक है परन्तु जनता की आस्था नोटो मे तभी होगी जब वह उसकी व्यवस्था को समझेगी। इसलिए नोट जारी करने की प्रणाली सरल होनी चाहिए।

नोट जारी करने की अनेक प्रणालियां दो सिद्धान्तो मे से किसी एक पर निर्भर करती हैं। ये सिद्धान्त हैं—मुद्रा सिद्धान्त तथा बैंकिंग सिद्धान्त (Currency Principle and Banking Principle)। मुद्रा-सिद्धान्त के अन्तर्गत जनता के

विश्वास को बनाए रखने पर अधिक जोर दिया जाता है और इसके लिए शतप्रतिशत कोष रखा जाता है। परन्तु इस सिद्धान्त पर नोट जारी करने मे आदर्श प्रणाली मे पाए जाने वाले अन्य गुणलोच, मितव्ययिता आदि का अभाव होता है। बैंकिंग सिद्धान्त के अन्तर्गत आवश्यक लोच एव मितव्ययिता का गुण पाया जाता है क्योंकि इसमे शत प्रतिशत कोष रखने की जरूरत नही होती। जिस प्रकार बैंक थोडे नकद के आधार पर अधिक जमा निर्माण करते हैं वैसे ही थोडे कोष के आधार पर अधिक नोट जारी किए जाते हैं। परन्तु इस प्रणाली मे कभी-कभी अत्यधिक प्रसार की आशका रहती है तथा इसमे जनता का विश्वास कम रहता है।

नोट निर्गमन की प्रमुख प्रणालियां (Methods of Note Issue) :

1 आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System).—
बैंकिंग सिद्धान्त पर आधारित इस प्रणाली के अनुसार जारी किए गए नोटो के एक निश्चित अनुपात मे ही कोष रखने की आवश्यकता होती है। जारी किए गए नोटो के एक निश्चित प्रतिशत के बराबर सोने-चादी का कोष रखना पडता है और शेष के पीछे विशिष्ट कोटि की प्रतिभूतिया और व्यापारिक विनिमय पत्र आदि रखे जाते हैं। जैसे यदि जारी किए नोटो के 40% के बराबर धातु का कोष रखा जाय और शेष 60% के बराबर प्रतिभूतिया और विनिमय पत्र रखे जाय तो ऐसी प्रणाली आनुपातिक कोष प्रणाली कही जायेगी। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि कोष का प्रतिशत कभी बदला ही नही जा सकता। आवश्यकता के अनुसार सरकार इस अनुपात को बदल सकती है।

इस प्रणाली का प्रयोग सर्वप्रथम जर्मनी मे 1875 मे हुआ। इसके अतिरिक्त फ्रांस तथा अमेरिका मे भी प्रथम महायुद्ध के बाद यही प्रणाली अपनाई गई। भारतवर्ष मे भी 1956 के पूर्व इसी प्रणाली के अनुसार नोट जारी किए जाते थे।

गुण —

1. लोच :—इस प्रणाली मे चूंकि शत प्रतिशत कोष की आवश्यकता नही होती इसलिए इसमे लोच की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक है।

2. जनता का विश्वास :—इस प्रणाली के पीछे कोष रखे जाने के कारण जनता का इसमे अधिक विश्वास रहता है। इसके अन्तर्गत परिवर्तनशीलता को बनाए रखना भी सम्भव होता है।

3. अत्याधिक प्रसार हीनता :—इस प्रणाली मे कोष रखने की आवश्यकता होती है इसलिए नोटो की मात्रा अत्यधिक नही बढाई जा सकती।

दोष—

धातु के कोष की कमी हो जाने पर मुद्रा की मात्रा कम करनी पडती है जिससे मुद्रा सकुचन के बुरे परिणाम भुगतने हो सकते है। इसके अलावा यह प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक खर्चीली है।

2. शत प्रतिशत कोष प्रणाली (Simple Deposit System) .—
यह प्रणाली मुद्रा सिद्धान्त पर आधारित है। इसके अन्तर्गत जारी किए नोटो के पूर्ण मूल्य के बराबर धात्विक कोष रखना पडता है। यह प्रतिनिधि पत्र मुद्रा के जारी करने मे प्रयुक्त होती है।

गुण .—

1. जनता का विश्वास—इस प्रणाली मे जनता का विश्वास सर्वाधिक होता ह तथा नोटो की परिवर्तनशीलता पूर्ण रूप से सुरक्षित रहती है।

2. अत्याधिक प्रसार हीनता—शत प्रतिशत धातु को कोष मे रखने की आवश्यकता के कारण इसम मुद्रा की मात्रा अधिक नही बढाई जा सकती।

दोष —

1 लोच का अभाव—व्यावसायिक आवश्यकताओ के अनुसार मुद्रा की मात्रा म तव तक परिवर्तन सम्भव नही होता जब तक मुद्रा के पीछे कोष रखने के लिए धातु की मात्रा म परिवर्तन न हो।

2 खर्चीली प्रणाली—यह प्रणाली अधिक खर्चीली है क्योंकि बहुमूल्य धातु प्राय बकार पडी रहती है। धातु प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त पूँजी एव श्रम भी एक प्रकार से बेकार जाता है।

3. निश्चित विश्वासाश्रित प्रणाली (Fixed Fiduciary System) –
इस प्रणाली के अनुसार जारी किए गए नोटो के पीछे शत प्रतिशत धात्विक कोष रखने की आवश्यकता नही होती। सरकार नोटो की एक सीमा निर्धारित कर देती है और उस सीमा तक नोट जारी करने के लिए किसी प्रकार का धात्विक कोष नही रखा जाता। इस सीमा को निश्चित विश्वासाश्रित सीमा (Fixed Fiduciary Limit) कहते हैं। इस सीमा से अधिक नोट जारी करने पर अतिरिक्त नोटो के लिए शत प्रतिशत धात्विक कोष रखना आवश्यक होता है। जिस सीमा तक धात्विक कोष नही रखा जाता, उसके पीछे सरकारी प्रतिभूतियो तथा व्यापारिक बिलो की आड रहती है। यदि विश्वासाश्रित सीमा 200 करोड मौद्रिक इकाई हो तो इस सीमा तक केवल प्रतिभूतिया एव विनिमय विपत्र रखे जाते हैं और इससे अधिक अर्थात् यदि 300 करोड इकाई नोट जारी करने हो तो 100 करोड के आधिक्य के पीछे 100 करोड इकाई के मूल्य की धातु रखनी होगी।

इस प्रणाली का प्रचलन ब्रिटेन में काफी समय तक रहा। सर्वप्रथम ब्रिटेन न इसे 1844 मे बैंक चार्टर एक्ट के अन्तर्गत अपनाया। ब्रिटन ने 140 लाख पौण्ड की निश्चित विश्वासाश्रित सीमा निर्धारित की परन्तु बाद मे इस सीमा मे परिवर्तन होते गए। भारत म यह प्रणाली 1861–1920 तक अपनाई गई।

गुण—

1 **जनता का विश्वास**—यद्यपि इस प्रणाली मे शत प्रतिशत प्रणाली से कम धात्विक कोष रहता है परन्तु फिर भी जनता का विश्वास बना रहता है क्योकि नोटो की परिवर्तनशीलता को कायम रखा जा सकता है।

2 **अत्याधिक प्रसार हीनता**—इस प्रणाली मे एक सीमा के बाद शत प्रतिशत कोष रखने के कारण अत्याधिक प्रसार का कोई भय नही रहता।

दोष—

1. **लोचहीन**—यह प्रणाली लोचहीन है क्योकि धातु के बिना व्यापारिक आवश्यकताओ की माग के अनुरूप मुद्रा की मात्रा नही बढाई जा सकती।

2. **खर्चीली**—इस प्रणाली मे अधिक धातु की आवश्यकता होती है इसलिए यह प्रणाली मितव्ययी नही है।

3. **सरलता का अभाव**—यह प्रणाली अपेक्षाकृत जटिल है।

4 **अधिकतम विश्वासाश्रित सीमा प्रणाली (Maximum Fiduciary System)**—

इस पद्धति को सीमित नोट परिमाण प्रणाली (Maximum Note-Limit System) भी कहते हैं। इसमे नोटो की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाती है। उस सीमा तक बिना धात्विक कोष के नोट जारी किए जा सकते है परन्तु उस सीमा से अधिक नोट जारी किए ही नही जा सकते। शत प्रतिशत धात्विक कोष रख कर भी जारी नही किए जा सकते। सरकार द्वारा यदि सीमा बढा दी जाती है तो अवश्य अधिक नोट जारी किए जा सकते है। यह प्रणाली फ्रास मे 1928 से पूर्व प्रचलित थी।

गुण—

1 **अत्यधिक प्रसार हीनता**—इस प्रणाली मे किसी भी परिस्थिति मे एक निश्चित सीमा से अधिक नोट जारी करन की अनुमति नही होती इसलिए मुद्रा प्रसार का भय नही होता।

2. **मितव्ययिता**—इसमे धात्विक कोप की बिल्कुल आवश्यकता नही होती इसलिए यह बहुत मितव्ययी है।

3. **लोच**—इस प्रणाली मे लोच पायी जाती है क्योकि अधिकतम सीमा व्यापारिक आवश्यकताओ का अनुमान लगा कर निश्चित की जाती है और उस सीमा तक नोटो की मात्रा मे वृद्धि करने मे कठिनाई नही होती है।

दोष—

1. **जनता के विश्वास का अभाव**—इस प्रणाली म जनता का सबसे कम विश्वास रहता है क्योकि परिवर्तनशीलता नही होती।

2. लोच की कमी—यदि सीमा से अधिक नोट जारी करना व्यावसायिक दृष्टिकोण से आवश्यक हो जाय तो भी इसकी पूर्ति इस प्रणाली मे नही हो सकती। इसलिए इसमे लोच की कमी है।

5. न्यूनतम कोष प्रणाली (Minimum Reserve System)—

इस प्रणाली के अनुसार धात्विक कोष की एक न्यूनतम सीमा निर्धारित कर दी जाती है, जिससे कम धात्विक कोष नही रक्खा जाना चाहिए; नोटो की मात्रा चाहे जो भी हो। भारत वर्ष मे 1956 के बाद से यही प्रणाली अपनाई गई है।

गुण—

1 लोच—इस प्रणाली मे नोटो की मात्रा व्यावसायिक माग के अनुरूप रखी जा सकती है, इसलिए इसमे लोच है।

2. मितव्ययिता—अधिकतम नोट सीमा प्रणाली के अतिरिक्त अन्य सभी प्रणालियों की अपेक्षा अधिक मितव्ययी है।

दोष—

1. अत्याधिक प्रसार का भय—इस प्रणाली मे अत्यधिक मुद्रा प्रसार होने का भय रहता है क्योकि एक निश्चित कोष के आधार पर असीमित मात्रा मे नोट जारी किए जा सकते हैं।

2 जनता के विश्वास का अभाव—इस प्रणाली मे जनता का विश्वास कम होता है।

6. कोषागार विपत्र प्रणाली (Bonus Deposit System)—

इसमे नोट जारी करने के लिए धात्विक कोष की आवश्यकता नही होती। कोषागार विपत्रो अथवा सरकारी बाडो के आधार पर ही नोट जारी किए जाते हैं।

गुण दोष—इस प्रणाली मे सरकारी प्रतिज्ञा पत्रो के माध्यम से अत्यधिक प्रसार को नियन्त्रण मे अवश्य रखा जा सकता है परन्तु सरकार अधिक मात्रा मे कोषागार विपत्र जारी करके अधिक प्रसार कर सकती है यही इसका दोष है। मितव्ययिता का गुण पाया जाता है पर जनता के विश्वास का अभाव है।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके संकेत

(1) पत्र मुद्रा निर्गमन की विभिन्न प्रणालियो को स्पष्ट कीजिए। इनमे से किसको आप अच्छा समझते हैं और क्यो? (आगरा 1956; सागर 1958)

[संकेत—पत्र मुद्रा निर्गमन की विभिन्न प्रणालियो की व्याख्या कीजिए और बताइये कि निर्गमन पद्धति मे लोच के गुण के कारण आनुपातिक कोष प्रणाली या न्यूनतम कोष प्रणाली सर्वोत्तम है।]

(2) सन् 1956 मे भारत मे आनुपातिक कोष प्रणाली को बदल कर न्यूनतम कोष प्रणाली क्यो अपनाई गई ? इसका भारतीय चलन पर क्या प्रभाव पडा ?

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1961)

[सकेत—सन् 1956 मे न्यूनतम कोष प्रणाली के अपनाने के कारण लिखिए तथा भारत के चलन पर उसके प्रभाव की विवेचना कीजिए।]

(3) निम्नलिखित मे से किन्ही तीन पर सक्षिप्त टिप्पणिया लिखिए।

(i) ....

(ii) ....

(iii) ....

(iv) पत्र मुद्रा चलन की विश्वासाश्रित पद्धति (Fiduciary System of Note Issue)

(v) ....

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1965)

[सकेत—निश्चित विश्वासाश्रित प्रणाली का वर्णन कीजिए तथा सक्षेप मे उसके लाभ तथा हानिया बताइये।]

मुद्रा का मूल्य-निर्देशांक
(Value of Money-Index Numbers)

"Index numbers, in short, are ore guide to an understanding of economic problems and indicate general tendencies which are very helpful in solving various socio-economic problems of the country."

मुद्रा के मूल्य का अर्थ :—

वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य मुद्रा मे व्यक्त किया जाता है परन्तु मुद्रा का मूल्य किसम व्यक्त किया जाय। मुद्रा के मूल्य को मुद्रा के रूप मे व्यक्त नही किया जा सकता। यह कहना कि 'एक रुपया एक रुपये के बराबर है' कोई अर्थ नही रखता। मुद्रा की माग मुद्रा के लिए नही बल्कि उसकी क्रय शक्ति या वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने की क्षमता के कारण होती है। अतः मुद्रा के मूल्य का तात्पर्य 'विनिमय-अर्घ' (Value-in-exchange) या सामान्य रूप से वस्तुओं को क्रय करने की शक्ति से होता है। प्रत्येक वस्तु का मूल्य मुद्रा के रूप म व्यक्त होकर 'कीमत' (Price) कहलाता है। अत वस्तुओं और सेवाओं के रूप मे ही मुद्रा के मूल्य को व्यक्त किया जा सकता है। इसे सामान्य कीमत तल का व्युत्क्रम (Reciprocal) माना जा सकता है।[1]

[1] "Since the purchasing power of morey in a given context depends on the quantity of goods and services which a unit of money will purchase, it follows that it can be measured by the price of a composite commodity, made up of the various individual goods and services in proportions corresponding to their importance as objects of expenditure..... ....The price of a commodity which is representative of some type of expenditure, we shall call a Price Level"

— J M. Keynes *A Treatise on money*, Vol I, p. 53

मुद्रा की क्रय शक्ति का आशय है कि मुद्रा की एक इकाई के बदले कितनी वस्तुएँ एव सेवायें प्राप्य हैं। चैन्डलर के शब्दो मे मुद्रा के मूल्य शब्दो का अर्थ है मुद्रा की क्रय शक्ति—प्रत्येक इकाई की वस्तुओ और सेवाओ को प्राप्त करने की क्षमता।"[1] वस्तुओ और सेवाओ को क्रय करने की शक्ति के कारण ही मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रयुक्त होती है। वस्तुओ और सेवाओ की कीमतो मे परिवर्तन होने पर मुद्रा की क्रय शक्ति घट या बढ जाती है और मुद्रा का मूल्य कभी अधिक हो जाता है और कभी कम। यदि कीमतें घट जाय तो मुद्रा की एक इकाई अधिक वस्तुयें तथा सेवायें क्रय करती है अर्थात् मुद्रा की क्रय शक्ति बढ जाती है और मुद्रा का मूल्य भी बढ जाता है। इसके विपरीत, यदि कीमतें बढ जाय तो मुद्रा की एक इकाई पहले से कम वस्तुयें तथा सेवायें क्रय करती है अर्थात् मुद्रा की क्रय शक्ति घट जाती है और उसका मूल्य भी घट जाता है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य का प्रश्न उसकी क्रय शक्ति से सम्बन्धित हैं और इसके परिवर्तनो के माप के लिए उन सभी वस्तुओ की कीमतो के परिवर्तनो का आधार ग्रहण करना पडता है जिनका मूल्याकन मुद्रा द्वारा होता है।

मुद्रा मूल्य तथा कीमतो मे विपरीत सम्बन्ध है।[2] जब कीमतें बढती है मुद्रा का मूल्य गिरता है और कीमतें घटती हैं तो मुद्रा का मूल्य बढता है। इस प्रकार मुद्रा का सामान्य मूल्य उन वस्तुओ और सेवाओ की कीमतो द्वारा जाना जा सकता है जिनके विनिमय के माध्यम के रूप मे वह कार्य करती है। दो विभिन्न समयो म मुद्रा के मूल्य मे हुए परिवर्तन को ज्ञात किया जा सकता है परन्तु सभी वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतो के आधार पर मुद्रा के "सामान्य" मूल्य मे परिवर्तनो का ज्ञान हो भी जाय तो इसका कोई अर्थ नही। समाज के विभिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न वस्तुओ म रुचि रखते है और वे उन्ही वस्तुओ की कीमतो से प्रभावित होते हैं अत निरपेक्ष रूप मे 'मुद्रा का मूल्य' एक अर्थहीन सज्ञा है।[3] मुद्रा का मूल्य किसी विशेष प्रकार की वस्तुओं और सेवाओ के सन्दर्भ मे व्यक्त होना चाहिए। इस प्रकार विभिन्न प्रयोगो की दृष्टि से मुद्रा के विभिन्न मूल्य होते है और उसका माप विशिष्ट प्रयोग से

---

1. 'By the term value of money is meant the purchasing power of money–the ability of each unit to command goods and services in exchange"

—L. V. Chandler *An Introduction to Monetary Theory*, p 10

2. "The purchasing power of money is the reciprocal of the level of prices So that the study of purchasing power of money is identical with the study of price levels"

—Irving Fisher *The Purchasing Power of Money*, p 14

3 Objectively, the value of money is a meaningless concept.

सम्बन्धित विशिष्ट कीमत तल द्वारा ही होता है :[1] इस आधार पर मुद्रा के मूल्य तीन प्रकार के होते है।[2]

(1) मुद्रा का थोक मूल्य (Wholesale value) : मुद्रा के थोक मूल्य का निर्धारण वस्तुओ के थोक बाजार मे प्रचलित कीमतो के आधार पर किया जाता है। इस श्रेणी की वस्तुओ मे अधिक मात्रा मे क्रय विक्रय होने वाले कच्चे माल आते है। व्यापार आदि की दशा का अनुमान मुद्रा के थोक मूल्य द्वारा ही लगाया जाता है।

(2) मुद्रा का फुटकर मूल्य (Retail Value of Money or the Cost of Living) मुद्रा का फुटकर मूल्य उपभोक्ता द्वारा अन्तिम उपभोग मे प्रयुक्त दैनिक व्यवहार की वस्तुओ की फुटकर कीमतो द्वारा निर्धारित होता है।

(3) मुद्रा का श्रम मूल्य (Labour Value of Money) : मुद्रा के श्रम मूल्य का तात्पर्य वस्तुओ की इकाईयो के विपरीत मानवीय श्रम की इकाईयो को क्रय करने की शक्ति से है। इसे मानवीय श्रम के कीमत तल—मजदूरी द्वारा नापा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुद्रा का मूल्य सापेक्षिक (Relative) रूप मे ही नापा जा सकता है, निरपेक्ष रूप मे नहीं।

मुद्रा के मूल्य की समस्या (The Problem of Value of Money)—

मुद्रा के मूल्य की समस्या के तीन निम्नलिखित पक्षो का हमे अध्ययन रना है :—

मुद्रा का मूल्य
(Value of Money)

मुद्रा का मूल्य मापन (Measurement) (निर्देशाक) (Index Numbers)	मुद्रा का मूल्य निर्धारण (Determination) (मुद्रा के सिद्धान्त) (Theories of money)	मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन (Changes) (मुद्रा स्फीति सकुचन आदि) (Inflation, deflation etc)
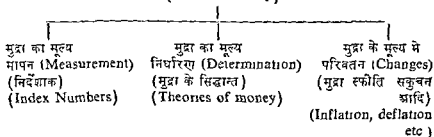
मुद्रा के मूल्य का पहला पक्ष ही इस अध्याय का विषय है।

---

[1]. "Money has a number of different values according to the different uses to which it is put, and is measured by the particular price level which corresponds to that particular use"
– S M Tiwary *Money an analytical study of monetary Theory and Problems*, p. 105

[2]. G. Crowther . *An outline of Money*, p 85

निर्देशाक
(Index Numbers)

जैसा कि हम अध्ययन कर चुके हैं कि मुद्रा का मूल्य उसकी क्रय शक्ति है। मुद्रा का मूल्य स्थिर नही रहता और इसमे सदा परिवतन होते रहते हैं। मुद्रा के मूल्य तथा वस्तुओ और सेवाओ की कीमतो मे विपरीत सम्बन्ध है, अत वस्तुओ और सेवाओ की कीमतो के परिवर्तनो के आधार पर मुद्रा का मूल्य मापा जाता है। मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तनो को एक गणितीय विधि से मापा जाता है जिसे निर्देशाक या सूचनाक (Index Numbers) कहते हैं।

निर्देशाक की परिभाषा (Definition of Index Numbers)

निर्देशाक कीमत स्तर के अर्को की एक सूची होती है जिन्हे एक तालिका के रूप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि वस्तुओ और सेवाओ की कीमतो के परिवर्तनो को दिखाकर मुद्रा के मूल्य मे हुए परिवतनो को जाना जा सके।[1]

निर्देशाको की कुछ मुख्य परिभाषायें इस प्रकार हे —

सेक्रिस्ट . "निर्देशाको से तात्पर्य सख्याओ की उस श्रृखला से है जो मुद्रा के मूल्य के साथ कीमत स्तर के परिवर्तनो को बताती है। ये सापेक्षिक अक होते हैं जो विभिन्न समयो मे मुद्रा की क्रय शक्ति की तुलना करने मे सहायक होते हैं और कीमत स्तर के उच्चावचनो को मापते है।"[2]

चैन्डलर "*कीमत निर्देशाक वह सख्या है जो आधार वर्ष की औसत* कीमतो की ऊँचाई की तुलना मे किसी अन्य समय मे उसकी ऊँचाई को प्रकट करती है।"[3]

---

[1]. Index numbers are figures of price levels arranged in a table with a view to show the changes in the prices of goods and services for the purpose of showing the fluctuations in the value of money

[2] "Index Numbers are series of numbers which show variations in price levels with those in the value of money These are relative numbers which enable us to compare the purchasing power of money at different periods of time and measure the movement in the level of prices"

— Secrist : *An Introduction to Statistical Methods*, p 295.

[3]. "An index number of prices is a figure showing the height of average prices at one time relative to their height at some other time that is taken as the base period"

—L V Chandler *An I[illegible] to Monetary Theory*, p [illegible]

घोष तथा चौधरी "निर्देशाक वह सख्या है जो किसी निश्चित तिथि को किसी स्थिति विशेष के स्तर की तुलना किसी आधार तिथि (Standard date) के स्तर से करती है।"[1]

यदि किसी निश्चित तिथि की तुलना मे निर्देशाक बढा है तो इसका तात्पर्य है कि वस्तुओ और सेवाओ की कीमतें बढी है और उसी अनुपात मे मुद्रा का मूल्य घटा है। इसी प्रकार यदि निर्देशाक घटा है तो इसका अर्थ है कि वस्तुओ और सेवाओ की कीमतें घटी है और उसी अनुपात मे मुद्रा का मूल्य बढा है।

निर्देशाक केवल कीमतो की सामान्य प्रवृत्ति की ओर ही सकेत करते हैं
(Index numbers indicate only a general tendency of prices)

सभी वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें एक साथ एक ही दिशा मे परिवर्तित नही होती। कुछ वस्तुओ के मूल्य बढते हैं तो कुछ के घटते हैं। इसी प्रकार वस्तुओ की कीमतो मे परिवर्तन की दिशा भिन्न होने के साथ साथ परिवर्तन की सीमा (degree) भी भिन्न भिन्न होती है। इसके विपरीत कुछ ऐसी वस्तुयें भी होती हैं जिनकी कीमतो मे कोई परिवर्तन नही होता। परन्तु कीमतो के इन सभी परिवर्तनो की एक सामान्य दिशा भी होती है। निर्देशाक इसी केन्द्रीय प्रवृत्ति की ओर सकेत करते है। इसकी तुलना मधु मक्खियो के एक झुड के साथ की जा सकती है जिसमे कुछ मक्खियाँ पूर्व की ओर और कुछ पश्चिम की ओर, कुछ उत्तर की ओर कुछ दक्षिण की ओर जाती है परन्तु झुड की भी एक दिशा होती है। प्रो० टासिग के शब्दो मे —

> "No index number corresponds to the real thing It is not like the mean of certain observations in natural sciences whose average will point to a single special fact This is to repeat only an indication of the general trend of prices There is no one change in prices, there is a medley of many changes, different in direction and degree All what we can hope to secure by averaging or summarising is some concise statement of the general drift"

निर्देशाक मुद्रा के मूल्य के निरपेक्ष मापक नहीं हैं
(Index numbers are not absolute measures of the Value of money)

निर्देशाक मुद्रा के मूल्य के निरपेक्ष मापक नही है। यह कहने का कोई अर्थ नही है कि निर्देशाक इस समय 200 या 300 है जब तक यह न ज्ञात हो कि वह

---

[1]. "An index number is a number which indicates the level of a certain phenomenon at any given date in comparison with the level of the same phenomenon at some standard date"
—Ghosh M. K. and Chaudhary, S C

अमुक तिथि की तुलना मे इतना है । अत. निर्देशांक दो विभिन्न समयो के कीमत स्तर की तुलना करने के लिए प्रयुक्त होते हैं इसीलिए वे मुद्रा के मूल्य के निरपेक्ष मापक न होकर सापेक्ष मापक (Relative measures) है ।

निर्देशांक मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को मापने के काम मे ही नही आते वरन् इनका उपयोग आर्थिक जगत के विभिन्न तथ्यो के तुलनात्मक परिवर्तनो को नापने के लिए किया जाता है जैसे उत्पादन, बिक्री, आयात-निर्यात, उपभोग, आय-व्यय इत्यादि की घट बढ ।

निर्देशांक बनाने की विधि (Compilation of Index Numbers)

कीमतो के निर्देशांक बनाने की विभिन्न विधियाँ है और उनमे कौनसा सबसे ठीक है इस सम्बन्ध मे बडा मतभेद है । इस सम्बन्ध की तकनीकी समस्याओं के समाधान का उत्तरदायित्व सख्या शास्त्रियों पर छोडते हुए यहाँ हम केवल यह अध्ययन करेंगे कि निर्देशांकों के निर्माण की मूलभूत विधि क्या है और इनकी सहायता से मुद्रा के मूल्य के तुलनात्मक परिवर्तनों का अध्ययन किस प्रकार किया जाता है । सरल निर्देशांकों के निर्माण मे निम्नलिखित समस्याओं पर विचार किया जाता है :—

1. निर्देशांक का उद्देश्य (Object of Index Numbers) : सबसे पहले यह निश्चित किया जाना चाहिए कि निर्देशांक हम किस उद्देश्य के लिए बनाने जा रहे है । किसी भी साख्यिकीय प्रणाली को अपनाने से पूर्व अपने उद्देश्यों को निर्धारित करना आवश्यक होता है क्योंकि एक प्रणाली जो एक उद्देश्य के लिए उपयुक्त है दूसरे के लिए अनुपयुक्त हो सकती है । यदि व्यापारियों की दृष्टि से हम निर्देशांक बना रहे है तो हमे 'थोक मूल्य निर्देशांक बनाना होगा और उपभोक्ताओं की दृष्टि से हमे 'फुटकर कीमत निर्देशांक बनाना होगा । हैबरलर ने ठीक ही कहा है कि "सामान्य मूल्य स्तर कोई स्वत स्पष्ट तथ्य नही वरन् एक सैद्धांतिक अवास्तविकता है । यह किन्ही वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक उद्देश्यों की प्राप्ति का वैज्ञानिक उपकरण है । कीमत स्तर की आर्थिक दृष्टिकोण से उपयुक्त परिभाषा मस्तिष्क मे निहित उद्देश्य से स्वतन्त्र नही हो सकती और प्रत्येक उद्देश्य के लिए पृथक निर्देशांक का निर्माण होना चाहिए ।"[1]

---

[1]. "The general price level is not a given, self evident fact, but a theoritical abstraction. It is a scientific tool which has to serve for certain scientific and practical purposes...... An economically relevant definition of price level cannot be independent of the purpose in mind and for each purpose a separate index must be computed."—Haberler : *The Meaning and use of a General Price Index, Quarterly Journal of Economics*, 1928. pp 435-36.

2 आधार वर्ष का चुनाव (The Choice of the base year) : निर्देशाकों का निर्माण करते समय आधार वर्ष का चुनाव बडा महत्वपूर्ण है। निर्देशाको द्वारा वर्तमान की औसत कीमतो की तुलना किसी निश्चित तिथि या वर्ष की कीमतो से की जाती है और यह पता लगाया जाता है कि उस वर्ष की तुलना म कीमतें बढी हैं या घटी। जिस वर्ष की औसत कीमतो से तुलना की जाती है उसे आधार वर्ष, आधार तिथि या आधार अवधि कहते हैं। आधार वर्ष ऐसा होना चाहिए जो सभी दृष्टियो से साधारण तथा सामान्य वर्ष हो। उस वर्ष कोई राजनैतिक व आर्थिक उथल पुथल और असाधारण घटना जैसे युद्ध, इत्यादि न हुए हो। उस वर्ष कीमतें न बहुत ऊँची रही हो और न बहुत नीची। असाधारण परिस्थितियो वाला वर्ष हमारे निष्कर्ष अशुद्ध कर सकता है। आधार वर्ष किसी युग की चरम सीमा होती है जहाँ से राजनैतिक व आर्थिक प्रवृत्तियो का प्रवाह दूसरी दिशा मे मोड लेता है। अतः आधार वर्ष एक जल विभाजक की तरह है जो दो आर्थिक युगो का मध्य स्थल होता है। इन बातो को ध्यान मे रखकर आधार वर्ष चुना जाना चाहिए। क्राऊथर के शब्दों में "किसी भी अवधि को आधार बनाया जा सकता है किन्तु किसी ऐसी अवधि को अपनाना, जिससे बाद की कीमतो की तुलना की जा सके, उसी प्रकार आवश्यक होता है जिस प्रकार एक मानचित्र बनाने वाले के लिए आधार रेखा लेना आवश्यक है जिससे वह ऊचाइयो को उसके सन्दर्भ मे नाप सके।"[1]

3 वस्तुओं और सेवाओ का चुनाव (Selection of Commodities and Services) निर्देशाक के निर्माण का उद्देश्य निश्चित कर लेने के बाद वस्तुओ और सेवाओं (जिनकी कीमतें निर्देशांक मे प्रयुक्त होगी) के चुनाव का प्रश्न बडा महत्वपूर्ण है। व्यावहारिकता मे सभी वस्तुओ और सेवाओ को सम्मिलित नही किया जा सकता अत जिस उद्देश्य के लिए निर्देशाक बनाये जा रहे हैं उससे सम्बन्धित प्रतिनिधि वस्तुओ को चुना जाता है। यदि हम सामान्य जीवन स्तर की लागत का निर्देशाक बना रह हैं तो हमे सामान्य उपभोग मे आने वाली वस्तुओ और सेवाओ को चुनना होगा। 'थोक भाव निर्देशाक' के लिए हमे ऐसी वस्तुओ को चुनना होगा जिनका थोक विनिमय होता है। श्रमिक वर्ग के जीवन स्तर लागत निर्देशाक बनाते समय हमे श्रमिको के उपभोग मे आने वाली वस्तुओ का चुनाव करना होगा। उसमे कारो तथा मोटर साइकिलो का चुनाव किया गया तो वे निर्देशाक

---

1. "Any period will do, but it is necessary to have some base to which later prices can be compared, just as every map maker must have a datum line to which he can refer altitudes"

— G Crowther : *An Outline of Money*, p 87.

श्रमिको की जीवन स्तर लागत मे परिवर्तनो की सही सूचना नही दे सकेंगे। वस्तुओ के चुनाव से सम्बन्धित दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि निर्देशाको के निर्माण मे चुनी जाने वाली वस्तुओ और सेवाओ की सख्या जितनी अधिक होगी निर्देशाक उतना ही प्रामाणिक तथा यथार्थ होगा। परन्तु अधिक वस्तुओ को सम्मिलित करने पर उनकी कीमते एकत्र करने मे कठिनाई, व्यय तथा विलम्ब होता है। अतः सुविधा, मितव्ययिता तथा सरलता के लिए पर्याप्त सख्या मे जैसे 40–50 वस्तुओ तथा सेवाओ को चुनना चाहिए। इरविंग फिशर के शब्दो मे "जब तक निर्देशाक मे 20 से अधिक वस्तुओ को सम्मिलित नही किया जाता जब तक उसका कोई विशेष महत्व नही होता। यदि यह सख्या 50 तक हो तो और अच्छी बात है। 50 के बाद सख्या अधिक करने से बहुत थोडा सुधार होता है परन्तु यह सदेहपूर्ण है कि 200 से अधिक सख्या मे वृद्धि से लाभ, उनके अकन की अतिरिक्त परेशानी तथा व्यय से अधिक होगा।" [1] मिचैल के अनुसार "जब हमारा उद्देश्य मूल्यो मे सामान्य परिवर्तनो की दिशा का ज्ञान करना हो तो चुनी हुई वस्तुओ की सख्या का कोई महत्व नही है। परन्तु वस्तु समूहो की सख्या इतनी पर्याप्त हो कि वे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का व्यापक चित्र प्रस्तुत कर सकें।"[2] सोअर बैंक के निर्देशाक मे 37 वस्तुय, ब्रिटिश बोर्ड आफ ट्रेड के निर्देशाक मे 150, अमेरिकन ब्यूरो और लेबर के निर्देशाक मे 550 तथा भारत के इकानामिक एडवाइजर के थोक भाव निर्देशाक (Economic Advisor's Wholesale Price Index Number) मे 78 वस्तुओ को सम्मिलित किया गया है।

4. वस्तुओ और सेवाओ की कीमतो का चयन (Collection of Prices of Commodities and Services). प्रतिनिधि वस्तुओ और सेवाओ का चुनाव करने के बाद उन वस्तुओ व सेवाओ के मूल्य एकत्र करने पडते हैं। किस प्रकार की कीमतें निर्देशाक के लिए चुनी जाय यह निर्देशाक बनाने के उद्देश्य पर निभर है। यदि हम सामान्य कीमतो का निर्देशाक बना रहे हैं तो थोक कीमतो का प्रयोग करगे

[1] Seldom.... ....are index numbers of much value unless they consist of more than 20 commodities, and 50 is a much better number After 50 the improvement obtained from increasing the number of commodities is gradual and it is doubtful if the gain from increasing the number beyond 200 is ordinarily worth the extra trouble and expense."

—Irving Fisher : *The Making of Index Number*, p. 340

[2] "If the desired end is an indication of broad movements of prices, the number of commodities choosen hardly matters but the number of commodity groups should be large to present a comprehensive picture of the economy."—Mitchell

क्योंकि माग-पूर्ति के परिवर्तनों का थोक भावों पर सबसे पहले प्रभाव पडता है और इनका एकत्रित करना भी सुविधाजनक होता है। यदि हम जीवन निर्वाह व्यय निर्देशांक बना रहे हैं तो फुटकर भावों का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि उपभोक्ता इन्ही कीमतो पर वस्तुओं को खरीदता है। जिन कीमतो का हम निर्देशांक बनाने मे प्रयोग करें वे विश्वसनीय पत्र-पत्रिकाओं से ली जा सकती है या उन वस्तुओं के उत्पादन व वितरण के प्रमुख केन्द्रो से प्राप्त की जा सकती है। कीमतों को ठीक स्रोतो से प्राप्त करना बड़ा आवश्यक है नही तो हमारे निष्कर्ष वास्तविक स्थिति का प्रतिनिधित्व नही करेंगे। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित करना पडेगा कि दैनिक, साप्ताहिक या मासिक कौन सी कीमतें एकत्र की जाय।

5 कीमतों को प्रतिशत मे दिखाना (To Represent Prices in Percentages) : प्रत्येक वस्तु तथा सेवा की कीमत आधार वर्ष मे 100 मान ली जाती है और निर्देशांक निकालने वाले वर्ष की कीमतो को आधार वर्ष की कीमतो के प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि आधार वर्ष (1953) मे गेहू की कीमत 60 रुपये प्रति क्विटल थी और निर्देशांक निकालने वाले वर्ष (1969) मे गेहू की कीमत 90 रुपये प्रति क्विटल हो गई तो आधार वर्ष की कीमत को 100 मानकर वर्तमान की कीमत को $\frac{90 \times 100}{60} = 150$ दिखाया जायेगा।

6 औसत निकालना (Determination of Averages) अन्त मे आधार वर्ष तथा वतमान की कीमतो के प्रतिशतो का औसत निकाला जाता है। औसत निकालने की अनेक विधियां हैं जैसे गणितीय औसत (Arithmetic Average), मध्यक (Median), भूयिष्ठक (Mode), गुणोत्तर माध्य (Geometric Mean) इत्यादि। इनमे से प्रत्येक विधि की अलग-अलग उपादेयता है और निर्देशांक बनाने के उद्देश्य को ध्यान मे रखकर इनका प्रयोग किया जाता है। फिशर ने 96 मुख्य तथा 38 पूरक फार्मूलों की चर्चा की है और उनके अनुसार इन 134 मे से 30 सही परिणाम देते हैं।

साधारण निर्देशांक—एक उदाहरण

उपर्युक्त क्रियाओं के सम्पन्न होने पर उनके वास्तविक निर्माण का कार्य किया जाता है। यहा एक साधारण निर्देशांक का सरल उदाहरण दिया जाता है—

1969 का साधारण जीवन निर्वाह व्यय निर्देशाक (1953=100)

वस्तुयें	1953 आधार वर्ष		1969 चालू वर्ष	
	कीमत	निर्देशाक	कीमतें	निर्देशाक
	Rs		Rs	
1 गेहू	50 per Quintal	100	100 per Quintal	200 0
2. चावल	150 ,,	100	250 ,,	166 6
3 दाल	75 ,,	100	125 ,,	166 6
4 कपडा	2 per Meter	100	5 per Meter	250 0
5 कोयला	20 per Quintal	100	30 per Quintal	150 0
6 चीनी	100 ,,	100	400 ,,	400 0
7 दूध	0 60 per Liter	100	1 50 per Liter	250 0
		700 / 7 =100		1583 2 / 7 =226 18

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि 1953 को आधार वर्ष मान कर 1969 का निर्देशाक 226 18 है। अत 1953 की तुलना मे कीमतें लगभग सवा दो गुनी हो गई है अर्थात् कीमत स्तर मे 126 18% की वृद्धि हो गई है तथा मुद्रा के मूल्य मे 126 18% की कमी हुई है।

साधारण तथा भारांकित निर्देशाक (Simple and Weighted Index Number) साधारण निर्देशाक उस निर्देशाक को कहते है जिसमे चुनी गई सभी वस्तुओ को समान महत्व दिया जाता है चाहे उनका हमारी उपभोग व्यवस्था मे अधिक महत्व हो या कम। उपर्युक्त उदाहरण वास्तव मे साधारण निर्देशाक का उदाहरण है जिसमे यह मान लिया गया है कि प्रत्येक वस्तु का महत्व अन्य वस्तुओ के समान ही है परन्तु उपभोक्ता की व्यय व्यवस्था मे प्रत्येक वस्तु का महत्व भिन्न होना है जैसे गेहू पर जो व्यय किया जाता है उसकी तुलना मे नमक पर बहुत कम व्यय होता है। गेहू की कीमतो मे थोडा ही परिवर्तन उसके बजट पर अधिक प्रभाव डालता है तथा नमक की कीमतो मे अधिक घट बढ भी उसको अधिक प्रभावित नही करती। अत मुद्रा के मूल्य मे परिवतनो का सही अनुमान लगाने के लिए निर्देशाको मे विभिन्न वस्तुओ का महत्व भी समाविष्ट होना चाहिए। साधारण निर्देशाको के इसी दोष को दूर करने के लिए भारांकित निर्देशाक (Weighted Index Number) बनाये जाते है।

भाराकित निर्देशाक मे वस्तुओ के तुलनात्मक महत्व के अनुसार 'भार' (weights) दे दिये जाते है। भार देने का एक तरीका यह है कि महत्वपूर्ण वस्तुओ की कई किस्मे चुन ली जाय जैसे 8 किस्म का गेहूं 6 किस्म का चावल, 3 किस्म की दालें, 2 किस्म का कपडा। इस प्रकार अधिक महत्व वाली वस्तुओ को तुलनात्मक दृष्टि से अधिक महत्व मिल जाता है। भार देने का दूसरा तरीका यह है कि महत्व के अनुसार प्रत्येक वस्तु को भार के अंक प्रदान कर दिये जाते हैं और आधार वर्ष तथा वर्तमान के निर्देशाको को भारो से गुणा कर दिया जाता है और फिर औसत निकाल लिया जाता है। नीचे हम एक भाराकित निर्देशाक (Weigted Index Number) का उदाहरण देते हैं—

1969 का भाराकित जीवन निर्वाह व्यय निर्देशाक (1953=100)

वस्तुयें	भार	1953 आधार वर्ष			1969 चालू वर्ष		
		कीमतें	साधारण	भाराकित निर्देशाक	कीमतें	साधारण निर्देशाक	भाराकित निर्देशाक
		Rs.			Rs.		
1. गेहूँ	8	50 Q.	100	800	100 Q	200	1600.0
2. चावल	7	150 ,,	100	700	250 ,,	166.6	1166.2
3. दाल	5	75 ,,	100	500	125 ,,	166 6	833 0
4. कपडा	4	2 M.	100	400	5 M.	250	1000 0
5. कोयला	3	20 Q.	100	300	30 Q.	150	450 0
6. चीनी	2	100 ,,	100	200	400 ,,	400	800 0
7. दूध	1	60 L.	100	100	1.50 L.	250	250 0
	30			3000 / 30 = 100			6099.2 / 30 = 203.36

इस प्रकार भाराकित निर्देशांक 203 36 है जबकि साधारण निर्देशाक 226.18 है। विभिन्न वस्तुओ को उनके तुलनात्मक महत्व के अनुसार भार देकर निर्मित भाराकित निर्देशाक मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तनो का ज्ञान कराने मे अधिक विश्वसनीय होते हैं।

निर्देशांको के निर्माण मे कठिनाइयां
(Difficulties in the Construction of Index Numbers)

निर्देशाको के निर्माण मे बहुत सी कठिनाइया हैं। उनमे से मुख्य इस प्रकार हैं—

(1) आधार वर्ष के चुनाव सम्बन्धी कठिनाई निर्देशाको का निर्माण करते समय आधार वर्ष का चुनाव बडा महत्वपूर्ण है क्योकि इसी वर्ष की कीमतो से हम वर्तमान वर्ष की कीमतो की तुलना करते हैं। हम यह पहले ही अध्ययन कर चुके हैं कि आधार वर्ष एक सामान्य (normal) वर्ष होना चाहिए जिसमे कोई असाधारण आर्थिक या राजनीतिक घटनायें जैसे युद्ध, मदी इत्यादि न घटी हो। ऐसे वर्ष का चुनाव निस्सदेह एक कठिनाई है क्योकि समय परिवर्तन के साथ आधार वर्ष भी बदलना पडता है। जैसे कुछ वर्ष पहले 1939 जो द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ के पहले का वर्ष है आधार वर्ष माना जाता था परन्तु अब यह प्रचलन मे बिल्कुल नही है। अब 1953 या इसके बाद के किसी वर्ष को आधार वर्ष माना जाता है। कभी-कभी इस कठिनाई पर विजय प्राप्त करने हेतु कुछ वर्षों के औसत को आधार वर्ष मान लिया जाता है।

(2) प्रतिनिधि वस्तुओ को चुनने मे कठिनाई : निर्देशाको का निर्माण करते समय शुद्ध निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए प्रतिनिधि वस्तुओ का चुनाव करना भी बडा कठिन कार्य है। प्रतिनिधि वस्तुओ का चुनाव निर्देशाक के निर्माण के उद्देश्य पर निर्भर करता है। यदि हम श्रमिको का जीवन निर्वाह व्यय निर्देशाक बना रहे हैं तो श्रमिको द्वारा प्रयुक्त वस्तुओ का ही चुनाव करना होगा। इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान रखना होना है कि आधार वर्ष तथा वर्तमान वर्ष मे वस्तुओ के आकार–प्रकार गुण तथा स्वभाव मे कोई अन्तर न हो। इसके अतिरिक्त वस्तुओ की सख्या भी पर्याप्त रूप से अधिक होनी चाहिए।

(3) कीमतो के चयन मे कठिनाई : वस्तुओं की कीमतो के चयन मे भी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। थोक मूल्य लिए जाय या फुटकर मूल्य—यह निर्देशाक के निर्माण के उद्देश्य पर निर्भर करता है। सामान्य कीमत स्तर निर्देशाक मे थोक कीमतो का उपयोग होता है परन्तु जीवन स्तर निर्वाह व्यय निर्देशाक मे फुटकर कीमतो का। फुटकर कीमतो का इकट्ठा करना तो बडा कठिन होता है क्योकि वस्तुओ की फुटकर कीमत विभिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न होती है।

(4) औसत की कठिनाई : निर्देशाक बनाते समय एक प्रमुख कठिनाई औसत निकालने की है। औसत निकालने की रीतिया अनेक हैं जैसे अकगणितीय औसत (Arithmetical average), गुणोत्तर माध्य (Geometric mean), हरात्मक माध्य (Harmonic mean) इत्यादि। अधिकतर अकगणितीय औसत का ही प्रयोग किया जाता है परन्तु यह सदा औसत निकालने की उपयुक्त पद्धति नही है।

(5) भार निश्चित करने की कठिनाई विभिन्न वस्तुओ के लिए वैज्ञानिक रीति से भार निश्चित करना भी बडा कठिन कार्य है क्योकि विभिन्न उपभोक्ताओ के लिए वस्तुओ का महत्व भिन्न भिन्न होता है। अत निष्कर्ष भिन्न हो सकते है।

कुछ सीमा तक एक वस्तु की अमुक मात्रा को दूसरी वस्तु की अमुक मात्रा के समान मानकर उस कठिनाई पर विजय प्राप्त की जा सकती है परन्तु, "स्पष्ट रूप मे इस प्रकार की तुलनायें वास्तव में सतोषजनक नही होती और हमे यह मान लेना होगा कि मुद्रा के मूल्य मे अन्तर के माप विभिन्न समयो तथा स्थानो मे लगभग अनिश्चित तथा असत्य होते है।"[1]

भार निश्चित करने की कठिनाई को दूर करने के लिए प्रो० मार्शल ने शृंखलाकारी निर्देशाक (Chain Index Numbers) बनाने का सुझाव दिया है। शृंखलाकारी निर्देशाको के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष की कीमतो की उससे अगले वर्ष की कीमतो से तुलना की जाती है। परन्तु यह प्रणाली भी दोषमुक्त नही है।

6. **सामान्य कीमत स्तर का विचार सैद्धान्तिक रूप से अस्वीकार्य:** युद्ध प्रारम्भ होने पर देश की अर्थ व्यवस्था सैनिक उद्देश्यो की पूर्ति की दृष्टि से परिवर्तित हो जाती है। लगभग सामान्य कीमत स्तर का विचार करते समय उपभोक्ताओ के रूप मे प्राप्त आय–वस्तुओ के मूल्य तथा सम्पत्ति के स्वामियो के रूप मे पूँजीगत वस्तुओ के मूल्य मे अन्तर करना चाहिए। अत: इन वस्तुओ को एक ही बार सम्मिलित करने की सावधानी बरतनी चाहिए।

निर्देशाक मुद्रा मूल्य के पूर्णत सही मापक नहीं (Index Numbers are not absolutely correct measures of Value of Money).—

निर्देशाको को बनाने मे अनेक कठिनाइया हैं और इस कारण पूर्णत: सत्य निर्देशाक नही बनाये जा सकते। अत मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तनो को ठीक प्रकार से नापा नही जा सकता। राबर्टसन के शब्दो मे "मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों की ठीक-ठीक नापना न तो व्यवहार मे और न सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्भव है। फिर भी इसमे कोई सन्देह नही कि मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन होते है और यदि पर्याप्त सावधानी बरती जाय तो व्यावहारिक कार्यों के लिए काफी हद तक ठीक-ठीक माप प्राप्त तथा प्रयोग किए जा सकते हैं।"[2] यद्यपि निर्देशाको मे गणितीय सत्यता (Arithmetical

---

[1]. "But clearly no such comparisons are really satisfactory and we must resign ourselves to the fact that any measure of differences in the value of money between times and places will be more or less arbitrary and inaccurate." —F. Benham *Economics*, p. 409.

[2]. "Neither in practice nor perhaps even in theory is it possible to measure accurately changes in the value of money. Nevertheless there is no doubt that the value of money does change, and, if sufficient care is taken, measures accurate enough for some practical purposes can be found and used"

—D. H Robertson · *Money*, p. 27.

Truism) नही पाई जाती है परन्तु यह दोष होते हुए भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि निर्देशाको की सहायता से हम मुद्रा के मूल्य परिवर्तनो का अनुमान लगा सकते हैं। इसीलिए प्रो० मार्शल ने कहा है कि "मुद्रा की क्रय-शक्ति को पूर्णत सही माप लेना न केवल असम्भव है अपितु अविचारणीय भी है।"[1] अत. निर्देशाक मुद्रा के मूल्य परिवतनो के अनुमान ही होते हैं। इन्हे मुद्रा के मूल्य परिवर्तनो के पूर्णत सत्य सूचक नही माना जा सकता क्योकि वे केवल मूल्य परिवर्तनो मे केन्द्रीय प्रवृत्ति का हमे ज्ञान कराते हैं।

निर्देशाको के प्रकार (Types of Index Number)

निर्देशाक मुद्रा के मूल्य परिवतनो के माप की साख्यिकीय विधि है। इस विधि का विभिन्न क्षेत्रों मे विभिन्न उद्देश्यो के लिए प्रयोग किया जाता है और इन्ही प्रयोगो के अनुसार उनके कई प्रकार तथा रूप दिखाई पडते हैं। निर्देशाको के निम्नलिखित प्रकार उल्लेखनीय है —

1 **थोक कीमतो के निर्देशाक** (The Wholesale Price Index Numbers) —इस प्रकार के निर्देशांक मुख्य मुख्य वस्तुओ की थोक कीमतो के आधार पर तैयार किए जाते हैं। इनके द्वारा देश के कीमत स्तर मे होने वाले परिवर्तनो की दिशा तथा मात्रा का सकेत मिलता है। उत्पादन लागत व्यय के तुलनात्मक अध्ययन के लिए यह निर्देशाक बडे उपयोगी हैं तथा इनकी सहायता से सरकार अपनी मूल्य नियन्त्रण तथा मुद्रा नीति का निर्धारण करती है। भारत म आर्थिक सलाहकार द्वारा निर्मित थोक कीमतो का निर्देशाक (Economic Adviser's Index Number of Wholesale Prices) इस प्रकार के निर्देशाको का उदाहरण है।

2 **श्रमिक वर्ग जीवन निर्वाह व्यय निर्देशाक** (Working Class Cost of Living Index Numbers) —श्रमिको की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करने के लिए श्रमिको द्वारा उपभोग की गई वस्तुओ के फुटकर मूल्यो के आधार यह निर्देशाक बनाये जाते हैं। इन निर्देशाको मे सेवाओ के मूल्यो को सम्मिलित नही किया जाता है। इस प्रकार के निर्देशाक श्रमिको की मजदूरी तथा उनके मँहगाई भत्ते को निश्चित करने मे बडे उपयोगी होते हैं। ब्रिटिश श्रम मन्त्रालय (British Labour Ministry) सरकारी श्रमिक वर्ग जीवन निर्वाह व्यय निर्देशाक तैयार करता है। भारत मे लेबर ब्यूरो (भारत सरकार) 17 स्थानो के श्रमिक वर्ग जीवन-निर्वाह व्यय निर्देशाक तैयार करता है।

3 **औद्योगिक उत्पादन निर्देशाक** (Index Numbers of Industrial Production): —औद्योगिक उत्पादन निर्देशाक किसी आधार वर्ष की तुलना मे

[1]. "A perfectly exact measure of the purchasing power is not only unattainable but even unthinkable." — Marshall

औद्योगिक उत्पादन मे घट बढ की सूचना देते हैं। औद्योगिक उत्पादन तथा व्यापारिक क्रियाओ पर सरकारी नीतियो के प्रभाव का अध्ययन करने में यह निर्देशाक सहायता पहु चाते हैं। व्यापारियो को अपने उत्पादन की तुलनात्मक समीक्षा करने मे सहायता मिलती है। भारत मे ईस्टर्न इकोनोमिस्ट उत्पादन निर्देशाक (Eastern Economist Index of Industrial Production), कैपिटल औद्योगिक उत्पादन निर्देशाक (Capital Index of Industrial Production), केन्द्रीय वाणिज्य मन्त्रालय के औद्योगिक उत्पादन निर्देशाक (Ministry of Commerce Index of Industrial Production) इसके उदाहरण है।

4. जीवन निर्वाह व्यय निर्देशांक या उपभोग सूचक निर्देशांक (Cost of Living Index Number or Consumption Index Number):—इन निर्देशाको का उद्देश्य जीवन निर्वाह-व्यय मे परिवर्तनो को नापना होता है। इन निर्देशाको के निर्माण मे जनता द्वारा प्रयुक्त मुख्य मुख्य वस्तुओ तथा सेवाओ को सम्मिलित किया जाता है। यह वस्तुयें व सेवाये प्रतिनिधि स्वरूप (Representative) होती है। श्रमिक वर्ग जीवन निर्वाह-व्यय निर्देशाक तथा जीवन निर्वाह व्यय निर्देशाक मे मुख्य अन्तर यह है कि प्रथम प्रकार के निर्देशाको मे सेवाओ का मूल्य सम्मिलित नही किया जाता जबकि दूसरे प्रकार के निर्देशाको मे सेवाओ को सम्मिलित किया जाता है।

5 औद्योगिक लाभ निर्देशांक (Index Number of Industrial Profits) —औद्योगिक क्षेत्रो मे विनियोजित पूंजी की उत्पादनशीलता के अनुमान लगाने तथा उनकी तुलनात्मक समीक्षा के लिए औद्योगिक लाभ निर्देशाक बनाये जाते हैं। भारत मे—मन्त्रालय के कम्पनी प्रशासन विभाग (Department of Company Law Administration) द्वारा औद्योगिक लाभ निर्देशाक बनाये जाते हैं।

6 प्रतिभूति मूल्य निर्देशांक (Index Numbers of Security Prices).-स्टाक या शेयर बाजार मे प्रतिभूतियो तथा अशो के मूल्यो मे होने वाले परिवर्तनों के माप के लिए प्रतिभूति मूल्य निर्देशाक बनाये जाते हैं। इनसे उद्योगो के विकास का ज्ञान होता हैं तथा उनमे मन्दी या तेजी की स्थितियो की जानकारी मिलती हैं।

7. अन्य निर्देशाक (Other Indices) —उपर्युक्त निर्देशाको के अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रो मे निर्देशाको का निर्माण किया जाता है जैसे कार्यक्षमता निर्देशाक, बिक्री निर्देशाक, कृषि उत्पादन निर्देशाक, विदेशी व्यापार निर्देशाक, विशिष्ट प्रकार की सेवाओ के निर्देशाक। निर्देशाको की उपयोगिता के कारण सभी प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के लिए इस सांख्यिकीय विधि का प्रयोग किया जा रहा है।

निर्देशांकों के लाभ तथा उपयोगिता
(Utility and Advantages of Index Numbers)

वर्तमान समय मे निर्देशाको की उपयोगिता के कारण इनका महत्व बढता जा रहा है। निर्देशाक न केवल जीवननिर्वाह–व्यय मे परिवर्तनो की सूचना देते है बल्कि विभिन्न क्षेत्रो मे दो समयो की गतिविधियो के तुलनात्मक अध्ययन मे भी सहायता पहुचाते हैं। निर्देशाको के निम्नलिखित लाभ है .—

1. जीवन निर्वाह व्यय के परिवर्तनो की माप सम्भव (Measurement of changes in the Cost of Living made possible) —निर्देशाको की सहायता स जीवन निर्वाह व्यय के परिवर्तनो को जाना जा सकता है। इससे जनता के विभिन्न वर्गों की आर्थिक स्थिति का ज्ञान हो जाता है।

2 मजदूरी तथा भत्तों के निर्धारण मे सहायक (Help in the determination of wages and allowances)·—जीवन निर्वाह व्यय के परिवतनो की माप कर निर्देशाक मजदूरो की मजदूरी तथा महगाई भत्ते इत्यादि के निर्धारण म सहायता करते हैं। कुछ देशो मे मजदूरो की मजदूरी को निर्देशाको के परिवर्तनो के साथ जोड दिया जाता है। भारत सरकार के कर्मचारियो का महगाई भत्ता निर्देशाको के साथ जुडा हुआ है। इस प्रकार निर्देशाक मालिक तथा मजदूरो के मजदूरी तथा भत्ते सम्बन्धी विवाद तय करने मे सहायक होते हैं और औद्योगिक शाति की स्थापना मे बडे उपयोगी सिद्ध हुए है।

3. व्यापारियो के लिए लाभदायक (Useful to the Businessmen) — व्यापारियो के लिए निर्देशाको का बडा महत्व ह क्योकि व्यापारियो के लिए कीमतो मे परिवर्तनो की जानकारी बहुत आवश्यक है और यह जानकारी निर्देशाको से ही मिल सकती है। व्यापारी बिक्री, उत्पादन तथा लाभ के निर्देशाक बनाकर अपनी व्यापारिक नीतियो के प्रभाव का मूल्याकन कर सकते हैं और भावी नीति निर्माण के लिए आधार प्राप्त कर सकते है।

4. मौद्रिक नीति के निर्धारण मे सहायक (Helpful in the formulation Monetary Policy):—वस्तुओ और सेवाओ की कीमतो म परिवर्तनो के आधार पर केन्द्रीय सरकार तथा केन्द्रीय बैंक उचित मुद्रा नीति का निर्धारण कर सकती है जिससे मुद्रा के आन्तरिक तथा बाह्य मूल्यो मे स्थिरता लाई जा सके तथा दश तीव्र गति से आर्थिक विकास के माग पर अग्रसर होता रहे। मुद्रा प्रसार, मुद्रा सकुचन, हीनार्थ प्रबन्धन इत्यादि विषयो पर उचित नीति के निर्माण मे निर्देशाक बहुत सहायक होते हैं। इसी कारण हाम (Halm) न मौद्रिक नीतिया के निर्धारण मे निर्देशाको को उपयोगी ठहराया है।[1]

[1] 'Price levels and index numbers by means of which they are conveniently expressed can be useful for some purposes of monetary policy." —Halm, Monetary Theory, p 95

5 उत्पादनशीलता के तुलनात्मक अध्ययन मे सहायक (Comparative study of Productivity) —निर्देशाको की सहायता से उत्पादन, उत्पादनशीलता तथा लागत व्यय इत्यादि के सम्बन्ध म जानकारी प्राप्त होती है। उत्पादन वृद्धि कायक्रमो के प्रभावा का मूल्याकन तथा भावी कायक्रम के निर्धारण मे भी निर्देशाको से सहायता मिलती है।

6 विनिमय दर के निर्धारण मे सहायक (Helpful in the detemina tion of foreign exchange rates) —विदेशी विनिमय दरो के निर्धारण तथा भुगतान सतुलन की विषमता दूर करने मे निर्देशाको से सहायता मिलती है। पत्र मुद्रा मान वाले देशो के बीच विनिमय दर का निर्धारण क्रयशक्ति तुल्यता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) के आधार पर होता है और मुद्रा की क्रय शक्ति के बारे मे ज्ञान निर्देशाको से प्राप्त होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निर्देशाका की यह साख्यकीय विधि समाज के सभी क्षेत्रो तथा सभी वर्गो के लिए उपयोगी है। व्यापारी, राजनीतिज्ञ, समाजश स्त्री वैज्ञानिक, अथशास्त्री सभी निर्देशाको से लाभ उठाते हैं। निर्देशाक देश क आर्थिक विकास की प्रगति तथा अन्य देशो से उसकी तुलना मे सहायक होते हैं। इसीलिए निर्देशाको को आर्थिक मापन यन्त्र (Economic Barometer) माना जाता है।

निर्देशाको की सीमायें
(Limitations of Index Numbers)

निर्देशाको के बहुत से लाभ होने के बावजूद निर्देशाको का प्रयोग बडी साव धानी से किया जाना चाहिए। निम्नलिखित कारणो से उनको बहुत अधिक महत्व नही दिया जाना चाहिए —

1 आंकडे सदा सत्य नहीं होते (Statistics are not always accurate) — निर्देशाको को कीमत परिवतनो का पूर्ण सत्य माप नही मानना चाहिए। अधिक से अधिक वे अनुमान हा माने जा सकत है (They are only approximate indicators of relative levels of a phenomenon) आकडो के इकट्ठा करने मे ही त्रुटियो की सम्भावना नही रहती बल्कि आधार वष के चयन म भी गलती हा सकती है। गलत आकडो पर आधारित निर्देशाक भ्रामक होते हैं।

2 समय अन्तर की कठिनाई (No inference should be drawn by comparing index numbers of years separated by a long period of time) —निर्देशाको म विभिन्न वर्षो म तुलना के आधार मे एकरूपता का अभाव हो सकता है। समय के अन्तर से उपभोक्ताओ की आदत तथा उनके रहन सहन के दर्जे मे परिवतन हा जाता है। यहा तक कि उत्पादन रीतिया तथा उत्पादित वस्तुओं की प्रकृति भी स्थिर नही रहती। नई वस्तुओ का उदय हो जाता है और पुरानी वस्तुयें गायब हो जाती हैं। इन सभी बातो का अल्पकाल मे कोई विशष महत्व नही है परन्तु दीघकालीन तुलनात्मक अध्ययन भ्रामक हो सकते हैं।

3. अन्तर्राष्ट्रीय तुलना मे कठिनाई (Difficulties in International Comparison):—निर्देशाको की सहायता से विभिन्न देशो के कीमत परिवर्तनो की तुलना करना बडा कठिन होता है। प्रत्येक देश मे निर्देशाको की निर्माण विधियाँ तथा उनमे प्रयुक्त प्रतिनिधि वस्तुयें भिन्न भिन्न होती हैं जिससे उनकी तुलना नही की जा सकती। लन्दन का जीवन निर्वाह-व्यय निर्देशाक मे कोयले की कीमतो का महत्व-पूर्ण स्थान है जब कि कलकत्ता या बम्बई के निर्देशाक मे उसका इतना महत्व नही है। अत इन दो स्थानो के निर्देशाको की तुलना व्यर्थ है।

उपर्युक्त सीमाओ तथा कठिनाइयों के कारण ही निर्देशाकों का सीमित महत्व होता है और इसी रूप मे उन पर निर्भर रहना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) सूचनाक क्या है ? सूचनाको की सहायता से मुद्रा के मूल्य परिवर्तन को मापने मे जिन असुविधाओ का अनुभव होता है उनका परीक्षण कीजिए।

(राजस्थान बी० काम० 1964)

[सकेत—प्रथम भाग मे विभिन्न परिभाषायें देते हुए सूचनाको का अर्थ स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग मे सूचनाको के बनाने की कठिनाइयो तथा सूचनाको की परि-सीमाओ का वर्णन कीजिए।]

(2) सूचनाक क्या होते हैं? साधारण सूचनाक की एक सारिणी बनाइये। ऐसी सारिणी बनाते समय किन नियमो का ध्यान रखना चाहिए ? (आगरा 1969)

[सकेत—प्रथम भाग मे विभिन्न परिभाषायें देते हुए सूचनाको का अर्थ स्पष्ट कीजिए। फिर उदाहरण स्वरूप एक साधारण सूचनाक की एक तालिका बनाइये और बताइये कि तालिका बनाते समय आधार वर्ष का चयन, वस्तुओ और सेवाओ का चयन इत्यादि बातो का ध्यान रखना चाहिए।]

(3) सूचनाको की परिभाषा दीजिए। उनके उपयोगो और सीमाओ की विवेचना कीजिए। (विक्रम 1961)

[सकेत—प्रथम भाग मे विभिन्न परिभाषाओ का विवेचन करते हुए सूचनाको का अर्थ स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग म सूचनाकों के महत्व तथा उनके विभिन्न उपयोगो को बताइय। तीसरे भाग मे सूचनाको की परिसीमाओ का उल्लेख कीजिए।]

(4) साधारण निर्देशाक तथा सप्रभाव निर्देशाक मे भेद कीजिए। निर्देशाको का महत्व बताइये। (राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1962)

[सकेत—प्रथम भाग मे साधारण तथा सप्रभाव या भारित निर्देशाक की तालिकायें बना कर दोनो के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग मे निर्देशाको के उपयोग तथा महत्व की चर्चा कीजिए।]

मुद्रा का मूल्य (II)

मुद्रा के सिद्धान्त
(Theories of Money)

"Only one fellow in ten thousand understands the currency question and we meet him every day."

—Kin Hubbard

पिछले अध्याय मे हमने मुद्रा की क्रय-शक्ति के माप की विधियो का अध्ययन किया। इस अध्याय मे मुद्रा के मूल्य को निर्धारित करने वाले कारणो तथा तत्सम्बन्धी मौद्रिक सिद्धान्तो का विश्लेषण किया जायेगा। अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा के मूल्य-निर्धारण सम्बन्धी निम्न सिद्धान्त बताये हैं :

(1) मुद्रा का वस्तु सिद्धान्त (Commodity Theory of Money)
(2) मुद्रा का राजकीय सिद्धान्त (State Theory of Money)
(3) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money)
(4) नकद-सचय सम्बन्धी परिमाण सिद्धान्त–कैम्ब्रिज समीकरण (Cash Balances Quantity Theory–Cambridage Equation)
(5) आय, बचत तथा विनियोग सिद्धान्त (Income, Saving and Investment theory)

मुद्रा का वस्तु सिद्धान्त
(Commodity Theory of Money)

मुद्रा का वस्तु सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य निर्धारण का सबसे प्राचीन सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा का मूल्य उस धातु के मूल्य पर निर्भर करता है जिसकी वह बनी हुई है। यदि मुद्रा स्वर्ण की बनी है तो मुद्रा का मूल्य स्वर्ण की कीमत पर निर्भर करेगा। प्राचीन काल म जब मुद्रा अधिकतर सोने तथा चादी के सिक्को के रूप मे होती थी, यह सिद्धान्त सत्य था परन्तु आधुनिक मुद्रा व्यवस्था पर यह सत्य सिद्ध नही होता। यह सिद्धान्त हमे केवल यह बताता है कि मुद्रा का मूल्य उसके धात्विक अश के मूल्य के बराबर होता है परन्तु यह नही बताता कि स्वर्ण के आतरिक मूल्य के अधिक होने के क्या कारण है। यह सिद्धान्त इस सम्बन्ध

मे यही स्पष्ट करता है कि स्वर्ण अमौद्रिक प्रयोगो जैसे आभूषण, कला एव उद्योग मे प्रयुक्त होने के कारण अधिक मूल्यवान है। परन्तु क्या स्वर्ण के मौद्रिक प्रयोगा का स्वर्ण की ऊँची कीमत से कोई सम्बन्ध नही है ?

इस सिद्धान्त का सशोधित रूप यह स्वीकार करता है कि स्वर्ण की माग मुख्यत मौद्रिक प्रयोगो के कारण उत्पन्न होती है। इस प्रकार मुद्रा का मूल्य उस स्वर्ण की मात्रा द्वारा निर्धारित होता है जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार सामान्य कीमत स्तर तथा स्वर्ण की उत्पादन लागत सम्बन्धित हो जाते हैं। अत अन्य वस्तुओ के समान स्वर्ण का मूल्य भी उसकी मौद्रिक तथा अमौद्रिक उद्देश्यो के लिए माग तथा पूर्ति पर निर्भर करता है। राबर्टसन के शब्दो मे—

"Once more we can keep on the right lines if we start by remembering that money is only one of many economic things. Its value, therefore, is primarily determined by exactly the same two factors as determine the value of any other thing, namely, the conditions of demand for it and the quantity of it available"

आधुनिक युग मे वस्तु सिद्धान्त का कोई विशेष महत्व नही रह गया है क्योकि सभी देशो मे अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा प्रचलन मे है। इसके साथ साथ प्राय सभी देशो मे प्रमाणिक मुद्रा का चलन ही नही है और धीरे धीरे नोटो के पीछे निधि रखने की प्रथा भी महत्वहीन होती जा रही है।

मुद्रा का राजकीय सिद्धान्त
(State Theory of Money)

इस सिद्धान्त के प्रवतक प्रो० नैप के अनुसार "चलन की आत्मा उसकी इकाइयो के पदार्थ मे नही है वरन् उन वैधानिक अध्यादेशो मे है जो इसके प्रयोग का नियमन करते हैं।"[1] आधुनिक समय मे मुद्रा के चलन तथा नियमन सम्बन्धी सभी निर्णय सरकार द्वारा लिए जाते हैं अत सरकार की कानूनी घोषणाओ के कारण ही जनता मुद्रा को निसकोच स्वीकार करती है। इस सिद्धान्त के शासकीय घोषणाओ को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है। मुद्रा के मूल्य का निर्धारण केवल सरकार के हाथ मे नही है, इस पर अन्य तत्वो का भी प्रभाव पडता है। अत मुद्रा का राजकीय सिद्धान्त मुद्रा के मूल्य निर्धारक तत्वो का पूर्ण स्पष्टीकरण नही करता है।

[1] "The soul of currency is not in the material of the pieces, but in the legal ordinances which regulate their use"
—Georg F Knapp, The State Theory of Money, abridged translation by Bonar p 2

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त
(Quantity Theory of Money)

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का उदय सोलहवी शताब्दी के वाणिकवादी अर्थशास्त्रियो के लेखो मे मिलता है। 1752 मे डेविड ह्यूम (David Hume) ने इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के द्वारा इस सिद्धान्त को बडी प्रसिद्धि मिली। किन्तु आधुनिक रूप में इस सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री प्रो० इरविंग फिशर ने किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी अन्य वस्तु के मूल्य की भाति मुद्रा का मूल्य भी मुद्रा की माग तथा पूर्ति द्वारा होता है। मुद्रा की माग उन सब वस्तुओ तथा सेवाओ से होती है जिनका समाज मे मुद्रा द्वारा एक निश्चित समय मे विनिमय होता है। उत्पादन तथा उपयोग दोनो क्रियाओ में ही वस्तु अथवा सेवा का विनिमय होता है और इसी कारण समाज मे मुद्रा की माग होती है। दूसरी ओर मुद्रा की पूर्ति से तात्पर्य मुद्रा की उस मात्रा से है जो मनुष्यो के पास है और जो विनिमय के काम मे आती है। इस प्रकार यदि मुद्रा की माग मे किसी प्रकार का परिवर्तन न हो, तो मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होने पर मुद्रा के मूल्य मे ह्रास होता है, इसके विपरीत मुद्रा की पूर्ति में कमी होने पर मुद्रा के मूल्य मे वृद्धि होती है तथा कीमतो में कमी होती है। संक्षेप मे यही मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त है।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त यह बताता है कि मुद्रा का मूल्य मुद्रा के परिमाण (Quantity) द्वारा निर्धारित होता है। प्राचीन अर्थशास्त्रियो मे जे० एस० मिल ने इस सिद्धान्त को इन शब्दो मे परिभाषित किया है. "यदि अन्य बातें यथास्थिर रहे तो मुद्रा के मूल्य मे उसके परिमाण की विपरीत दिशा मे परिवर्तन होते हैं। परिमाण की प्रत्येक वृद्धि मूल्य को उसी अनुपात मे घटाती है तथा प्रत्येक कमी उसे उसी अनुपात मे बढाती है।"[1] इस प्रकार मुद्रा की मात्रा मे प्रत्येक वृद्धि या कमी उसके मूल्य मे क्रमश आनुपातिक कमी या वृद्धि उत्पन्न करती है। प्रो० टाजिग के शब्दो मे "यदि अन्य बातें समान रहे तो मुद्रा के परिमाण को दुगना *करने पर कीमतें पहले से दुगनी हो जायेगी तथा मुद्रा का मूल्य आधा रह जायेगा।*

---

1. "The value of money, other things remaining the same, varies inversely as its quantity, every increase of quantity lowers the value and every diminution raising it in a ratio exactly equivalent"

—J. S. Mill : *Principles of Political Economy*, Vol. II p 55.

यदि मुद्रा का परिमाण आधा कर दिया जाय तो, अन्य बातें समान रहने पर, कीमतें पहले की आधी रह जायेगी तथा मुद्रा का मूल्य दुगना हो जायगा।"[1]

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की कुछ अन्य लेखकों ने निम्न व्याख्यायें की हैं :

केन्ट विक्सेल (Kent Wicksell) "मुद्रा के मूल्य या क्रयशक्ति मे इसके परिमाण की विपरीत दिशा में आनुपातिक परिवर्तन होते हैं जिससे मुद्रा के परिमाण की प्रत्येक वृद्धि या कमी, यदि अन्य बातें समान रहे वस्तुओ तथा सेवाओ के रूप मे उसकी क्रय शक्ति मे आनुपातिक कमी या वृद्धि उत्पन्न करेगी और इस प्रकार सभी वस्तु कीमतो मे वैसी ही वृद्धि या कमी आयेगी "[2]

डी० एच० राबर्टसन (D H Robertson) यदि मुद्रा की माग की दशायें दी हो तो इसके मूल्य तथा परिमाण के बीच विपरीत सम्बन्ध होता है : जितनी अधिक मुद्रा इकाइया उपलब्ध होगी उतना ही कम, उसी अनुपात म, प्रत्येक इकाई का मूल्य होगा।'[3]

उपरोक्त परिभाषाओ का अध्ययन करने से यही ज्ञात होता है कि यदि अन्य बातें यथास्थिर रहे तो द्रव्य की क्रय शक्ति द्रव्य के परिमाण के साथ उल्टे अनुपात मे परिवर्तित होती है (Other things remaining the same, the purchasing power of money varies inversely as the quantity of money in circulation) इस प्रकार द्रव्य का परिमाण बढ़ने पर मुद्रा का मूल्य उसी अनुपात म घट जाता है और वस्तुओ तथा सेवाओ की कीमतें (General Price

---

[1] "Double the quantity of money, and other things being equal, prices will be twice as high as before and the value of money one half Halve the quantity of money and other things being equal, prices will be one half of what they were before and the value of money double"

—F. W Taussig *Principles of Economics*, Vol I p 250

[2] "The value or purchasing power of money varies in inverse proportion to its quantity, so that an increase or decrease in the quantity of money, other things being equal, will cause a proportionate decrease or increase in the purcha ing power in terms of other goods, and thus a corresponding increase or decrease in all commodity prices"

—Kent Wicksell *Lectures on Political Economy*, Vol II, p 141.

[3] "Given the conditions of demand for money, the relation between its value and the quantity of it available is of this peculiar kind · the larger the number of units available, the smaller, in exactly the same proportion, is the value of each unit"

—D H Robertson *Money*, p 31.

Level) बढ जाती है। इसके विपरीत द्रव्य का परिमाण घटने से इसका मूल्य इसी अनुपात मे बढ जाता है तथा वस्तुओ और सेवाओ का मूल्य-स्तर घट जाता है। अत कीमत-स्तर मे द्रव्य के परिमाण से सीधे अनुपात मे परिवर्तन होता है। (Other things remaining the same, price level varies directly with quantity of money in circulation.)

एक लेखक के अनुसार "अन्य बातें समान रहने पर द्रव्य के परिमाण का प्रत्येक परिवर्तन सामान्य मूल्य-स्तर मे प्रत्यक्ष आनुपातिक (Direct Proportional) परिवर्तन लाता है और मुद्रा के मूल्य मे विपरीत आनुपातिक (Inverse Proportional)।" इस प्रकार सामान्य मूल्य-स्तर सदा मुद्रा के मूल्य से विपरीत तथा मुद्रा की पूर्ति से प्रत्यक्ष दिशा मे परिवर्तित होता है। अन्य शब्दो मे, मुद्रा के परिमाण का वस्तुओ तथा सेवाओ के मूल्यो से प्रत्यक्ष तथा आनुपातिक (Direct and Proportional) तथा मुद्रा के मूल्य से विपरीत तथा आनुपातिक (Inverse and and Proportional) सम्बन्ध होता है।

'अन्य बातें यथास्थिर रहे'-वाक्यांश का अर्थ
(Meaning of–'Other things being equal')

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त मे 'अन्य बातें यथास्थिर रहें' वाक्याश बडा महत्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य यह है कि जब कुछ बाते स्थिर रहेगी तभी मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कार्यशील होगा, अन्यथा नही। वे बातें निम्नलिखित हैं:—

(1) व्यापार की मात्रा स्थिर रहनी चाहिए : किसी भी देश मे मुद्रा की माग देश मे होने वाले व्यापार की मात्रा से नियमित होती है। यदि व्यापार की मात्रा स्थिर रहती है तो मुद्रा की माँग भी स्थिर रहेगी। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त मे इस बात की कल्पना की गई है कि द्रव्य की माग (या व्यापार की मात्रा) स्थिर रहती है।

(2) वस्तु विनिमय नहीं होना चाहिए विनिमय का कार्य बिना मुद्रा प्रयोग के वस्तु विनिमय प्रणाली द्वारा भी हो सकता है तब इन सौदो को या तो मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि या व्यापार की मात्रा मे कमी समझना चाहिए। इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि या तो समाज मे वस्तु विनिमय होता ही नही और यदि होता है तो उसकी मात्रा स्थिर रहती है।

(3) साख मुद्रा तथा चलन का अनुपात स्थिर रहना चाहिए : आधुनिक समाज मे बहुत से व्यापारिक सौदो का भुगतान, चेक, हुन्डी, बिल आदि साख पत्रो की सहायता से होता है और वे व्यवहार मे मुद्रा का ही कार्य करते हैं। अत इनकी मात्रा मे घट बढ हो जाने से देश में द्रव्य की कुल मात्रा में परिवर्तन हो जाता है।

ग्रन. यह सिद्धान्त यह मान लेता है कि साख मुद्रा की मात्रा यथास्थिर रहती है और साख मुद्रा तथा चलन का अनुपात भी स्थिर रहता है।

(4) मुद्रा की भ्रमण गति (Velocity) मे भी परिवर्तन नही होना चाहिए : मुद्रा की भ्रमण गति से तात्पर्य है कि द्रव्य की एक इकाई का उपयोग विनिमय मे कितनी बार होता है। मुद्रा तथा साख मुद्रा की भ्रमण गति मे परिवर्तन का प्रभाव मुद्रा की पूर्ति पर पडता है। अत मुद्रा तथा साख मुद्रा की भ्रमण गति मे कोई परिवर्तन नही होना चाहिए।

परिमाण सिद्धान्त का समीकरण
(Equation of Exchange)

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को एक समीकरण के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। विभिन्न कालो मे परिमाण सिद्धान्त के भिन्न भिन्न रूप रहे हैं। प्राचीन कालीन अर्थशास्त्रियो के अनुसार मुद्रा परिमाण सिद्धान्त का समीकरण इस प्रकार था :

$$\frac{M}{T}=P \qquad \text{or } M=PT$$

जिसमे M= देश मे प्रचलित चलन की मात्रा,

T = देश मे वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा,

P = वस्तुओ तथा सेवाओ का सामान्य मूल्य स्तर।

इस सूत्र मे T स्थिर मान लिया गया है जिससे P मे सभी परिवर्तन M के कारण होत हैं तथा P और M मे प्रत्यक्ष आनुपातिक सम्बन्ध होता है। परन्तु इस सूत्र का मुख्य दोष यह था कि मुद्रा की भ्रमण गति का ध्यान नही रक्खा गया। द्रव्य की भ्रमण गति का महत्व स्वीकार कर समीकरण मे निम्न सशोधन किया गया —

$$\frac{MV}{T}=P \qquad \text{or } MV=PT$$

परिमाण सिद्धान्त के इस सूत्र मे भी यह दोष रहा कि चलन ही विनिमय माध्यम के रूप मे प्रयुक्त होती है परन्तु विधि ग्राह्य मुद्रा के अतिरिक्त साख मुद्रा का भी विनिमय माध्यम के रूप मे उपयोग होता है। इसके अतिरिक्त साख मुद्रा की भ्रमण गति भी साख मुद्रा की मात्रा को प्रभावित करती है।

प्रो० इरविंग फिशर का विनिमय समीकरण
(Prof Fisher's Equation of Exchange)

प्रो० इरविंग फिशर ने प्राचीन अर्थशास्त्रियो के परिमाण सिद्धान्त के दोषो को दूर कर अपना समीकरण दिया है जो विनिमय का समीकरण (Equation of Exchange) कहलाता है :—

$$P = \frac{MV + M'V'}{T} \text{ or } PT = MV + M'V'$$

जिसमे, M = देश मे प्रचलित चलन की मात्रा,

V = चलन की भ्रमण गति

M' = देश मे साख मुद्रा की मात्रा

V' = साख मुद्रा की भ्रमण गति

P = वस्तुओ तथा सेवाओ का सामान्य मूल्य स्तर

T = देश मे वस्तुओ तथा सेवाओ की मात्रा ।

इस प्रकार किसी देश मे कुल द्राव्यिक शक्ति बराबर होती है MV+M'V' के । समीकरण का यह एक भाग है जिसमें द्रव्य की पूर्ति बताई गई है । दूसरे भाग में द्रव्य कार्य प्रदर्शित किया गया है जो PT है । इस प्रकार T वस्तुओ और सेवाओ को P मूल्य पर विनिमय करने के लिए द्रव्य की मांग PT के बराबर होगी । अत समीकरण मे द्रव्य की पूर्ति बराबर है MV+M'V' तथा द्रव्य की मांग बराबर है PT ।

इसी को A. Barker ने अपनी पुस्तक 'Cash and Credit' मे निम्न प्रकार समझाया है :

एक बर्तन मे जिसकी पेंदी घटाई बढाई जा सकती है, MV को पानी मान कर भरा गया है । इसमे साइड से एक थैली लगी है जिससे पानी के अन्दर हवा भरी तथा निकाली जा सकती है और इसमे M'V' है । बर्तन की निचली सतह का T तथा पानी की ऊचाई को P माना गया है । यदि MV या M'V' को बढाया जाय तो P की सतह ऊची हो जाती है और T के बढने पर P की सतह नीची हो जाती है । इसके विपरीत MV या M'V' के घटने पर P की सतह नीची हो जाती है और T के घटने पर P की सतह ऊची हो जाती है । अत: मूल्य स्तर MV, M'V' के अनुकूल तथा T के विपरीत बदलता रहता है । (P varies directly as MV and M'V' and inversely as T)
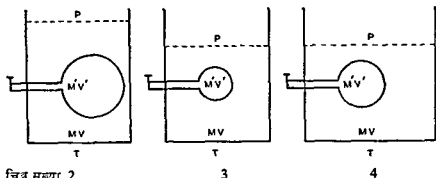
चित्र संख्या 1

चित्र सख्या 2 3 4

चित्र सख्या 2 मे M'V' की मात्रा बढाई गई है और T की मात्रा वही रहती है अत P ऊपर चला जाता है। चित्र 3 मे M'V' की मात्रा घटाई गई है और T की मात्रा वही रहती है अतः P नीचे आ जाता है। चित्र 4 मे M'V' की मात्रा यथा स्थिर रखते हुये T बढा दी गई है अतः P नीचे जाता है और चित्र 5 मे T घटा दी गई है अत. P ऊपर चला गया है।
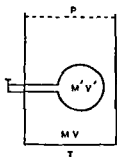
चित्र सख्या 5

मुद्रा परिमाण की आलोचनायें
(Criticism of the Quantity Theory of Money)

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त तथा तत्सम्बन्धी समीकरण की अनेक दृष्टिकोणो से आलोचनायें की गई है जो निम्नलिखित हैं :

1. फिशर की मान्यतायें अवास्तविक है (Fisher's assumptions are imaginary) : प्रो० इरविंग फिशर ने 'अन्य बातें यथास्थिर रहें' के अन्तर्गत जिन मान्यताओ के आधार पर सिद्धात का प्रतिपादन किया है वे इसे अव्यावहारिक तथा अवास्तविक बना देते हैं। परिमाण सिद्धात के समीकरण मे यह मान लिया गया है कि मुद्रा के परिमाण (M) तथा सामान्य मूल्य स्तर (P) मे परिवर्तन होने पर भी मुद्रा की चलन गति (M') तथा व्यापारिक सौदो की मात्रा (T) सभी यथा स्थिर रहते हैं। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही होता। यह सभी एक दूसरे से स्वतन्त्र (Independent variable) नही है जैसा कि फिशर ने माना है। इनमे से किसी एक मे परिवर्तन होने पर उसका दूसरे तत्वो पर प्रभाव अवश्य पडता है। लेवेन्सकी का कहना है कि यह सिद्धात तो ऐसी मशीन है जिसके समीकरण का प्रत्येक भाग एक दूसरे से सम्बन्धित है और उस मशीन में केवल 'द्रव्य की मात्रा' और 'मूल्य-स्तर' के

ही दो पहिये नहीं हैं बल्कि छोटे छोटे अनेक 'चक पहिये' भी हैं। द्रव्य के घटने बढने स केवल मूल्य स्तर का पहिया ही नही घूमता वरन् द्रव्य की चलन गति तथा वस्तुओ के लेन देन के सभी 'चक पहिये' घूम जाते है, और एक तरफ ही नही बल्कि दोनो ओर घूमते रहते है।······इस प्रकार द्रव्य के परिमाण के साथ साथ वस्तुओ के मूल्य स्तर मे फेर बदल होना एक साधारण तथा स्वय सिद्ध बात है। (With the qualification, "Other things remaining the same" the Quantity Theory of Money is a useless truism)

(2) परिणाम सिद्धान्त व्यापार चक्रो मे होने वाले मूल्य स्तर के परिवर्तनो की व्याख्या करने मे असमर्थ है (Quantity Theory is incapable of explaining the changes in the general price level during Business Cycles).

प्रो० क्राउथर के अनुसार परिमाण सिद्धान्त म दो मुख्य दोष है। एक तो यह सिद्धान्त मूल्य स्तर क परिवर्तनों के कारण के रूप मे मुद्रा के परिमाण के महत्व पर भ्रामक जोर देता है और दूसरे यह सिद्धान्त मूल्य स्तर पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देता है "मानो अर्थ व्यवस्था मे मूल्य परिवतन ही सर्वाधिक गम्भीर एव महत्वपूर्ण बात है।" परिमाण सिद्धान्त की दोनो मे से कोई भी बात अल्पकाल मे तथ्यो के अनुरूप नही हैं। वास्तविक जीवन मे मूल्य-स्तर तथा उत्पादन की मात्रा दोनो चक्राकार रूप मे बढत घटते रहते हैं। इन्हे मन्दीकाल (Depression) तथा तेजीकाल (Boom) के नामो से पुकारा जाता है। मदीकाल मे मूल्यो के घटने का कारण मुद्रा की कमी नही होता क्योकि बैको म बहुत सी मुद्रा बिना उपयोग के पडी रहती है। और न तेजीकाल मे मूल्यो की वृद्धि का कारण मुद्रा की अधिक पूर्ति होता है क्योकि ऐसे समय मे मुद्रा बाजार मे मुद्रा की कमी अनुभव की जाती है। अत· व्यापार चक्रो से सम्बन्धित अल्पकालीन मूल्य परिवर्तन मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनो के कारण नही होते और इन स्थितियो का पर्याप्त विश्लेषण करने मे यह सिद्धान्त असफल रहा है। इस दिशा मे यह सिद्धान्त अपूर्ण, अस्पष्ट तथा भ्रामक है। इस सन्दर्भ मे श्रीमती राबिन्सन ने परिमाण सिद्धान्त को 'दुर्बल तथा, विश्वासघातक अस्त्र' कहा है।

(3) समीकरण के तत्वों का आकलन सम्भव नहीं है (The measurement of the *different variables in the equation is not possible)* :

फिशर के समीकरण मे विभिन्न तत्वो का किसी भी समय शुद्ध अनुमान लगाना बडा कठिन है और इसी कारण इस समीकरण की व्यावहारिक उपादेयता काफी कम हो जाती है। चलन, साख मुद्रा, साख मुद्रा की भ्रमण गति तथा वस्तुओ और सेवाओ की मात्रा का आकलन उचित रूप मे नही हो पाता। अत इस समीकरण द्वारा मूल्य स्तर के परिवर्तनो का अनुमान ठीक प्रकार से नही लगाया जा सकता।

4 परिमाण सिद्धान्त उस प्रक्रिया को स्पष्ट नहीं करता जिसके द्वारा मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन मूल्य स्तर को प्रभावित करते हैं (The theory does not show the process through which the changes in the amount of money affect the price level)

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि मुद्रा के परिमाण में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव सामान्य मूल्य स्तर पर प्रत्यक्ष एव सीधा नही होता। यह परिवर्तन पहले ब्याज की दरो और फिर वस्तुओ के उत्पादन तथा मूल्यो को प्रभावित करता है जिनकी ओर यह सिद्धान्त कोई सकेत नही करता। प्रो० केन्स के शब्दो मे "मौद्रिक सिद्धान्त की मूलभूत समस्या केवल समानता या सांख्यिकीय सम्बन्ध स्थापित करना ही नहीं है··· · ··· ··वरन् समस्या को गतिशील मानकर विभिन्न तत्वो का इस प्रकार विश्लेषण करना है कि वे सभी कारण जिनमे मूल्य-स्तर निर्धारित होते हैं तथा जिनसे मूल्य-निर्धारण मे सतुलन की स्थिति एक स्थान तक स्थानान्तरित होती है, स्पष्ट हो जाय।"[1]

5. मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि सदा मूल्यो को नहीं बढाती है। (Increase in the quantity of money does not always increase prices) :

आलोचको के अनुसार यह आवश्यक नही है कि मुद्रा की मात्रा मे प्रत्येक वृद्धि सामान्य मूल्य को बढावे ही। यदि समाज मे अप्रयुक्त साधन है तो मुद्रा के परिमाण मे वृद्धि रोजगार की सुविधायें बढाती है, मूल्य स्तर नहीं। दूसरे शब्दो म मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त 'पूर्ण रोजगार, (Full Employment) की मान्यता पर आधारित है जो व्यावहारिक दृष्टि से दूर की स्थिति ही मानी जा सकती है।

6. आधुनिक मौद्रिक तथा बैंकिंग व्यवहार मे वस्तुओ की मात्रा मे वृद्धि सदैव मुद्रा की पूर्ति बढाती है। (Under the present monetary and banking practices, increase in the supply of goods almost always leads to an increase in the supply of money) :—

मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओ की पूर्ति मे वृद्धि (T) मूल्य स्तर (P) को गिराती है लेकिन आधुनिक मौद्रिक तथा बैंकिंग व्यवहार मे वस्तुओ की मात्रा मे वृद्धि सदैव साख सृजन तथा अन्य रीतियो द्वारा मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि

---

[1]. "The fundamental problem of monetary theory is not merely to establish identities or statistical relation . . ..but to treat the problem dynamically, analysing the different elements involved in such a manner as to exhibit the casual processes by which the price level is determined and the method of transition from one position of equilibrium to another."

—J. M Keynes *Treatise on Money*, Vol. I, p. 133

लाती है। अतः M तथा M' T पर निर्भर है; वे स्वतन्त्र परिवर्ती (Independent Variable) नहीं हैं। यदि ऐसा है तो मुद्रा का मूल्य उसके परिमाण से निर्धारित नहीं होता, वरन् इसके विपरीत मुद्रा का मूल्य उसके परिमाण को नियमित करता है। प्रो० क्राउथर के अनुसार :

"The modern tendency in economic thinking, in fact, is to discard the old notion of the quantity of money as a causative factor in the state of business and a determinant of the value of money and to regard it as a consequence"

7. पूर्ति पक्ष पर अधिक बल (Greater emphasis on supply side) – यह सिद्धान्त मुद्रा के माग पक्ष की उपेक्षा कर मुद्रा की पूर्ति पक्ष पर अधिक बल देता है मानो यही मूल्य मे परिवर्तन का प्रधान एव एक मात्र कारण है जब कि मूल्य निर्धारण के लिए माग तथा पूर्ति दोनो का समान महत्व है। इसी कारण श्री काक ने ठीक ही कहा है कि "इस सिद्धान्त मे मुद्रा के परिमाण पर अनावश्यक महत्व दिया गया है जैसे यही आर्थिक परिवर्तनों का एक मात्र या प्रमुख स्रोत हो।"[1]

परिमाण सिद्धान्त की उपरोक्त आलोचनाओ के बावजूद भी यह पूर्णतया: महत्वहीन नहीं है। आर्थिक इतिहास हमे बताता है कि ऊचे मूल्यो का समय वही था जब मुद्रा की पूर्ति अधिक थी जैसे 1918 के बाद तथा 1939–45 की मुद्रा-स्फीति। हालाकि सिद्धान्त मे कई कमिया है परन्तु यह विवाद से परे है कि यह हमे मुद्रा के परिमाण तथा मूल्यस्तर को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वो मे परिवर्तनों के प्रभाव का निर्धारण करने की विधि बताता है। इसीलिए राबर्टसन ने इसे "a Serviceable Platitude" की सज्ञा दी है।

नकद सचय सम्बन्धी परिमाण सिद्धान्त–कैम्ब्रिज समीकरण
(Cash Balance Quantity Theory–Cambridge Equation)

नकद सचय सम्बन्धी परिमाण सिद्धान्त या कैम्ब्रिज समीकरण फिशर के समीकरण से श्रेष्ठ रूप मे प्रस्तुत किया गया। इस सिद्धान्त का प्रारम्भिक प्रतिपादन पेटी, लाक, कैन्टीलन तथा एडम स्मिथ ने किया था परन्तु इसका वास्तविक विकास कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो–मार्शल, पीगू, राबर्टसन तथा केन्स द्वारा किया गया। फिशर ने मुद्रा की माँग को वस्तुओ तथा सेवाओ के क्रय विक्रय के माध्यम मे स्वीकार किया और उनके अनुसार इन्ही वस्तुओ और सेवाओ की लेन देन की मात्रा मुद्रा की माग

[1]. "There is undue emphasis upon the quantity of money, as if that were the sole or even the main source of economic change"
—M. H De Kock : *Central Banking*, p 146.

का निर्धारण करती है। उनके अनुसार द्रव्य केवल विनिमय का साधन है और इसकी तुलना एक रेलवे टिकट से की जा सकती है जो रखन के लिए नही वरन् रेल यात्रा के लिए खरीदा जाता है। कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियो के अनुसार द्रव्य केवल टिकट की तरह ही प्रयोग मे नहीं लाया जाता बल्कि उसको लोग नकद क रूप मे अपने पास या बैंक मे रखना चाहते हैं। द्रव्य की माग व्यापार की मात्रा पर निर्भर नहीं करती वरन् लोगो की नकदी रखने की इच्छा (Liquidity preference) पर निर्भर करती है। अतः व्यक्तियो के कोषो का योग ही समाज तरल रूप मे रखना चाहता है और यही समाज की मुद्रा की माग हुई। फिशर के सिद्धान्त मे जहा मुद्रा की पूर्ति पर अधिक बल दिया गया है वहा इस सिद्धान्त मे मुद्रा की माग को अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध किया गया ह्। अतः इसे मुद्रा का माग सिद्धान्त (Demand Theory of Money) भी कहते हैं।

उपरोक्त विचार धारा के अनुसार समाज के लोग अपनी आय का एक भाग सचय करते हैं जो आर्थिक अवस्था के अनुसार घटता बढता रहता है। यह तो समाज की मुद्रा की माग हुई। दूसरी ओर जितनी मुद्रा चलन म रहती है वह किसी न किसी के पास रहती ही है। इस प्रकार मुद्रा का मूल्य एक ओर मुद्रा की इस पूर्ति से ज्ञात होता है और दूसरी ओर मुद्रा की माग से जो तरलता पसन्दगी का प्रति रूप है ["The value of money is determined on the one side by the supply of money (all the cash and deposits in the hands of the public) and on the other side by the demand for liquidity preference"]

प्रो० मार्शल का समीकरण (Prof Marshall's Cash Balance Equation) :

प्रो० मार्शल का समीकरण निम्नलिखित है —

$$M = KY$$

जिसमे M = मुद्रा की मात्रा,

K = वास्तविक आय का वह अश जो लोग नकद के रूप मे अपने पास रखना चाहते है,

Y = वास्तविक मौद्रिक आय।

प्रो० पीगू का समीकरण (Prof Pigou's Cash Balance Equation) -

$$P = \frac{KR}{M}$$

जिसमे M = नकद मुद्रा का परिमाण,

R = देश की कुल वास्तविक आय,

K = वास्तविक राष्ट्रीय ग्राय का वह ग्रश जिसे हम ग्रपने पास नकद सचय (Cash Balance) के रूप मे रखना चाहते है,

P = मुद्रा की एक इकाई का मूल्य।

बैंकों की जमाग्रो को मम्मिलित करने के लिए समीकरण को इस प्रकार बढाया जाता है—

$$P = \frac{KR}{M}[c+h(1-c)]$$

जहा c नकद का वह ग्रनुपात है जिसको जनता विधि ग्राह्य के रूप मे रखती है तथा h बैंको की जमा राशि तथा विधि ग्राह्य का ग्रनुपात है।

P समाज की वास्तविक ग्राय मे शामिल होने वाली वस्तुग्रो तथा सेवाग्रों के कीमत तल को बताता है। इसी प्रकार R वास्तविक ग्राय मे शामिल होने वाली वस्तुग्रा तथा सेवाग्रो की मात्रा है जो फिशर के वास्तविक सौदो की मात्रा T से भिन्न है। इन दोनो समीकरणो मे एक मुख्य ग्रन्तर K ग्रौर V का सम्बन्ध है। वास्तव मे K ग्रौर V एक दूसरे के व्युत्क्रम (Reciprocal) हैं (ग्रर्थात् $K = \frac{1}{V}$ ग्रौर $V = \frac{1}{K}$)

चू कि M=KY है इसलिए $K = \frac{M}{Y}$ दूसरी ग्रोर Y=MV क्योकि Y वास्तविक मौद्रिक ग्राय है तथा वास्तविक मौद्रिक ग्राय, वास्तविक ग्राय (वस्तुए ग्रौर सेवाग्रो) को कीमत से गुणा कर देने पर प्राप्त होती है। चू कि MV निश्चित ग्रवधि क सभी मौद्रिक भुगतानो या प्राप्तियो को व्यक्त करता है इसलिए MV= PT या MV=Y होगा। ग्रत $V = \frac{Y}{M}$ तथा $K = \frac{M}{Y}$ होगा ग्रर्थात्

$V = \frac{1}{K}$ or $K = \frac{1}{V}$

यह समीकरण मुद्रा की पूर्ति के साथ साथ मुद्रा की माग को भी मुद्रा के मूल्य निर्धारण के प्रमुख प्रभावक क रूप म प्रस्तुत करता है। इस प्रकार इस समीकरण द्वारा मुद्रा मूल्य के सिद्धात को सामान्य मूल्य सिद्धात के समान ही स्पष्ट किया गया है ग्रौर इस बात पर सकेत किया गया है कि मुद्रा के मूल्य मे मुद्रा की माँग या पूर्ति किसी मे भी परिवतन होने पर, परिवर्तन होगा। इस दृष्टिकोण मे यह समीकरण फिशर के समीकरण से श्रेष्ठ जान पडता है। परन्तु इसमे कुल जमा को शामिल किया जाता है जो उचित नही माना जाता है। साथ ही यह समीकरण व्यापार चक्र का स्पष्ट नही करता। इस प्रकार इसमे भी वे सामान्य त्रुटिया व्याप्त हैं जो फिशर के समीकरण मे हैं।

आय, बचत तथा विनियोग सिद्धान्त
(Income, Saving and Investment Theory)

मुद्रा के आय सिद्धात के विकास का श्रेय प्रो० केन्स को दिया जाता है परन्तु सिद्धात का प्रारम्भिक बीज (Thomas Tooke ने 1844 मे अपनी पुस्तक "An Enquiry into the Currency Principle" मे बोया था। बाद मे स्वीडिश अर्थशास्त्री विकसेल ने टुक के विश्लेषण को अपने मुद्रा तथा कीमत सिद्धात का आधार बनाया। 1925 मे आफतारियो (Aftalion) ने इस सिद्धात को अधिक प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत किया।

इस सिद्धात के अनुसार अल्पकाल मे कीमत परिवर्तन का मुख्य कारण आय की घट-बढ है। मन्दी के समय मे कीमत स्तर के घटने का कारण मुद्रा की मात्रा की कमी नही होती बल्कि आय के घटने के कारण लोगो की नकदी पसन्दगी बढ जाती है और मुद्रा की भ्रमणगति मे कमी आती है जिससे मूल्य स्तर गिरता है। इसी प्रकार तेजीकाल मे मुद्रा की मात्रा बढने से तेजी नही आती बल्कि लोगो की आय बढ जाने के कारण लोगो की नकदी पसदगी घट जाती है तथा मुद्रा की भ्रमणगति बढ जाती है जिसके फलस्वरूप कीमत स्तर भी बढ जाता है।

संचय विनियोग सिद्धात के अनुसार आय मे सचय एव विनियोग मे परिवर्तन होने के कारण परिवर्तन होता है और आय के घटने-बढने से मन्दी और तेजी आती है या मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन होता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि सचय और विनियोग भी आय पर निर्भर करते है। निम्नलिखित विव रण मे यह सिद्धात स्पष्ट हो जाता है।

आय एक निश्चित अवधि मे उत्पादित वस्तुओ और सेवाओ का मौद्रिक मूल्य है। उत्पादित वस्तुए या तो उपभोग्य वस्तुए होती हैं या पूँजीगत वस्तुए। इन्ही उपभोग्य वस्तुओ और विनियोग वस्तुओ के विक्रय से आय प्राप्त होती है। अत. आय=उपभोग+विनियोग ($Y=C+I$)

Y=कुल आय, C=उपभोग और I=विनियोग

अब यदि आय पर व्यय की दृष्टि से विचार किया जाय तो आय का एक भाग उपभोग पर खर्च किया जाता है और दूसरा भाग सचय किया जाता है। अत. आय=उपभोग+सचय। यदि सचय=S हो तो

$$Y=C+S$$

उपरोक्त समीकरणो से स्पष्ट है कि विनियोग और सचय दोनो ही आय और उपभोग के अन्तर के बराबर हैं। अतः सम्पूर्ण समाज के दृष्टिकोण से सचय और विनियोग की मात्रा सदैव समान होनी चाहिए क्योकि आर्थिक प्रयत्नो से जो राष्ट्रीय आय प्राप्त होगी उसका एक भाग उपभोग वस्तुओ पर किया जायेगा और

एक भाग सचय किया जायेगा अर्थात् S=Y–C। दूसरी ओर यदि आय प्राप्ति के पहलू पर विचार किया जाय तो आय पूँजीगत वस्तुओ (विनियोग) और उपभोग्य वस्तुओ का मौद्रिक मूल्य है अर्थात् I=Y–C

चूकि S=Y–C

I=Y–C

अत S=I

चूकि सचय और विनियोग को बराबर होना चाहिए इसलिए यदि कोई नया विनियोग किया जाता है तो सचय का उसके बराबर होना आवश्यक है। वास्तव मे लार्ड केन्स के अनुसार सचय और विनियोग, उत्पादन के उस हिस्से के दो नाम हैं जिसे उपभोग नही किया गया है। समाज का कुल सचय समाज की कुल आय पर निर्भर करता है परन्तु समाज की कुल आय विनियोग के बढने से ही बढ सकती है। चूकि सचय और विनियोग के प्रभावक अलग अलग है इसलिए सचय स्वय विनियोग को नही बढा सकता। यदि विनियोजक विनियोग नही बढाते तो कुछ लोगो के अधिक सचय का परिणाम दूसरे लोगो की आय मे कमी होगी तथा आय कम होने से उनका सचय कम होगा। परन्तु यदि विनियोग बढा दिया जाता है तो कुल आय उतनी ही मात्रा से बढ जायेगी और अतिरिक्त आय नये विनियोग के बराबर सचय की मात्रा को बढा देगी। इस प्रकार जब सचय विनियोग की अपेक्षा अधिक होने की प्रवृत्ति दिखाता है या विनियोग सचय की अपेक्षा अधिक होने की प्रवृत्ति दिखाता है तो स्वत ऐसे प्रभावक काम करने लगते है जिनसे राष्ट्र के दृष्टिकोण से सचय और विनियोग की समानता बनी रहती है। इस प्रकार सचय और विनियोग की समानता साम्यावस्था की सूचक है। उनमे समानता रहने पर आय तल और कीमत तल अपरिवर्तित रहगे तथा उनके असमान होते ही फिर आय तल मे ऐसे परिवर्तन होगे कि समानता पुन स्थापित हो जायगी। एक बार समानता के समाप्त होने से लेकर पुन समानता की स्थिति आने तक आय तल, कीमत तल उत्पादन आदि अर्थशास्त्र के विभिन्न अवयवो मे उथल पुथल हो जाती है। कुछ लोगो का कथन है कि मदी की स्थिति उस समय पैदा होती है जब सचय विनियोग की अपेक्षा अधिक हो जाता है तथा तेजी (Prosperity) की स्थिति तब आती है जब विनियोग सचय की अपेक्षा अधिक हो जाता है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि विनियोग और सचय अपकर्ष (Slump) तथा पूर्ण रोजगार (Full Employment) की स्थितियो के बीच किसी भी स्तर पर बराबर हो सकते है। यदि सचय और विनियोग दोनो ही बहुत कम है तो मदी की स्थिति होती है और यदि दोनो ही अधिक हैं तो तेजी की स्थिति होती है। प्रोफेसर डी० एच० राबटसन के समय-विश्लेषण (Period Analysis) के अनुसार एक अवधि (Period) मे मुद्रा आय के रूप मे प्राप्त होती है परन्तु व्यय या सचय के

लिए उसका प्रयोग दूसरी अवधि (Next Period) मे ही किया जा सकता है। इसलिए किसी अवधि विशेष मे किया जाने वाला सचय और उपभोग उसके पूर्व की अवधि मे प्राप्त की गई आय पर निर्भर करता है। इसलिए किसी निश्चित अवधि मे विनियोग और सचय मे अन्तर हो सकता है। प्रोफेसर ओहलिन तथा स्कैन्डिनेवियन अर्थशास्त्रियो ने भी मूलत: इसी प्रकार की व्याख्या दी है। इनके अनुसार किसी भी स्थिति पर दो प्रकार से विचार किया जा सकता है स्थिति आने के पूर्व (ex ante) तथा स्थिति आने के बाद (ex post)। घटना के पूर्व की स्थिति (ex-ante) यह बताती है कि समाज की उपभोग और सचय तथा विनियोग की योजना के विचार से कितनी आय, सचय और विनियोग की आशा (expectation) है। चूंकि सचय और विनियोग तथा उपभोग के निर्णय पृथक कारणो और पृथक वर्गो पर निर्भर करते है इसलिए (ex ante) सचय और (ex ante) विनियोग असमान हो सकते हैं। परन्तु यदि घटना के बाद की स्थिति विचार करें तो जो वास्तविक विनियोग किया जायेगा वह वास्तविक सचय के बराबर होगा।

ऊपर दिए गये विवरण से स्पष्ट है कि सचय और विनियोग सिद्धाॅत सरल परन्तु तर्कपूर्ण सिद्धात है। इस सिद्धात मे सभी घटको (Y, I, S, C) की गणना आसानी से की जा सकती है। इस सिद्धांत की सबसे बडी विशेषता यह है कि इससे व्यापार चक्र के स्पष्टीकरण मे सहायता मिलती है। क्यो तेजी और फिर पुन मदी तथा फिर तेजी तथा मदी का चक्र चलता रहता है? क्यो मदी के बाद तेजी आने मे अधिक समय लगता है परन्तु तेजी से मंदी आने मे कम समय लगता है? यह सभी बाते विनियोग और सचय की असमानता की सहायता से स्पष्ट की जा सकती हैं।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) मुद्रा के परिमाण सिद्धात का क्या अर्थ है? कीमतो के बढने तथा घटने का कहा तक यह सत्य स्पष्टीकरण है?

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1961)

[सकेत—प्रथम भाग मे मुद्रा के परिमाण सिद्धात की विभिन्न परिभाषाओ सहित विवेचना कीजिए तथा उदाहरण भी दीजिए। दूसरे भाग मे सिद्धात की आलोचना कीजिए।]

(2) मुद्रा परिमाण सिद्धात की आलोचना कीजिए तथा चलनगति को प्रभावित करने वाले तत्वो पर प्रकाश डालिए।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1963)

[सकेत—प्रथम भाग मे परिमाण सिद्धात की बहुत सक्षिप्त व्याख्या कर, सिद्धात की आलाचनाओ का विस्तृत विवेचन कीजिए। दूसरे भाग मे 'मुद्रा की चलनगति' को प्रभावित करने वाले तत्वो का वर्णन कीजिए।]

(3) मुद्रा परिमाण सिद्धात का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1965)

[संकेत—मुद्रा परिमाण सिद्धात की विभिन्न परिभाषाओं सहित व्याख्या कीजिए। सिद्धात की मुख्य आलोचनाओं का विवेचन कीजिए।]

(4) "किसी अन्य वस्तु के मूल्य के समान मुद्रा-मूल्य भी मुख्यत' माग और पूर्ति का प्रश्न है।" स्पष्ट कीजिए।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1967)

[संकेत—मुद्रा परिमाण सिद्धात की विभिन्न परिभाषाओं तथा उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए। सिद्धात की आलोचनाओं का भी विवेचन कीजिए।]

(5) मुद्रा परिमाण के सिद्धात क 'केम्ब्रिज समीकरण को स्पष्ट कीजिए। यह समीकरण प्रो० फिशर के विनिमय समीकरण पर कहा तक सुधार है?

[संकेत—प्रथम भाग मे मुद्रा परिमाण सिद्धात के केम्ब्रिज समीकरण की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे सिद्ध कीजिए कि केम्ब्रिज समीकरण प्रो० फिशर के समीकरण पर सुधार है।]

(6) उन कारकों की समीक्षा कीजिए जो 'मुद्रा की माग' तथा 'मुद्रा की पूर्ति' को प्रभावित करते हैं। मुद्रा का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है?

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1969)

[संकेत—प्रथम भाग मे फिशर तथा आधुनिक अर्थशास्त्रियो जैसे कीन्स के अनुसार मुद्रा की माग का अर्थ स्पष्ट कीजिए तथा केन्स के द्वारा बताये गये मुद्रा की माग के कारणों का विवेचन कीजिए। फिर स्वर्ण मान तथा पत्र मान के अन्तर्गत मुद्रा की पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्वो का विवेचन कीजिए। दूसरे भाग मे मुद्रा परिमाण सिद्धान्त तथा अन्य सिद्धान्तो की सक्षिप्त व्याख्या कीजिए।]

10

मुद्रा का मूल्य (III)

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन—स्फीति, अपस्फीति, विस्फीति आदि

(Changes in the Value of Money—Inflation, Deflation, Disinflation etc)

"Thus, money which is a source of so many blessing to mankind, becomes also, unless we control it, a source of peril and confusion"

Robertson

पिछले दो अध्यायो मे मुद्रा मूल्य के माप की विधि तथा मुद्रा मूल्य के सिद्धान्तो का विश्लेषण किया जा चुका है। मुद्रा क मूल्य मे परिवर्तन होते रहना एक सामान्य बात है और इसकी अभिव्यक्ति सामान्य कीमत स्तर के परिवर्तनो मे होती रहती है। मुद्रा-मूल्य के परिवतनो का महत्व आधुनिक अर्थ तत्र मे बहुत अधिक बढ गया है क्योकि इनका उत्पादन तथा वितरण पर अत्यन्त व्यापक और गहन प्रभाव पडता है। मुद्रा मूल्य के परिवर्तनो का प्रभाव इसलिए पडता है क्योकि विभिन्न वस्तुओ और सेवाओ के सदर्भ मे मुद्रा का मूल्य एक ही अनुपात तथा एक ही दिशा म परिवर्तित नही होता। मुद्रा-मूल्य के परिवर्तनो के सदर्भ मे स्फीति (Inflation) तथा अपस्फीति (Deflation) शब्दो का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। इस अध्याय मे इन्ही का विस्तृत विवेचन किया गया है।

मुद्रा-स्फीति (Inflation)

स्फीति के सम्बन्ध मे कई प्रकार के विचार व्यक्त किए गए हैं। प्राचीनकाल मे चलन तथा साख (Currency and Credit) की प्रत्येक वृद्धि को स्फीति कहा जाता था। प्रथम महायुद्ध-काल मे प्रचलित विचार धारा के अनुसार स्फीति का तात्पर्य वस्तुओ की अपेक्षा मुद्रा-पूर्ति की अधिक आनुपातिक वृद्धि द्वारा जनित कीमत-स्तर की वृद्धि से था। सामान्यतया कीमत का बढना स्फीति का लक्षण है परन्तु यह अनिवार्य लक्षण नही कहा जा सकता। बिना कीमतो के परिवर्तित हुए भी अर्थ व्यवस्था मे स्फीतिक स्थिति हो सकती है फिर भी कीमतो का बढना स्फीति की इतनी

महत्वपूर्ण विशेषता है कि आधुनिक युग के अर्थशास्त्री श्री क्राउथर ने कहा है : "स्फीति ऐसी स्थिति है जिसमे मुद्रा का मूल्य गिरता है, अर्थात् कीमतें बढती है ।"[1]

प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने स्फीति की परिभाषा मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के सदर्भ मे की । प्रो० केमरर के अनुसार–'जब विनिमय माध्यम की मात्रा उसकी माग की तुलना म इस प्रकार बढती है कि कीमत-स्तर बढ जाता है तो स्फीति की स्थिति आ जाती है ।"[2] फिशर के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार जब $M+M^1$ की मात्रा T की अपेक्षा अधिक बढ जाती है तथा परिणामस्वरूप कीमत-स्तर बढ जाता है तो मुद्रा स्फीति की स्थिति आ जाती है ।

वर्तमान विचार धारा के अनुसार मुद्रा-स्फीति की व्याख्या समाज के कुल आय और व्यय (aggregate income and expenditure) तथा उपलब्ध वस्तुओ और सेवाओ के सदर्भ म की जानी चाहिए । जब मुद्रा की पूर्ति बढती है तो आय भी बढती है और खर्च भी बढता है । खर्च बढने से कीमत ऊपर बढने की प्रवृत्ति रखती है । यदि आय बढने के साथ वस्तुए और सेवायें भी उसी अनुपात मे बढे तो कीमत स्तर मे वृद्धि नही होगी । परन्तु यदि बढी हुई आय तथा उपलब्ध वस्तुओ और सेवाओ मे अन्तर रह जाता है तो कीमत स्तर बढता है यही मुद्रा स्फीति है ।

कैम्ब्रिज के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री पीगू के अनुसार स्फीति की व्याख्या देश की कुल मौद्रिक आय तथा उत्पादक साधनो द्वारा किए गए कार्य के सदर्भ मे करनी चाहिए इनके अनुसार .—

"Inflation takes place "when money income is expanding relatively to the output of work done by the productive agents for which it is the payment."

इस प्रकार इन्होने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि आय प्राप्ति की क्षमता की तुलना मे जब मौद्रिक आय अधिक अनुपात मे बढती है तो स्फीति की स्थिति आ जाती है । मौद्रिक आय बढने से प्रभावशाली माग (Effective Demand) बढती है तथा ब्याज दर को प्रभावित करती है । यदि रोजगार की वृद्धि हो जाती है और इसका प्रभाव समाप्त हो जाता है तो स्फीति की स्थिति नही पैदा होगी । लेकिन इसके फलस्वरूप चूंकि लागत मे वृद्धि होती है अतः कीमत-स्तर मे भी वृद्धि होती

1. "…. inflation is a state in which the value of money is falling i. e. prices are rising."

—Crowther : *An Outline of Money*, p. 107.

2. "Inflation is too much money and deposit currency in relation to the physical volume of business being done."

—Kammerer . *A. B. C. of Inflation*, p. 6'

है जिसे लार्ड कीन्स ने अर्द्ध-स्फीति (Semi-inflation) कहा है। जब पूर्ण रोजगार बिन्दु के बाद भी प्रभावशाली मांग मे मुद्रा की पूर्ति बढने से वृद्धि होती है तो इसका पूर्ण प्रभाव लागत तथा कीमत पर पडता है जिसे स्फीति की स्थिति (Full inflation) कहा जाता है। यहा प्रथम इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि मुद्रा-स्फीति का सम्बन्ध मुद्रा की मात्रा से नही वरन् मौद्रिक आय से है। दूसरे, यह महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक कीमत वृद्धि को स्फीतिक नही समझा जाना चाहिए। जब कीमत वृद्धि के साथ रोजगार मे वृद्धि न हो तभी उसे स्फीतिक कहा जाता है। लार्ड कीन्स के आधारभूत समीकरण [Fundamental Equation] से यह स्पष्ट सकेत मिलता है कि उत्पादन की तुलना मे आय मे अधिक वृद्धि होने से ही कीमत स्तर नही बढता बल्कि विनियोग लागत (Cost of Investment) एव सचय मे असमानता (discrepancy) होने के कारण भी कीमत-स्तर बढता है। लार्ड कीन्स ने अपने स्फीतिक अन्तर (Inflationry Gap) की व्याख्या से यह स्पष्ट किया है कि कीमतो की स्फीतिक वृद्धि का कारण अनुमानित व्यय एव उपलब्ध उत्पादन मात्रा मे अन्तर होना है। इसी अन्तर को इन्होने स्फीतिक अन्तर' (Inflationary Gap) कहा है। यह अन्तर जितना अधिक होगा स्फीतिक प्रवृत्तिया उतनी ही स्पष्ट होगी। श्री सैमुएलसन ने वस्तुओ और उत्पादन के साधनो की कीमत बढने की स्थिति को स्फीतिक स्थिति कहा है।[1]

अमेरिका के फेडरल रिजर्व बोर्ड के अनुसार "The process of making additions to credits not based upon a commensurate increase in the production of goods" स्फीति को जन्म देता है। मौद्रिक अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ डा० पाल एन्जिग (Dr Paul Einzig) ने कहा है "Inflation is an expansionary trend of purchasing power that tends to cause, or to be the effect of, an increase of the price level"

स्फीति की विभिन्न परिभाषाओ मे एक समानता अवश्य दिखाई देती है कि स्फीति एक मौद्रिक स्थिति ही है।[2] स्फीति के प्रधान लक्षणो मे उत्पादन मे अपेक्षाकृत कम वृद्धि, कीमतो मे अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि, माग की अपेक्षा उपलब्ध वस्तुओ की मात्रा मे कमी, रोजगार तथा आय मे अपेक्षाकृत कम वृद्धि, लागत मे वृद्धि तथा विनियोगो मे वृद्धि प्रमुख हैं।

---

1. "By *inflation we mean a time of generally rising prices for* commodities and factors of production."—Samuelson

2. "When an expansion of currency and credit takes place with out a corresponding extension of trade and commerce, it is said to be inflation "—C. P. Srivastava

मुद्रा-स्फीति की किस्मे
(Types of Inflation)

मुद्रा-स्फीति का वर्गीकरण कई आधारो पर किया गया है, जिनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय है —

(अ) स्फीति के कारणो के आधार पर (Classification according to Causes) –

प्रो० पीगू ने स्फीति के कारणो के आधार पर स्फीति के दो भेद बतलाए हैं:-

1 घाटा-जनित स्फीति (Deficit Inflation)
2 मजदूरी-जनित स्फीति (Wage Inflation)

(1) घाटा-जनित-स्फीति (Deficit Induced Inflation) : इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति उस समय पैदा होती है जब सरकार अपनी सामान्य साधनो से प्राप्त आय की अपेक्षा अधिक व्यय करने के लिए घाटे की अर्थव्यवस्था का सहारा लेती है। घाटे की अर्थव्यवस्था के कारण मुद्रा प्रसार होता है परन्तु उत्पादन मात्रा में उस तुलना में कम वृद्धि हो पाती है इसलिए स्फीति और फिर भीषण स्फीति की स्थिति पैदा हो सकती है। ऐसा प्रायः युद्ध काल मे या आर्थिक-विकास काल की योजनाओ को पूरा करने के लिए किया जाता है।

(2) मजदूरी जनित मुद्रा-स्फीति : नकद मजदूरी (Money Wages) मे वृद्धि होने के कारण जो मुद्रा-स्फीति पैदा होती है उसे मजदूरी जनित मुद्रा-स्फीति कहा जाता है। जब किन्ही कारणो से कीमतो मे वृद्धि होती है तो मजदूरी बढाने की माग की जाती है और मजदूरी बढ जाने से मजदूरो की आय और उनकी माग मे वृद्धि होती है। वस्तुओ की पूर्ति उसी अनुपात मे नही बढ पाती इसलिए फिर कीमते बढती है और फिर मजदूरी बढाने की माग होती है। इस प्रकार कीमत और मजदूरी बढने का चक्र चलने लगता है जिसे कीमत मजदूरी चक्र (Wage Price Spiral) कहते हैं तथा इस स्थिति को मजदूरी जनित मुद्रा स्फीति कहते हैं।

कारणो के आधार पर अन्य विद्वानो ने जो वर्गीकरण किया है उनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय है:—

1 चलन स्फीति (Currency Inflation)
2 साख स्फीति (Credit Inflation)
3. बजट जनित स्फीति (Budgetary Inflation)
4. कर स्फीति (Taxation Inflation)
5. अतिनिवेश स्फीति (Over investment Inflation)
6. अधोत्पादन स्फीति (Under production Inflation)

7 असचय स्फीति (Dis-saving Inflation)
8 आयातित स्फीति (Imported Inflation)
9. लाभ स्फीति (Profit Inflation)

(1) **चलन स्फीति** (Currency Inflation) पीगू ने जिसे घाटा जनित स्फीति की सज्ञा दी है उस ही चलन स्फीति भी कहा जाता है क्योकि इसम सरकार अपनी वित्तीय आवश्यकताओ को पूरा करने क लिए व्यय करने के निमित्त नोटो की मात्रा चलन मे बढा देती है जिसके फलस्वरूप कीमत स्तर बढ जाता है । इसे ही बजट-जनित स्फीति (Budgetary Inflation) भी कहते है ।

(2) **साख स्फीति** (Credit Inflation) जब सरकारी नीति द्वारा साख निर्माण को प्रोत्साहन दिया जाता है और फलस्वरूप साख निर्माण बढ जाता है तो कीमत स्तर चलन की मात्रा पूववत रहने पर भी बढने लगता है । इस स्थिति को साख स्फीति कहते हैं ।

(3) **कर स्फीति** (Taxation Inflation) जब कर अधिक लगाने के कारण लागत तथा कीमतो म वृद्धि होती है तो उसे कर स्फाति कहते हैं ।

(4) **अतिनिवेश स्फीति** (Over investment Inflation) जब अति निवश के कारण वस्तुओ की लागत बढ़ जाती है और लोगो की आय मे वृद्धि होती है तथा परिणाम स्वरूप कीमते बढती हैं तो अतिनिवेश स्फीति कहा जाता है ।

(5) **अधोत्पादन स्फीति** (Under production Inflation) : किन्ही कारणो से जब दश मे वस्तुओ और सेवाओ के उत्पादन म कमी हो जाती है तथा मुद्रा की मात्रा पूर्ववत बनी रहती है तो मूल्यो म वृद्धि होने की प्रवृत्ति रहती है । ऐसी अवस्था का अधोत्पादन-स्फीति कहा जाता है ।

(6) **असचय स्फीति** (Dis-saving Inflation) जब सचय की मात्रा मे कमी आ जाती है और उपयोग पर तथा विनियोगो पर व्यय की मात्रा बढ जाती है तो मूल्य मे वृद्धि की अवस्था आ जाती है जिसे असचय स्फीति की सज्ञा दी जाती है ।

(7) **आयातित स्फीति** (Imported Inflation) आयातित स्फीति की अवस्था उस समय उत्पन्न होती है जब किसी देश का भुगतान सन्तुलन लगातार उसके पक्ष मे रहता है । इसके प्रमुख कारण हैं — (1) उस देश से निर्यात अधिक होने के कारण विनियोग के लिए पूंजी की माग बढती है और विनियोग व्यय बढता है तथा (2) बैंको की साख निर्माण शक्ति बढ जाती है क्योकि उनकी आर्थिक स्थिति विदेशी भुगतानो के फलस्वरूप अच्छी हो जाती है । प्रारम्भ मे बचत वाला दश मुद्रा नियन्त्रण और साख नियन्त्रण द्वारा इस अवस्था को रोकने का प्रयत्न

करता है परन्तु अन्ततः मुद्रा प्रसार की स्थिति आने लगती है। इसको आयातित स्थिति कहने का कारण यही है कि यह अवस्था घाटे वाले देशो (जहा अधिकतर मुद्रा प्रसार रहता है) से आने वाली पूँजी के कारण पैदा होती है।

(8) लाभ स्फीति (Profit Inflation) : जब स्फीति का कारण 'उत्पादको के लाभ मे वृद्धि' होता है तो उसे लाभ-स्फीति कहा जाता है।

मुद्रा स्फीति के कारणो पर आधारित वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि मुद्रा स्फीति के अनेक कारणो को निम्नलिखित श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है :

1 मौद्रिक आय एव माग मे वृद्धि करने वाले कारण : इसके अन्तर्गत सरकारी नीतियाँ, घाटे की अर्थव्यवस्था, अधिक साख निर्माण, मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि, योजना को चलाने के लिए अधिक खर्च की व्यवस्था आदि कारण आते हैं। इस प्रकार की स्फीति को माग वृद्धि-स्फीति कहा जाता है।

2 उत्पादन की वृद्धि मे बाधा डालने वाले कारण : इसके अन्तर्गत उत्पादन के साधनो का अभाव, तकनीकी ज्ञान की कमी, व्यापार नीति, जनसख्या, कर नीति, प्राकृतिक कारण आदि आते है।

3. मनोवैज्ञानिक कारण इसके अन्तर्गत वे कारण सम्मिलित किए जाते हैं जो भविष्य के अनुमानो को प्रभावित करते हैं। कई आर्थिक निर्णयो मे भविष्य के अनुमानो का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

(ब) मुद्रा स्फीति के कारणों के अलावा स्फीति का वर्गीकरण (Classifications other than according to causes) :

समय के आधार पर युद्धकालीन स्फीति, शान्ति कालीन स्फीति के रूप मे, क्षेत्र के आधार पर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्फीति के रूप मे तथा सरकारी नियमन (Govt Regulation) के आधार पर–खुला (Open) तथा दबा हुआ (Suppressed) स्फीति के रूप मे किया जाता है। पाल इजिग ने (Open) तथा (Suppressed) स्फीति का परिभाषित करते हुए लिखा है —

"When upward pressure on prices brought about by the free interaction of demand & supply is manifestable, it is known as open inflation..... if it is prevented by government measures such as rationing, price control etc, from producing its effects on prices, it is suppressed inflation"

(स) गति के आधार पर स्फीति का वर्गीकरण (Classfication according to the speed or rapidity in the increase in prices) :

1. रेंगती हुई स्फीति (Creeping Inflation)
2. चलती हुई स्फीति (Walking Inflation)
3. दौडती हुई स्फीति (Running Inflation)
4. कूदती हुई स्फीति (Jumping or Galloping or Hyper Inflation)

यदि कीमत स्तर मे धीरे-धीरे वृद्धि होती हो और उससे अर्थव्यवस्था मे उथल-पुथल की स्थिति पैदा न हो तो स्फीति की इस दिशा को धीमी स्फीति (Mild Inflation) या रेंगती हुई स्फीति (Creeping Inflation) कहा जाता कुछ अर्थशास्त्री ऐसी स्फीति पिछडे, परन्तु विकास-रत देशो के लिए आवश्यक बताते हैं क्योकि यह अर्थव्यवस्था को गतिहीनता (Stagnation) से बचाती है। परन्तु कुछ लोगो का मत है कि यह बडी खतरनाक स्थिति है और यदि इस पर रोक न लगाई जाय तो यह दौडती और फिर कूदती हुई स्फीति को जन्म देती है।

चलती हुई स्फीति के अन्तगत कीमत वृद्धि अधिक स्पष्ट हो जाती है और वास्तव मे यह इस बात का सकेत है कि अब स्फीति पर नियन्त्रण करना अर्थ व्यवस्था को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। पूरा वृत्ति बिन्दु के बाद जब स्फीति और उग्र रूप धारण कर लेती है और व्यापार चक्र तेजी से चलने लगता है तो दौडती हुई स्फीति की स्थिति आ जाती है और स्फीति की मात्रा का अनुमान लगाना कठिन हो जाता है। जनता का भविष्य सम्बन्धी अनुमान उसे और अधिक खर्च करने की प्रेरणा देने लगता है। इस मनोवैज्ञानिक प्रभाव के कारण कीमतें बढने लगती है और स्फीति की भयकर स्थिति पैदा हो जाती है तथा उस पर काबू पाना असम्भव हो जाता है। इसे ही कूदती हुई या अति स्फीति (Jumping or Galloping or Hyper Inflation) कहते हैं। इस अवस्था को लार्ड कीन्स ने पूरा स्फीति (Full Inflation or Time Inflation) कहा है।

मुद्रा-स्फीति के प्रभाव
(Effects of Inflation)

मुद्रा स्फीति अर्थव्यवस्था तथा समाज का व्यापक रूप से प्रभावित करती है। सुविधा के दृष्टिकोण से हम मुद्रा स्फीति के प्रभावो को निम्नलिखित मुख्य श्रेणियो मे विभक्त कर सकते हैं

1. व्यावसायिक गतिविधि पर प्रभाव (*Effect on Business Activity*)
2. आय के वितरण पर प्रभाव (Effects on Distribution of Income)
3. सामाजिक प्रभाव (*Social Effects*)

(1) व्यावसायिक गतिविधि पर प्रभाव (Effects on Business Activity)

व्यावसायिक गतिविधि का केन्द्र बिन्दु उत्पादन है। उत्पादन कर्त्ता लाभ की आशा मे उत्पादन करता है। लाभ की मात्रा उत्पादन व्यय और उत्पादित वस्तुओ की कीमत पर निर्भर करती है। चूंकि मुद्रा स्फीति काल मे कीमतें उत्पादन व्यय की अपेक्षा अधिक बढती हैं इसलिए लाभ की मात्रा बढ जाती है। इससे उत्पादको मे आशा का सचार होता है और वे अधिक उत्पादन करने को प्रोत्साहित होते हैं।

उत्पादन बढने से उत्पादन के साधनो की आय बढती है और माग बढती है। फिर उत्पादन बढता है, आय बढती है तथा माग बढती है। परन्तु कई आधुनिक अर्थ-शास्त्रियों का मत है कि वास्तव मे मुद्रा स्फीति की स्थिति पूर्ण रोजगार के बिन्दु के पास प्रारम्भ होती है इसलिए मुद्रा स्फीति द्वारा उत्पादन मे कोई महत्वपूर्ण वृद्धि की आशा नही की जा सकती। वास्तव मे उत्पादन क्रम (Pattern of Production) म जो परिवर्तन होता है वह परिवर्तित मूल्य सम्बन्धो (Price Relationships) तथा आय एव सम्पत्ति के पुनर्वितरण का ही परिणाम है क्योकि मुद्रा स्थिति के प्रभाववश आय के वितरण मे जो परिवर्तन होगा उसमे उपभोग एव विनियोग भी प्रभावित होगे। मुद्रा स्फीति के कारण जिनकी आय बढती है तथा जिनकी आय कम होती है दोनो के व्यय-क्रम (Pattern of Expenditure) मे अन्तर हो सकता है।

मुद्रा-स्फीति की स्थिति मे विभिन्न उद्योगो मे लाभ की मात्रा समान मात्रा मे नही बढती है। इसलिए भी उत्पादन क्रम (Pattern of Producton) मे परिवर्तन हो जाता है। जिन उद्योगो मे वर्तमान औसत लाभ से अधिक लाभ होगा वे उन उद्योगो की अपेक्षा अधिक विकसित होगे जहा औसत लाभ से कम लाभ हो रहा था। परन्तु इस प्रकार का परिवर्तन दीर्घकाल मे समाज की आवश्यकताओ को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नही कर सकता और सम्भवत मुद्रा सकुचन और मन्दी की स्थिति लाने मे योगदान करेगा।

उत्पादन के अतिरिक्त मुद्रा स्फीति ब्याज दर को भी प्रभावित करती है। सट्टे की प्रवृत्ति को बढावा मिल सकता है तथा वह मुद्रा स्फीति-क्रम (Process of Inflation) का अग भी बन सकती है।

(2) आय के वितरण पर प्रभाव (Effect on Distribution of Income):

(1) **प्रसविदा पर आधारित आय** मौद्रिक प्रसविदा सम्बन्धो पर मुद्रा स्फीति का अत्याधिक प्रभाव पडता है। ऋणी वर्ग मुद्रा स्फीति से लाभान्वित होता है तथा ऋणदाता वर्ग हानि उठाता है। प्रसविदा की अवधि जितनी अधिक होती है लाभ तथा हानि की मात्रा भी उतनी ही अधिक होती है। जिन लोगो के पास दीर्घकालीन बाड होते हैं वे अधिक हानि उठाते हैं। मकान मालिक और नौकरी पशा लोग अपेक्षाकृत कम हानि उठाते हैं। मजदूर सघो के विकास के कारण अब मजदूरी कीमतो से अधिक पीछे नही रहती। इस प्रकार मुद्रा स्फीति उत्पादन के साधनो मे वर्तमान आय के वितरण को परिवर्तित कर देती है। जिस साधन की आय का आधार प्रसविदा होता है (भूमि पूंजी, श्रम) उसकी आय मुद्रा स्फीति के समय कम होती है। यही नही, मुद्रा स्फीति पूंजी मूल्यो (Capital Value) को भी पुनर्वितरित करती है। मुद्रा स्फीति द्वारा किस प्रकार पूंजी मूल्यो का पुनर्वितरण

किया जाता है यह एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए किसी सम्पत्ति का मूल्य वर्तमान कीमतो के आधार पर 5000 रु० है। यदि उसे 2500 रु० के लिए बन्धक (Mortgage) रखा गया हो तो बन्धक रखने वाले का उस सम्पत्ति मे 2500 रु० के बराबर हित है और 2500 रु० के बराबर उस सम्पत्ति के स्वामी का। यदि मुद्रा स्फीति के कारण उक्त सम्पत्ति का मूल्य, स्फीति के कारण बढी हुई कीमतो के आधार पर, 10000 रु० हो जाय तो भी बन्धक रखने वाले का हित केवल 2500 रु० के बराबर ही होगा परन्तु स्वामी का हित 7500 रु० के बराबर हो जावेगा। इस प्रकार मुद्रा स्फीति सम्पत्ति मे बन्धक रखने वाले और स्वामी के हितो के अनुपात को बदल देता है। इस उदाहरण के अनुसार हितो का अनुपात 1 1 से बदल कर 1 3 हो जाता है। इसी प्रकार मुद्रा स्फीति स्टाक रखने वालो (Stock holders) के लिए लाभदायक एव बाड रखने वालों के लिए हानिकारक है।

(ii) कृषक—मुद्रा स्फीति की स्थिति मे कृषको की आय मे वृद्धि होती है क्योकि कृषि-पदार्थों की कीमत बढ जाती है परन्तु उनका उत्पादन व्यय उस अनुपात मे नही बढता। ऐसी अवस्था मे किसानो को उत्पादन बढाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है अत कृषि के क्षेत्र मे विकास होता है। कृषक वर्ग अधिकाशत ऋणी होता है (पिछडे हुए देशो मे) इसलिए मुद्रा स्फीति उनके लिए और लाभदायक होती है। परन्तु पिछडे हुए देशो मे जहा कृषि एक व्यवसाय नही बल्कि जीवन का तरीका (Mode of living) है, वहा मुद्रा-स्फीति जनित लाभ का अधिकाश भाग बिचौलिया (Middlemen) को प्राप्त हो जाता है। साथ ही कृषको को अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुओ को प्राप्त करने के लिए पहले की अपेक्षा अधिक व्यय करना पडता है। इस प्रकार मुद्रा स्फीति के कारण जो वास्तविक लाभ प्राप्त होता है वह बहुत अधिक नही होता।

(iii) उद्योगपति और व्यापारी वर्ग—मुद्रा-स्फीति की दशा मे इस वर्ग की आय मे वृद्धि होती है क्योकि इनके व्यय की अधिकाश मदें प्रसविदा पर आधारित होने के कारण बढती नही हैं तथा दूसरी ओर कीमत के बढने से उन्हे प्राप्ति अधिक होती है। मुद्रा स्फीति होने कारण सामान्य जनता की क्रय शक्ति मे भी वृद्धि होती है और वस्तुओ की माग बढती है। वस्तुओ की कीमत और माग बढने से इस वर्ग का प्राप्त होने वाले लाभ की दर और मात्रा दोनो मे वृद्धि होती है। अत वे न केवल पुराने उद्योगो मे उत्पादन की मात्रा बढाते हैं बल्कि नए उद्योग भी स्थापित करते हैं। औद्योगिक विकास की गति मे तीव्रता आती है। व्यापारिक गतिविधियो मे भी तेजी आ जाती है क्योकि साख उपलब्ध होने मे आसानी रहती है। परन्तु इस वर्ग को प्राप्त होने वाले लाभ मे, मुद्रा स्फीति काल के दीर्घ कालिक और गहन हो जाने

पर, कमी होने लगती है क्योंकि श्रमिक संघ अपनी मजदूरी बढ़वा कर व्यय में वृद्धि करने में सफल हो जाते हैं।

(iv) श्रमिक—श्रमिकों का पारिश्रमिक प्रायः प्रसंविदा के आधार पर निश्चित किया जाता है। इसलिए कीमतों में वृद्धि होने पर श्रमिकों की आय वस्तुओं और सेवाओं के संदर्भ में कम हो जाती है। मौद्रिक आय यदि बढती भी है तो सामान्य कीमत स्तर की अपेक्षा कम बढ़ती है। सभी श्रमिकों पर भी समान प्रभाव नहीं पडता। दैनिक कार्य करने वाले मुद्रा स्फीति की स्थिति देखकर अपनी मौद्रिक आय में अपेक्षाकृत शीघ्र और अधिक वृद्धि कराने में सफल हो जाते हैं परन्तु मासिक वेतन पाने वाले शीघ्र सफल नहीं हो पाते। परन्तु श्रमिक वर्ग के लिए सबसे बड़ा लाभ मुद्रा स्फीति से यह है कि रोजगार में वृद्धि होती है। इसलिए जिन्हें बेरोजगारी का सामना करना पड रहा था उन्हें रोजगार मिल जाता है और शून्य आय के स्थान पर उनकी आय धनात्मक हो जाती है।

(v) सामान्य जनता—सामान्य जनता के अन्तर्गत मध्यम वर्ग और गरीब जनता शामिल है। मुद्रा-स्फीति के समय इस वर्ग की मौद्रिक आय तो अवश्य बढती है परन्तु उसका वास्तविक उपभोग कम हो जाता है क्योंकि जितनी आय बढती है उससे कहीं अधिक कीमतें बढ जाती हैं। इसलिए इस वर्ग में असन्तोष पैदा हो जाता है। सरकार के प्रति विश्वास बनाए रखना कठिन हो जाता है। सामान्य स्फीति की स्थिति को फिर भी उतनी भयावह नहीं होती परन्तु यदि स्फीति की मात्रा अधिक हो तो स्थिति विस्फोटक हो जाती है। राजनैतिक स्थिरता संदिग्ध हो जाती है और मुद्रा अपने सभी कार्यों को सम्पन्न नहीं कर पाती। जर्मनी की 1923 की स्थिति इस बात का पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करती है कि जब मूल्य माप का कार्य स्विस-फैंक और अमेरिकन डालर के द्वारा किया जाता था परन्तु चलन मुद्रा मार्क थी।

(3) सामाजिक प्रभाव (Social Effects):—

मुद्रास्फीति का प्रभाव आर्थिक गतिविधियों पर ही नहीं पडता वरन् सामाजिक तत्वों पर भी पडता है। समाज के विभिन्न वर्गों में धन और आय का जो अन्यायपूर्ण वितरण होने लगता है उसके कारण नैतिक मूल्यों का पतन होने लगता है। मिलावट का बाजार गरम हो जाता है। घूसखोरी और भ्रष्टाचार (Corruptions) सामाजिक जीवन का अंग बन जाते हैं। मुद्रास्फीति के कारण जर्मनी में जो नैतिक पतन हुआ उसका आभास प्रो० एस० के० मुरजन द्वारा उद्धृत निम्नलिखित उद्धरण से मिलता है—

"Young girls bragged proudly of their perversion, to be sixteen and under the suspicion of virginity would have been considered disgrace in any school of Berlin at that time; every girl

wanted to be able to tell of her adventures and the more exotic the better"[1]

इस प्रकार यदि मुद्रास्फीति लम्बे समय तक चलती रहे तो समस्त सामाजिक तत्व परिवर्तित हो जाते है और नैतिक मूल्यो मे आमूल परिवर्तन हो जाता है।

मुद्रास्फीति का नियन्त्रण
(Control of Inflation)

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मुद्रास्फीति के कारण अनेक प्रकार की आर्थिक, सामाजिक और नैतिक कठिनाइया पैदा हो जाती हैं और समाज पर बडा ही भयकर प्रभाव पडता है। परन्तु यह भी नही भुलाया जा सकता कि इससे उद्योगो के विकास और रोजगार की वृद्धि मे बडी सहायता मिलती है। वास्तव मे मुद्रा स्फीति जब दीर्घकालिक और अधिक मात्रा मे होती है तभी इसकी बुराइयाँ इसकी अच्छाइयो को समाप्त करती हैं। यदि मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित रखा जाय तो समाज पर इसका प्रभाव अधिक हानिकारक नही होगा। मुद्रास्फीति को नियन्त्रित रखने के लिए निम्नलिखित तरीके अपनाए जा सकते हैं

1 **मौद्रिक नीति**—मुद्रास्फीति का एक प्रमुख कारण मुद्रा एव साख की मात्रा को नियन्त्रण मे रखकर उससे बढने वाली माग और कीमतो को नियन्त्रण मे रखा जा सकता है। मुद्रा की मात्रा अधिक न बडे इसके लिए मुद्रा जारी करने वाली सस्था पर ऐसा कानूनी प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए जिससे अतिरिक्त मुद्रा जारी करना अपेक्षाकृत कठिन हो जाय। इसके लिए कोष की मात्रा (नोटो के पीछे रखा जाने वाला स्वर्ण और विदेशी विनिमय) मे वृद्धि की जा सकती है। साख पर नियन्त्रण करने के लिए बैंको द्वारा साख निर्माण की शक्ति को कम करना आवश्यक है जिसे केन्द्रीय बैंक बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाओ तथा अन्य उपायो द्वारा कर सकता है। *यदि मुद्रा स्फीति अत्यन्त ही अधिक हो चुकी है तो पुरानी मुद्रा के स्थान* पर नयी मुद्रा जारी की जा सकती है जैसा जर्मनी ने प्रथम महायुद्ध के बाद किया था।

मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करने के लिए मौद्रिक नीति का साधन अपनाने म अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि मौद्रिक नीति का प्रयोग सामान्य मात्रा मे किया जाता है तो यह प्रभावहीन हो सकती है और यदि इसको अधिक मात्रा मे अधिक तीव्रता से काम मे लिया तो अर्थ व्यवस्था पर बुरा और भयानक असर पड सकता है। प्रो० हैनमन के शब्दो मे —"Moderately used it (monetary policy) courts the failure of ineffectiveness Pushed to the needed financial extremes, it courts disaster"

---

1. The World Yesterday–Stefan Zweig–Quoted by S. K. Muranjan in "*From Hyper Inflation to Devaluation*" p. 13.

2. वित्तीय नीति : मौद्रिक नीति के अतिरिक्त वित्तीय नीति के द्वारा भी मुद्रा स्फीति को नियंत्रित किया जा सकता है। मुद्रा स्फीति पर नियत्रण करने के लिए अतिरिक्त क्रय शक्ति के प्रयोग पर अकुश लगाना आवश्यक है। इसके लिए सरकार कर वृद्धि (Direct Tax) व्यय कर तथा बलात् ऋण (Forced Loan) का प्रयोग कर सकती है। करो की वसूली मे कडाई की भी आवश्यकता होती है। दूसरी तरफ सरकार को अपना बजट सतुलित रखने का प्रयास करना चाहिए जिससे घाटे की अर्थ व्यवस्था से बचा जा सके। यदि सम्भव हो तो बचत बजट (Surplus Budget) बनाया जाना चाहिए। सरकार के पूँजी व्ययो तथा अन्य व्ययो मे कमी लाकर सम्पूर्ण समाज के व्यय को कम किया जा सकता है।

वास्तव मे वित्तीय और मौद्रिक नीतियो का मुद्रा स्फीति के नियत्रण के लिये साथ-साथ प्रयोग किया जाना चाहिए। अकेले इनमे से कोई भी नीति अधिक कारगर नही हो सकती।

3 अन्य उपाय : मौद्रिक नीति अथवा वित्तीय नीति के द्वारा जनता की प्रभावशाली माग को कम करना या नियंत्रित करना तथा उसके माध्यम से मुद्रा स्फीति का उपचार करना उस स्थिति मे और भी कठिन होता है जब मुद्रा स्फीति बाजार की शक्तियो (Market Power) के क्रियाशील होने के कारण उत्पन्न हुई हो। ऐसी अवस्था मे मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने के लिए निम्नलिखित उपायो का प्रयोग अधिक प्रभावशाली होता है :

(i) **मूल्य-नियत्रण** आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओ के मूल्यो मे होने वाली वृद्धि पर रोक लगा देना चाहिए। लोगो को खर्च कम करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। राशनिंग का भी सहारा लिया जा सकता है परन्तु काले बाजार को जन्म नही लेने देना चाहिए। उपभोक्ता साख पर कडी रोक लगा देनी चाहिए।

(ii) **मजदूरी नियत्रण .** मुद्रा स्फीति मे मजदूरी-कीमत चक्र (Wage Price Spiral) को रोकना अत्यन्त महत्वपूर्ण है इसलिए मजदूरी मे निरतर बढ़न की प्रवृत्ति पर रोक लगाना आवश्यक है। यदि मजदूरी बन्धन (Wage freeze) की नीति काम मे ली जायेगी तो लागत मे वृद्धि होना रुक जायेगा और लागत वृद्धि के कारण जो मूल्य वृद्धि होती है वह स्वत ही रुक जायेगी। कीमतो के स्थिर हो जाने पर श्रमिक सघो द्वारा असतोष भी नही व्यक्त किया जायेगा। इस प्रकार मुद्रा स्फीति को रोका जा सकता है। लेकिन केवल मजदूरी बन्धन अधिक प्रभाव शाली नही होगा। यदि लाभ की दर पर भी रोक लगा दी जाय तो प्रभाव अधिक अच्छा होगा।

(iii) **विनियोजन पर नियत्रण** मुद्रा स्फीति की स्थिति मे मौद्रिक आय की तुलना मे वस्तुओ मे कम वृद्धि होती है इसलिए सामान्य जनता को कठिनाई होती

है। विनियोजक विभिन्न ऐसे क्षेत्रो मे विनियोग करते हैं जिनसे लोगो की आय तो बढ जाती है परन्तु उत्पादित पदार्थों की मात्रा मे तत्काल या काफी समय तक कोई वृद्धि नही होती। सरकार को नये विनियोगो को केवल उसी क्षेत्र मे छूट देनी चाहिए जहा तत्काल उत्पादन सम्भव है। इसके साथ ही वर्तमान सस्थानो मे उत्पादन के बढाने का भरसक प्रयत्न किया जाना चाहिए। एकाधिकारिक प्रवृत्ति वाली औद्योगिक सरचना मे विभाजन किया जाना चाहिए। सट्टेबाजी पर नियन्त्रण लगाना अति आवश्यक है।

उपरोक्त उपायो मे से किसी एक उपाय का सहारा न लेकर यदि सभी उपायो द्वारा मुद्रा स्फीति की समस्या मे सुधार लाने का प्रयत्न किया जाय तो निश्चय ही वह अधिक सफल होगा। इनके साथ ही सरकार को चाहिए कि वह जनता को इसके बारे मे शिक्षित करे। लोगो मे बचत करने की आदत को प्रोत्साहित करे। और उनमे यह भावना भर दे कि "a moderate degree of inflation is less objectionable than effective remedies"[1]

मुद्रा सकुचन (Deflation)

मुद्रा सकुचन की स्थिति मुद्रा स्फीति की ठीक विपरीत स्थिति होती है। मुद्रा प्रसार की इस विलोम स्थिति, प्रवृत्ति तथा प्रक्रिया को ही मुद्रा सकुचन की की सज्ञा दी जाती है। ऐसी स्थिति मे कीमत-स्तर गिरता है, मुद्रा के मूल्य म वृद्धि होती है। आर्थिक क्रियाओ की अपेक्षा मौद्रिक आय मे अधिक अनुपात म कमी होती है। प्रत्यावर्तन (Recession) प्रारम्भ हो गया रहता है और सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था मदी की ओर बढने लगती है। मुद्रा सकुचन सरकार की मौद्रिक नीति का परिणाम हो सकता है। सामान्य कीमत स्तर मे, यदि कृत्रिम रूप से, बिना लागत मे कमी लाए, कमी लाई जाती है तो यह हानिकारक हो सकता है। परन्तु यदि सामान्य कीमत स्तर मे तकनीकी सुधारो के कारण लागत मे कमी होने से कमी आती है तो इस प्रकार का मुद्रा सकुचन हानिकारक नही होता। सामान्यतया मुद्रा सकुचन की स्थिति उन दशाओ की ओर सकेत करती है जब उत्पादन यथावत रहता है परन्तु मौद्रिक आय कम होती है, जब उत्पादन भी कम होता है परन्तु मौद्रिक आय की तुलना म कम, जब उत्पादन मे वृद्धि होती है पर मौद्रिक आय मे स्थिरता रहती है, जब मौद्रिक आय भी बढती है परन्तु उत्पादन से कम या जब उत्पादन बढता है परन्तु मौद्रिक आय घटती है।

कारण—मुद्रा सकुचन का कारण सरकार की मौद्रिक नीति होती है। यदि केन्द्रीय बैंक चलन मे मुद्रा की मात्रा मे कमी कर दे या बैंको द्वारा साख मुद्रा के

---

[1]. "Money and Banking" : Whittlesey, Freedman and Herman, p. 405.

निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाने की नीति अपनाए तो मुद्रासंकुचन की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। अधिक मात्रा मे कर लगाना या जनता से ऐच्छिक या अनिवार्य ऋण लेना भी मुद्रा सकुचन को जन्म देता है। इसके अतिरिक्त यदि वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन मे वृद्धि होने के बावजूद भी मुद्रा की मात्रा यथावत रखी जाय तो भी सकुचन की स्थिति पैदा हो जाती है।

प्रभाव (Effects of Deflation) :—मुद्रा सकुचन का अर्थ-व्यवस्था पर मुद्रास्फीति का ठीक विपरीत प्रभाव पड़ता है। वस्तुओं की कीमतें कम होती जाती हैं इसलिए उत्पादकों को हानि होती है। विक्रेता अपने पहले के माल को कम से कम घाटा उठाकर शीघ्र मे शीघ्र बेचना चाहता है। खरीददार कीमत और कम होने की उम्मीद मे खरीद स्थगित कर देता है। विक्रेताओं का घाटा बढ़ने लगता है। वे और माल की माग बहुत कम कर देते हैं। ऐसी स्थिति मे उत्पादक भी उत्पादन कम कर देते हैं। लोगो को रोजगार से निकाल दिया जाता है। उनकी आय कम हो जाती है एव बाजार की प्रभावशाली माग और कम हो जाती है। उत्पादन के सभी साधनो की माग कम हो जाती है। विनियोग मे अत्यधिक ह्रास हो जाता है।

कृषक समुदाय पर भी मुद्रा सकुचन का बडा बुरा असर पड़ता है। कृषि पदार्थों की कीमतो म सर्वाधिक और शीघ्र कमी हो जाती है। मजदूरो को कुछ समय तक लाभ हो सकता है क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं के रूप मे अब उन्हे अधिक प्राप्त होता है परन्तु दीघकाल मे जब उत्पादन ठप्प हो जाता है और मजदूर बेकार होने लगते है तब उनको सर्वाधिक सकट का सामना करना पड़ता है। ब्याज और लगान से आय प्राप्त करने वालो को भी वर्तमान प्रमविदो मे लाभ हो सकता है परन्तु उनका भविष्य भी समाप्त हो जाता है क्यो इनकी दरे गिरने लगती है। उत्पादन के साधन के रूप मे भूमि और पूंजी की माग प्राय: समाप्त हो जाती है। सरकार के स्थायी कर्मचारियो को अवश्य अपेक्षाकृत अधिक समय तक लाभ होता है परन्तु जब उत्पादन अत्यन्त निम्नस्तर पर आ जाता है या कई चीजों का उत्पादन बन्द हो जाता है तो उन्हे भी अपने उपभोग को सीमित करना पड़ता है। आय होते हुए भी वे उसका उपभोग नही कर पाते। स्वय सरकार को भी मुद्रा सकुचन की स्थिति कठिनाई मे डाल देती है। सामान्य करो की वसूली भी कठिन हो जाती है तथा सरकार का व्यय चलाना दूभर हो जाता है।

सक्षेप मे मुद्रा सकुचन की स्थिति का उद्योग, व्यापार, कृषि, निश्चित आय-वर्ग, मजदूर आदि सभी पर बुरा असर पडता है। अर्थ व्यवस्था अव्यवस्थित हो जाती है।

नियन्त्रण के उपाय (Measures of Control) —

1. सरकार के व्यय में वृद्धि—वास्तव म मुद्रा सकुचन की स्थिति मे जनता की आय बहुत कम हो जाती है और निजी क्षेत्र (Private Sector) जो लाभ के

उद्देश्य से कार्य करता है सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाओ से मुख मोड लेता है अतः सरकार को चाहिए कि नये-नये निर्माण कार्य प्रारम्भ करे जिससे लोगो को रोजगार मिले और उनकी आय बढे। लोगो की आय मे वृद्धि होने से प्रभावशाली माग बढेगी व्यक्तिगत क्षेत्र के उत्पादको मे भी आशा का सचार होगा और अर्थ-व्यवस्था पुनर्जागृत हो जायेगी। 1929 की महान आर्थिक मन्दी का सामना करने के लिए प्रेसिडेन्ट रुजवेल्ट ने न्यू डील (New Deal) की नीति मे यही उपाय काम मे लिया था।

2. करों मे छूट—करो मे छूट देकर पूंजी सचय और विनियोगो को बढावा दिया जा सकता है। विनियोगो के प्रारम्भ होते ही रोजगार और उत्पादन मे वृद्धि होगी और अर्थ-व्यवस्था सुधरने लगेगी।

3. मौद्रिक नीति—चलन मे मुद्रा एव साख की मात्रा को बढाने की नीति अपनाई जानी चाहिए। बैंक दर को कम करना, जनता से प्रतिभूतियो को खरीदना आदि उपायो द्वारा बैंको की साख निर्माण शक्ति को बढाना चाहिए। जनता के हाथ मे क्रयशक्ति के बढते ही मूल्य-स्तर मे वृद्धि प्रारम्भ हो जायेगी और अर्थ-व्यवस्था गतिशील हो जायेगी।

4 सरकार द्वारा अतिरिक्त माल की खरीद—उत्पादको और व्यापारियो मे विश्वास का सचार करने के लिए सरकार को उत्पादित माल को खरीद लेना चाहिए और इस प्रकार कृत्रिम माग की स्थिति बनाकर उन्हे विनियोग और रोजगार बढाने के लिए प्रेरित करना चाहिए जिससे कालान्तर मे कृत्रिम माग वास्तविक माग का रूप ग्रहण कर ले।

5 निर्यात को प्रोत्साहन—सरकार एव उत्पादको को अन्य देशो मे अपने माल की माग पैदा करनी चाहिए जिससे निर्यात को बढाया जा सके और उत्पादन तथा रोजगार को बढाया जा सके। इसके लिए सरकार द्वारा मौद्रिक सहायता तथा विदेशो मे विज्ञापन पर अधिक जोर देना चाहिए।

मुद्रास्फीति तथा मुद्रा सकुचन—तुलनात्मक दृष्टि

हमने मुद्रास्फीति तथा मुद्रा सकुचन के प्रभावो का वर्णन पिछले पृष्ठो मे किया है। दोनो का ही अर्थ व्यवस्था पर विस्तृत प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि इन दानो स्थितियो मे कौन उचित है और कौन बुरी है।

मुद्रास्फीति को पिछडे देशो के विकास के लिए प्रायः अनिवार्य माना जाता है क्योकि उन्हे विकास के लिए अधिक मात्रा मे विनियोजन करना पडता है जिससे लोगो की आय मे वृद्धि होती है परन्तु उत्पादन की मात्रा प्रारम्भ मे उतनी नही बढ पाती। पिछडे देशो मे उपभोग चूकि बिल्कुल निम्न स्तर पर होता है इसलिए बढी हुई आय को खर्च किया जाता है। इस क्रिया मे डिमासट्रेशन प्रभाव (Demonstration Effect) भी अपना प्रभाव दिखाता है। इसलिए बचत विनियोग के बराबर नही हो

पाती। सरकार अपनी योजनाओं को पूरा करने के लिए घाटे के बजट का सहारा लेती है एव विदेशो से ऋण लेती है। सबका प्रभाव स्फीतिक होता है। परन्तु इसका बडा लाभ देश के आर्थिक विकास के रूप मे प्राप्त होता है। उत्पादन तथा रोजगार म वृद्धि होती है।

परन्तु इसकी हानि यह है कि आय का बटवारा न्यायोचित ढग से नही होता। लाभ केवल एक सीमित वर्ग मे बट जाता है। सामान्य जनता का वास्तविक उपभोग कम हो जाता है उसे हमेशा आर्थिक कठिनाई का सामना करना पडता है। गरीब और अमीर के बीच की दूरी निरन्तर बढती जाती है। इसलिए प्रो० वकील ने कहा है :

"Inflation may be compared to robbery Both deprive the victim of some possession with the difference that the robber is visible, inflation is invisible, the robber's victim may be one or few at a time, the victims of inflation are the whole nation, the robber may be dragged to a court of law, inflation is legal"

वास्तव मे मुद्रा स्फीति मध्यम वर्ग के लिए एक अभिशाप बन जाती है क्योंकि उनका जीवन निर्वाह व्यय (Cost of Living) आय की अपेक्षा बहुत अधिक बढ जाता है। बचत समाप्त हो जाती है। उनमे घोर निराशा व्याप्त हो जाती है। यही नही यदि मुद्रास्फीति की मात्रा अधिक बढ जाती है और यह कूदती हुए तथा अति-स्फीति का रूप ग्रहण कर लेती है तो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है तथा सामाजिक विघटन को जन्म देती है। जर्मनी इस बात का प्रमाण है यही नही मुद्रा-स्फीति मदी को भी जन्म दे सकती है। व्हीटिलसे, फ्रीडमैन तथा हरमन के शब्दो मे :

"The distortion of the pattern of industrial production that occurs in a period of inflation may also contribute to the post inflation deflation and depression"

दूसरी ओर मुद्रा सकुचन की स्थिति है जिससे कुछ निश्चित आय वालो को प्रारम्भ मे लाभ होता है क्योंकि उनकी वास्तविक आय और उपभोग पहले की अपेक्षा अधिक हो जाता है। परन्तु अधिकाश लोगों की हानि होती है। विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है क्योंकि कीमतो के कम होने से उत्पादको को हानि होती है विनियोग करने का उत्साह समाप्त हो जाता है। लोगो को रोजगार से अलग होना पडता है। बेरोजगारी निरन्तर बढती जाती है। उत्पादन निम्नतम स्तर पर पहुच जाता है। सरकार को भी अपना व्यय चलाने के लिए कठिनाई का सामना करना पडता है। अन्त मे निश्चित आय वर्ग भी उपभोग से वचित रहने लगता है। बैंक-व्यवस्था फेल होने लगती है। चारो तरफ निराशा और मदी का वातावरण छाया रहता है। आर्थिक गतिविधिया समाप्त प्राय हो जाती है।

स्पष्ट है कि दोनो ही स्थितिया समाज के लिए भयकर स्थिति पैदा करती है परन्तु मुद्रा स्फीति मे जीवन है और मुद्रा सकुचन म मुर्दानगी। एक आर्थिक विकास को बढावा देता है दूसरा इसे अवरुद्ध करता है। एक आय के वितरण म अन्याय करता है तो दूसरा आय को समाप्त कर देता है। वास्तव म देश की आर्थिक एव मौद्रिक नीति इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे देश का आर्थिक विकास होता रह तथा अर्थ व्यवस्था मे उथल-पुथल भी न हो। परन्तु इन दोनो म एक के चुनाव का प्रश्न यदि आ ही जाय तो मुद्रा स्फीति निश्चित ही मुद्रा सकुचन से अच्छी स्थिति है। अपस्फीति या मुद्रा सकुचन चुनने का तात्पर्य बेरोजगारी तथा उत्पादन एव आय की समाप्ति है। मुद्रा स्फीति चुनने से रोजगार तो मिलता है, आय तो होती है भले ही वास्तविक आय कम हो। उत्पादन तो होता है चाहे जिस चीज का हो। यदि अनुत्पाद कार्य भी हो तो भी बेकार रहने से अच्छा है क्योकि बेकार रहकर व्यक्ति सामाजिक शांति के लिए खतरा पैदा कर सकता है। हा यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि मुद्रा अनिम्फीति का रूप न ले। इस सम्बन्ध मे लार्ड कीन्स ने भी कहा है कि "Inflation is unjust and deflation in inexpedient of the two, perhaps deflation is worse"

सस्फीति
(Reflation)

मुद्रा-सकुचन के कारण जब आर्थिक मदी छा जाती है और कीमत तल असामान्य रूप से नीचे गिर जाता है तथा उत्पादन और रोजगार बहुत ही कम हो जाता है तो अर्थ व्यवस्था को पुन सुधारने (Recovery) के उद्देश्य से मुद्रा और साख की मात्रा म वृद्धि की जाती है जिससे कीमत स्तर मे सामान्य स्तर तक पहुचन की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। कीमत वृद्धि की इस प्रवृत्ति को सस्फीति (Reflation) कहा जाता है। इससे उत्पादन रोजगार तथा आय मे वृद्धि होने लगती है और व्यापारिक मदी दूर होने लगती है। अर्थ व्यवस्था साम्यवस्था की ओर अग्रसर होने लगती है और अन्तत उत्पादन के समस्त साधनो का उत्पादन क्रिया मे प्रयोग होने लगता है। इस अवस्था मे जिस प्रकार कीमतो म वृद्धि होती है उसी प्रकार उत्पादन तथा आय मे भी वृद्धि होती है। स्फीति मे भी कीमतो तथा उत्पादन एव आय आदि मे वृद्धि होती है परन्तु वह सस्फीति से भिन्न है क्योकि स्फीति म कीमत वृद्धि आय की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से होती है। इसी प्रकार सस्फीति का प्रारम्भिक जान बूझकर अर्थ- व्यवस्था मे सुधार लाने के लिए किया जाता है परन्तु स्फीति परिस्थितिवश सस्फीति की स्थिति के बाद प्रारम्भ होती है। मुद्रा सस्फीति का अर्थ व्यवस्था पर बहुत अच्छा प्रभाव पडता है और देश की क्रियाहीन अर्थ व्यवस्था पुन क्रियाशील होकर विकास के पथ पर अग्रसर होती है।

विस्फीति
(Disinflation)

जिस प्रकार कीमत-स्तर के असामान्य रूप से नीचे गिर जाने पर उसे सामान्य स्तर पर लाने की प्रक्रिया सस्फीति कही जाती है उसी प्रकार जब कीमत स्तर असाधारण रूप से अधिक हो जाता है तो जानबूझ कर कीमतों को गिराकर सामान्य स्तर पर लाने की प्रक्रिया को विस्फीति कहते है। ऐसा करना इसलिए आवश्यक होता है क्योंकि कीमतो की अत्यधिक वृद्धि का अर्थ व्यवस्था पर बड़ा भयानक प्रभाव हो सकता है। इसलिए उसके दुष्परिणामो से बचने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिए जनता की प्रभावशाली माग को कम करने की आवश्यकता होती है, जो चलन मे मुद्रा एव साख की मात्रा को कम करने से सम्भव है। मुद्रा सकुचन की स्थिति मे भी कीमत स्तर गिरता है परन्तु वह स्फीति से भिन्न है क्योंकि विस्फीति मे सामान्य रूप से ऊची कीमतो को सामान्य स्तर पर गिराया जाता है लेकिन सकुचन की स्थिति में कीमत स्तर सामान्य स्तर से नीचे गिरता चला जाता है और असाधारण रूप से नीचे गिर जाता है जिससे बेरोजगारी अत्यधिक बढ जाती है। आय और उत्पादन निम्नतम बिन्दु पर पहुँच जाते है। विस्फीति से अर्थ-व्यवस्था सामान्य हो जाती है परन्तु सकुचन से मदी का वातावरण बन जाता है।

मुद्रा मूल्य का स्थायित्व
(Stable Value of Money)

मुद्रा-मूल्य के घटने-बढने या कीमत स्तर के बढने-घटने का अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पडता है इसका आभास मुद्रा स्फीति एव मुद्रा सकुचन के अध्ययन से मिलता है। किस प्रकार अर्थ व्यवस्था विशृ खलित होती है और जनता को किन दुष्परिणामो का सामना करना पडता है यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो चुका है। इसलिए अर्थशास्त्रियो का मत है कि आर्थिक उन्नति के दृष्टिकोण से मौद्रिक नीति का लक्ष्य मूल्य-स्थायित्व होना चाहिए। समय और परिस्थितियो के अनुसार "मूल्य स्थायित्व" का अर्थ भी कुछ परिवर्तित हुआ है। 1930 के पूर्व स्थायित्व के अन्तर्गत (1) क्रय शक्ति की स्थिरता (2) विनिमय दर की स्थिरता और (3) स्वर्ण परिवर्तनशीलता की स्थिरता को शामिल किया जाता था। परन्तु वर्तमान समय मे स्थायित्व के अन्तर्गत पूर्ण वृत्ति तथा अधिकतम विकास के लक्ष्य, क्रयशक्ति का स्थायित्व एव भुगतान शेष की साम्यवस्था शामिल है। स्पष्ट है कि अब स्थायित्व की नीति का तात्पर्य केवल मौद्रिक इकाई के मूल्य के स्थायित्व तक ही सीमित नही है बल्कि अब इसका सम्बन्ध पूर्ण अर्थ व्यवस्था से है। अब मौद्रिक इकाई के मूल्य को नियन्त्रित करने का ही प्रश्न नही है वरन् सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था और आर्थिक क्रियाओ को नियन्त्रित करना है।

उपरोक्त सभी मौद्रिक उद्देश्य स्वय मे वाछनीय है परन्तु यदि इन्हे ध्यान से देखा जाय तो वे परस्पर विरोधी भी हैं। यदि कीमत को स्थिर रखने का प्रयत्न किया जाय तो पूर्ण वृत्ति और आर्थिक विकास का लक्ष्य सम्भवतः पूरा नही होगा। इसलिए इन विभिन्न उद्देश्यो को उनकी प्राथमिकता और सीमाओ को ध्यान मे रख-कर मौद्रिक नीति निर्धारित करने की आवश्यकता होती है। कीमत-स्तर मे अगर साधारण घट बढ होती है जिसका दीर्घकालीन महत्व नही है तो वह मूल्य स्थायित्व की सीमा के अन्दर है। प्रश्न अल्पकाल मे होने वाले सामान्य परिवर्तनो का नही वरन् दीर्घकालीन आर्थिक स्थिरता और विकास क्रिया को जारी रखने का है या विकास को कायम रखने (To sustain growth) का है। यदि इन लक्ष्यो का ध्यान मे रखकर मौद्रिक नीति अपनाई गई तो पूंजी निर्माण, बचत एव विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा। किसी भी वर्ग को कठिनाई का सामना नही करना होगा। जनता का अर्थ व्यवस्था मे पूर्ण विश्वास होगा। विज्ञान और तकनीकी विकास की प्रगति अवरूद्ध नही होगी। निरन्तर अनुसन्धान और अभिनवीकरण होता रहेगा। आर्थिक शान्ति होने के कारण सामाजिक और राजनैतिक स्थिरता एव शान्ति को बनाए रखना आसान होगा।

प्रायः स्थायित्व की नीति मौद्रिक एव वित्तीय साधनो तथा ऋण व्यवस्था एव प्रत्यक्ष नियन्त्रणो (Direct control) द्वारा व्यवहार मे लाई जाती है। विभिन्न देशो मे तथा विभिन्न परिस्थितियो मे इन उपायो मे किसी पर विशेष जोर दिया जाता है और किसी पर अपेक्षाकृत उससे कम। किस साधन विशेष पर अधिक जोर दिया जाय इस बात का निर्णय वहा की राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियो और वातावरण पर निर्भर करता है और इनमे होने वाले परिवर्तनो के अनुसार बदलता रहता है। मौद्रिक साधनो मे उन नियन्त्रणो को शामिल किया जाता है जो अर्थ व्यवस्था को मुद्रा की मात्रा एव प्रयोग के माध्यम से प्रभावित करते है। वित्तीय नियन्त्रणो के अन्तर्गत वे उपाय आते हैं जो सरकार की आय और व्यय को परिवर्तित करते हैं तथा इस प्रकार जनता की निर्वर्त्य आय (Disposable Income) तथा व्यय को प्रभावित करते हैं। ऋण व्यवस्था द्वारा सरकार कुल माग को प्रभावित करती है तथा प्रत्यक्ष नियन्त्रण द्वारा विभिन्न आर्थिक क्रियाओ की सीमा निर्धारित की जाती है। यहा यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वे सभी उपाय जिनसे कुल व्यय की मात्रा प्रभावित होती है "स्थायित्व" तथा अस्थायित्व दोनो ही प्रकार का प्रभाव डाल सकते हैं तथा अर्थ व्यवस्था के विकास को बढावा भी दे सकते हैं तथा अवरूद्ध भी कर सकते हैं क्योकि नीति निर्धारण एव नियान्वयन तथा उनके प्रभाव के बीच काफी समयान्तर होता है। नीति हमेशा भविष्य की परिस्थितियो के सम्पर्क मे आती है जिनका केवल अनुमान लगाया जा सकता है।

इसलिए उद्देश्यों की प्राथमिकता का निर्धारण एव तद्नुरूप नीति और साधनो की प्राथमिकता निश्चित करना कठिन कार्य है। परन्तु यदि उचित सावधानी एव दूरदर्शिता से कार्य किया जाय तो निश्चय ही स्थायित्व की नीति अर्थ व्यवस्था को मूल्य के उतार-चढाव के दुष्परिणामो से बचाकर उन्नति के पथ पर अग्रसर करेगी या कायम रखेगी।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) अपने देश मे द्वितीय महायुद्ध के समय तथा उसके बाद हुए मुद्रा प्रसार के कारणों का विवेचन कीजिए तथा उसके नियन्त्रण के लिए सरकार द्वारा उठाये गये कदमो का वर्णन कीजिए।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1962)

(आगरा 1659)

[सकेत—प्रथम भाग मे द्वितीय महायुद्ध काल तथा उसके बाद के समय हुई मुद्रा स्फीतियों के कारणो की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे स्फीति-नियन्त्रण के लिए प्रयुक्त उपायों का वर्णन कीजिए।]

(2) मुद्रा स्फीति किसे कहते हैं और इसके कारण क्या होते है ? भारत-वर्ष मे युद्धकालीन तथा युद्धोत्तर कालीन मुद्रा स्फीति के समाज की विभिन्न श्रेणियो पर प्रभावो का विश्लेषण कीजिए।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1966)

[सकेत—प्रथम भाग मे मुद्रा स्फीति की परिभाषायें देते हुए उसका अर्थ स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग मे मुद्रा-स्फीति के कारण बताइये। तीसरे भाग में युद्धकालीन तथा युद्धोत्तरकालीन मुद्रा स्फीति के भारतीय समाज के विभिन्न वर्गो पर प्रभाव बताइये।]

(3) निम्नलिखितो की परिभाषा कीजिए—(क) मुद्रा स्फीति (ख) मुद्रा विस्फीति (ग) मुद्रा अपस्फीतिकरण तथा (घ) अवमूल्यन। उन परिस्थितियो की व्याख्या कीजिए जिनमे इन्हे उचित ठहराया जा सके।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1967)

[सकेत—विभिन्न शब्दो की परिभाषायें देते हुए अर्थ स्पष्ट कीजिए। साथ-साथ यह भी बताते चलिए कि किन परिस्थितियो मे इन्हे उचित ठहराया जा सकता है।]

(4) "मुद्रा प्रसार अन्यायपूर्ण है तथा मुद्रा सकुचन अनुपयुक्त। इन दोनो मे शायद मुद्रा सकुचन अधिक बुरा है।" (प्रो० कीन्स) विवेचना कीजिए।

(सागर 1968, गोरखपुर 1959)

[संकेत—प्रथम भाग मे मुद्रा प्रसार के समाज पर पडने वाले प्रभावो का वर्णन करते हुए सिद्ध कीजिए कि मुद्रा प्रसार अन्यायपूर्ण है क्योकि इससे कुछ वर्गों को हानि तथा कुछ वर्गो को लाभ हो जाता है। दूसरे भाग मे मुद्रा सकुचन के समाज पर प्रभावो की विवेचना करते हुए बताइये कि मुद्रा सकुचन अनुपयुक्त है क्योकि इससे व्यापार-उद्योग मे मन्दी तथा बेरोजगारी फैलती है जो देश के लिए उपयुक्त नही। तीसरे भाग मे दोनो के प्रभावो के सन्दर्भ मे यह उपसहार दीजिए कि दोनो बुरे हैं और उनमे चुनाव का कोई प्रश्न नही। परन्तु दोनो बुराइयो मे मुद्रा प्रसार की तुलना मे सकुचन अधिक बुरा है।

(5) मुद्रा-मूल्य के उच्चावचनो का प्रभाव देश के विभिन्न वर्गो पर क्या होता है ? समझाकर लिखिए। (आगरा 1968)

[सकेत—मुद्रा प्रसार तथा मुद्रा सकुचन होने पर समाज के विभिन्न वर्गों पर पडने वाले प्रभाव का ब्योरेवार विवेचन कीजिए।]

भाग २
Part Two

"Credit is the oil of the wheel, the marrow of the bones, the blood in the veins and the spirits in the breast of all trade and commerce of the world"

—Defoe

साख तथा अधिकोषण
(Credit and Banking)

11

साख तथा साख पत्र
(Credit and Credit Instruments)

"Credit has done more—a thousand times more—to enrich nations than all mines of the world It has excited labour, stimulated manufactures, pushed commerce on every sea, and brought every nation, every kingdom and every small tribe among the races of men to be known to all the rest ....."

Daniel Webster

आधुनिक व्यापार उद्योग तथा वाणिज्य मे साख का महत्वपूर्ण स्थान है। साख के महत्व के कारण ये कथन प्रचलित हैं 'आधुनिक औद्योगिक समाज एक साख समाज है', 'साख औद्योगिक व्यवस्था का हृदय तथा महत्वपूर्ण भाग है,' तथा 'साख वाणिज्य तथा उद्योग का जीवन रक्त है'।[1] साख की प्रकृति तथा आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे उसकी इतनी महत्वपूर्ण स्थिति का क्या कारण है, यही इस अध्याय का विषय है।

साख की परिभाषा (Definition of Credit)

अँग्रजी के 'क्रेडिट' शब्द का उदय लेटिन के 'क्रेडो' (Credo) शब्द से हुआ है जिसका अर्थ होता है 'मैं विश्वास करता हूँ' (I believe)। सरल व्यापारिक अर्थों मे साख का तात्पर्य होता है 'वर्तमान म कुछ लेना और बाद मे भुगतान करना'। साख उधार लेने का पर्यायवाची बन गया है। उधार वस्तु भी ली जा सकती है और कोष भी।

विभिन्न अर्थ शास्त्रियों ने साख की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की है। स्टैनली जेवन्स के शब्दो मे "साख का अर्थ भुगतान को स्थगित करना है।"[2] जीड के अनुसार यह एक ऐसा विनिमय कार्य है जो कुछ समय भुगतान करने पर पूरा

---

[1] 'Modern industrial society is a credit society "
"Credit is the heart and core of the industrial system "
' Credit is the life blood of commerce and industry "

[2] "Credit means postponement of payment" —Stanley Jevons

हो जाता है।"[1] इन दोनों परिभाषाओं में भुगतान का स्थगन साख का सार माना गया है।

प्रो० जी० डी० एच० कोल के शब्दों में "साख वह क्रयशक्ति है जो आय से प्राप्त नही होती बल्कि जिसे वित्त संस्थायें बैंकों में जमाकर्त्ताओं द्वारा रक्खी गई निष्क्रिय आयों के उत्पादन के रूप में अथवा क्रय-शक्ति की कुल राशि में शुद्ध वृद्धि के रूप में उत्पन्न करती है।"[2] प्रो० टामस ने साख की परिभाषा इस प्रकार दी है "साख शब्द का अभिप्राय किसी व्यक्ति की शोधन क्षमता तथा देनदारी के प्रति एक ऐसे विश्वास से होता है जिसके कारण उस व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति की बहुमूल्य वस्तु सौंपी जा सके चाहे यह बहुमूल्य वस्तु मुद्रा हो, अन्य वस्तुयें या सेवायें हो या स्वय साख हो जैसे उस दशा में जबकि एक व्यक्ति दूसरे को अपनी व्यावसायिक ख्याति या अपने नाम के उपयोग का अधिकार देता है।"[3] प्रो० टामस ने एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को बहुमूल्य वस्तु सौंपते समय उसमे विश्वास को साख का आधार माना है। किन्ले के शब्दों में "साख से हमारा तात्पर्य किसी व्यक्ति की उस शक्ति मे है जिससे वह अन्य व्यक्ति को भविष्य मे भुगतान की प्रतिज्ञा के आधार पर अपनी आर्थिक वस्तुयें प्रदान करने के लिए प्रेरित करता है।"[4] इसी प्रकार हेन्स के अनुसार ' भविष्य मे भुगतान की प्रतिज्ञा के आधार पर वर्तमान मे कोई भी मूल्यवान वस्तु जैसे मुद्रा, वस्तुयें या सेवायें प्राप्त करना ही साख है।[5]

---

[1] "It is an exchange which is complete after the expiry of a certain period of time after payment." —Gide

[2] "It is purchasing power not derived from income, but created by financial institutions either as an offset to idle incomes held by depositors in the banks or as a net addition to the total amount of purchasing power."

—G D. H Cole : *Money, Its Present and Future*, p 308

[3] "The term credit is now applied to that belief in a mans probity and solvency which will permit of his being entrusted with something of value belonging to another whether that something consists of money, goods, services or even credit itself as when one man entrusts to another the use of his good name and reputation "

—S E. Thomas *Elements of Economics* p 398.

[4] "By credit we mean the power which one person has to induce another to put economic goods at his disposal for a time on promise of future payments " —David Kinley. *Money*, p 190

[5] "Credit is the present acquisition of anything of value (money, commodities or services) in exchange for a promise to return an equivalent at some future time"

—W. W. Haines : *Money, Prices and Politics*, p. 231.

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साख एक ऐसी विनिमय क्रिया है जिसमे कोई व्यक्ति किसी दूसरे को इस विश्वास पर मुद्रा या वस्तुयें देता है कि वह भविष्य मे उसे लौटा देगा।

साख तथा साख-पत्र मे अतर (Difference between Credit and Credit Instruments) : साख का स्पष्ट रूप से आशय समझने के लिए साख तथा साख पत्रो मे अतर समझना आवश्यक है। साख उधार देने की प्रक्रिया है जिसमे भुगतान को स्थगित किया जाता है परन्तु साख-पत्र उन साख प्रक्रियाओ अर्थात् भविष्य मे भुगतान करने के समझौते का लिखित रूप है।[1]

साख के आधार (Bases of Credit)

साख के आधारो या साख के आवश्यक तत्वो के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे मतभेद है। कुछ लेखको ने विश्वास को साख का आधार माना है। कुछ सम्पत्ति को साख का आधार मानते हैं। कुछ विद्वान् चरित्र को और कुछ चरित्र, पूंजी तथा क्षमता (Character, Capital and Capacity) या मनुष्य तथा साधन (Man and Means) या विश्वास तथा साधन (Reliability and Resources) को साख का आवश्यक तत्व मानते हैं। साख के निम्नलिखित आवश्यक तत्व विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं —

1. विश्वास *(Confidence) : साख का सबसे महत्वपूर्ण आधार विश्वास* है। यदि ऋणदाता का ऋणी पर विश्वास न हो तो वह कभी भी उसे ऋण नही देगा। यह विश्वास ऋणी की आर्थिक स्थिति तथा उसके व्यवहार पर निर्भर करता है।

2 **चरित्र** (Character) साख मिलने मे चरित्र एक महत्वपूर्ण तत्व ह। यदि किसी व्यक्ति ने भूतकाल मे ऐसा व्यवहार किया है कि उसकी ख्याति नही रही तो उसे उधार नही मिलेगा। यदि कोई व्यक्ति ईमानदार तथा सच्चा है और निश्चित समय पर अपने ऋणो का भुगतान करता है तो उसे आसानी से उधार मिल जायेगा।

3 **क्षमता** (Capacity). किसी व्यक्ति की साख उसकी चुकाने की क्षमता (Capacity to repay) पर निर्भर करती है। ऋणदाता किसी व्यक्ति को तभी उधार देता है जब उसे विश्वास होता है कि वह व्यक्ति उधार ली हुई राशि चुकाने की क्षमता रखता है।

4. पूंजी तथा सम्पत्ति (Capital and Property) : किसी व्यक्ति को उधार देते समय ऋणदाता उसकी पूंजी तथा सम्पत्ति का भी विचार करता है।

[1] Credit is a lending operation involving a postponed payment, credit instruments, on the other hand, are written evidences of antecedent credit operations, that is, of agreements to pay at some future date.

बैंक ऋण देते समय व्यक्ति की साख का अनुमान उसकी पूँजी तथा सम्पत्ति के आधार पर ही लगाते हैं। अधिक पूँजी तथा सम्पत्ति के स्वामी को ऋण मिलने मे किसी प्रकार की कठिनाई नही होती।

5 प्रतिभूतियो तथा आदेयो की तरलता (Securities and Liquidity) • ऋण प्राप्त करने के लिए केवल पूँजी तथा सम्पत्ति की आवश्यकता नही पडती वरन् अतिरिक्त जमानत की आवश्यकता पडती है। अचल सम्पत्ति को शीघ्र बेचा नही जा सकता अत ऐसे ऋणियो की साख कम होती है। प्रतिभूतियो तथा अन्य तरल जमानतो वाले ऋणी की साख अधिक होती है क्योकि इनको शीघ्र ही बाजार मे बेचा जा सकता है।

6 साख की मात्रा तथा समय (Limit and time) किसी व्यक्ति को उधार देते समय ऋण की राशि तथा उसकी अवधि पर भी ध्यान देना होता है। कम राशि तथा अल्पावधि के लिए साख आसानी से प्राप्त हो जाती है परन्तु दीर्घ कालीन तथा अधिक राशि के ऋण कठिनाई से प्राप्त होते हैं।

मोल्टन ने साख को प्रभावित करने वाले तत्वो को दो श्रेणियो मे विभाजित किया है।[1]

---

[1]

Pertaining to man	Pertaining to the Business
1 Record for honest dealing	1 Ratio of quick assets to current liabilities
2 Personal attributes	2 Amount of capital invested and property owned
(i) Gambling or drinking tendencies	3 Earnings of the business
(ii) Political and other "out side" activities	4 Character and turnover of stock
(iii) Style of living, including wife's ambitions	5 Location of business
3 Ability	6 Character of business organisation
(i) Common sense and shrewdness	7 Insurance carried
(ii) Education and training	8 Nature and intensity of the competition
(iii) Age and general experience	
(iv) Success already attained	

—Harold G Moulton *Financial Organisation and Economic System*, p 102

व्यक्ति से सम्बन्धित	व्यापार से सम्बन्धित
1. भूतकाल में ईमानदारी का व्यवहार	1. वर्तमान देनदारियों तथा लेनदारियों का अनुपात
2 व्यक्तिगत गुण:– (i) जुआ तथा शराब पीने की प्रवृत्तियाँ (ii) राजनीतिक तथा अन्य 'बाहरी' व्यवहार (iii) रहन-सहन का ढंग	2. विनियोजित पूँजी तथा सम्पत्ति
	3 व्यापार से आय
	4. स्टाक की प्रकृति तथा बिक्री
	5. व्यापार का स्थान
3. योग्यता:– (i) साधारण बुद्धि तथा होशियारी (ii) शिक्षा तथा प्रशिक्षण (iii) आयु तथा सामान्य अनुभव (iv) प्राप्त सफलता	6. व्यापारिक सगठन का प्रकार
	7. बीमा
	8. प्रतिस्पर्धा की प्रकृति तथा मात्रा

व्यक्ति तथा व्यापार से सम्बन्धित उपरोक्त तत्वों का अध्ययन कर साख की मात्रा का निर्णय किया जा सकता है। साख देते समय ऋणदाता को (1) ऋणी की चुकाने की क्षमता (Ability of the borrower to pay as promised) तथा (2) चुकाने की इच्छा (Willingness and intention to pay) मे विश्वास होना चाहिए। पहली बात का सम्बन्ध सम्पत्ति तथा व्यापारिक योग्यता से है तथा दूसरी बात का मम्बन्ध ईमानदारी तथा व्यापारिक नैतिकता (Honesty and Business Integrity) से है। साख का आधार इस प्रकार समझाया जा सकता है:–

साख——विश्वास——
(1) व्यक्ति का चरित्र (चुकाने की इच्छा)
(2) व्यापार की स्थिति (चुकाने की योग्यता)

साख का वर्गीकरण
(*Classification of Credit*)

साख का कई दृष्टिकोणों से वर्गीकरण किया गया है। कुछ मुख्य वर्गीकरण इस प्रकार है —

(अ) साख लेने वाले व्यक्तियों तथा सस्थाओं के दृष्टिकोण से वर्गीकरण (Classification from the point of view of the institutions and individuals utilising Credit)—साख का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों तथा सस्थाओं की दृष्टि से साख प्रक्रियाओं को कई भागों मे बाटा गया है — (1) सार्वजनिक साख (*Public Credit*) (2) *पूँजी साख या औद्योगिक साख* (*Capital Credit or Industrial Credit*) (3) व्यावसायिक साख (Mercantile Credit) (4) व्यक्तिगत साख (Individual or Personal Credit) तथा (5) बैंकिग साख (Banking Credit)

1 सार्वजनिक साख (Public Credit)—केन्द्रीय, राज्य तथा स्वायत्त सरकारो द्वारा ऋण लेने को सार्वजनिक साख कहते हैं। सार्वजनिक साख का प्रयोग अल्पकाल या दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओ के लिए हो सकता है।

2 पूंजी साख या औद्योगिक साख (Capital Credit or Industrial Credit)—उत्पादक तथा निर्माण कार्य मे लगी सस्थाओ द्वारा जो ऋण लिए जाते है उन्हे पूंजी साख या औद्योगिक साख कहते है। यहाँ तक कि सयुक्त पूंजी कम्पनियो के अशधारी भी एक अर्थ मे कम्पनी के ऋणदाता हैं जो लाभाश के रूप मे प्रतिफल प्राप्त करते हैं। साझेदारी फर्मों द्वारा प्राप्त साख को इस श्रेणी मे सम्मिलित नही किया जाता।

3. व्यावसायिक साख (Mercantile Credit)—थोक तथा फुटकर व्यापारियों, कमीशन एजेन्टो के द्वारा माल को उत्पादक से अन्तिम उपभोक्ता तक पहुचाने के उद्देश्य से लिए गये ऋणो का व्यावसायिक साख कहते है। कभी-कभी इसे वाणिज्यिक साख (Commercial Credit) भी कहा जाता है।

4 व्यक्तिगत साख (Individual or Personal Credit)—व्यक्तियो द्वारा उपभोग्य पदार्थों को खरीदने के लिए या सकटकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋणो को व्यक्तिगत साख या उपभोक्ता साख कहते हैं।

5 बैंकिंग साख (Banking Credit)—बैंकिंग साख से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा बैंक जमाकर्त्ताओ से निक्षेप आकर्षित करती हैं और फिर उस राशि को उधार देती हैं।

(ब) ऋण राशि के प्रयोग की प्रकृति के अनुसार वर्गीकरण (Classification according to the nature of the use to which the funds borrowed are devoted)—साख के प्रयोग के अनुसार साख को तीन भागो मे बाँटा जाता है—(1) विनियोग साख (Investment Credit) (2) वाणिज्यिक साख (Commercial Credit) तथा (3) उपभोग-साख (Consumptive Credit)।

1. विनियोग-साख (Investment Credit)—रेलो, सडको, कारखानो, खानो इत्यादि के विकास के लिए जो पूंजी उधार ली जाती है, विनियोग साख कहलाती है। इस साख का प्रयोग स्थायी पूंजी (Fixed Capital) की आवश्यकता पूर्ति के लिए होता है।

2. वाणिज्यिक साख (Commercial Credit)—वस्तुओ के उत्पादन तथा विक्रय की वित्त-व्यवस्था करने के लिए प्राप्त ऋणो को वाणिज्यिक साख (Commercial Credit) कहते है। वाणिज्यिक साख का प्रयोग कार्यशील पूंजी (Working Capital) जुटाने के लिए होता है। ऋणी इस प्रकार की साख को अल्प काल में ही चुका देता है।

3. उपभोग-साख (Consumptive Credit)—उपभोक्ताओं को अपनी आवश्यकतायें सन्तुष्ट करने के लिए जो ऋण स्वीकृत किए जाते हैं या वस्तुये उधार बेची जाती हैं उनको उपभोग-साख कहते हैं। निश्चित अवधि के बाद भुगतान इसलिए नहीं कर दिया जाता कि ऋण का उपयोग उत्पादक कार्यो के लिए हुआ है बल्कि इसलिए कि ऋणी के आय के अन्य स्रोत हैं। इसीलिए विनियोग या वाणिज्यिक साख की तुलना मे उपभोग-साख मे जोखिम अधिक रहती है।

(स) ऋण की अवधि के अनुसार वर्गीकरण (Classification according to Usance)—अवधि के अनुसार साख को तीन भागो मे बाटा जाता है — (1) मांग ऋण (Demand Loans) (2) अल्पकालीन ऋण (Short Period Loans) (3) मध्यकालीन ऋण (Medium term Loans) तथा (4) दीर्घकालीन ऋण (Long Period Loans)

1 माग ऋण (Demand Loans)—जो ऋण अति अल्पकाल के लिए दिए जाते हैं और जिनका भुगतान ऋणदाता द्वारा माग करने पर तत्काल करना पडता है, माग ऋण कहलाते हैं।

2. अल्पकालीन ऋण (Short Period Loans) – एक वर्ष तक की अवधि के ऋण अल्पकालीन ऋण कहलाते हैं।

3. मध्यकालीन ऋण (Medium term Loans)—जो ऋण एक वर्ष से अधिक और पाच वर्ष से कम अवधि के लिए दिए जाते हैं, मध्यकालीन ऋण कहलाते हैं।

4 दीर्घकालीन ऋण (Long term Loans)—पाच वर्ष से अधिक अवधि के लिए जो ऋण प्राप्त किए जाते हैं दीर्घकालीन ऋण कहलाते है।

(द) धरोहर के अनुसार वर्गीकरण (Classification according to Security)—ऋण देते समय रक्खी गई जमानत या धरोहर के आधार पर साख को निम्नलिखित भागो मे बाटा जाता है :—

1. पूर्ण सुरक्षित ऋण (Fully Secured Loans) – जिन ऋणो के पीछे पर्याप्त मूल्य की जमानत रक्खी जाती है जिससे ऋण न चुकाने पर ऋणदाता जमानत को वेचकर अपने ऋण की रकम अदा कर ले, पूर्ण सुरक्षित ऋण कहलाते हैं। इस प्रकार के ऋण अपरिचित व्यक्तियो या जोखिम वाले कार्यो के लिए दिए जाते हैं।

2. असुरक्षित ऋण (Unsecured Loans)—जो ऋण बिना किसी जमानत के ऋणी की व्यक्तिगत जमानत पर दिए जाते हैं, असुरक्षित ऋण कहलाते हैं। इस प्रकार के ऋण ऐसे व्यक्तियो को दिए जाते हैं जो परिचित होते हैं और जिनकी साख बाजार मे बहुत अच्छी होती है।

3. अंशतः सुरक्षित ऋण (Partly Secured Loans)—जब ऋण की रकम से कम सम्पत्ति जमानत के रूप में रक्खी जाती है तो उसे अंशतः सुरक्षित ऋण कहा जाता है।

क्या साख पूंजी है ?
(Is Credit Capital ?)

साख पूंजी है या नहीं, इस सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो में मतभेद है। मेकलियोड के अनुसार साख पूंजी है। उनका विचार है कि "मुद्रा और साख दोनो ही पूंजी हैं। व्यापारिक साख व्यापारिक पूंजी है।"[1] इस विचार के पीछे यह धारणा है कि मुद्रा की तरह साख भी व्यापारिक क्रियाओं मे माध्यम का कार्य करती है और इसलिए पूंजी की तरह साख भी उत्पत्ति का एक पृथक साधन है। परन्तु मेकलियोड का यह विचार भ्रमपूर्ण है। आलोचकों के अनुसार साख के द्वारा केवल साधनों का हस्तान्तरण होता है। साख उत्पत्ति का एक साधन न होकर श्रम विभाजन की तरह एक विधि (Method) मात्र है जिसकी सहायता से साधनों की उपयोगिता मे वृद्धि की जाती है। साख न तो पूंजी है और न पूंजी के निर्माण मे ही सहायक होती है। इसीलिए रिकार्डो तथा मिल ने मेकलियोड के विचार का खण्डन किया है। रिकार्डो के अनुसार "साख पूंजी का सृजन नहीं करती वरन् यह केवल इतना निश्चित करती है कि पूंजी का उपयोग किसके द्वारा हो।"[2] साख तो पूंजी को ऐसे व्यक्तियों को हस्तान्तरित कर देती है जो पूंजी का सबसे लाभकारी प्रयोग करने मे समर्थ हैं। साख की सहायता से पूंजी सबसे आवश्यक उत्पादन कार्यों में लग जाती है। साख तो केवल साधन है, साध्य नहीं। साख की सहायता से पूंजी प्राप्त की जा सकती है, साख स्वयं पूंजी नहीं है। इस मत की पुष्टि प्रो० जे० एस० मिल ने भी इन शब्दों में की है "केवल मात्र ऋण देने से ही नयी पूंजी का सृजन नहीं हो जाता, इससे तो केवल ऋणदाता के पास की पूंजी का ऋणी को हस्तान्तरण होता है। साख तो केवल दूसरे व्यक्ति की पूंजी का प्रयोग करने का अधिकार है, इससे उत्पत्ति के साधनो मे वृद्धि नहीं की जा सकती बल्कि इनका केवल हस्तान्तरण ही होता है।"[3]

[1] "Money and credit are both capital. Mercantile credit is mercantile capital."—Macleod : *Elements of Banking*, Chap IV

[2] "Credit does not create capital, it only determines by whom capital should be employed"
—Ricardo : *Principles of Political Economy and Taxation.*

[3] "New capital is not credit by the mere fact of lending, only the capital that was in the hands of the lender is now transferred to the hands of the borrower, credit being only the permission to use the capital of another person; the means of production cannot be increased by it but only be transferred."
—J. S. Mill : *Principles of Political Economy.*

रिकार्डो तथा मिल के विचार अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। वास्तव मे साख पूँजी नही है, केवल पूंजी को गतिशीलता प्रदान करने का साधन मात्र है।

साख की उपयोगिता तथा महत्व
(Utility and Importance of Credit)

आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे साख के महत्व के सम्बन्ध मे जितना कहा जाय, थोडा है। साख के बिना आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था की कल्पना ही नही की जा सकती। आज की व्यापारिक तथा औद्योगिक प्रगति का एक महत्वपूर्ण कारण साख रही है। इसीलिए साख को औद्योगिक व्यवस्था का हृदय तथा वाणिज्य और उद्योग का जीवन-रक्त कहा गया है। आधुनिक समाज की साख ने विभिन्न प्रकार से सेवायें की हैं। साख की उपयोगिता तथा महत्व का अनुमान साख के निम्नलिखित कार्यों से लगाया जा सकता है

(1) सकट के समय सरकार को धन प्राप्त (Enables Government to obtain funds to meet emergencies) : युद्ध तथा अन्य सकट कालो मे सरकारें अपनी आवश्यकतायें पूर्ण करने के लिए सार्वजनिक साख तथा ऋण लेती हैं जिससे अल्पकालीन कठिनाइयो पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

(2) पूंजी की उत्पादन शक्ति में वृद्धि (Increase the productivity of Capital) साख पूँजी को गतिशीलता प्रदान कर उसकी उत्पादन शक्ति मे वृद्धि करती है। योग्य व्यापारियो तथा उद्योगपतियो को उद्योग चलाने के लिए आवश्यक पूंजी साख द्वारा ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार साख आवश्यकता से अधिक धन रखने वाले व्यक्तियो को उसे योग्य व्यापारियो तथा उद्योगपतियो को उधार देने की सुविधा प्रदान करती है। इस प्रक्रिया द्वारा पूंजी उसके प्रयोग की इच्छा तथा योग्यता न रखने वाले व्यक्तियो से इच्छुक तथा व्यापारिक जोखिम उठाने की क्षमता वाले व्यक्तियो को हस्तान्तरित हो जाती है। इस प्रकार समाज की निष्क्रिय तथा अनुपयोगी पूंजी उत्पादक कार्यों मे लगती है और देश के आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण योगदान करती है। इससे सीमित राष्ट्रीय साधनो का अधिक प्रभावकारी उपयोग सम्भव हो जाता है।

(3) बहुमूल्य धातुओ की बचत (Economy in the use of precious metals) : साख पत्रों के प्रचलन से बहुमूल्य धातुओ के प्रयाग मे बचत हो जाती है। व्यापारी अधिकतर साख पत्रो द्वारा ही भुगतान करते हैं और इस प्रकार विनिमय-माध्यम के रूप मे साख के प्रयोग के कारण धातु-मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा के प्रयोग मे बचत सम्भव हो जाती है।

(4) देश के आर्थिक विकास मे सहायता (Helps economic development) : साख देश के आर्थिक विकास को गति प्रदान करती है। साख की

सुविधा के ही कारण व्यापारी तथा उद्योगपति नये नये क्षेत्रो मे कार्य करने तथा जाखिम उठाने को प्रोत्साहित होते है। उधार लने की सुविधा के कारण प्रबन्धक व्यापार की परिवर्तित आवश्यकताओ के अनुरूप पूंजी की मात्रा को बढ़ा घटा सकता है। जब किसी निर्माता की वस्तुओ की माग बढ जाय तो वह अतिरिक्त कार्यशील पूंजी उधार लेकर अपने उत्पादन का विस्तार कर सकता है और यदि किन्ही समयो मे वस्तुओ की माग घट जाय तो वह पूंजी की मात्रा को घटा सकता है। सरकार भी पूंजी उधार लेकर सार्वजनिक क्षेत्र म उद्योगो का विस्तार करती है। इस प्रकार साख की सुविधा देश के आर्थिक तथा वाणिज्यिक विकास मे महत्वपूर्ण सहायता पहुँचाती है।

(5) बचत तथा पूंजी सचय को प्रोत्साहन (Encouragement to savings and capital formation) साख की सुविधा ने लोगा म बचत करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है जिससे पूंजी निर्माण मे सहायता मिलती है। बैंक लोगो की छोटी छोटी बचतो को एकत्र कर व्यापार और उद्योग की वित्त व्यवस्था करती है। इस प्रकार व्यापार, उद्योग और वाणिज्य का विकास होता है।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो मे सुविधा (Facility in International Payments) : अन्तर्राष्टीय भुगतानों में राष्ट्रीय मुद्रायें स्वीकार न होने के कारण विदेशी साख पत्रो के माध्यम से ही भुगतान होते है। विनिमय बिलो की व्यवस्था के कारण अन्तर्राष्टीय व्यापारिक भुगतानो मे बडी सुविधा हो गई है और विदेशी व्यापार के विस्तार मे बडी सहायता मिली है।

(7) मुद्रा प्रणाली मे लोच (Elasticity in the Monetary System) साख का सृजन व्यापारिक बैंका का महत्वपूर्ण कार्य है। देश के व्यापार, उद्योग तथा वाणिज्य की आवश्यकताओ के अनुसार बैंक साख का विस्तार तथा सकुचन करती रहती है और देश का केन्द्रीय बैंक साख का नियन्त्रण और नियमन करता है। इस प्रकार मुद्रा प्रणाली मे पर्याप्त लोच आ जाती है जो आदर्श मुद्रा प्रणाली का महत्वपूर्ण गुण है।

(8) कीमत तल की स्थिरता (Stability of the Price Level) किसी भी देश म साख पत्र, चलन माध्यम का बहुत बडा अग होत है अत मुद्रा के नियमन के साथ साथ साख का नियन्त्रण भी केन्द्रीय बैंक का बडा महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। बैको द्वारा निर्मित साख की मात्रा का नियमन कर केन्द्रीय बैंक देश के कीमत तल मे स्थायित्व लाने का प्रयत्न करता है। केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति का यह एक महत्वपूर्ण उद्देश्य होता है।

(9) दूरस्थ स्थानो पर भुगतानो मे सुविधा (Facility of Distant Payments) . चेक, विनिमय बिल इत्यादि साख पत्र भुगतान करने के बडे सुगम

साधन हैं। इनकी सहायता से दूरस्थ स्थानो पर सुविधापूर्वक भुगतान किया जा सकता है। इनके प्रयोग से एक स्थान से दूसरे स्थान को नकदी लाने ले जाने की जोखिम समाप्त हो जाती है और इसमे मितव्ययिता भी होती है।

(10) सुविधाजनक रूप मे ऋण प्राप्त (Enables loans to be taken in a convenient form) : साख पत्रो के रूप मे ऋण बडी सुविधापूर्वक प्राप्त किये जा सकते हैं। यह ऋण व्यापार, वाणिज्य तथा उत्पादन मे सहायक सिद्ध होते हैं। एक साख पत्र "समय तथा स्पेस पर पुल" का काम करता है।[1] साख पत्रो की सहायता से क्रेता कोषो को प्राप्त कर भुगतान कर सकता है तथा उत्पादनकर्ता माँग के अनुमानो के आधार पर वस्तुओ का उत्पादन कर सकता है।

(11) राष्ट्रीय साधनो का अधिकतम उपयोग (Effective Utilisation of National Resources) साख की सहायता से राष्ट्रीय साधनो का अधिकतम उपयोग सम्भव हो जाता है। जिन क्षेत्रो मे विकास की सम्भावनायें होती हैं उन क्षेत्रो मे साहसी साख की सहायता से उत्पादन कार्यों का विस्तार करते है और इस प्रकार देश के उपलब्ध साधनो का अधिकतम लाभकारी उपयोग हो जाता है और देश के विकास को गति मिलती है।

(12) उपभोग मे वृद्धि (Increase in Consumption) साख सुविधाओ के कारण उपभोक्ताओ के जीवन-स्तर मे सुधार हुआ है। उपभोक्ता साख (Consumer Credit) की व्यवस्था से उपभोक्ता दीर्घकालीन उपभोग्य पदार्थ जैसे कार, स्कूटर, रिफरेजरेटर, रेडियो इत्यादि खरीद सकते हैं और अपने जीवन स्तर को ऊचा कर सकते है। अमेरीका इत्यादि देशो मे उपभोक्ता साख के द्वारा उपभोग स्तर म आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है।

(13) रोजगार के अवसरो मे वृद्धि (Increase in Employment Opportunities) : किसी भी देश मे पूर्ण रोजगार (Full Employment) के उद्देश्य की प्राप्ति मे साख पर्याप्त सहायता प्रदान करती है। मन्दीकाल मे जब बेरोजगारो बढ जाती है तो साख-विस्तार द्वारा कीमत तल मे वृद्धि कर उत्पादन को प्रोत्साहित किया जा सकता है और रोजगार के अवसर सुलभ किये जा सकते है। केन्द्रीय बैंक अपनी साख नियन्त्रण नीति का निर्माण करते समय इस दृष्टिकोण से भी विचार करता है।

साख व्यवस्था का विकास तीन बातो के उदय के कारण सम्भव हो सका है. (1) व्यापारिक नैतिकता की भावना (A sense of business morality), (2) भावी-भुगतान का सापेक्षिक रूप से स्थायी मौद्रिक मान (A relatively stable monetary standard for deferred payments) तथा (3) व्यक्तियो

[1] A credit instrument is a "bridge over time and space."

के अधिकारों को सुरक्षित तथा अनुबन्धों की शीघ्र पूर्ति को लागू करने वाली विधि-व्यवस्था (A legal system designed to safeguard the rights of individuals and to enforce a prompt fulfilment of contracts)। आधुनिक औद्योगिक समाज के विकास म साख व्यवस्था के इन तीनों सहायकों ने महत्वपूर्ण योगदान किया है। इन सभी का विकास परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बन्धित रहा है। इनमे से प्रत्येक ने साख व्यवस्था के विकास मे सहायता की है और प्रत्येक साख व्यवस्था के विकसित होने पर स्वय विकसित हुआ है।

साख का महत्व इतना बढ गया है कि कम या अधिक प्रत्येक व्यापार आज उधार लिए गए कोषों पर निर्भर है। इसीलिए मोल्टन (Moulton) ने कहा है कि "Borrowing has become on indispensable handmaiden of business" साख की महत्ता का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा Credit is in truth a pervasive, fundamental institution—one that is indispensible to the conduct of a capitalistic industrial system".

साख की हानियाँ
(Dangers of Credit)

साख पत्र तथा साख व्यवस्था समाज के लिए बडे लाभदायक सिद्ध हुए हैं परन्तु कुछ परिस्थितियों मे वे समाज के लिए बडे हानिकारक बन जाते है। यही कारण है कि उसे एक अच्छा सेवक किन्तु बुरा स्वामी कहा जाता है। (Credit is a good servant but a bad master) साख की मुख्य हानियाँ निम्नलिखित हैं —

(1) साख के अत्याधिक प्रसार का भय (Danger of Over-issue) देश के व्यापार, उद्योग तथा वाणिज्य की आवश्यकताओं की तुलना मे जब साख का अनियन्त्रित विस्तार हो जाता है तो यह स्थिति स्फीति के दुष्परिणामों का जन्म देती है। देश म वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ जाती है और कृत्रिम सम्पन्नता के बावजूद अर्थ व्यवस्था क्षतिग्रस्त हो जाती है। यह स्थिति अर्थ-व्यवस्था के लिए बडी भयावह होती है और अन्त म मौद्रिक ढाचा अस्त-व्यस्त हो जाता है।

(2) अपव्यय की प्रवृत्ति को बढावा (Easy credit leads to extravagance) • जब साख सुविधा सरलतापूर्वक उपलब्ध हो जाती है तो उसका अपव्यय होने लगता है। व्यापारिक तथा औद्योगिक प्रतिष्ठान अनावश्यक क्षेत्रों मे व्यय करने लगते हैं और उपभोक्ता फिजूलखर्ची का लोभ सवरण नही कर पाते। इस प्रकार सीमित राष्ट्रीय साधनो का अवाछनीय प्रयोग होने लगता है जो किसी दृष्टि से उपयुक्त नही कहा जा सकता।

(3) अयोग्य तथा अकुशल व्यापारियों का पोषण (Protection to incapable and inefficient businessmen) : साख की सहायता से अकुशल तथा अवांछनीय व्यापारियो का पोषण होता है। सुगमतापूर्वक ऋण आदि प्राप्त कर ये व्यापारी अपनी दुर्बलताओं को छिपाने मे सफल हो जाते है परन्तु संकट काल मे ये स्वय ही नष्ट नही होते वरन् सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को हानि पहुँचाते है।

(4) आर्थिक असमानता मे वृद्धि (Increase in Economic Inequalities) : साख की सहायता से पूँजी का निर्माण होता है और समाज का एक विशिष्ट वर्ग धीरे-धीरे पूँजी का केन्द्रीयकरण कर शक्तिशाली बन जाता है। साख की सहायता से ये लोग अपनी आय को बहुत अधिक बढा लेते है और समाज मे आर्थिक शक्ति कुछ इने गिने व्यक्तियो मे केन्द्रित हो जाती है।

(5) एकाधिकारी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन (Encourages monopolistic tendencies) : साख व्यवस्था एकाधिकारी प्रवृत्तियो को प्रोत्साहित करती है। साख का आधार विश्वास तथा चुकाने की क्षमता होती है और इस कारण साधन सम्पन्न तथा आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली व्यक्ति तथा सस्थाये साख प्राप्त कर लेती हैं। विभिन्न क्षेत्रो मे बडी-बडी कम्पनियाँ अपने साधनो का एकीकरण कर एकाधिकार या ट्रस्ट बना लेती है और मितव्ययितापूर्वक उत्पादन तथा वितरण कार्य करती हैं। इनके समक्ष छोटी इकाइया प्रतिस्पर्धा मे ठहर नही पाती। इन एकाधिकारियो द्वारा उपभोक्ता का शोषण होता है और समाज को और भी हानिया होती हैं।

(6) अत्याधिक उत्पादन का भय (Danger of over-production) : सस्ती साख सुविधाये उपलब्ध होने के कारण उत्पादन के आवश्यकता से अधिक बढ जाने की आशका रहती है। अत्याधिक उत्पादन के फलस्वरूप मिलो तथा व्यापारियो के पास माल भरा रहता है और ग्राहको द्वारा माग नही होती। परिणामस्वरूप कीमतें गिरने लगती है, बेकारी फैलती है और उत्पादनकर्त्ताओ को हानि उठानी पडती है।

(7) सट्टे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन (Encourages speculation) : शेयर तथा वस्तु बाजारो मे सट्टे की प्रवृत्ति को साख व्यवस्था ने प्रोत्साहित किया है। सटोरिये बैंको तथा अन्य साख सस्थाओ से ऋण प्राप्त कर सट्टा क्रियाओ को करते है। इस दिशा मे अवाछनीय क्रियाये अर्थ व्यवस्था मे अस्थिरता उत्पन्न करती है।

(8) व्यापार चक्रों को जन्म (Causes of Trade Cycles) हाट्रे (Hawtrey) के अनुसार साख का विस्तार तथा सकुचन व्यापार चक्रो (Trade Cycles) को जन्म देता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनियोजित तथा अनियन्त्रित साख व्यवस्था देश के विकास के लिए वरदान न होकर अभिशाप बन जाती है। मुद्रा के सम्बन्ध मे राबर्टसन (Robertson) का कथन साख पर भी ठीक उतरता है· "Money, which is a source of so many blessings to mankind, becomes also, unless we control it, a source of peril and confusion." इस कारण मुद्रा तथा साख की मात्रा पर समुचित नियन्त्रण तथा नियमन बहुत आवश्यक है। इसीलिए साख के निर्माण तथा वितरण पर केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण रहता है और अर्थ-व्यवस्था के हित म वह आवश्यक कार्यवाही करता है।

साख-पत्र
(Credit Instruments)

साख-पत्रो के प्रचलन का इतिहास बडा पुराना ह। इस बात के प्रमाण मिले है कि प्राचीन काल मे हिन्दू, ग्रीक तथा रोमन लोग साख पत्रो का प्रयोग करते थे। परन्तु वाणिज्य मे साख पत्रो को इतना महत्वपूर्ण स्थान आधुनिक समय मे ही प्राप्त हुआ है। प्रमुख साख-पत्रो का वर्णन नीचे किया है :

1 चेक (Cheque)
2 विनिमय बिल (Bill of Exchange)
3 प्रतिज्ञा-पत्र या रुक्का (Promissory Note)
4. हुँडी (Hundi)
5 साख-प्रमाण-पत्र (Letters of Credit)
6 यात्री चेक (Travellers Cheque)
7. कोषागार विपत्र (Treasury Bills)
8 बुक-क्रेडिट (Book Credit)

ये सभी साख-पत्र किसी व्यक्ति, सस्था या सरकार की ओर से लिखित वायदे होते है कि वह उसमे लिखित राशि को अमुक समय, अमुक व्यक्ति को दे देगा और यह सब विनिमय के माध्यम का कार्य करते हैं।[1] परन्तु साख पत्र तथा मुद्रा म दो अन्तर पाये जाते हैं : (अ) मुद्रा की तरह साख-पत्र कानूनी या विधि-ग्राह्य नही होती। साख पत्रो को स्वीकार करने को किसी व्यक्ति को बाध्य नही किया जा सकता

---

[1] (a) Credit instruments are written documents containing the various terms and conditions on which debts have been negotiated

(b) "Credit instruments are the written evidences of antecedent credit operations that serve as media of exchange"
—Harold G Moulton *Financial Organisation and the Economic System*, p 106.

जबकि मुद्रा को स्वीकार करने के लिये बाध्य किया जा सकता है। (ब) साख पत्र मुद्रा की तरह सर्वमान्य भी नही होते क्योकि इनका स्वीकार करना विश्वास पर निर्भर करता है। पारस्परिक जानकारी रखने वाले व्यक्तियो मे ही साख-पत्रो का प्रचलन होता है।

1 चेक या धनादेश
(Cheque)

चेक सबसे अधिक प्रचलित साख पत्र है। चेक को इन शब्दो मे परिभाषित किया गया है, "चेक एक लिखित आज्ञा पत्र है जो बैंक मे रुपया जमा करने वाला अपने बैंक के नाम जारी करता है और जिसमे उस बैंक को आज्ञा रहती है कि चेक मे लिखित राशि को, उसमे लिखित व्यक्ति को या उसके आदेश प्राप्त व्यक्ति को या धारक को मागने पर प्रदान करें।"[1] इस परिभाषा के अनुसार चेक के तीन पक्ष होते हैं: प्रथम चेक को लिखने वाला (Drawer), द्वितीय, जिस बैंक पर वह लिखा गया हो (Drawee), तृतीय, रकम को पाने वाला (Payee)। जब चेक लिखने वाला स्वय रकम पाने वाला होता है तो वही पाने वाला (Payee) हो जाता है।

चेक की निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं –(1) चेक एक बिना शर्त का लिखित आदेश होता है। (2) चेक सदा किसी बैंक पर लिखा जाता है। (3) चेक पर लिखने वाले (Drawer) के हस्ताक्षर होते हैं। (4) चेक केवल कुछ रकम का भुगतान करने का आज्ञा पत्र होता है। (5) भुगतान माग पर (On Demand) होना चाहिए तथा (6) इसका भुगतान लिखित व्यक्ति या उसके द्वारा आदेशित व्यक्ति या धारक को होना चाहिए।

चेक दो प्रकार के होते हैं : (1) बियरर या वाहक चेक (Bearer Cheque) जिसका भुगतान वाहक या चेक प्रस्तुत करने वाले को कर दिया जाता है। वाहक चेक पूर्ण रूप से हस्तान्तरणीय होते हैं और कोई भी व्यक्ति उसका भुगतान ले सकता है। इसीलिए वाहक चेक सुरक्षित नही होते। (2) आदेश चेक Order Cheque) जिसमे राशि प्राप्त करने वाले (Payee) के नाम का उल्लेख होता है और उसको या उसके द्वारा आदेशित व्यक्ति के पक्ष मे वैधानिक हस्तान्तरण (Endorsement) किया जाना आवश्यक है।

---

[1] (a) A cheque is an instrument in writing, containing an unconditional order, signed by the maker, drawn upon a specified banker, directing the bank to pay, on demand, a *certain sum of money, only to, or to the order of, a certain person or to the bearer of the instrument*

(b) A cheque is a bill of exchange drawn on a banker payable on demand.

चेकों का रेखाकन (Crossing) भी किया जा सकता है। जब चेक के बायीं ओर के ऊपरी भाग पर दो तिरछी समानान्तर रेखायें खींचकर अंग्रेजी मे '& Co.' शब्द लिख दिए जाते हैं तो इसे रेखाकित चेक कहते हैं। रेखाकित चेक का भुगतान बैंक की खिडकी पर नही होता बल्कि रकम पाने वाले के खाते मे ही जमा हो सकती है। रेखाकन भी दो प्रकार का होता है: साधारण रेखाकन (General Crossing) तथा विशिष्ट रेखाकन (Special Cross ng)। साधारण रेखाकन वह रेखाकन होता है जब चेक के बायीं ओर ऊपरी भाग पर '& Co' शब्दो सहित या उनके बिना दो तिरछी समानान्तर रेखायें खीच दी जाती हैं और उनके बीच किसी विशिष्ट बैंक का नाम नही होता है। विशिष्ट रेखाकन के अतर्गत भुगतान किसी विशिष्ट बैंक को ही हो सकता है जिसका नाम उन दो समानान्तर रखाओ के बीच लिख दिया जाता है।

2. विनिमय बिल (Bill of Exchange)

विनिमय बिल भी एक प्रचलित साख पत्र है। भारतीय विनिमय साध्य विपत्र अधिनियम (Indian Negotiable Instrument Act) के अनुसार "विनिमय बिल एक ऐसा प्रपत्र होता है जिसम लिखने वाले के हस्ताक्षर होते हैं और उसकी ओर से किसी व्यक्ति को शर्त रहित आदेश होता है कि वह एक निश्चित राशि किसी व्यक्ति को या उसके आदेशित व्यक्ति को या धारक को भुगतान कर दें।"[1] बिल के भी तीन पक्ष होते हैं: (1) बिल लिखने वाला या ऋणदाता (Drawer) (2) जिस पर बिल लिखा जाता है या ऋणी (Drawee) तथा (3) राशि पाने वाला (Payee)।

विनिमय बिल की निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं: (1) यह लिखित होना चाहिए। (2) भुगतान करने का शर्त रहित आदेश होना चाहिए। (3) लेखक के हस्ताक्षर होने चाहिए। (4) किसी निश्चित व्यक्ति को भुगतान करने का निर्देश होना चाहिए। (5) भुगतान कुछ निश्चित रकम का होना चाहिए।

विनिमय बिल दो प्रकार के होते हैं प्रथम, दर्शनी बिल (Sight or Demand Bill of Exchange) वह होता है जिसका भुगतान माग पर करना होता है। द्वितीय, मुद्दती बिल (Time or Usance Bill of Exchange) वह होता है जिसका भुगतान लिखित अवधि के पश्चात् करना होता है। विनिमय बिल देशी (Inland) तथा विदेशी (Foreign) भी हो सकते हैं। जब बिल के दोनो

[1] "A bill of exchange is an instrument in writing containing an unconditional order, signed by the maker, directing a certain person to pay a certain sum of money only to, or to the order of a certain person or to the bearer of the instrument"

पक्ष एक ही देश के है तो उसे देशी बिल (Inland Bill) कहते है और जब दो मे से एक पक्ष विदेशी हो तो उसे विदेशी बिल (Foreign Bill) कहते हैं।

3 प्रतिज्ञा-पत्र या रुक्का (Promissory Note)

भारतीय विनिमय साध्य विपत्र अधिनियम (Indian Negotiable Instruments Act) के अनुसार "प्रतिज्ञा-पत्र एक लिखित प्रपत्र है जिसमे उसका लेखक उसमे लिखी हुई राशि किसी निश्चित व्यक्ति या उसके आदेशित व्यक्ति या वाहक को देने की शर्त रहित प्रतिज्ञा करता है।"[1] प्रतिज्ञा-पत्र के केवल दो पक्ष होने है: (1) लिखने वाला या ऋणी (Promisor) तथा (2) रुपया पाने वाला या ऋण-दाता (Payee)।

प्रतिज्ञा पत्र की निम्नलिखित विशेषताए होती है—(1) यह लिखित होना चाहिए। इसमे बिना शर्त भुगतान करने की प्रतिज्ञा होनी चाहिए। (2) भुगतान की प्रतिज्ञा धन के सम्बन्ध मे होनी चाहिए अन्य किसी वस्तु के सम्बन्ध मे नही। (4) लेखक के हस्ताक्षर होने चाहिए। (5) भुगतान निश्चित व्यक्ति या उसके द्वारा आदेशित व्यक्ति या धारक को होना चाहिए।

प्रतिज्ञा पत्र मे जब प्रतिज्ञा माग पर भुगतान करने की होती है तो उसे माग प्रतिज्ञा-पत्र (Demand Promissory Note) कहते हैं और जब निश्चित अवधि व्यतीत होने के बाद भुगतान की प्रतिज्ञा होती है तो उसे मुद्दती प्रतिज्ञा-पत्र (Time Promissory Note) कहते हैं।

4 हुंडी (Hundi)

भारत मे प्राचीन काल मे प्रचलित भारतीय विनिमय बिल को हुडी कहा जाता है। हुडी क्षेत्रीय भाषाओ मे लिखी जाती है। "हुडी एक बिना शर्त वाला लिखित आदेश है जो एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति पर लिखा जाता है जिसमे किसी निश्चित व्यक्ति को या उसके द्वारा आदेशित व्यक्ति को मागने पर या निश्चित अवधि व्यतीत होने पर एक निश्चित रकम का भुगतान करने का आदेश होता है।"[2]

---

[1] "A Promissory note is an instrument in writing (*not being bank note or a currency note*), *containing an unconditional under*-taking, signed by the maker, to pay a certain sum of money only to, or to the order of, a certain person or to the bearer of the instrument"

[2] "A hundi is a written order, usually unconditional, drawn by one person on another for payment, on demand or after a specified time, of a certain sum of money, to a person named therein."

हुडिया कई प्रकार की होती हैं परन्तु दो प्रकार की—दर्शनी हुडी तथा मुद्दती हुडी अधिक प्रचलित हैं। दर्शनी हुडी का भुगतान माग पर किया जाता है और मुद्दती हुडी का भुगतान निश्चित अवधि व्यतीत होने के बाद।

5 साख प्रमाण-पत्र (Letters of Credit)

साख प्रमाण पत्र एक ऐसा प्रमाण पत्र है जो किसी व्यक्ति, सस्था या बैंक द्वारा लिखा जाता है और उसे किसी व्यक्ति, व्यापारी, सस्था या बैंक से यह प्रार्थना की जाती है कि अमुक व्यक्ति को एक निश्चित अधिकतम सीमा के भीतर साख प्रदान करें। इस पत्र मे उस तिथि का भी उल्लेख कर दिया जाता है जिस तक साख प्रदान की जाय। साख-प्रमाण पत्र दो प्रकार के होते हैं—साधारण साख प्रमाण पत्र (Ordinary Letters of Credit) तथा गश्ती साख-प्रमाण पत्र (Circular Letters of Credit)। साधारण साख-प्रमाण पत्र वह है जो व्यक्ति, फर्म या बैंक को लिखा जाता है जबकि गश्ती साख-प्रमाण पत्र बैंक की अनेक शाखाओं तथा सम्बन्धित बैंको को लिखा जाता है और उसकी सहायता से कही से भी साख प्राप्त की जा सकती है।

6 यात्री चेक (Traveller's Cheque)

यह चेक बैंको द्वारा यात्रियो की सुविधा के लिए जारी किए जाते हैं जिससे उन्हे नकदी ले जाने की जोखिम न उठाना पडे। बैंक की किसी शाखा को नकद भुगतान के बदले यह चेक प्राप्त किए जा सकते हैं और बैंक की किसी भी शाखा मे उन्हे भुनाया जा सकता है।

7 कोषागार विपत्र (Treasury Bills)

सरकार अपनी अल्पकालीन धन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कोषागार विपत्र जारी करती है। ये प्राय 3 या 6 महीने की अवधि के होते हैं। इन विपत्रो को बेचने के लिए सरकार टेन्डर (Tender) आमन्त्रित करती है और जिसमे न्यूनतम ब्याज या बट्टे की दर होती है उसे स्वीकार कर लिया जाता है। स्वीकृत टेन्डर वाला व्यक्ति बट्टा काट कर विपत्रों की राशि का भुगतान कर देता है और निश्चित अवधि के बाद सरकार सम मूल्य (At Par) पर विपत्रो का भुगतान कर देती है। कोषागार विपत्र बडे तरल विनियोग है और बैंक अपने कोषो का अधिकतर भाग इनमे विनियोजित करते हैं।

8. बुक क्रेडिट (Book-Credit)

जब कोई दुकानदार किसी को उधार माल बेचता है और उसे अपने खाते मे उधार रूप मे दिखलाता है तो इसे बुक-क्रेडिट कहते हैं। व्यापारी के खातो मे दिखाया गया ऐसा ऋण अदालतो द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है चाहे ऋणी के उस पर हस्ताक्षर न हो।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

1 साख शब्द का अर्थ समझाइये और आधुनिक व्यापार मे इसके महत्व पर प्रकाश डालिए।

(आगरा बी० काम, 1958)

[सकेत—प्रथम भाग मे साख की मुख्य परिभाषायें देते हुए साख का अर्थ स्पष्ट कीजिए। द्वितीय भाग मे आधुनिक व्यापार के लिए साख का महत्व तथा उपयोगिता बताइये।]

2 साख पत्रो क विभिन्न भेदो की व्याख्या कीजिए।

(पटना बी० काम०, 1964)

[सकेत—विभिन्न प्रकार के साख-पत्रो का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए।]

12

बैंक-विकास, परिभाषा तथा कार्य
(Banks-Evolution, Definition and Functions)

"Banking consists of receiving other people's money and lending it out again to the people who deposited it The banker really borrows the depositor's money, usually for nothing, and then lends the same money back again on interest."

बैंको का उद्गम (Origin of Banks) बैंको के विकास का इतिहास बहुत पुराना है। इस बात के प्रमाण मिले है कि ईसा से लगभग 2000 वर्ष पूर्व बेबीलोनिया और यूनान के मदिरो मे बैंकिंग के काय हुआ करते थे। भारत मे वैदिक काल मे भी बैंक थे। कुछ समय पश्चात् धार्मिक तथा राजनैतिक व्यवस्था के पतन के साथ बैंक प्रणाली का भी पतन हो गया। पुन सैंकडो वर्षो के पश्चात् व्यापारिक उन्नति के साथ साथ साख सस्थाओ का विकास हुआ।

'बैंक' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दो विचारधारायें हैं। एक विचारधारा के अनुसार 'बैंक' शब्द की उत्पत्ति इटेलियन भाषा के 'बैंको' (Banco) शब्द से हुई जिसका अर्थ होता है बेन्च। उस समय यहूदी अपना लेन देन कार्य बेन्चो पर बैठकर किया करते थे। जिस व्यक्ति का व्यापार समाप्त हो जाता था उसका बेन्च तोड दिया जाता था और उसको दीवालिया (Bankrupt) घोषित कर दिया जाता था। यदि यह विचार सही है तो बेन्च पर बैठकर अपना लेनदेन का कार्य करने वाले यहूदियो को इटेलियन भाषा मे 'बेन्चेरी' (Bencheri) कहना चाहिए था, परन्तु इन लोगो को बेन्चेरी नही कहा गया अत इस विचारधारा मे कही गल्ती है। मैक्लियोड ने इस विचारधारा को भ्रान्त बताया है।

'बैंक' की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे दूसरी विचारधारा के अनुसार बैंक' शब्द का आविर्भाव जर्मन शब्द Banck से हुआ। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले इटली मे हुआ। 12वी शताब्दी मे इटली मे छोटी छोटी रियासतें थी। वेनिस नामक रियासत म 1171 मे युद्ध के कारण वहाँ के राजा को धन की आवश्यकता पडी अत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति का 1 प्रतिशत ऋण के रूप मे देने के लिए बाध्य किया गया। उस समय इटली के अधिकाश भाग पर जर्मनो का शासन था। जर्मनो न

इस कोष को Banck नाम से पुकारा । इटेलियन भाषा मे किसी सयुक्त कोष (Common fund) को 'Monte' या 'Banco' कहते हैं। फ्रेन्च भाषा मे इसे 'Banke' कहा गया और फिर अग्रेजो ने इसको Bank कहा ।

बैंक की परिभाषा (Definition of a Bank)

वैंको के कार्य क्षेत्र तथा प्रणाली मे उत्तरोत्तर परिवर्तन होते आये हैं और उनके साथ साथ बैंक की परिभाषा बदलती रही है। विभिन्न विद्वानो ने बैंक की भिन्न-भिन्न परिभाषायें दी हैं। बैंक की सर्वमान्य परिभाषा देना बडा कठिन है क्योंकि देश और काल के अनुसार वैंक के कार्य बदला करते है। एक परिभाषा जो एक देश तथा काल के लिए उपयुक्त हो सकती है दूसरे देश अथवा काल के बैंको के लिए उचित न प्रतीत हो। एक कठिनाई यह भी है कि आजकल बैंको के कार्यों मे बडा विशिष्टीकरण हो गया है और विभिन्न प्रकार के वैंक अपने अपने क्षेत्र मे दक्षता प्राप्त कर कार्य कर रहे हैं। इसलिए किसी एक परिभाषा मे सभी प्रकार के वैको के कार्यों का उल्लेख करना एक दुरुह कार्य है। बैंक की सही परिभाषा करने के लिए हम उनके कार्यो मे ऐसी समानता खोजनी चाहिये जिनके आधार पर निर्मित परिभाषा इतनी व्यापक हो जो सभी प्रकार क बैंको पर लागू हो, साथ ही वह इतनी परिमित भी हो कि उसके अन्तर्गत केवल ऐसी सस्थाओ का समावेश हो सके जो वास्तव म बैंक कही जा सकें। इसी दृष्टिकोण से यहा हम कुछ प्रतिनिधि परिभाषाओ का विश्लेषण करगे जिससे बैंक का अर्थ तथा कार्य स्पष्ट हो सके।

दि शोरटर आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी (The Shorter Oxford English Dictionary) मे बैंक की परिभाषा इस प्रकार है—"वैंक एक ऐसी सस्था है जो अपने ग्राहको या उनकी ओर से प्राप्त धन को अपने सरक्षण मे रखती है। इसका मुख्य कार्य उनके द्वारा बैंक पर जारी किए गये विपत्रो का भुगतान करना होता है। उसके लाभ उस धन के प्रयोग द्वारा उत्पन्न होते है जिसका वे उपयोग नही करत हैं।"[1] इस परिभाषा के अनुसार वैंक वह सस्था है जो जमा पर धन प्राप्त करती है और माग पर उसका भुगतान करती है। यह परिभाषा अपूर्ण है क्योंकि आधुनिक वैंक के अन्य कार्यो पर इसमे प्रकाश नही डाला गया है।

गिलबर्ट के शब्दो मे "बैंक पूँजी अथवा अधिक उपयुक्त शब्दा म मुद्रा का व्यवसायी है। वह ऋणी तथा ऋणदाता के बीच का मध्यस्थ है। वह एक पक्ष से उधार लेता है और दूसरे पक्ष को उधार देता है और उधार देने तथा लेने की शर्तो

[1] 'An establishment for the custody of money received from or on behalf of its customers Its essential duty is to pay their drafts on it; its profits arise from the use of the money left unemployed by them." —*The Shorter Oxford English Dictionary*

मे अन्तर ही उसके लाभ का स्रोत है।"[1] यह परिभाषा भी बैंक के दो कार्यों-उधार लेना और उधार देना-पर ही प्रकाश डालती है परन्तु आधुनिक बैंक के कार्य बहुत विस्तृत है। आज बैंक केवल मध्यस्थ ही नही है बल्कि वह साख का सृजनकर्त्ता भी है। अत यह परिभाषा भी सकीर्ण है।

डा० एच० एल० हार्ट के अनुसार "बैंकर वह है जो अपने साधारण व्यवसाय म धन प्राप्त करता है और जिससे वह उन व्यक्तियो के चेको का भुगतान करता है जिनसे या जिनके खाते मे वह धन प्राप्त करता है।"[2] इसी प्रकार वाल्टर लीफ के शब्दो मे "बैंक वह सस्था या व्यक्ति है जो हर समय निक्षेप के रूप मे द्रव्य प्राप्त करने के लिए तैयार हो और जिसको वह निक्षेप कर्त्ताओ को उनके चेको के माध्यम से वापिस करे।[3] किनले ने भी ऐसे ही बैंक की परिभाषा दी है—'बैंक एक ऐसी सस्था है जो आवश्यकतानुसार तथा सुरक्षा के साथ लोगो को ऋण देती हैं और जिसके पास व्यक्ति अपना फालतू धन जमा कराते है।"[4] हार्ट, वाल्टरलीफ तथा किनले बैंक के दो कार्यो—ऋण देना तथा जमायें प्राप्त करना—पर ही बल देते हैं। इसीलिए यह सभी परिभाषायें सकीर्ण है।

फिन्डले शिराज के शब्दो म "बैंकर वह व्यक्ति, फर्म या कम्पनी है जिसके पास व्यावसायिक स्थान है जहा जमा तथा मुद्रा या चलन के सग्रहण के द्वारा साख का कार्य किया जाता है जिसको वह ड्राफ्ट, चेक या आदेश के द्वारा भुगतान करता है या जहा स्टाक, बान्डस्, धातुओ, विनिमय-पत्रो पर ऋण दिया जाता हो या बिलो

---

[1] "A banker is a dealer in capital or more properly a dealer in money He is a intermediary party between the borrower and the lender He borrows from one party and lends to another and the difference between the terms at which he borrows and those at which he lends forms the source of his profits."—Gilbert.

[2] 'A banker is one who in the ordinary course of his business, receives money which he pays by honouring cheques of persons from whom or on whose account he receives it."—Dr. H. L Hart.

[3] "A bank is that institution or individual who is always ready to receive money on deposits to be returned against the cheques of their depositors "—Walter Leaf.

[4] "Bank is an establishment which makes to individuals such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use."—Kinley.

तथा प्रतिज्ञा पत्रों को बट्टा करने तथा विक्रय करने के लिए प्राप्त किया जाता हो।"[1] यद्यपि शिराज की परिभाषा काफी विस्तृत है क्योंकि इसमें बैंक के उधार लेने तथा उधार देने के कार्य के साथ साख के कार्य भी सम्मिलित किए गये हैं परन्तु फिर भी यह एक पूर्ण तथा सर्व सम्मत परिभाषा नहीं है।

इगलैण्ड के बैंकिंग कानून के विद्वान सर जान पेजेट (Sir John Paget) ने बैंक की कार्यानुसार परिभाषा दी है। उनके अनुसार "कोई भी व्यक्ति या सस्था (सम्मिलित या व्यक्तिगत रूप मे) बैंकर नहीं कहला सकता जब तक कि वह—

(i) द्रव्य को जमा के रूप मे नही लेता है,
(ii) चालू खाते मे रुपया जमा नहीं करता है,
(iii) चेकों का निर्गमन तथा भुगतान नही करता ह,
(iv) चेकों को, चाहे वे अरेखांकित हो या रेखांकित अपने ग्राहकों के लिए एकत्रित नहीं करता है।

यह कहा जा सकता है कि चाहे ये सब उपरोक्त कार्य एक व्यक्ति या बहुत से व्यक्तियों द्वारा सयुक्त रूप मे किये जाते हैं, परन्तु कोई भी बैंकर या बैंक नहीं कहला सकता जब तक कि वह निम्न शर्तें पूरी न करता हो—

(i) बैंकिंग उसका मान्य या ज्ञात व्यवसाय हो,
(ii) वह अपने आपको बैंकर या बैंक मानता हो और जनता भी ऐसा ही समझती हो,
(iii) उसका विचार भी ऐसा कार्य करके लाभ कमाना हो, तथा
(iv) यह व्यवसाय उसका गौण व्यवसाय न हो।"[2]

---

[1] "A banker is a person, firm, or company having place of business where credits are opened by the deposit or collection of money or curreney, subject to be paid or remitted upon draft, cheques, order or where money is advanced or loaned on stocks bonds, bullion, and B/E and P/N are received for discount or sale."—Findley Shirras.

[2] "No one or no body, corporate and otherwise, can be a banker who does not—(i) take deposit accounts, (ii) take current accounts, (iii) issue and pay cheques drawn upon himself, (iv) collect cheques, crossed and uncrossed, for his customers and it might be said that even if all the above functions are performed by a person or body corporate, he or it may not be a banker or bank unless he or it fulfills the following conditions—(i) Banking is his or its known occupation, (ii) he or it must profess to be a banker or bank and the public take him or it as such, (iii) has an intention of earning by doing so, and (iv) this business is not subsidiary."—John Paget

पैजेट की परिभाषा व्यापक अवश्य है परन्तु ऋण देने के मुख्य कार्य को भुला दिया गया है।

भारतीय बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 की धारा 5 (स) में बैंकिंग कम्पनी उसे कहा गया है जो बैंकिंग का व्यवसाय करे।[1] 'बैंकिंग' शब्द की परिभाषा धारा 5 (ब) में दी गई है—"बैंकिंग से तात्पर्य ऋण देने अथवा विनियोजन के लिए जनता से धन जमा करना है जो माग पर देय होगा तथा चेक, ड्राफ्ट, आज्ञा अथवा अन्य प्रकार से निकाला जा सकेगा।"[2] यह परिभाषा भी बैंक के सभी कार्यों का समावेश नही करती। इसमे भी वही दोष है जो गिलबर्ट तथा पेजेट की परिभाषाओं मे है।

बैंक की उपर्युक्त सभी परिभाषाओं की व्याख्या से स्पष्ट है कि यह परिभाषाये आधुनिक बैंको के वर्तमान विकसित कार्य क्षेत्र का स्पष्टीकरण करने मे असमर्थ हैं। वास्तव मे बैंक वह सस्था है जो मुद्रा और साख का व्यवसाय करती है तथा उससे सम्बन्धित सेवायें प्रदान करती है। हारेस व्हाइट (Horace White) की परिभाषा कि 'बैंक साख का सृजन कर्त्ता और विनिमय को सुविधापूर्ण बनाने का यन्त्र है"[3] अधिक उपयुक्त लगती है।

आधुनिक बैंको के कार्य तथा सेवायें
(Functions and Services of Modern Banks)

प्रो० सेयर्स के अनुसार 'साधारण बैंकिंग व्यापार मे नकदी को बैंक जमाओ तथा बैंक जमाओ को नकदी मे बदला जाता है, बैंक जमाओ को एक व्यक्ति या निगम से दूसरे को हस्तान्तरित किया जाता है; विनिमय-बिलो, सरकारी बान्डो, व्यापारियो द्वारा अदायगी के रक्षित प्रतिज्ञाओ आदि के बदले बैंक जमाये दी जाती है।'[4] आधुनिक बैंको के कार्य बहुत विस्तृत तथा महत्वपूर्ण है। आधुनिक बैंको के कार्यों तथा सेवाओ को निम्न चार्ट से जाना जा सकता है —

---

[1] "Banking company means any company which transacts the business of banking

[2] "The accepting for the purpose of lending or investment of deposits of money from public repayable on demand or otherwise and with drawl by cheque, draft, order or otherwise "

—*Indian Banking Regulation Act, 1949.*

[3] "Bank is 'a manufacturer of credit and a machine for facilitating exchanges." — Horace White

[4] "Ordinary banking business consists of changing cash for bank deposits and bank deposits for cash; transferring bank deposits from one person or corporation to another; giving bank deposits in exchange for bills of exchange, Government bonds, the Secured promises of businessmen to repay etc"

—R. S Sayers *Modern Banking*, p 22

मुख्य कार्य (Primary Functions) : बैंको के मुख्य कार्य निम्नलिखित है

(1) निक्षेप स्वीकार करना (Accepting of Deposits): आधुनिक बैंका का एक महत्वपूर्ण कार्य जनता से निक्षेप प्राप्त करना होना है। समाज के विभिन्न वर्ग अपनी आय के अनुसार कुछ न कुछ बचाते हैं। उन सभी लोगों मे व्यापारिक योग्यता तथा साहस नही होता। अत वे सुरक्षा तथा कुछ ब्याज प्राप्त करने के लिए अपनी बचते बैंको के पास जमा कर देते हैं। बैंको के निक्षेप दो प्रकार के होते हैं–(1) नकद निक्षेप या प्रत्यक्ष निक्षेप (Cash deposit or Direct deposit) (2) साख निक्षेप या अप्रत्यक्ष निक्षेप (Credit deposit or Indirect deposits)। नकद निक्षेप व होते हैं जिनमे वास्तव मे लोग अपनी बचतें नकदी मे बैंक के पास जमा करते हैं परन्तु साख निक्षेप वे निक्षेप होते हैं जिनमें ग्राहको द्वारा बिना रुपया जमा कराय बैंक एक निश्चित सीमा तक रुपया निकालने का अधिकार दे देती है। (साख निक्षेपों की विस्तृत व्याख्या बैंको द्वारा साख सृजन नामक अध्याय मे पढिए।)

व्यापारिक बैंक निम्नलिखित खातो मे धन जमा कराने की सुविधा प्रदान करते हैं :—

(i) स्थायी जमा खाता (Fixed Deposit Account) स्थायी जमा खात मे एक निश्चित अवधि के लिए रुपया जमा कराया जाता है। यह अवधि 3 माह से 5 वर्ष या इससे अधिक भी हो सकती है। स्थायी जमा खाता खुलवाने के लिए एक प्रार्थना पत्र देना पडता है और बैंक को प्रार्थी अपने नमूने के हस्ताक्षर (Specimen Signature) देता है। रकम जमा करवाते समय बैंक एक स्थायी जमा रसीद (Fixed Deposit Receipt F. D R.) देता है जिसमे रकम जमा कराने की तिथि,रकम निकालने की तिथि (Due Date), रकम जमा कराने वाले का नाम, रकम तथा ब्याज की दर लिखी होती है। यह जमा रसीद अपरिवर्तनीय (Non Transferrable) होती है अर्थात् जमा की गई रकम जमा कराने वाले व्यक्ति को ही मिल सकती है अन्य किसी व्यक्ति को नही। जमा खाते मे जमा रकम अवधि समाप्त होने पर ही वापिस की जाती है परन्तु ग्राहको की सुविधा के लिए जमा रसीद की धरोहर पर ऋण मिल सकता है जिस पर दिए जाने वाले ब्याज की दर से 1 प्रतिशत अधिक ब्याज देना पडता है। यदि जमाकर्त्ता अवधि से पहले ही रकम निकलवाना चाहे तो उसे ब्याज से हाथ धोना पडता है।

स्थायी जमा खाते मे जमा रकम पर अन्य खातो की तुलना मे ब्याज दर अधिक होती है। अवधि बढने के साथ ब्याज दर ऊची होती जाती है। कई बैंक 5 वर्ष या उससे अधिक समय के लिए जमा रकम पर 7 प्रतिशत तक ब्याज देते हैं। अवधि के अनुसार प्रथम श्रेणी के बैंको द्वारा दिये जाने वाले ब्याज दरो की तालिका अग्रलिखित प्रकार है—

अवधि	ब्याज दर
91 दिन से अधिक तथा 6 माह से कम	4%
6 माह से अधिक तथा 9 माह से कम	$4\frac{1}{2}$%
9 माह से अधिक तथा 1 वर्ष से कम	5%
1 वर्ष से अधिक तथा 2 वर्ष से कम	$5\frac{1}{2}$%
2 वर्ष से अधिक तथा 3 वर्ष से कम	$5\frac{3}{4}$%
3 वर्ष से अधिक तथा 5 वर्ष से कम	6%
5 वर्ष से अधिक······	$6\frac{1}{2}$%

स्थायी जमा खाते म वे लोग रकम जमा कराते है जिनके पास निश्चित रकम है और उस निश्चित रकम से आय तो चाहते हैं परन्तु कोई जोखिम नही उठाना चाहते । इगलैंड मे स्थायी जमा खाते को (Seven Days Notice Deposit) कहते है क्योंकि वहाँ एक सप्ताह का नोटिस देकर जमा रकम निकाली जा सकती है यदि रकम जमा कराये हुए एक मास का समय व्यतीत हो गया हो ।

(ii) चालू खाता (Current Account) : इस खाते के अन्तर्गत जितनी बार आवश्यकता हो, रकम जमा करायी जा सकती है और निकलवायी जा सकती है। यह खाता व्यापारियो तथा उद्योगपतियो के लिए बडा उपयोगी है जिनके पास ...न मे बहुत से चेक आते है और भुगतान मे अनेको चेक देने पडते है । इस प्रकार ...स खाते के द्वारा बैंक ग्राहको के सभी लेन देनो का हिसाब रखता है और आवश्यकता पडने पर किसी भुगतान का प्रमाण-पत्र दे सकता है । प्रथम श्रेणी के बैंको द्वारा इस खाते मे जमा रकम पर कोई ब्याज नही दिया जाता परन्तु कुछ बैंक शेष राशि के न्यूनतम सीमा से कम न होने पर कुछ ब्याज देते हैं । चालू खातो पर बैंको द्वारा कुछ सेवा व्यय लिया जाता है जिसे प्रासगिक व्यय (Incidental Charges) कहते है । खाता खोलने पर बैंक पास बुक (Pass Book), चेक बुक (Cheque Book) तथा पे इन स्लिप बुक (Pay-in-slip book) देती है । अमेरिका मे चालू खाते को चेक खाता (Check or Checking Account) कहते हैं ।

(iii) बचत खाता (Saving Bank Account) बचत खाता वेतन भोगी कर्मचारियो तथा साधारण आय वाले व्यक्तियो द्वारा खोले जाते हैं और वे इस प्रकार अपनी छोटी छोटी बचतो को सचित करते है । यह खाता 5 रुपये की न्यूनतम राशि से खोला जा सकता है । इस खाते मे रकमे जितनी बार चाहे जमा कराई जा सकती हैं परन्तु धन सप्ताह मे दो बार ही निकाला जा सकता है । कुछ बैंक ...र्ष भर मे कुछ निश्चित बार रकम निकालने की सुविधा देती हैं जैसे वर्ष मे

अधिक से अधिक 100 बार। कुछ बैंक एक निश्चित राशि से अधिक रकम एक बार मे निकालने की अनुमति नही देती। खाता खोलने के लिए एक प्रार्थना पत्र दिया जाता है और बैंक खाता खोलने वाले के नमूने के हस्ताक्षर (Specimen Signature) अपने पास रख लेता है। बचत खाते पर ब्याज दिया जाता है परन्तु यह स्थायी जमा खाते की तुलना मे कम होता है। आजकल बैंक बचत खातो पर $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत ब्याज देती है। अब अधिकतर बैंको ने बचत खाता खोलने वालो को चेक द्वारा रकम निकालने की सुविधा दे दी है। पश्चिमी देशो मे बचत खाते बचत बैंको (Savings Banks) द्वारा ही खोले जाते है परन्तु भारत मे व्यापारिक बैंक बचत खाते खोलते हैं।

(iv) **घरेलू बचत खाता (Home Safe Account) :** परिवारो मे बचत की आदत डालने के लिए बैंक अपने ग्राहको को एक गोलक या तिजोरी दे देते हैं जिसमे परिवार के सदस्य अपनी बचतें डालते रहते है। कुछ समय पश्चात् गोलक को बैंक मे ले जा कर कुल रकम खाते मे जमा करवा दी जाती है। खाली गोलक फिर ग्राहक को वापिस कर दी जाती है और यह क्रम जारी रहता है। जमा रकम पर नाम मात्र को ब्याज दिया जाता है। बच्चो मे बचत की आदत को प्रोत्साहित करने के लिए यह खाता बडा उपयोगी है।

(ii) **ऋण देना (Lending of Money) :** ऋण देना व्यापारिक बैंको का महत्वपूर्ण कार्य है। बैंको के पास जो धन जमाकर्त्ताओ से प्राप्त होना है उसे वह व्यापारियो तथा उद्योगपतियो को उत्पादक कार्यो के लिए उधार दे देती हैं। जमा-कर्त्ताओ को दी जाने वाली ब्याज की दर उधार लेने वालो से ली जाने वाली ब्याज की दर से कम होती है और इन्ही ब्याज दरो का अन्तर बैंक का लाभ होता है। इस प्रकार बैंक एक मध्यस्थ (Intermediary) का कार्य करता है। ऋण देते समय बैंको को दो बातो का ध्यान रखना पडता है—(1) तरलता (Liquidity) तथा (2) आय (Income)। बैंक अपनी जमाओ का कुछ प्रतिशत नकदी के रूप मे रखती है जिससे ग्राहको की मागो पर तुरन्त भुगतान किया जा सके। साथ ही साथ बैंक यह भी देखता है कि दिये गये ऋणो से उसे पर्याप्त मात्रा मे आय होती रहे। अत तरलता तथा आय मे सतुलन स्थापित कर ही बैंक सफल हो सकता है। बैंक की सफलता बहुत कुछ उसकी ऋण सम्बन्धी नीति पर निर्भर करती है।

बैंको द्वारा निम्नलिखित प्रकार के ऋण दिये जाते है —

(1) **नकद साख (Cash Credit) :** नकद साख द्वारा ऋण देने की प्रथा का जन्म स्काटलैंड मे हुआ था। वहा की आर्थिक उन्नति मे इस प्रथा का इतना महत्वपूर्ण योगदान रहा कि मैकलियोड ने कहा कि स्काटलैंड के लिए नकद साख प्रणाली उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी मिस्र के लिए नील नदी। लेवी के अनुसार इस

प्रणाली ने बहुत से निर्धन व्यक्तियों को उद्योगपति के आसन पर बिठा दिया है।[1] नकद साख प्रणाली एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत बैंक व्यापारियों को बाडस् व्यापारिक माल या अन्य स्वीकृत प्रतिभूतियों की जमानत पर ऋण देते हैं। जब व्यापारी माल की जमानत पर ऋण लेते हैं तो माल बैंक के गोदामों मे रख लिया जाता है। व्यापारी अपनी भावी आवश्यकताओं के अनुमानों के आधार बैंक से एक निश्चित राशि उधार लेने का समझौता कर लेते है। उधार ली गई कुल रकम व्यापारियों द्वारा एक बार मे ही नहीं निकाली जाती बल्कि जैसे जैसे आवश्यकता पडती है रकम निकाल ली जाती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत ब्याज वास्तव मे निकाली गई रकम पर ही लिया जाता है। भारतीय व्यापारियों के लिए नकद साख प्रणाली बडी सुविधाजनक सिद्ध हुई है अत उनमे यह बहुत प्रचलित है।

(ii) अधिविकर्ष (Overdraft) जिन व्यापारियो का चालू खाता (Current Account) बैंक मे खुला रहता है उन व्यापारियो को खाते मे जमा रकम से अधिक रकम निकालने की सुविधा को अधिविकर्ष (Overdraft) कहते हैं। अधिविकर्ष की सीमा का निर्धारण प्रतिभूतियो या व्यापारी की साख के आधार पर होता है। व्यापारी आवश्यकतानुसार इसी सीमा के अन्दर रकम निकालते रहते हैं। नकद साख की तरह अधिविकर्ष मे भी वास्तव मे निकाली गई रकम पर ही ब्याज लिया जाता है।

नकद साख तथा अधिविकर्ष मे अन्तर (Difference between Cash Credit and Overdraft) नकद साख तथा अधिविकर्ष म मुख्य अन्तर यह है कि नकद साख किसी व्यक्ति को भी मिल सकती है जबकि अधिविकर्ष की सुविधा केवल चालू खाता रखने वाले ग्राहकों को ही दी जाती है। नकद साख दीर्घ काल के लिए दी जाती है जबकि अधिविकर्ष कभी-कभी धन की अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लिया जाता है। अधिविकर्ष पर कभी कभी अधिक ब्याज लिया जाता है।

(iii) ऋण तथा अग्रिम (Loans and advances) . नकद साख तथा अधिविकर्ष के अतिरिक्त बैंक ऋण तथा अग्रिम भी देते हैं। जब बैंक एक मुश्त रकम उधार दे जिसे बाद मे निकालने की आज्ञा सहित अंशत या पूर्णत अदा नहीं किया जा सकता, ऋण कहलाता है।[2] यदि ऋणी ऋण के कुछ भाग का

---

1 "It (cash credit system) has raised many a penniless to the state of industrialists' — L Levi

2 When a banker makes an advance in a lump sum which cannot be paid wholly or partially with permission to its subsequent with-drawl, it is called a loan.

भुगतान कर देता है और बाद में अदा की गई रकम को फिर उधार लेना चाहता है तो तब तक वह इस रकम को नही ले सकेगा जब तक कि बैंक एक नया ऋण स्वीकृत नही करता। इस व्यवस्था मे ऋणी बैंक से ऋण की सम्पूर्ण राशि प्राप्त कर लेता है और ऋण की पूर्ण रकम अदा कराये बिना ऋण का अन्त नही होता। ऋण तथा अग्रिम के अन्तर्गत ब्याज उधार लेने की तारीख से ही पूरी रकम पर लगता है चाहे ऋणी पूरी रकम एक साथ निकाले या उसका कुछ भाग ही निकाले जबकि नकद साख तथा अधिविकर्ष मे ब्याज वास्तव में निकाली गई रकम पर ही लगाया जाता है।

(iv) बिलों का बट्टा करना (Discounting of Bills of exchange) बिलो का बट्टा करके रुपया उधार देने की प्रणाली एक महत्वपूर्ण प्रणाली है। बैंक सावधि बिलो (*Usance Bills*) की भुगतान-तिथि के पहले ही बट्टा करके बिल की रकम देकर व्यापारियो को साख की सुविधा देते हैं। इस कार्य के लिए बैंक कुछ बट्टा (Discount) लेते हैं जो उस अवधि के ब्याज के बराबर होता है। बट्टे की दर बिल की परिपक्वता की अवधि (Time of maturity) तथा बिल की जोखिम पर निर्भर करती है। इस प्रणाली में बैंको को ऋणो तथा अग्रिमो की भांति कुछ भी प्रबंध व्यय नही करना पडता।

इस प्रणाली मे बैंको को यह भी सुविधा रहती है कि यदि परिपक्वता की तिथि से पहले ही धन की आवश्यकता पड जाय तो वे इन बट्टा किए हुए बिलो का देश के केन्द्रीय बैंक से पुनः बट्टा करवा सकती है। व्यापारियो मे बिलो के प्रचलन के कारण बिलो का बट्टाकर साख देने की यह प्रणाली काफी लोकप्रिय सिद्ध हुई है।

(2) सहायक या अभिकर्त्ता कार्य (Secondary or Agency functions) : जमायें स्वीकार करने तथा ऋण देने के अतिरिक्त आधुनिक बैंक अपने ग्राहको के अभिकर्त्ता या प्रतिनिधि के रूप मे कई प्रकार की सेवाये करता है। यह सेवायें निम्नलिखित है :—

(1) चेक, बिल आदि का भुगतान संग्रहण (Collection of cheques, *bills etc.*) आज कल व्यापारियो को भुगतान म विभिन्न बैंको की चकें तथा बिल आदि प्राप्त होते रहते हैं। यदि व्यापारी स्वय जाकर सभी बैंको से भुगतान प्राप्त करे तो इसमे समय का अपव्यय तथा असुविधा होती है। ग्राहको की ओर से जमा कराये गये बिलो तथा चेको का भुगतान बैंक वसूल करता है और अपने ग्राहको के खातो म जमा कर देता है।

बैंको का यह कार्य बैंको को साख के सृजन म बहुत ही सहायक होता है। बैंको को चेको का भुगतान नकद मुद्रा म न कर केवल खात की प्रविष्टिया द्वारा

करना होता है। इस प्रकार बैंको का काम कम नकद कोष रखकर ही चल जाता है। यदि बैंको को सभी चेको का भुगतान नकदी मे करना पडे तो इससे उनकी साख-निर्माण शक्ति बहुत कम हो जायेगी।

(ii) ग्राहको की ओर से भुगतान करना (Making of Payments on behalf of the customers) ग्राहको की ओर से बैंक उनके आदेशानुसार भुगतान करता है जैसे बीमा पालिसी का प्रीमियम, मकान का किराया, ब्याज या चन्दा इत्यादि। ऐसी रकमो का भुगतान जो नियमित रूप से देनी होती है तथा जिनकी राशि निश्चित होती है बैंक करता रहता है। ग्राहक को केवल एक स्थायी आदेश (Standing order) इस सम्बन्ध मे बैंक को देना होता है जिसमे भुगतान की तिथि तथा राशि के सम्बन्ध मे सूचना देनी होती है। बैंक इस कार्य के लिए कुछ शुल्क लेते हैं।

(iii) ग्राहकों की ओर भुगतान प्राप्त करना (Collection of payments on behalf of the customers) जिस प्रकार बैंक ग्राहको की ओर से भुगतान करते है उसी प्रकार वे ग्राहको की ओर से लाभांश, ब्याज, किराया कमीशन, ऋण-धन आदि के भुगतान भी प्राप्त करते हैं और उन्हे एकत्रित कर ग्राहक के खाते मे जमा कर देते हैं।

(iv) कोष हस्तान्तरण की सुविधा (Remittance facilities) : बैंक अपने ग्राहको को सुविधा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को धन भेजने की सेवा प्रदान करते हैं। यह सुविधा ड्राफ्ट (Draft) डाक तथा तार स्थानान्तरण (Mail and Telegraphic Transfers) द्वारा प्रदान की जाती है। इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान को धन सुरक्षित रूप से पहुँच जाता है। इस सेवा के लिए बैंक कुछ शुल्क भी लेते है।

(v) ग्राहको की ओर से प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय (Purchase and sale of shares and securities on behalf of the customers)- बैंक अपने ग्राहकों की ओर से विभिन्न प्रकार के अंशो ऋण पत्रो सरकारी तथा अर्द्ध सरकारी प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय करते है। इससे ग्राहको को प्रतिभूतिया खरीदने तथा बेचने मे बडी सुविधा हो जाती है और क्रय विक्रय की शर्तें भी लाभदायक होती हैं।

(vi) प्रन्यासी तथा प्रबन्धक के रूप मे कार्य करना (To act as Trustees and Administrators) बैंक अपने ग्राहको की ओर से प्रतिनिधि, मुख्त्यार (Attorney), उत्तरसाधक (Executers), प्रन्यासी (Trustee) तथा प्रबन्धक (Administrator) के रूप मे कार्य करते हैं।

(vii) ग्राहको की ओर से बिल स्वीकार करना (Acceptance of bills on behalf of the customers) : बैंक ग्राहको की ओर से बिलो को स्वीकृति

(Acceptance) प्रदान करते हैं जिससे व्यापारियो की साख बढती है और लेन-देन मे उन्हे बडी सुविधा हो जाती है।

(3) **सामान्य उपयोगी सेवायें** (*General Utility Services*)—मुख्य तथा अभिकर्त्ता कार्यों के अतिरिक्त बैंक व्यापार तथा समाज की कुछ अन्य सेवायें भी करते हैं जिन्हे सामान्य उपयोगी सेवायें कहते हैं। इनमे मुख्य निम्नलिखित हैं:–

(i) **व्यापारिक निर्णयकर्त्ता के रूप मे कार्य करना** (To act as Trade Referees):—बैंक अपने ग्राहको की साख तथा वित्तीय स्थिति के सम्बन्ध मे व्यापारियो को सही सूचना तथा जानकारी देते हैं। इस सूचना से व्यापारियो को यह पता चल जाता है कि वे ग्राहको को किस सीमा तक उधार दे और किन्हे उधार न दे। इससे व्यापारी उस हानि से बच जाते हैं जो अयोग्य फर्मों को साख देने से होती है। यह सूचना बडी सावधानी तथा जाच पडताल करके बैंक द्वारा दी जानी चाहिए और इसे पूर्ण गोपनीय रखना चाहिए।

(ii) **सुरक्षा सम्बन्धी काय** (Safe Custody Functions):—ग्राहको के जेवर, महत्वपूर्ण दस्तावेज, अश तथा प्रतिभूतिया और अन्य मूल्यवान वस्तुओ की आग, चोरी इत्यादि से सुरक्षा प्रदान करने के लिए बैंक कुछ मुख्य शाखाओ मे विशेष प्रकार के लाकर्स (Lockers) या सेफ डिपोजिट वाल्ट्स (Safe deposit vaults) की सुविधा प्रदान करते है। विशेष रूप से मजबूत बने इन कमरो मे लाकर्स होते है जहा ग्राहक अपनी मूल्यवान वस्तुय रख देता है। इन लाकर्स की दो चाबिया होनी है एक ग्राहक के पास और एक बैंक के पास। जब ग्राहक को कुछ निकालना या रखना होता है तो बैंक के रजिस्टर मे प्रविष्टि की जाती है और ग्राहक के हस्ताक्षर कराकर लाकर बैंक तथा ग्राहक दानो द्वारा अपनी अपनी चाबी लगाकर खोला जाता है और फिर उसी प्रकार बन्द कर दिया जाता है। इस सुविधा के लिए बैंक कुछ शुल्क लेते हैं जो लाकर के आकार पर निर्भर करता है।

(iii) **साख-प्रमाण पत्र तथा यात्री चेक जारी करना** (To issue Letters of Credit and Travellers Cheques).—व्यापार सम्बन्धी कार्यों के लिए विदेश जाने वाल ग्राहको के लिए बैंक साख प्रमाण पत्र जारी करता है जिससे विदेशो मे आसानी से माल उधार मिल जाता है। यात्री चेको द्वारा किसी स्थान पर रुपया प्राप्त किया जा सकता है और यात्री नकदी ले जाने की जोखिम से बच जाता है। यात्री चेको पर कोई कमीशन नही लिया जाता।

(iv) **अशो तथा प्रतिभूतियो का अभिगोपन करना** (Underwriting of Shares and Securities) : कम्पनियो, सरकार तथा अन्य व्यापारिक सस्थाओ द्वारा निर्गमित अशो, ऋण-पत्रो तथा प्रतिभूतियो के अभिगोपन का कार्य भी बैंकें करती है। इस प्रकार के अनुबधित राशि की प्रतिभूतियो के वेचने का दायित्व और

न बिकने पर स्वयं खरीदने की प्रतिज्ञा कर लेती हैं । इससे निर्गमन करने वाली संस्था निश्चिन्त हो जाती है । इस कार्य के लिए बैंक कुछ कमीशन लेते हैं ।

(v) व्यापारिक सूचना तथा आँकड़े इकट्ठा करना (Collection of Business Information and Statistics) बैंक व्यापारिक तथा वित्तीय गतिविधियों से सम्बन्धित सूचनायें तथा आंकड़े इकट्ठा करती है और उनका प्रकाशन करती है जिससे व्यापार तथा वित्त सम्बन्धी समस्याओं में रुचि रखने वाले लाभान्वित हो सकें । बड़े बड़े बैंक अपनी पत्रिकायें प्रकाशित करते हैं जिनमें बैंकिंग तथा वित्तीय समस्याओं पर लेख तथा टिप्पणियाँ होती हैं ।

(vi) विदेशी विनिमय-व्यवस्था (Foreign Exchange Management) : देश के व्यापारियों का विदेशी व्यापारियों से लेन देन कराने में बैंकों का विशेष योगदान होता है । विदेशी विनिमय बिलों का बट्टा कर वे विदेशी विनिमय-व्यवस्था करती हैं । इससे बैंकों को भी लाभ होता है । भारत में विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Banks) इस कार्य को करती हैं परन्तु अब भारतीय व्यापारिक बैंकों ने इस क्षेत्र में अपने कार्य का विस्तार किया है ।

(vii) वित्तीय सलाहकार के रूप में कार्य करना (To act as financial adviser) वित्तीय समस्याओं के विशेषज्ञ होने के कारण बैंक अपने व्यापारी ग्राहकों को वित्तीय विषयों पर परामर्श देते हैं और इस प्रकार व्यापार की अमूल्य सेवा करते हैं ।

उपर्युक्त कार्यों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि बैंकों की आधुनिक व्यापारिक जगत में बड़ी उपयोगिता है ।

बैंकों का महत्व (Importance of Banks)

किसी भी देश की अर्थ व्यवस्था के सफल संचालन तथा आर्थिक विकास के लिए एक सुसंगठित तथा उन्नत बैंकिंग व्यवस्था की अति आवश्यकता है । आज की उत्पादन तथा वितरण व्यवस्था की सफलता बैंकों की कार्यकुशलता पर निर्भर है । योरोप में यदि 18वीं तथा 19वीं शताब्दी में बैंकों का विकास न हुआ होता तो शायद वहाँ औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) न आयी होती । किसी भी देश के औद्योगिक विकास के लिए पूँजी की बड़ी आवश्यकता है परन्तु पूँजी के प्रयोग की सुविधा बैंक ही प्रदान करती है । बचत को प्रोत्साहित कर अप्रयुक्त धन को उद्योगों तथा व्यापार में विनियोजित कर वे देश के आर्थिक विकास में सहायता पहुँचाती हैं । टामस के शब्दों में "बैंक साख पत्रों के चलन तथा निर्गमन को संगठित तथा नियंत्रित करती हैं, वे ऋण तथा अग्रिमों के रूप में बैंक साख की स्वीकृति का नियमन करती हैं, वे उधार देय पूँजी के विनियोजन को सुविधाजनक बनाती हैं तथा उसका सबसे लाभदायक प्रयोग तथा वितरण सम्भव बनाती हैं, जब और जहाँ

चलन की आवश्यकता होती है उसकी पूर्ति करती हैं तथा कुछ क्षेत्रों के अत्यधिक चलन को कम पूर्ति वाले स्थानों को स्थानान्तरित करती हैं।"[1] इसी कारण बैंक के महत्व को स्वीकार कर अर्थशास्त्रियों ने बैंकों को आधुनिक व्यापारिक तथा औद्योगिक व्यवस्था का हृदय, केन्द्र बिन्दु, धमनियाँ (nerve centre) आदि कहा है। देशो के आर्थिक विकास मे व्यापारिक बैंकों की महत्वपूर्ण भूमिका उनकी निम्नलिखित उपयोगिताओं से स्पष्ट होती है —

(1) व्यापार तथा उद्योगो की उन्नति मे सहायक (Helpful in the Development of Trade and Industry) पिछले 200 वर्षों का आर्थिक विकास व्यापार के विस्तार तथा औद्योगीकरण पर आधारित रहा है और व्यापार बिना मुद्रा के प्रयोग के नही हो सकता। मुद्रा की तुलना मे बैंक निक्षेपों का अधिक महत्व है। आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार बिलों के माध्यम से होता है जिनका बट्टा बैंक ही करती है। अप्रयुक्त धन तथा बचतों को जमाकर व्यापार तथा उद्योग की वित्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर बैंक महत्वपूर्ण सेवा करती हैं। बैंकों की सहायता के बिना आधुनिक व्यापार तथा वाणिज्य की कल्पना नही की जा सकती।

(2) पूंजी निर्माण तथा बचत को प्रोत्साहन (Banks promote capital formation and Savings) : विभिन्न वर्गों के लिए सुविधाजनक जमा खाते खोलकर बैंक बचत को प्रोत्साहित करती है। लोगो मे बचत की आदत डालने मे बैंकों का महत्वपूर्ण योगदान है। इस प्रकार पूंजी का निर्माण होता है जो देश के आर्थिक विकास की महत्वपूर्ण शर्त है।

(3) उपयुक्त प्रकार के उद्योगो को प्रोत्साहन (Banks encourage the right type of industries) : अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण की सुविधा प्रदान कर बैंक उपयुक्त प्रकार के उद्योगो को प्रोत्साहन देती हैं। वे केवल औद्योगीकरण मे ही सहायक नही वरन् समाज का इच्छानुकूल आर्थिक विकास करती हैं क्योंकि वे ऐसे साहसियों को वित्त सहायता देती हैं जिनके माल की बाजार मे माग होती है।

(4) क्षेत्रीय आधार पर कोषों के उपयुक्त वितरण मे सहायक (Banks help in distribution of funds between regions). बैंकें पूंजी को अत्यधिक

---

[1] "Banks organise and control the issue and currency of credit instruments, they regulate the granting of banks credit in the form of advances and loans, they facilitate the investment of loanable capital and make possible its distribution and use to the best advantage, they provide currency when and where it is required and transfer surplus currency from some area to places that are short of supplies" — S E Thomas, *Principles of Banking*

पूर्ति वाले क्षेत्रों से कमी वाले क्षेत्रों को स्थानान्तरित कर देती हैं जिससे उसका अधिक लाभदायक तथा कार्य क्षम प्रयोग हो सके। पूँजी का इस प्रकार स्थानान्तरण पिछड़े क्षेत्रों के आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करता है और क्षेत्रीय असन्तुलनों (Regional imbalances) में कमी होती है।

(5) साख का सृजन कर व्यापारिक विकास में सहायक (Bnks createe Credit and help in Business Expansion) बैंक साख का सृजन कर समाज तथा व्यापार की बड़ी सहायता करते हैं। साख के विस्तार से साहसियों को अधिक धन प्राप्त होता है जिससे विनियोजन बढ़ता है। एक विकासशील अर्थ व्यवस्था में बैंक साख के विस्तार द्वारा उद्योगों को अधिक धन प्राप्त होता है और आर्थिक विकास की गति तीव्र होती है।

(6) मुद्रा प्रणाली में लोच (Elasticity in the Monetary System) · बैंक मुद्रा प्रणाली में लोच पैदा करते हैं। अर्थ व्यवस्था की आवश्यकतानुसार मुद्रा कीमात्रा में वृद्धि तथा कमी करके माग और पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करते हैं। यह साख के विस्तार या सकुचन द्वारा किया जाता है।

इस प्रकार बैंकों का देश के व्यापार, उद्योग तथा वाणिज्य की उन्नति में महत्वपूर्ण योगदान है। देश के औद्योगिक विकास का आधार विकसित बैंकिंग प्रणाली ही हो सकती है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) एक आधुनिक बैंक के कार्यों का सक्षेप में वर्णन कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि बैंकर अपने कोषों का विनियोजन करते समय किन बातों का ध्यान रखता है? (राजपूताना बी० काम०, 1958)

[सकेत—प्रथम भाग में बैंकों के मुख्य, अभिकर्त्ता तथा सामान्य उपयोगी कार्यों का वर्णन सक्षेप में कीजिए। दूसरे भाग में बैंक कोषों का विनियोग करते समय जो बातें ध्यान रखता है उनका विवेचन कीजिए। दूसरे भाग के लिए 'बैंक की विनियोग नीति' अध्याय देखिए।]

(2) व्यापारिक बैंकों के कार्यों की व्याख्या कीजिए। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में उनका क्या महत्व है? (आगरा, 1960)

[सकेत—प्रश्न (1) की तरह ही प्रथम भाग में बैंक के मुख्य, अभिकर्त्ता तथा सामान्य उपयोगी कार्यों का वर्णन कीजिए। दूसरे भाग में बैंकों का महत्व बताइये।]

13

बैंको द्वारा साख-सृजन

(Credit Creation by Banks)

"If all the insured people conspire to die on the same day, the insurance compan es will fail banking similarly is based on certain assumptions which enable the bankers to create a vast credit structure"

आधुनिक समय मे बैंको के कार्यों मे उनके द्वारा साख सृजन का महत्वपूर्ण स्थान है। देश के व्यापार तथा वाणिज्य की आवश्यकतानुसार बैंक साख का सृजन कर देश की बहुत बडी सेवा करती हैं। उनके द्वारा साख सृजन का कार्य देश के आर्थिक विकास को गति प्रदान करना है और इस प्रकार वे अर्थ व्यवस्था के सभी क्षत्रो को प्रभावित करती है।

साख सृजन की विधि

(Method of Credit Creation)

व्यापारिक बैंक साख का सृजन निम्नलिखित तरीका से करती हैं—

(1) बैंक द्वारा नोट निगमन करके साख सृजन (Creation of Credit by Issue of Notes) *नोट निगमन करते समय शत प्रतिशत धात्विक कोष न* रखना साख सृजन का ही रूप है। प्रारम्भ मे जनता का विश्वास बनाये रखने तथा नोटो की परिवर्तन शीलता (Convertib lity) बनाये रखने के लिए नोट निगमन के पीछे शत प्रतिशत धात्विक कोष रक्खे जाते थे पर तु अब किसी देश मे भी यह प्रणाली प्रचलन म नही है। आजकल कुछ थोडा धात्विक कोष रखकर अधिक नोटो का निगमन किया जाता है जो साख सृजन का ही एक रूप है। परन्तु नोट निगमन का अधिकार अब व्यापारिक बैंको से लेकर केन्द्रीय बैंक को दे दिया गया है और इस प्रकार के साख सृजन का एकाधिकार सभी दशो मे केन्द्रीय बैंक को ही प्राप्त है।

(2) नकद जमा तथा साख जमा द्वारा साख सृजन (Creation of Credit through Cash Deposits and Credit Deposits) नकद जमा तथा साख जमा द्वारा साख सृजन की रीति अति महत्वपूर्ण है। यह बडी आश्चर्यजनक बात है कि किसी देश मे मुद्रा की मात्रा की तुलना मे बैंको के निक्षप कई गुना अधिक होते हैं। एक बैंक अपनी नकद तथा अन्य जमाओ की तुलना मे कई गुना

अधिक ऋण देने म कैसे समर्थ हो जाता है ? यही साख-सृजन बैंको की विशेषता है । साख सृजन की इस रीति की विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है :—

बैंकों की जमायें दो प्रकार की होती है

(1) नकद जमा या प्रारम्भिक जमा (Cash Deposit or Primary Deposits)

(2) साख जमा या व्युत्पन्न जमा (Credit Deposit or Derivative Deposits)

नकद जमायें या प्रारम्भिक जमायें वे जमायें हैं जो जमाकर्त्ता बैंको के पास नकदी मे जमा करते हैं । यह नकद जमायें बैंक अपने पास बेकार पडे रखने के लिए नही स्वीकार करती वरन् व्यापारियो, उद्योगपतियो तथा अन्य लोगो को ऋण के रूप मे देती है । इस प्रकार बैंक लाभ कमाती हैं । यह नकद जमायें ही वास्तव मे साख-सृजन का आधार हैं । नकद जमाओ का कुछ भाग बैंक अपने पास रख कर शेष ऋण के रूप मे दे देती हैं । बैंक जो धन ऋण के रूप मे देते हैं वह नकद न देकर ग्राहको को बैंक से राशि निकालने के अधिकार (Power to withdraw from the bank) के रूप मे दिया जाता है । ऋण के रूप मे स्वीकृत राशि खाते मे जमा कर दी जाती है । इसे ही साख जमा (Credit Deposit) कहते हैं । साख जमाओ का जन्म नकद जमाओ द्वारा होता है अत साख जमाओं को व्युत्पन्न जमायें (Derivative Deposits) या ऋण जमायें (Loan Deposits) भी कहा जाता है । साख जमाओ या व्युत्पन्न जमाओ का सृजन ही साख निर्माण के तुल्य है ।[1] आधुनिक समय म नकद जमाओं की तुलना मे साख जमाओ का अधिक महत्व है । इगलैण्ड की चर्चा करते हुए हार्टले विदस ने कहा है कि 'वहा के पाच सबसे बडे बैंको की 1666 मिलियन पौंड की कुल जमाओ मे 1249 मिलियन साख जमायें हैं और केवल 417 मिलियन पौंड की नकद जमायें ।' "आधुनिक अंग्रेजी वाणिज्य तथा वित्त की मुद्रा चेक है और लन्दन मुद्रा बाजार मे प्रचलित साख चेक लिखने का अधिकार ही है ।"[2]

---

[1] "The creation of derivative deposit is identical with what is commonly called the creation of credit"

—G N Halm *Monetary Theory*, p 39

[2] Referring to Great Britain, Mr Hartley Withers has remarked that "out of the total deposits of the five biggest commercial banks amounting to 1666 million pounds, 1249 million consists of credit deposits and only 417 million of cash deposits"

"The money of modern English commerce and finance is the cheque and the credit dealt in the London Money Market is the right to draw a cheque" —Hartley Withers

नकद जमाओं के ही कारण बैंक ऋण देने मे समर्थ हो पाती हैं और दिया हुआ प्रत्येक ऋण साख जमा (Credit Deposit) का रूप ग्रहण कर लेता है। इसे एक सरल उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। माना कि किसी बैंक के पास नकद जमा या प्रारम्भिक जमा के रूप मे 100 रुपये की राशि है। कानूनी मान्यता तथा स्वय के अनुभव से यदि बैंक 20 प्रतिशत नकद कोष रखने का निर्णय करता है क्योकि इससे अधिक नकदी जमाकर्त्ता एक समय मे मागने के लिए नही आयेंगे तो 100—20=80 रुपये बैंक किसी को ऋण के रूप मे दे देगा। यह 80 रुपये नकद न देकर बैंक ऋणी क खाते मे जमा करके उसे रुपया निकालने के अधिकार के रूप मे देगा। इसी प्रकार 80 रुपये का 20 प्रतिशत 16 रुपये बैंक अपने पास नकद रखकर 80—16=64 रुपये किसी अन्य व्यक्ति को उधार दे देगा। यह 64 रुपये की राशि भी इस ऋणी के खाते मे जमा कर दी जायेगी। यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है। इस प्रकार 100 रुपये की नकद जमा पर बैंक 80+64+······+······इत्यादि की व्युत्पन्न जमा का सृजन कर लेता है। 100 रुपये की नकद जमा के आधार पर बैंक 400 रुपये तक के ऋण दे देता है और कुल नकद तथा साख जमायें 500 रुपये की हो जाती है। इस प्रकार बैंक अपनी नकद जमा का कई गुना साख सृजन करते हैं।

इसी आधार पर कहा जाता है कि ऋण जमा का निर्माण करते हैं (Loans create deposits। और जमायें ऋणो का सृजन करती हैं (Deposits create loans)। लार्ड कीन्स के शब्दो मे "ऋणो का जमाओं से जन्म होता है और जमाओं का ऋणो से।"[1] सेयर्स ने भी कहा है कि "बैंक केवल मुद्रा जुटाने वाली सस्था ही नही है वरन्, एक महत्वपूर्ण अर्थ मे मुद्रा के सृजन कर्त्ता भी हैं।"[2] अत बैंको के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि "बैंक बिना बोये ही फसल काट लेती हैं।" (The Banks reap where they have not sown)

एक अन्य उदाहरण द्वारा भी बैंको की साख सृजन प्रक्रिया को स्पष्ट किया जा सकता है। यहा हम यह मान लेते है :

(अ) A,B,C,D, इत्यादि बहुत से बैंक है और उनके अलग अलग जमाकर्त्ताओं के समूह है,

(ब) परम्परा तथा कानून के अनुसार प्रत्येक बैंक 20 प्रतिशत नकद कोष रखता है,

---

[1] "Loans are the children of deposits and deposits are the children of loans" —J. M. Keynes.

[2] "Banks are not merely purveyers of money, but also, in an important sense, manufacturers of money"
— R S. Sayers : *Modern Banking*

(स) बैंक A के पास 1000 रुपये की नयी जमा रक्खी गई है।

जब बैंक A के पास 1000 रुपये जमा कराये गये तो इस नये सौदे को ही ध्यान मे रखकर बैंक का स्थिति विवरण इस प्रकार होगा:—

TABLE 1

Bank A

1000 रुपये की जमा प्राप्त होने के समय की स्थिति

Liabilities		Assets	
New Deposit	Rs 1000	New Cash	Rs. 1000
Total	Rs 1000	Total	Rs. 1000

दोहरे लेखा प्रणाली के अन्तर्गत 1000 रुपया दोनो ओर दिखाया जायेगा। 1000 रुपया बैंक की देनदारी है क्योंकि बैंक इसे जमाकर्त्ता को वापिस करेगा, यह 1000 रुपया बैंक का आदेय है जिससे बैंक ब्याज कमा सकता है। यदि बैंक A शत प्रतिशत नकद कोष रक्खे तो बैंक अधिक जमाओं का सृजन नहीं कर सकेगा और बैंक अपनी जमा का चार गुना ऋण नहीं दे सकेगा। एक अकेला बैंक यदि शत प्रतिशत कोष रक्खे तो Table 2 से दिखाई गई स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता।

TABLE 2

Bank A

अकेले बैंक के लिए असम्भव स्थिति

Liabilities		Assets	
Deposits	Rs. 5000	Cash	Rs 1000
		Loans & Investments	Rs. 4000
Total	Rs 5000	Total	Rs. 5000

परन्तु यदि बैंक A केवल 20 प्रतिशत नकद कोष रखना है तो 200 रुपया नकद रखकर शेष 800 रुपये वह लाभकारी विनियोग मे लगा सकता है। माना कि बैंक A 800 रुपये Mr X को ऋण के रूप मे देता है जिसे Mr. X अपने ऋण-दाताओं को भुगतान मे दे देते हैं। जब X 800 रुपये बैंक A से निकाल लेता है तो Bank A की स्थिति Table 3 मे दिखाई गई है।

TABLE 3

Bank A

ऋण देने के बाद की स्थिति

Liabilities		Assets	
Deposits	Rs 1000	Cash	Rs 200
		Loan to X	Rs 800
Total	Rs 1000	Total	Rs 1000

अब यह माना कि X के लेनदारो ने जो 800 रुपया प्राप्त किया उसे उन्होंने अपने बैंक B मे जमा कराया। तब Bank B की स्थिति Table 4 मे दिखाई गई है।

TABLE 4

Bank B

बैंक A द्वारा दिये गये ऋणो का धन बैंक B मे जमा कराने के समय की स्थिति

Liabilities		Assets	
New Deposits	Rs 800	New Cash	Rs 800
Total	Rs 800	Total	Rs 800

Bank B अनुभव करता है कि उसके पास नकदी आवश्यकता से अधिक है। अब वह भी 20 प्रतिशत नकद कोष रखकर अर्थात् 160 रुपये (800 रुपये का 20%) रखकर शेष 640 रुपये किसी को ऋण दे देता है। माना कि 640 रुपये का ऋण वह Y को देता है तो बैंक B की स्थिति Table 5 मे दिखाई गई है।

TABLE 5

Bank B

नई जमा का 80 प्रतिशत ऋण देने पर बैंक की स्थिति

Liabilities		Assets	
Deposits	Rs 800	Cash	Rs 160
		Loan to Y	Rs 640
Total	Rs 800	Total	Rs 800

ठीक उसी प्रकार Y भी प्राप्त राशि को अपने लेनदारो को भुगतान स्वरूप देता है जिसे वे अपनी बैंक मे जमा करते हैं। माना कि 640 रुपये उन लेनदारो ने अपने बैंक C मे जमा कराया तो बैंक C की स्थिति इस प्रकार होगी।

TABLE 6

Bank C

बैंक B द्वारा दिए गये ऋण की राशि बैंक C में
जमा कराने के समय की स्थिति

Liabilities		Assets	
New Deposits	Rs. 640	New Cash	Rs. 640
Total	Rs. 640	Total	Rs. 640

अब बैंक C अपनी 640 की जमा का 20 प्रतिशत अर्थात् 128 रुपये नकद कोष के रूप मे रखकर शेष 512 रुपये Z को उधार दे देता है। उधार देने के बाद Bank C की स्थिति Table 7 मे दिखाई गई है।

TABLE 7

Bank C

नई जमा का 80 प्रतिशत उधार देने के बाद की स्थिति

Liabilities		Assets	
Deposits	Rs 640	Cash	Rs 128
		Loan to Z	Rs 512
Total	Rs 640	Total	Rs. 640

अब Z, जिसने Bank C से 512 रुपये ऋण के रूप मे प्राप्त किए, यह धन अपने लेन दारो को भुगतान मे देगा और वे फिर इसे अपने बैंको मे जमा करेंगे। वे बैंक फिर 20 प्रतिशत नकद कोष रखकर शेष राशि उधार दे देंगे। इस प्रकार जमाओं का ऋणों के रूप मे परिवर्तन और फिर ऋणों का नई जमाओं मे परिवर्तन का यह क्रम चलता रहेगा जब तक कि 1000 रुपये की प्रारम्भिक जमा समाप्त न हो जाय। बैंकों द्वारा बैंक जमाओं का सृजन संक्षेप मे इस प्रकार होगा :—

TABLE 8

बैंक	जमायें	नकद कोष	ऋण
A	1,000 00	200 00	800 00
B	800·00	160 00	640·00
C	640 00	128·00	512·00
D	512 00	102 40	409 60
E	409 60	81·92	327 68
F	327 68	65·54	262·14
G	262·14	52 42	209 72
H	209 72	41·95	167·77
I	167·77	33·55	134·22
J	134 22	26 85	107 37
प्रथम 10 बैंको का योग	4,463 13	892 63	3,570·50
अन्य बैंको का योग	536·87	107·37	429·50
बैंकिंग व्यवस्था का कुल योग	5,000·00	1,000·00	4,000 00

इस प्रकार स्पष्ट है कि 1000 रुपये की जमा द्वारा बैंकिंग व्यवस्था ने 4000 रुपये की जमाओ का सृजन किया और कुल योग 5000 रुपये हुआ। कुल जमाओ का सृजन नकद कोष के प्रतिशत का ठीक उल्टा होता है। यदि नकद कोष 20 प्रतिशत या $\frac{1}{5}$ रक्खा जाता है तो साख-सृजन $\frac{5}{1}$ या प्रारम्भिक जमा का 5 गुना होगा। अतः यह सिद्ध है कि तालिका 2 की असम्भव स्थिति पूरी बैंक व्यवस्था की साख सृजन प्रक्रिया ने सम्भव बना दी। यदि सभी बैंको का मिला जुला स्थिति विवरण बनाया जाय तो वह तालिका 9 की तरह होगा।

TABLE 9

सभी बैंको का सम्मिलित स्थिति विवरण

(Consolidated Balance Sheet showing final position of all banks together)

Liabilities		Assets	
Deposits	Rs 5000	Cash	Rs. 1000
		Loans	Rs 4000
Total	Rs 5000	Total	Rs. 5000

यदि तालिका 2 तथा तालिका 9 की तुलना की जाय तो वे एक समान हैं। सभी बैंकों ने मिलकर उसे सम्भव बना दिया जो एक बैंक के लिए असम्भव था। (The whole banking system can do what no one bank can do by itself) इसी बात को साधारण एलजेबरा द्वारा इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है —

$$Rs\ 1,000 + Rs\ 800 + Rs\ 640 + \cdots = Rs\ 1000\left[1+\tfrac{4}{5}+\left(\tfrac{4}{5}\right)^2+\left(\tfrac{4}{5}\right)^3+\cdots\right]$$
$$= Rs\ 1000\left(\frac{1}{1-\frac{4}{5}}\right)$$
$$= Rs.\ 1,000 \times 5$$
$$= Rs\ 5,000$$

साख सृजन की इस प्रक्रिया को 'गुणित-साख-विस्तार' (Multiple Credit Expansion) कहते हैं। इस सम्बन्ध मे प्रो० जी० एन० हाम के शब्द उद्धरण योग्य है —

"Multiple credit expansion increases the circulation of common money because the resulting increase in the amount of business turnover involves cash payments and correspondingly decreases the available cash reserves"

गुणित साख विस्तार' का मैकमिलन समिति (Committee on Finance and Industry U K) ने इन शब्दो मे समर्थन किया है —

"All these commercial banks in turn expand their loans again, part of the additional reserve which they have previously gained will pass over to other banks, until in the end, the increased reserves are spread over the system is a whole, supporting a large volume of loans and deposits"[1]

क्या बैंक वास्तव मे साख-सृजन करते हैं ?
(Do Banks really create Credit ?)

बैंको द्वारा साख सृजन के सम्बन्ध मे अर्थ-शास्त्रियो मे कुछ मतभेद हैं। सर्वश्री हार्टले विदर्स, आर० एस० सेयर्स, सेलिगमैन तथा जे० एम० कीन्स इत्यादि अर्थ शास्त्री इस बात के समर्थक है कि बैंक साख-सृजन करती है परन्तु डा० वाल्टर लीफ तथा एडविन कैनन इसे स्वीकार नही करते।

हार्टले विदर्स का विचार है कि "ऋण जमा को जन्म देते हैं और उनके सृजन का श्रेय बैंक को है।" ("Loans make deposits and the initiative of

1 Report of the Committee on Finance and Industries (U K.) 1931, p 12

creating them goes to the bank") परन्तु डा० वाल्टर लीफ तथा एडविन कैनन ने इसका विरोध किया है। उनके अनुसार साख-सृजन का श्रेय बैंक को न होकर जमाकर्त्ता को है। यदि जमाकर्त्ता अपनी राशि बैंक के पास न छोडकर स्वयं उपभोग कर ले और ऋणी ऋण की रकम नकदी मे प्राप्त कर ले तो साख-सृजन का प्रश्न ही पैदा नही होता। एडविन कैनन (Edwin Cannon) के शब्दो मे "बैंकिंग साख का सृजन बैंको द्वारा नही बल्कि उन ग्राहकों के द्वारा होना है जो उनके लिए आवेदन देते हैं तथा उन जमानतो द्वारा होता है जो व लाते हैं.....।" "प्रत्यक व्यावहारिक बैंकर जानता है कि वह साख, मुद्रा या अन्य किसी वस्तु का सृजनकर्त्ता नही है वरन् ऐसा व्यक्ति है जो उन लोगो, जिनके पास साधन है, से उन व्यक्तियो को जो उनका प्रयोग कर सकते हैं, ऋण दिलान को सुविधाजनक बनाता है।"[1] कैनन ने अपने मत के समथन मे यह कहा हे कि यदि जमाकर्त्ता अपनी जमा राशि बैंक से वापस ल ले तो बैंक की इस साख सृजन प्रक्रिया की असत्यता प्रकट हो जायेगी। इस सम्बन्ध मे उन्होने लबादा गृह (Cloak Room) का उदाहरण दिया है। किसी पार्टी मे जाने से पूर्व अतिथिगण यदि अपने लबादे लबादा-गृह (Cloak Room) मे जमा करा देते है तो उन लबादो को ऐसे व्यक्तियो को उधार दिया जा सकता है जो पार्टी समाप्त होने के पहले उन्हे लौटा दें। इस प्रकार लबादा गृह का व्यक्ति खाली समय मे लबादे प्रयोग करने की सुविधा अवश्य देता है परन्तु लबादो का निर्माण नही करता। इसी प्रकार बैंक जमा राशि के प्रयोग करने को सुविधा अवश्य देता है, साख का सृजन नही करता। इसी प्रकार डा० वाल्टर लीफ भी यह मानते है कि बैंक जो कुछ जमायें प्राप्त करते हैं उससे अधिक उधार नही दे सकते। उनके अनुसार भी जमाकर्त्ता ही साख के सृजनकर्त्ता हैं क्योंकि बैंक उनकी जमाओ के आधार पर ही साख का सृजन करते हैं।

आज सभी स्वीकार करते हैं कि बैंक साख का सृजन करते हैं। बैंको द्वारा साख सृजन का व्यापार और वाणिज्य के लिये बडा महत्व है और इसे स्वीकार न करना उपयुक्त नही। अत. वाल्टर लीफ तथा कैनन का विरोध अधिक तर्क सम्मत नही कहा जा सकता।

---

[1] '......Banking credits are manufactured, not by banks, but by the customers who apply to them and by the security that the customers bring......"

"Every practical banker knows that he is not a creater of credit or money or anything else, but a person who facilitates the lending of resources by the people who have lend them to those who can use them"

—Edwin Cannon : *An Economist's Protest*, p. 382

बैंकों की साख-सृजन शक्ति की सीमायें
(Limitations of Credit Creation by Banks)

बैंकों की साख सृजन की शक्ति असीम नहीं है उनकी अपनी सीमायें हैं। प्रो० बेनहम ने बैंक की साख सृजन की तीन सीमायें बताई हैं—विधि ग्राह्य मुद्रा की मात्रा, तरलता पसन्दगी तथा जमाओं के साथ नकद कोषों का अनुपात। इनके अतिरिक्त बैंकों की साख सृजन शक्ति की अन्य सीमायें भी हैं

1 देश मे विधि ग्राह्य मुद्रा की मात्रा (The quantity of Legal tender money in the country) बैंकों की साख सृजन की शक्ति उस देश मे प्रचलित विधि ग्राह्य मुद्रा की कुल मात्रा पर निर्भर करती है। जिस देश मे विधि ग्राह्य मुद्रा की मात्रा अधिक होगी वहा बैंक अधिक साख का सृजन कर सकेंगे। मुद्रा की मात्रा की वृद्धि से प्रारम्भिक जमायें बढ जाती हैं और प्रारम्भिक जमायें बढ जाने से बैंकों की साख सृजन की शक्ति बढ जाती है। इसलिये क्राउथर ने कहा है 'The bank's cash is the lever with which the whole gigantic system is manipulated'

2 तरलता पसन्दगी या जनता की बैंकिंग की आदत (Liquidity Preference or Banking Habit of the people) तरलता पसन्दगी अर्थात् नकद मुद्रा की वह मात्रा जो जनता अपने पास रखना चाहती है बैंकों की साख सृजन की शक्ति को प्रभावित करती है। यदि जनता नकदी मे अधिक व्यवहार करती है और बैंक से अधिक रुपया निकालती है तो बैंकों की नकद जमायें कम हो जाती हैं और उनके द्वारा निर्मित साख का संकुचन हो जाता है। यदि जनता मे बैंकिंग की आदत विकसित है और लोग चेक आदि साख पत्रों के माध्यम से भुगतान करते हैं तो बैंकों की नकद जमायें अधिक होंगी और वे अधिक साख का सृजन कर सकेंगे। इसीलिये विकसित देशों मे बैंकों द्वारा अधिक साख का सृजन होता है।

3 जमाओं के साथ नकद कोषों का अनुपात (Proportion of Cash Reserves to Total Deposits) देश मे विधि ग्राह्य मुद्रा की मात्रा के अतिरिक्त जमाओं के साथ नकद कोषों का अनुपात बैंकों की साख सृजन शक्ति को प्रभावित करता है। हम पहले यह चर्चा कर चुके है कि साख सृजन नकद कोष अनुपात का ठीक उल्टा होता है। यदि परम्परा तथा कानून की मान्यता के अनुसार बैंक 20 प्रतिशत या $\frac{1}{5}$ नकद कोष रखता है तो बैंक नकद जमाओं का 5 गुना या $\frac{5}{1}$ साख सृजन कर सकेगा और यदि बैंक 10 प्रतिशत या $\frac{1}{10}$ नकद कोष रखता है तो नकद जमाओं का 10 गुना या $\frac{10}{1}$ साख सृजन होगा। (The lower the proportion of cash reserve to total deposits, the higher the capacity of the bank to create credit and vice versa).

4. प्रतिभूतियो का स्वरूप (Nature of Securities) जब तक उपयुक्त प्रकार की जमानतें उपलब्ध न हो तब तक बैंक ऋण तथा अग्रिम देकर जमाओ का विस्तार नही कर सकते। क्राउथर के शब्दो मे 'बैंक शून्य से साख का सृजन नही करते, वे केवल किसी अन्य प्रकार के धन को मुद्रा के रूप मे परिवर्तित कर देते हैं।'[1] किसी भी देश मे आय प्रदान करने वाली कुल प्रतिभूतियो की मात्रा बैंको द्वारा साख सृजन की अधिकतम सीमा का निर्धारण करती है।

5. व्यापार की स्थिति (Nature of business conditions) बैंको द्वारा साख सृजन व्यापारिक परिस्थितियो पर निर्भर करता है। बैंक किसी को ऋण लेने के लिये बाध्य नही कर सकती। ऋण तभी लिये जाते है जब उपयुक्त विनियोग के अवसर उपलब्ध हो। मन्दी काल मे जमाओ मे कमी आ जाती है और साख का सृजन कम होता है। तेजी काल मे ऋणो की माग अधिक होती है और बैंको की साख सृजन की शक्ति बढ जाती है।

6 साख सृजन के क्रम मे क्षरण (Leakages in creadit creation) साख सृजन के क्रम मे कुछ क्षरण के कारण अधिकतम साख विस्तार तथा वास्तविक साख विस्तार मे अन्तर हो सकता है (अ) बैंक के पास जो अधिक कोष है वह पूरा हो उधार दे दिया जाय, यह आवश्यक नही। ऋण कोष से जितना कम होगा, साख सृजन भी कम होगा। (ब) सभी ऋणी ऋण की कुल राशि बैंक मे न रखकर अपने पास रख सकते हैं और फिर प्रत्यक स्तर पर नयी जमायें ऋणो की कुल राशि स कुछ कम होगी। उस सीमा तक साख सृजन भी कम होगा।

7. केन्द्रीय बैंक की नीति (Policy of the Central Bank) केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति बैंको की साख सृजन की शक्ति को नियमित करती है। बैंक दर खुले बाजार की क्रियाओ, नकद कोष के अनुपात मे परिवर्तन इत्यादि साख नियन्त्रण के साधनो का प्रयाग कर केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा का देश हित मे नियन्त्रित करती है।

उपर्युक्त सीमाओ के विवेचन से स्पष्ट है कि बैंक एक सीमा के अन्दर ही साख सृजन कर सकती है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

1 व्याख्या कीजिये कि बैंक साख-निर्माण कैसे करते हैं। साख निमाण करने मे बैंक की शक्तियो की क्या कोइ सीमा भी है ? यदि है तो उसकी व्याख्या करें। (राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1967)

---

1. "Banks do not create money out of thin air, it transmutes other forms of wealth into money" —Crowther

[संकेत–बैंको द्वारा साख सृजन की विधि का उदाहरणों सहित विस्तृत विवेचन कीजिये तथा बैंको की साख सृजन की शक्ति की सीमाये बताइये ।]

2. बैंक केवल मुद्रा जुटाने वाली सस्था ही नही, वे एक महत्वपूर्ण अर्थ म मुद्रा के सृजनकर्त्ता भी है।" (सेयर्स) इसकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये ।

(राजस्थान बी० ए०, 1964)

[संकेत–सक्षेप मे यह बताइय कि बैंक का कार्य केवल जमायें स्वीकार करन तथा ऋण देने तक ही सीमित नही है वरन् उनका इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य साख का सृजन करना है । बैंको द्वारा साख सृजन की विधि का विस्तार से उदाहरण सहित स्पष्टीकरण कीजिय ।]

3 "ऋण का सृजन जमा से होता है और जमा का सृजन ऋण से होता है ।" इस कथन की सूक्ष्म रूप से विवेचना कीजिये ।

(मगध बी० काम०, 1963)

[संकेत–स्पष्ट कीजिये कि जमायें ऋण और ऋण जमाओ को कैसे जन्म देते हैं और विस्तार से बैंको द्वारा साख सृजन की विधि का उदाहरणों सहित वर्णन कीजिय ।]

14

आधुनिक बैंकों के विभिन्न रूप
(Types of Modern Banks)

"There is no line of demarcation with regard to the functions which a bank has to perform. An exchange bank may engage itself in commercial business as well, while indigenous bankers may not only invest their capital in long term industrial loans but also in side business as well"

बैंक ऋण देने तथा निक्षेप प्राप्त करने से सम्बन्धित सभी कार्य करती है परन्तु विशिष्टीकरण के इस युग मे बैंक भी कुछ विशिष्ट प्रकार के कार्यों मे दक्षता प्राप्त कर लेती हैं। विभिन्न व्यवसायो तथा क्षेत्रो की साख आवश्यकताओ की प्रकृति भिन्न-भिन्न होने के कारण एक ही बैंक के द्वारा सभी क्षेत्रो की आवश्यकताओ की पूर्ति सम्भव नही है। इसीलिए बैंको ने कुछ विशिष्ट क्षेत्रो मे ही अपने कार्यो को सीमित रखा है और उसी रूप मे उनको जाना भी जाता है। बैंको को उनके कार्यों की विभिन्नता के आधार पर निम्नलिखित वर्गो मे बाटा जाता है —

1. व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)
2. कृषि बैंक (Agricultural Banks)
3. औद्योगिक बैंक (Industrial Banks)
4. विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Banks)
5. स्वदेशी बैंकर्स (Indigenous Bankers)
6. बचत बैंक (Saving Banks)
7. केन्द्रीय बैंक (Central Bank)
8. अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Banks)

1. व्यापारिक बैंक (Commercial Banks) : व्यापारिक बैंक, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, वे बैंक हैं जो मुख्यतः व्यापारियो को अल्पकालीन ऋण तथा अग्रिम देते हैं। इनके द्वारा दिये जाने वाले ऋणो की अवधि 3 महीने से 12 महीन तक की होती है। ये बैंक व्यापार की केवल अल्पकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति इसलिए करते हैं क्योकि इन बैंको को निक्षेप अल्पकाल के लिए ही प्राप्त होते हैं। अल्पकालीन निक्षेपो के रूप मे प्राप्त कोपो को ये बैंक उद्योगो को दीघकालीन ऋण के रूप मे देने की स्थिति मे नही होते। भारत के अधिकाश सयुक्त पूँजी बैंक व्यापारिक

बैंक ही हैं। व्यापार की वित्त व्यवस्था के अतिरिक्त ये बैंक बहुत से अन्य कार्य भी करते हैं जिनका विस्तृत विवरण अध्याय 12 मे किया गया है। व्यापार के सदर्भ मे इनका कार्य क्षेत्र बडा व्यापक होता है और देश के आर्थिक सगठन मे इनका महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ व्यापारिक बैंक अब विदेशी व्यापार की वित्त व्यवस्था मे योगदान करने लगे हैं। जब हम केवल 'बैंक' शब्द का प्रयोग करते हैं और इसके पहले कोई विशेषण नही लगाते तो हमारा तात्पर्य व्यापारिक बैंक से ही होता है। हमारे देश म स्टेट बैंक आफ इण्डिया, बैंक आफ बडौदा, सेन्ट्रल बैंक आफ इण्डिया, बैंक आफ इण्डिया, पजाब नशनल बैंक आदि मुख्य व्यापारिक बैंक हैं।

2. कृषि बैंक (Agricultural Banks) : कृषि की आर्थिक आवश्यकतायें तथा तत्सम्बन्धी समस्याय व्यापार तथा उद्योग धन्धो की आर्थिक आवश्यकताओ तथा समस्याओ से भिन्न होती है। इसलिए जो बैंक व्यापार तथा उद्योग की वित्त-व्यवस्था करते हैं वे कृषि की वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति करने म सामान्यतः असमर्थ होते हैं। अत कृषि की पूँजी की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए विशिष्ट बैंको की आवश्यक्ता है। कृषि के लिए तीन प्रकार की पूँजी की आवश्यकतायें होती हैं। (1) अल्पकालीन पूँजी (Short term capital) कृषको को बीज, खाद आदि खरीदने के लिए, लगान दन के लिए तथा दिन प्रतिदिन की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए 6 माह से एक साल तक के लिए ऋणो की आवश्यकता होती है। (2) मध्यम कालीन पूँजी (Intermediate term capital) कृषि से सम्बन्धित छोटे-मोटे औजार, बैल आदि खरीदने के लिए कृषक को 1 वर्ष से 3 वर्ष तक के लिए ऋणो की आवश्यकता पडती है (3) दीर्घकालीन पूँजी (Long term capital) भूमि खरीदन, उस पर बडे पैमाने के स्थायी सुधार करने तथा सिंचाई आदि की व्यवस्था करने क लिए तीन वप से अधिक की अवधि के लिए ऋणो की आवश्यकता पडती है।

कृषको की उपर्युक्त पूँजी की आवश्यक्ताओ की पूर्ति के लिए दो प्रकार के कृषि बैंक हैं। प्रथम, कृषि सहकारी बैंक (Agricultural Co-operative Banks) जो कृषको की अल्पकालीन तथा मध्यकालीन पूँजी की आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। द्वितीय, भूमि बधक बैंक (Land Mortgage Banks) जो कृषको की दीर्घकालीन पूँजी की आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। इन दोनो प्रकार के बैंको का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(अ) कृषि सहकारी बैंक (Agricultural Co-operative Banks) कृषि सहकारी बैंक कृषको की अल्प तथा मध्यम कालीन पूँजी की आवश्यक्ताओ की पूर्ति करते हैं। हमारे देश म सहकारी बैंको का सगठन स्तूपाकार (Pyramidical) है जिसम ग्राम स्तर पर प्राथमिक साख समितियाँ (Primary Credit Societies) जिला

स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Banks) तथा राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक या शीर्ष बैंक (State Co-operative Bank or Apex Bank) कार्य करते हैं। ग्राम के दस या दस से अधिक व्यक्ति प्राथमिक साख समिति का गठन कर सकते हैं। ये साख समितिया अपने सदस्यो को अल्प तथा मध्यम कालीन ऋण देती हैं। जिले भर की प्राथमिक साख समितियाँ जिला सहकारी बैंक की सदस्य होती हैं और वही से उन्हे ऋण के रूप मे कोष प्राप्त होने हैं। जिला सहकारी बैंक राज्य स्तर पर राज्य सहकारी बैंक से सम्बद्ध होते हैं जो उनकी ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। इन राज्य सहकारी बैंको को रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त होते हैं।

(ब) भूमि–बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks) कृषकों को भूमि क्रय करने तथा भूमि पर सुधार करने इत्यादि के लिए ऋण भूमि बधक बैंकों द्वारा दिये जाते हैं। यह ऋण 5 वर्ष से 25 वर्ष तक के लिए दिये जाते हैं और इनका भुगतान आसान किस्तो मे किया जाता है। ऋण देते समय भूमि को बधक (Mortgage) रखा जाता है। भूमि बधक बैंको का सगठन सहकारी तथा मिश्रित पूँजी आधार पर किया जाता है। भारत मे ये बैंक मद्रास, महाराष्ट्र आदि राज्यो मे अधिक सफल रहे हैं।

(3) औद्योगिक बैंक (Industrial Banks) : ऐसे बैंक जो उद्योगो की वित्त व्यवस्था करते है औद्योगिक बैंक कहलाते हैं। उद्योगो को 5 वर्ष से 20 वर्ष तक के लिए दीर्घकालीन ऋणो की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति व्यापारिक बैंक नही कर सकते। ये ऋण औद्योगिक बैंको द्वारा ही दिये जाते है। दीर्घकालीन ऋण देने के अतिरिक्त ये बैंक कम्पनियो के अंश–पत्रो तथा ऋण-पत्रो का अभिगोपन (Underwriting of Shares and Debentures) करती हैं और औद्योगिक समस्याओ के सम्बन्ध मे सलाह भी देते है। जर्मनी और जापान म इस प्रकार के बैंक बहुत सफल हुए है। भारत म स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले इस प्रकार के बैंक नही थे। बहुत पहले टाटा इन्डस्ट्रियल बैंक की स्थापना हुई थी जो असफल हो गया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति क बाद उद्योगो की वित्त-व्यवस्था के लिए बहुत से वित्त-निगमो की स्थापना की गइ है जैसे भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation of India) राज्यो क औद्योगिक वित्त निगम (State Finance Corporations) औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम (Industrial Credit and Investment Corporation) इत्यादि। इन निगमो न सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रो मे औद्योगिक कम्पनिया का पर्याप्त वित्तीय सहायता दी है और देश के बढत औद्योगीकरण म महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

(4) विदशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Banks): इन बैंको को

विनिमय बैंक भी कहते है । ये बैंक विदेशी व्यापार की वित्त व्यवस्था (Financing of Foreign Trade) करते है और विदेशी व्यापार मे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक लेन-देन की जटिलताओ को सरल बनाते है । ये बैंक विदेशी बिल्स का क्रय विक्रय करके विदेशी भुगतान मे सहायता पहुचात ह । ब्रिटिश शासन काल मे जिन देशो से भारत का अधिक व्यापार हाता था उन दशो की बैंको ने भारत मे शाखायें खोलकर विदेशी व्यापार की वित्त व्यवस्था की । इसलिए इन विनिमय बैंको को भारत मे विदेशी विनिमय बैंको के नाम से जाना जाने लगा । विदेशी व्यापार तथा विनिमय सम्बन्धी विशेष ज्ञान तथा विशाल पूंजी साधनो के कारण इन बैंको का विदशी व्यापार की वित्त व्यवस्था करने म पूण एकाधिकार था और ये बैंके भारतीय व्यापारियो के साथ भेद भाव पूर्ण नीति अपनाते थे । अब भारतीय व्यापारिक बैंक भी विदशी यापार की वित्त व्यवस्था करने लगे हैं और इस ओर अधिक अग्रसर हो रह है ।

(5) **स्वदशी बैंकस** (Indigenous Bankers) आधुनिक बैंको के साथ प्राचीन बैंकिग प्रणाली पर आधारित बैंक भी भारत मे कार्य कर रहे है । इन्हे स्वदशी बैंकस के नाम से जाना जाता है । भारत की अथ व्यवस्था म इनका बडा महत्वपूर्ण स्थान है । स्वदशी बैंकस बैंकिग व्यवसाय क साथ-साथ शर्राफी, थोक व फुटकर व्यापार, आढत इत्यादि अन्य काय भी करते हैं । स्वदेशी बैंकर्स का मुख्य काय निक्षेप प्राप्त करना, ऋण देना तथा हुडियो मे व्यवहार करना है । ये बैंकर्स निक्षेपो का चेक द्वारा निकालने की सुविधा नही देत । ऋणो पर इनके द्वारा ली जाने वाली व्याज दर अन्य बैंको की तुलना मे ऊची होती है । इनकी कार्य प्रणाली बडी सरल तथा लचीली है परन्तु इसम कुछ दोष भी पाये जाते हैं । स्वदेशी बैंकर्स रिजर्व बैंक के नियन्त्रण से मुक्त है और उन्ह भारतीय मुद्रा बाजार के सगठित भाग के अग बनाने क रिजव बैंक के सभी प्रयत्न असफल रहे है । इसका मुख्य कारण यह है कि व अपने व्यावसायिक काय बन्द नही करना चाहते ।

(6) **बचत बैंक** (Savings Banks) इन बैंको का मुख्य उद्देश्य जनता म मितव्ययिता की आदत डालना है । अमेरिका मे इस प्रकार के बैंक अलग हैं परन्तु हमारे देश मे बचत बैंको का काय व्यापारिक बैंको तथा डाकघरो द्वारा किया जाता है । इन बचत खातो मे लोग अपनी छोटी-छोटी बचतो को जमा कर देते है और इन पर ब्याज भी मिलता है । बैंको ने तो बचत खाते म चेक द्वारा राशि निकालने की सुविधा भी प्रदान की है । इन खातो मे रुपया कितनी भी बार जमा कराया जा सकता है । कुछ बैंकें वष म अधिक से अधिक 100 बार रुपया निकालने की आज्ञा दती है ।

(7) **केन्द्रीय बैंक** (Central Bank) केन्द्रीय बैंक, जैसा कि नाम से ही विदित है, देश की बैंकिग व्यवस्था की सर्वोच्च सस्था होती है । इसकी स्थापना लाभ

के उद्देश्य के लिए न होकर देश की बैंकिंग व्यवस्था का देश हित में सचालन करने के उद्देश्य से की जाती है। केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य बैंकिंग व्यवस्था का नियन्त्रण तथा नियमन करना होता है। देश की मौद्रिक नीति का निर्धारण तथा क्रियान्वयन का गुरुत्तर उत्तरदायित्व केन्द्रीय बैंक का ही है। सभी देशो मे नोटो के निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को ही प्राप्त है। यह बैंको के बैंक (Banker's Bank) तथा सरकारी बैंक (Banker to the Government) का भी कार्य करता है। केन्द्रीय बैंक को देश की बैंक व्यवस्था का नेता, सलाहकार तथा शुभचिन्तक कहा जाता है। लगभग सभी देशो मे केन्द्रीय बैंक है। अमेरिका मे फेडरल रिजर्व बैंक (Federal Reserve Banks) है परन्तु वे अलग-अलग न होकर एक केन्द्रीय बैंक व्यवस्था (Central Banking System) के ही अग हैं। भारत का केन्द्रीय बैंक रिजर्व बैंक आफ इन्डिया है जिसकी स्थापना 1934 मे की गई थी।

(8) अन्तर्राष्ट्रीय बंक (International Bank) : अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय व्यवहारो के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कुछ बैंको की स्थापना की गई है—(1) अन्तराष्ट्रीय भुगतानो का बैंक (The Bank of International Settlement) की स्थापना 1930 मे जर्मनी से क्षतिपूर्ति तथा प्रथम महायुद्ध के ऋणो की समस्या का समाधान करने के लिए हुई थी। अब यह बैंक पश्चिमी योरोप के देशो के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो मे व्यवहार करता है। (2) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप (International Monetary Fund) का गठन सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्य देशो मे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग बढाने के लिए हुआ था। इसका कार्य विदेशी भुगतानो को सुविधाजनक बनाना है और देशो की मुद्रा के विनिमय मूल्य मे स्थिरता लाना है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अबाध गति से होता रहे। (3) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development), जिसे सक्षेप मे विश्व बैंक कहा जाता है, विभिन्न देशो के पुनर्निर्माण तथा विकास के लिए ऋण देता है। कोप तथा बैंक की स्थापना 1944 म की गई थी।

बैंको के विभिन्न प्रकारा का उपर्युक्त विवेचन बैंकिंग व्यवस्था पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है। जैसा कि अध्याय के प्रारम्भ मे दिए उद्धरण से स्पष्ट है कि इन विभिन्न बैंको मे भेद की रेखा बडी सूक्ष्म है और एक प्रकार की बैंक दूसरे प्रकार की बैंको के कुछ कार्य भी करती है। सभी बैंक अपनी विशेषता रखते हैं और एक सुदृढ तथा सगठित बैंकिंग व्यवस्था के अग के रूप मे सभी का महत्व है।

बैंकिंग संगठन
(Organisation of Banking)

व्यापारिक बैंक के सगठन की दो मुख्य रीतिया हैं :

(अ) शाखा बैंकिंग (Branch Banking)
(ब) इकाई बैंकिंग (Unit Banking)

कुछ समय पहले अर्थशास्त्रियों तथा बैंकरों में बड़ा वाद विवाद था कि इन दो बैंकिंग सगठनों—शाखा तथा इकाई बैंकिंग में कौन अधिक उपयुक्त तथा लाभदायक है। परन्तु अब इसका महत्व अध्ययन मात्र की दृष्टि से है; इस विवाद का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है।

(अ) शाखा बैंकिंग (Branch Banking)

इस प्रणाली के अन्तर्गत बैंकों की संख्या तो कम होती है परन्तु किसी बड़े नगर में स्थित अपने प्रधान कार्यालय के अतिरिक्त बैंकों की अनेक शाखायें देश के विभिन्न भागों में फैली रहती हैं। इस प्रणाली का सबसे सुन्दर रूप हमें इंगलैण्ड में देखने को मिलता है। यह प्रणाली कनाडा, फ्रांस, जर्मनी तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों में प्रचलित है। इंगलैंड में तो 11 समाशोधन बैंकों (Clearing Banks) में से पांच बड़ी बैंकों (The Big Five)—मिड लैंड, लायड्स, बर्कलेज, नेशनल प्राविन्शियल तथा वेस्ट मिनिस्टर—अपनी 8,000 शाखाओं द्वारा देश के अधिकतर बैंकिंग व्यवसाय का सम्पादन करते हैं। भारत में भी शाखा बैंकिंग प्रणाली का प्रचलन है। यहां भी कुछ बड़े बड़े बैंक अनेक राज्यों में फैली अपनी अनेक शाखाओं द्वारा बैंकिंग कार्य करते हैं।

शाखा बैंकिंग के गुण
(Merits of Branch Banking)

शाखा बैंकिंग प्रणाली के निम्नलिखित गुण उल्लेखनीय हैं :—

(1) पूंजी का उपयुक्त वितरण (Proper Distribution of Capital) : शाखा बैंकिंग प्रणाली का सबसे महत्वपूर्ण गुण यह है कि देश भर में फैली शाखाओं के जाल के कारण पूंजी ऐसे क्षेत्रों से जहां वह अधिक होती है, ऐसे क्षेत्रों में स्थानान्तरित हो जाती है जहां उसकी आवश्यकता होती है। उसका लाभ यह होता है कि पूंजी अपने अधिकतम लाभपूर्ण उपयोग में आ जाती है और देश के उत्पादन या राष्ट्रीय आय को बढ़ाने में योगदान करती है। इसके साथ साथ देश के विभिन्न क्षेत्रों की ब्याज दरों में एक रूपता आ जाती है।

(2) बड़े पैमाने की उत्पत्ति तथा श्रम-विभाजन के लाभ (Advantages of Large Scale Production and Division of Labour) : शाखा बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत बड़े बड़े बैंक होते हैं और उन बैंकों की पूंजी जुटाने की क्षमता भी बहुत अधिक होती है। सभी कार्य बड़े पैमाने पर होते हैं अत बड़े पैमाने की सभी मितव्ययितायें प्राप्त हो जाती हैं और प्रबन्ध तथा प्रशासन की लागत कम हो जाती है। बैंक अपने मुख्य कार्यालयों में अनुसन्धान विभागों की स्थापना कर नये-नये परीक्षण कर अपनी कार्यक्षमता बढ़ा सकती है। बैंक योग्य तथा प्रशिक्षित कर्मचारियों की सेवायें तथा विशेषज्ञों की सलाह भी प्राप्त कर सकती है।

(3) **नकद कोषो की बचत** (Economy in Cash Reserves) शाखा बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत शाखाओ का कम नकद कोष रख कर भी कार्य चल जाता है क्योकि आवश्यकता पडने पर अन्य शाखाओ तथा मुख्य कार्यालय से कोषो को प्राप्त करके अपनी आवश्यकता पूर्ति की जा सकती है। कम नकद रखने के कारण बैंको की साख सृजन की शक्ति भी अधिक होती है।

(4) **धन हस्तान्तरण मे सुविधा :** (Remittance facilities) बैंको की शाखायें देश के विभिन्न भागो मे फैली होने के कारण धन का एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरण सुविधापूर्वक तथा सस्ती दर पर हो जाता है।

(5) **जोखिम का बटवारा** (Diversification of Risks) शाखा बैंकिंग प्रणाली मे देश के विभिन्न भागो मे शाखाय फैली होने के कारण निक्षेपो तथा आदेयो की दृष्टि से फैलाव (Diversification) की सम्भावनायें बढ जाती हैं। बैंको द्वारा देश के विभिन्न क्षेत्रो तथा उद्योगो मे विनियोग किय जाते है इसलिए जोखिम क्षेत्रीय तथा उद्योगो के आधार पर वितरित हो जाती ह। (Risks are scattered over a number of industries and over a wide area) इकाई बैंकिंग की तरह बैंको का किसी क्षेत्र या उद्योग विशेष से ही बधे नही रहना पडता। इस प्रकार यदि किसी क्षेत्र या उद्योग पर कोई आर्थिक सकट आता ह तो बैंक उसका सामना दृढता से कर सकता है और वह फेल नही होगा। बैंक की छोटी से छोटी शाखा के पीछे पूरे बैंक के साधनो का सहारा होता है। एक शाखा की हानि दूसरी शाखा के लाभ से पूरी की जा सकती है। इस प्रणाली का एक लाभ यह भी है कि इतने शक्तिशाली, साधन सम्पन्न तथा कुशल प्रबन्ध वाले बैंको की सेवाओ का लाभ छोटे छोटे व्यापारी भी उठा सकते है। शाखा बैंकिंग से व्यापार को बडी सुविधा हो जाती है क्योकि एक क्षेत्र के व्यापारी दूसरे क्षेत्र के व्यापारियो के सम्पर्क म आ जाते हैं।

(6) **बैंकिंग सुविधाओ मे वृद्धि** (Expansion of banking services) शाखा बैंकिंग प्रणाली द्वारा उच्च स्तरीय बैंकिंग सेवाओ का छोटे छोटे कस्बो तथा पिछडे हुए क्षेत्रो मे विस्तार किया जा सकता है। इकाई बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत छोटे स्थानो पर बैंको का खोलना आर्थिक दृष्टि से असम्भव होता है।

(7) **ऋण तथा अग्रिम गुणो के आधार पर** (Loans and advances made on merits) शाखा बैंकिंग प्रणाली मे ग्राहको को ऋण तथा अग्रिम सिद्धान्तो के आधार पर ही स्वीकृत किए जाते है, अन्य कारणो से प्रभावित होकर नही। शाखा मैनेजर ऋण स्वीकृत करते समय किसी व्यक्तिगत या स्थानीय तत्वो से प्रभावित नही होता क्योकि ऋणो को स्वीकृत करने के नियम इत्यादि मुख्य कार्यालय द्वारा निर्मित होते है। यदि ग्राहक ऋण देने योग्य नही है और उसे ऋण

नही दिया गया तो मैनेजर इसकी जिम्मेदारी मुख्य कार्यालय पर डालकर ग्राहक से मधुर व्यक्तिगत सम्बन्ध बनाये रख सकता है।

(8) केन्द्रीय बैंक द्वारा नियन्त्रण प्रभावपूर्ण (Central Banking Control Effective) शाखा बैंकिग प्रणाली मे केन्द्रीय बैंक का बैंको पर नियन्त्रण अधिक प्रभावपूर्ण हो सकता है क्योंकि बैंको की सख्या कम होती है। केन्द्रीय बैंक विभिन्न बैंको के प्रतिनिधियो से शीघ्र सम्पर्क स्थापित कर सकता है और अपनी मौद्रिक नीतिया उन्हे स्पष्ट कर उनका सहयोग प्राप्त कर सकता है। इंगलैंड मे बैंक आफ इगलैण्ड तथा भारत मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने कई बार बैंको के सहयोग से अपनी नीतियो को सफलतापूर्वक नियन्त्रित किया है।

(9) प्रशिक्षण सुविधायें (Training facilities) : शाखा प्रणाली मे शक्तिशाली बैंको द्वारा अपने कर्मचारियो को उच्चस्तरीय शिक्षा तथा प्रशिक्षण सुविधायें मिल जाती हैं। उनके बैंकिग शिक्षा तथा व्यवहार सम्बन्धी प्रशिक्षण कार्यक्रम अधिक उपयुक्त तथा व्यापक होते हैं। इस प्रकार बैंकिग सेवा अधिक कार्यकुशल होती है और जनता का बैंको मे विश्वास बढता है।

शाखा प्रणाली के दोष
(Defects of Branch Banking)

शाखा बैंकिग प्रणाली के दोष निम्नलिखित हैं —

(1) प्रबन्ध तथा निरीक्षण मे कठिनाई (Difficulties in Organisation and Supervision) शाखा बैंकिग प्रणाली म दूर दूर अनेक शाखाये होती हैं और बैंक का आकार इतना बडा होता है कि उसका प्रबन्ध तथा निरीक्षण मुख्य कार्यालय से करना बडा कठिन होता है। ब्रान्च मैनेजर को अधिकारो का पर्याप्त हस्तान्तरण न होने के कारण वह सदा मुख्य कार्यालय के आदेशो की बाट जाहता है और इस प्रकार ऋण स्वीकृत होने मे अनावश्यक देरी हो जाती है।

(2) स्थानीय आवश्यकताओ के प्रति सद्भावना का अभाव (Lack of sympathy for local needs) : शाखा बैंकिग प्रणाली के अलोचको का कथन है कि शाखाओ के मैनेजर स्थानीय परिस्थितियो तथा व्यक्तियो की विशेष कठिनाइयो तथा समस्याओ से परिचित नही होते क्योकि उनका थोडे समय बाद स्थानान्तरण होता रहता है। मुख्य कार्यालय भी स्थानीय परिस्थितियो से परिचित नही होता। अत शाखा बैंकिग प्रणाली स्थानीय आवश्यकताओ के प्रति सद्भावना नही रखती।

(3) प्रारम्भन प्रेरणा का अभाव (Lack of Initiative and Enterprise) . शाखा प्रणाली मे नीति निर्धारण तथा नियम इत्यादि का निर्माण मुख्य कार्यालय द्वारा ही होता है अतः शाखा स्तर पर आवश्यक उत्साह, प्रारम्भन प्रेरणा

(initiative) तथा स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार शीघ्र निर्णय क्षमता का अभाव रहता है। परिस्थिति के अनुसार तथा ग्राहक विशेष की रुचियो के अनुसार निर्णयो मे लोच की भी कमी रहती है।

(4) **एकाधिकार तथा शक्ति के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति** (Creates Monopolies and Concentration of Power) : शाखा बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत एकाधिकार तथा साधनो के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। कुछ मुट्ठी भर लोगो के हाथो मे असीम वित्तीय साधन केन्द्रित हो जाते हैं जो समाज के लिए हानिकारक है। इसी डर के कारण अमेरिका मे इकाई बैंकिंग प्रणाली अपनायी गई है।

(5) **स्थानीय कोषो का अन्य बड़े स्थानों पर प्रयोग** (Funds of locality used elsewhere) . इस प्रणाली के अन्तर्गत यह भय है कि स्थानीय कोषो का प्रयोग उसी क्षेत्र के विकास के लिए न होकर अन्य बडे शहरो तथा क्षेत्रों के विकास के लिए होता है। बैंकें बडे-बडे व्यापारिक तथा औद्योगिक केन्द्रो मे पूंजी का विनियोग करना अधिक लाभदायक समझते हैं। परन्तु इस तर्क को उल्टा भी जा सकता है। जैसा कि एल० व्ही० चैन्डलर ने कहा है :

"The channels or pipeline which are constructed between small and big places serve to pump rather than drain funds from small places"

(6) **खर्चीली प्रणाली** (Expensive System) : बडे सगठनो की प्रबन्ध व्यवस्था तथा प्रशासन पर बहुत अधिक व्यय होता है। कभी कभी प्रबन्ध Top heavy हो जाता है और खर्च अनावश्यक रूप से बढ जाते है।

(7) **अनार्थिक प्रतियोगिता** (Uneconomic and Wasteful Competition) : शाखा बैंकिग प्रणाली का यह दोष है कि इसमे बैंको के बीच अनावश्यक तथा अपव्ययी प्रतिस्पर्धा होती है। एक ही स्थान पर कई बैंको की शाखायें खोल दी जाती है और उनमे निक्षेप आकर्षित करने तथा ग्राहको को अपनी ओर लाने के लिए अनार्थिक प्रतियोगिता होती है जो बैंकिग व्यवस्था तथा देश हित मे नही है। एक ओर बैंको की शाखाये परस्पर प्रतियोगिता मे लगी रहती है और दूसरी ओर कुछ क्षेत्र बैंकिग सेवाओ से वचित रह जाते हैं।

(ब) इकाई बैंकिंग (Unit Banking)

इकाई बैंकिग प्रणाली के अतर्गत बैंक का एक ही कार्यालय होता है या एक सीमित क्षेत्र मे कुछ शाखायें खोलकर भी बैंक कार्य करता है। केन्ट के अनुसार "इकाई बैंकिग प्रणाली मे प्रत्येक स्थानीय बैंक एक पृथक निगम होती है जिसकी पृथक रचना होती है और जिसकी अपनी पूंजी, सचालक मडल तथा अंशधारी होते

है।" देश मे इस प्रकार के स्वतन्त्र बैंक बहुत अधिक सख्या मे होते है। अमेरिका मे यह प्रणाली बडी लोकप्रिय सिद्ध हुई है। यद्यपि वहाँ प्रत्येक बैंक की स्वतन्त्र सत्ता है परन्तु फिर भी वे एक दूसरे से व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। कस्बे के बैंक निकटवर्ती नगर के बैंक क पास अपने नक्द कोष जमा करा देते हैं और उन्हे करॅस्पोन्डेन्ट बैंक (Correspondent Bank) बना लेते हैं।

इकाई बैंकिंग के गुण (Merit of Unit Banking)

इकाई बैंकिंग प्रणाली के निम्नलिखित गुण है—

(1) प्रबध तथा निरीक्षण मे सुविधा (Facility in Management and Supervision) इकाई बैंकिंग प्रणाली मे बैंको का काय क्षेत्र बहुत सीमित होता है इसलिए बडे पैमाने की उत्पत्ति की अमितव्ययिताओ (Diseconomies of Large Scale Production) से बचत हो जाती है। बैंक का प्रबन्ध तथा कार्य का निरीक्षण अधिक सरल तथा सुविधाजनक हो जाता है।

(2) स्थानीय हितो की सुरक्षा (Protection of local interests) : इकाई बैंकिंग प्रणाली मे स्थानीय हितो की अधिक सुरक्षा होती है। उसी क्षेत्र के कोषों का प्रयोग उसी क्षेत्र के आर्थिक विकास मे होता है। स्थानीय तथा क्षेत्रीय आवश्यकताओ तथा समस्याओ से बैंक अधिक परिचित रहता है और उनके समाधान का प्रयत्न करता है।

(3) प्रारम्भन प्रेरणा की उपस्थिति (Individual initiative and enterprise) · विभिन्न बैंको की स्वतन्त्र सत्ता तथा प्रबध होने के कारण व्यक्तिगत प्रारम्भन प्रेरणा तथा साहस के लिए पर्याप्त क्षेत्र रहता है। कर्मचारियो मे भी कार्य क प्रति उत्साह तथा उत्तरदायित्व की भावना रहती है।

(4) आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण (Decentralisation of Economic Power) इकाई बैंकिंग प्रणाली मे छोटे छोटे सैकडो बैंक होते है इसलिए वित्तीय साधनो पर कुछ इने गिने लोगो का एकाधिकार नही होता।

(5) स्वतन्त्र उपक्रम सिद्धात के अनुकूल (In Conformity with the principle of free enterprise) यह प्रणाली स्वतन्त्र उपक्रम सिद्धान्त के अधिक अनुकूल है क्योकि प्रत्येक इकाई को पर्याप्त स्वतन्त्रता तथा प्रारम्भन प्रेरणा रहती है।

इकाई बैंकिंग के दोष
(Defects of Unit Banking)

इकाई बैंकिंग के दोष निम्नलिखित हैं—

(1) जोखिम का बटवारा नहीं (Diversification of risk not possible) : इकाई बैंकिंग के अतर्गत बैंको का कार्य क्षेत्र भौगोलिक तथा औद्योगिक

दृष्टि से सीमित होने के कारण जोखिम का बटवारा सम्भव नही है। सकटकाल म बैंको के फेल होने का डर अधिक रहता है। अमेरिका म 1931 33 के मंदीकाल मे 5 100 बैंक फेल हो गई थी और इससे यह स्पष्ट हो गया कि इकाई बैंकिंग कठिनाईयो को झलने के अयोग्य है। (Unit banks are ill equipped to with stand adversity

(2) बैंकिग सेवाओ के प्रसार मे बाधक (Obstruction in the expansion of banking services) इकाई बैंको के वित्तीय साधन तथा कार्य क्षेत्र सीमित होने के कारण वे सभी को पर्याप्त बैंकिग सेवायें उपलब्ध नही कर सकते। साधनो के अभाव मे इन बैंका की प्रबध व्यवस्था भी अधिक कायकुशल नही होती।

(3) पूजी के हस्तान्तरण मे कठिनाई (Difficulties in the transfer of funds) इकाई बैंको की शाखायें देश के विभिन्न क्षेत्रो मे न होने के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान को कोषो के हस्तान्तरण मे कठिनाइया पैदा होती है। परन्तु करेस्पोन्डेन्ट बैंक (Correspondent Banks) बनाकर यह कठिनाई दूर की जा सकती है जैसा कि अमेरिका म किया जाता है।

(4) श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण का अभाव (Lack of Division of Labour and Specialisation) इकाई बैंकिंग मे छोटे छोटे बैंक अधिक सख्या म होने के कारण बडे पैमाने की उत्पत्ति की मितव्ययितायें नही प्राप्त की जा सकती और श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण को नही अपनाया जा सकता। परिणाम स्वरुप बैंको की लागत बढ जाती है।

शाखा बैंकिग श्रेष्ठ है या इकाई बैंकिग ?
(Which is better Branch Banking or Unit Banking ?)

शाखा तथा इकाई बैंकिग प्रणालियो के गुण दोषो का सापेक्षिक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि शाखा बैंकिग प्रणाली अधिक लाभप्रद है और सकटकालीन कठिनाइया सहन करने की उसकी शक्ति अधिक है। टामस (Thomas) के शब्दो मे 'यद्यपि दोनों ही प्रणालियाँ अपूर्ण है परन्तु दोना की कार्य पद्धति देखने से पता चलता है कि शाखा बैंकिग प्रणाली अधिक उत्तम है।' यहाँ तक कि अमेरिका मे भी जहाँ इकाई बैंकिग प्रणाली अति लोकप्रिय हुई है, इकाई बैंकिग प्रणाली के दोषो को दूर कर उसमे सुधार करके शाखा बैंकिग प्रणाली के लाभो को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है। भारत मे भी शाखा बैंकिग प्रणाली को अपनाया गया है और इसके अतगत भारतीय बैंकिग व्यवस्था ने पर्याप्त प्रगति भी की है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संकेत

(1) शाखा बैंकिंग तथा इकाई बैंकिंग प्रणालियों के सापेक्षिक गुण तथा दोषों की व्याख्या कीजिए। भारत के लिए उनमें से कौन सी प्रणाली अधिक उपयुक्त है।

(राजस्थान बी काम, 1948, 1950, 1952; बिहार बी. ए., 1960)

[संकेत–प्रथम भाग में शाखा तथा इकाई बैंकिंग प्रणालियों का अर्थ स्पष्ट करते हुए उनके गुण तथा दोष बताइये। दूसरे भाग में भारत की परिस्थितियों के संदर्भ में शाखा बैंकिंग प्रणाली की उपयुक्तता सिद्ध कीजिए।]

(2) बैंकों के विभिन्न प्रकारों तथा उनके कार्यों का वर्णन कीजिए।

(विक्रम बी० ए०, 1959)

[संकेत–इसी अध्याय में वर्णित विभिन्न प्रकार के बैंकों तथा उनके कार्यों का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।]

15

बैंकों की कार्य-प्रणाली

(The Banking Operations)

"As long as financial skies are sunny, the same profit maximising logic that compels the abandonment of a system of 100 per-cent reserves argues in favour of negligible reserves"

Samuelson

बैंको को मुद्रा का व्यापारी (Dealers in Money) एव मुद्रा का निर्माता (Manufactures of Money) कहा गया ह। इन दोनो रूपो मे बैंक किस प्रकार अपने कार्यों का सम्पादन करता है, यह जानना आवश्यक है। पिछले अध्याय मे *यह बताया जा चुका है कि बैंक किस प्रकार मुद्रा अथवा साख का निर्माण करते* हैं। यहा हम यह बताने का प्रयत्न करेगे कि बैंक किस प्रकार मुद्रा प्राप्त करता है और किस प्रकार उसके प्रयोग द्वारा अधिकतम लाभ पाने का प्रयत्न करता है।

बैंक के साधन (Resources Available to a Bank)

बैंक जिन साधनो से मुद्रा या पूंजी प्राप्त करके उनका प्रयोग लाभ प्राप्ति के लिए करता है वे निम्नलिखित हैं—

1. अंश पूंजी (Share Capital) : बैंक भी अपनी पूंजी अन्य सयुक्त पूंजी कम्पनियो की भाति अश निर्गमित करके प्राप्त करते हैं। प्रत्येक बैंक की एक अधिकृत पूंजी होती है जिसका एक भाग विक्रयार्थ जारी किया जाता है। जितने अशो को खरीदने के लिए प्रार्थना पत्र आते है उसे प्रार्थित पूंजी कहते है और उसका जो भाग चुकता कर दिया जाता है वह बैंक की चुकता पूंजी होती है। विभिन्न कोटि की पूंजी के सम्बन्ध मे प्राय नियम बना दिए जाते है। भारत मे प्रार्थित पूंजी, अधिकृत पूंजी के आधे से कम नही होनी चाहिए। इसी प्रकार चुकता पूंजी कम से कम प्रार्थित पूंजी की आधी होनी चाहिए। बैंको के साधन के रूप मे अश पूंजी का कोई विशेष महत्व नही होता।

2. सचित कोष (Reserve fund). प्रत्येक बैंक अपने वार्षिक लाभ का वितरण करने के पूर्व उसका एक भाग सचित कोष मे रख लेता ह। यह कोष बैंक को आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ बनने के लिए आवश्यक होता है। अनेक देश कानून

द्वारा कोष रखना अनिवार्य कर देते हैं और निश्चित कर देते है कि लाभ का कितना हिस्सा सचित कोप मे रखा जाना चाहिए। भारतीय बैंकिंग नियमन अधिनियम की धारा 17 मे यह प्रावधान दिया गया ह कि सचित कोप के चुकता पूँजी के बराबर होने तक प्रत्यक बैंक अपने शुद्ध लाभ का 20 प्रतिशत सचित कोप मे रखेगा। बैंक की सक्रिय पूंजी मे यह स्रोत भी महत्वहीन है।

3. निक्षेप (Deposit) बैंको का अपने साधन प्राप्त करने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत निक्षेप हैं। बैंक अपने ग्राहको से विभिन्न प्रकार के खातो मे निक्षेप प्राप्त करता है। यही उसकी सक्रिय पूँजी का अधिकाश भाग उपलब्ध करता है। बैंक प्राय निम्नलिखित खातो मे निक्षेप प्राप्त करता है :—

1 चालू खाता (Current Account)

2 स्थायी जमा खाता (Fixed Account)

3 बचत खाता (Saving Account)

बैंको की सक्रिय पूँजी का अधिकाश भाग इन खातो मे प्राप्त निक्षेपो पर निर्भर करता है। व्यापारियो और उद्योगपतियों के दृष्टिकोण से चालू खाता सुविधाजनक है क्योंकि इसमें किसी भी समय रुपया जमा करने या निकालने की सुविधा होती है। वेतन प्राप्त करने वालो और सामान्य आय वाले व्यक्तियो के लिए बचत खाता सुविधाजनक है क्योकि रुपया निकालने की भी सुविधा होती है और साथ मे कुछ ब्याज भी प्राप्त हो जाता है। स्थायी जमा खाता उन लोगो के लिए उपयुक्त है जिनके पास कुछ सचित रकम है और वे उससे निश्चित आय पाना चाहते हैं। इस खाते पर ब्याज अधिक मिलता है परन्तु रुपया निश्चित समय के बाद ही निकाला जा सकता है।

बैंको के दृष्टिकोण से चालू खाता विशेष महत्वपूर्ण है क्योकि इस पर ब्याज नही देना पडता। यहा यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि निक्षेपो का अधिकाश भाग स्वय बैंको द्वारा निर्माण किया जाता ह। बैंको द्वारा जमा निर्माण की विधि पहले बताई जा चुकी है। स्पष्ट है कि बैंक अपनी सक्रिय पूँजी अपनी आवश्यकता के अनुसार स्वय भी एक सीमा तक बढा सकता है। इन निक्षेपो से जनता की बचत सुरक्षित रहती है, व्यापारियो को इनमे ऋण प्राप्त होता है और देश मे पूँजी का निर्माण होता है।

4 ऋण (Borrowings) प्रत्येक बैंक आवश्यकता पडने पर अपनी सक्रिय पूँजी ऋणो से भी प्राप्त करता है। एक बैंक अन्य बैंको से अल्पकालीन आवश्यकता को पूरा करने मे 'काल मनी' (Call Money) के रूप मे उधार लेता है। प्रतियोगी बैंको से उधार लेने से यथासम्भव बचना चाहता है क्योकि इससे बैंको की साख पर अच्छा प्रभाव नही पड़ता। इसलिए बैंक केन्द्रीय बैंक से ही ऋण प्राप्त

करने का प्रयत्न करते हैं। केन्द्रीय बैंक पुन कटौती (Re-discount) की सुविधा देने या अनुमोदित प्रतिभूतियो की जमानत पर ऋण देने के लिए सदैव तत्पर रहता है।

बैंक के साधनों का प्रयोग (Use of the Resources of a Bank)

क–लाभहीन प्रयोग (Profitless Uses) :

1. मृत स्कन्ध (Dead Stock) . बैंक भी एक व्यावसायिक सस्था है इसलिए अपने साधनो को बेकार (Idle) नही रहने देता। बैंक के साधनो मे से एक *भाग आवश्यक रूप से उसे इमारत, फर्नीचर, भूमि तथा अन्य स्थिर सम्पत्तियो* पर लगाना पडता है। यद्यपि इस प्रकार के साधन का प्रयोग करना प्रत्यक्ष रूप से बैंक के लाभ मे वृद्धि नही करता परन्तु फिर भी यह बैंको के कार्यो को सुचारू रूप से करने के लिए परम आवश्यक है। ग्राहको को आकर्षित करने एव कोषो की सुरक्षा के लिए भी इसी प्रकार कुछ साधनो का प्रयोग करना पड़ता है। लाभ की दृष्टि से यह सम्पत्तियाँ मृत प्राय हैं।

2. नकद कोष (Cash Reserve) · बैंक का सम्पूर्ण व्यवसाय जनता के विश्वास पर निर्भर करता है। यदि बैंक ग्राहको का विश्वास बनाए रखने मे सफल है तो बैंक भी सफलता पूर्वक चलता रहेगा, यदि बैंक पर से ग्राहको का विश्वास उठ जाता है तो बैंक भी फेल हो जाता है। बैंक अपने अनुभव से यह जानता है कि उसके सभी जमाकर्ता एक साथ बैंक से रुपया वापस लेने नही आ सकते। प्राय: प्रतिदिन कुछ लोग रुपया वापस भी लेते हैं और कुछ लोग जमा भी करते है और बैंक की नकद की स्थिति एक सी रहती है। एक विकासशील समाज मे प्राय: रुपया निकालने (Withdraw) की अपेक्षा जमा (Deposit) अधिक होता है। परन्तु कभी ऐसा भी हो सकता है कि रुपया निकालने वाले अधिक हो और जमा करने वाले कम। इसलिए बैंक को सदैव कुछ नकद रखना आवश्यक होता है।

बैंक के नकद कोष को निर्धारित करने वाली बाते

कोई बैंक कितना नकद अपने पास रखे, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, क्योकि इसी पर उसकी सफलता या असफलता निर्भर कर सकती है। यदि आवश्यकता से कम है तो ग्राहको की माग पूरी नही कर सकेगा और जनता का विश्वास खो बैठेगा। यदि आवश्यकता से अधिक है तो उपयुक्त मात्रा मे लाभ नही कमा सकेगा क्योकि इस प्रकार की नकद पर कोई लाभ नही होता। इसलिए नकद की मात्रा न अधिक होनी चाहिए न कम। बैंक अपनी रक्षा की इस प्रथम पंक्ति को निश्चित करते समय निम्नलिखित बातो को ध्यान मे रखता है —

1. ग्राहको की संख्या और निक्षेपो का आकार (Number of Customers and Size of Deposits) : नकद की मात्रा निर्धारित करते समय बैंक अपने ग्राहको की सख्या तथा निक्षेपो के आकार का विशेष ध्यान रखता है। ग्राहको की संख्या

और निक्षेपो के आकार जितने ही अधिक बडे होगे बैंक को कुल जमा का उतना ही कम अश नकद के रूप मे रखना होगा क्योकि उस परिस्थिति मे निकाली जानी वाली और जमा की जाने वाली राशि मे अन्तर की कम सम्भावना रहती है।

2. वैधानिक आवश्यकता (Legal Requirements) : अनेक देशो मे प्राय. कानून द्वारा यह निश्चित कर दिया जाता है कि बैंको को नकद के रूप मे कितनी राशि रखना आवश्यक है। कुछ देश कुल नकद कोष कुल जमा के एक निश्चित अनुपात मे रखने का नियम बनाते हैं, कुछ देश व्यापारिक बैंको द्वारा केन्द्रीय बैंक के पास जमा की गई रकम और कुल जमा का अनुपात निश्चित करते हैं, कुछ देश अलग-अलग प्रकार की जमा के लिए अलग अलग अनुपात निश्चित करते हैं और कुछ सभी प्रकार की जमा के लिए एक ही अनुपात। भारत मे वर्तमान नियमो के अनुसार कुल जमा का 3 प्रतिशत नकद के रूप मे रिजर्व बैंक के पास जमा करना अनिवार्य है।

3 अन्य बैंको की नकद कोष नीति (Cash Reserve Policy of other Banks) . कोई बैंक जिस क्षत्र मे कार्य करता है उस क्षेत्र के बैंको से ही उसे अपना सामजस्य करना पडता है। इसलिए बैंक अपने क्षेत्र के अन्य बैंको के समान ही नकद अनुपात अपनाता है। यदि वह उसस कम नकद की नीति अपनाए तो सम्भव है उसकी साख मे जनता का कम विश्वास हो। उस क्षेत्र के ग्राहको के स्तर और प्रकृति का भी नकद अनुपात पर प्रभाव पडता है।

4 ग्राहको के व्यवसाय का स्वभाव (Nature of customer's Business) कोई भी बैंक अपना नकद कोष निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखे बिना नही रह सकता कि उसके अधिकाश ग्राहक किस प्रकार का व्यवसाय करते है। यदि जमा कर्ता अधिकाशतया कृषक वर्ग तथा निश्चित आय वर्ग और स्थायी जमा रखने वाल हैं तो कम नकद की आवश्यकता होगी। यदि उत्पादक और दलाल वर्ग के लोग अधिक हैं तो अधिक नकद की आवश्यकता पडेगी।

5 बैंकिंग की आदत (Banking habit of the people) : यदि ग्राहको मे बैंकिंग की आदत है तो नकद कोष कम रखने की आवश्यकता होगी क्योकि अधिकाश भुगतान चेको के माध्यम से किया जायगा और बैंक को केवल अपनी पुस्तको मे लेखा करना हागा। यदि जनता म बैंकिंग की आदत नही है तो नकद रुपये की माग अधिक होगी, इसलिए नकद कोष अधिक रखना होगा।

6. समाशोधन गृहो की उन्नति . (Development of Discount Houses) : समाशोधन गृहो के विकसित होने पर जनता मे भी बैंकिंग की आदत बढती है और चेक अथवा बिलो का प्रयोग अधिक होता है। इसलिए कम नकद कोष से ही बैंको का काम अच्छी तरह चलता रहता है।

7 अर्थव्यवस्था की सामान्य दशा (General Condition of the Economy) : अर्थव्यवस्था की सामान्य अवस्था किस प्रकार की है इसका भी नकद कोष पर प्रभाव पड़ता है। यदि तेजी का समय है तो मुद्रा की आवश्यकता अधिक हो जाती है, इसलिए ऐसी अवस्था मे अधिक नकद कोष की आवश्यकता होती है। इसके विपरीत मन्दीकाल मे कम नकद से ही काम चल जाता है।

8 बैंक के अन्य विनियोगो की प्रकृति (Nature of Bank's other Investments) : यदि बैंक के अन्य विनियोग अधिकाशतया तरल हैं तो बैंक किसी भी सकट कालीन स्थिति का सामना कर सकता है इसलिए वह कम नकद कोष से भी अपना काम चला सकता है। यदि बैंक के विनियोगो के तरल विनियोगो की कमी है तो अपेक्षाकृत अधिक नकद कोष रखने की आवश्यकता होती है।

(ख) लाभदायक प्रयोग (Profitable uses) ;

बैंक लाभ अर्जित करना चाहता है इसलिए अपने साधनों का प्रयोग इस प्रकार से करता है कि उसे अधिक से अधिक लाभ हो सके। परन्तु ऐसा करने मे वह यह भी ध्यान रखता है कि उसे संकट का सामना न करना पड़े। बैंक के लाभदायक विनियोगो मे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं ·

1 याचना राशि (Call Money) : लाभ की दृष्टि से यह मद बहुत ही महत्वहीन है क्योंकि इस पर बहुत कम ब्याज मिलता है। एक बैंक दूसरे बैंकों को इस प्रकार का उधार देते हैं और आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त वापस माग लेते हैं। तुरन्त रुपया वापस न मिलने पर जमानत मे रखी प्रतिभूतिया बेचकर रुपया वसूल करते हैं।

2 विनिमय-पत्रो को भुनाना या क्रय (Discounting of Purchasing of Bills) - बैंको द्वारा बिलो को भुनाना और उनको क्रय करना भी लाभदायक प्रयोग की एक मद है। इस मद मे साधन लगाना एक ही साथ लाभदायक और तरल दोनो ही है क्योंकि बिलो को पुन. भुनाया जा सकता है। विनिमय पत्र स्वत. निस्तीर्ण (Self liquidating) होते हैं इसलिए भुगतान तिथि पर उनकी रकम भी अवश्य प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार के विनियोग मे किसी प्रकार की जोखिम नहीं है।

3 विनियोग (Investments) : लाभदायक विनियोग के अन्तर्गत प्रतिभूतियो, अश ऋण पत्र, बाड, आदि के क्रय विक्रय एव अन्य विनियोग सम्मिलित हैं। प्रतिभूतियो के अन्तर्गत कई प्रकार की प्रतिभूतिया शामिल हैं। प्रतिभूतियो को निम्नलिखित वर्गों मे बाट सकते हैं .—

(i) सरकारी प्रतिभूतियाँ (Govt. Securities) : कोषागार विपत्र, अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन बचत प्रमाण पत्र आदि सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं

क्योंकि ये प्रतिभूतिया केन्द्रीय बैंक की अनुमोदित प्रतिभूतिया होती हैं और आवश्यकता के समय शीघ्र बिना हानि के मुद्रा मे बदली जा सकती हैं। इनमे तरलता एव सुरक्षा के साथ-साथ पर्याप्त लाभदायकता भी है। परन्तु लाभ की दृष्टि से ये निजी प्रतिभूतियो की अपेक्षा कम लाभप्रद है।

(ii) अर्द्ध सरकारी प्रतिभूतियां (Semi-Government Securities) : इस श्रेणी मे नगर निगमो, जिला परिषदो, इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट, जन हितकारी सस्थाए, विद्युत-मण्डलो, नगरपालिकाओ आदि की प्रतिभूतिया शामिल हैं। इन प्रतिभूतियो पर अपेक्षाकृत अधिक ब्याज प्राप्त होता है। इन सस्थाओ की प्रतिभूतियो मे रुपया लगाने में जोखिम भी नही होती क्योंकि राज्य सरकारो द्वारा भुगतान की गारन्टी दी जाती है।

(iii) निजी प्रतिभूतियां (Commercial Securities) इस श्रेणी मे व्यापारिक सस्थाओ के अश ऋणपत्र आदि सम्मिलित किए जाते है। इन पर ब्याज की दर सबसे अधिक होती है परन्तु सुरक्षा के दृष्टिकोण से इन्हे सरकारी एव अर्द्ध सरकारी प्रतिभूतियों के समान नही समझा जाता है। इन प्रतिभूतियो की कीमत भी बढती घटती रहती है इसलिए इनमे विनियोग करते समय बैंक को बडी सतर्कता से काम लेना पडता है।

4. ऋण तथा अग्रिम (Loans and Advances) : बैंको का सबसे महत्वपूर्ण एव सबसे लाभदायक विनियोग ऋणो और अग्रिम के रूप मे किया जाता है। ऋणो के द्वारा ही बैंक साख का निर्माण भी करते है। प्राय बैंक निम्नलिखित रूपो मे ऋण देते हैं :

(i) अधिविकर्ष (Overdrafts) बैंक अपने चालू जमा कर्ताओ को प्रायः अधिविकर्ष की सुविधा देता है। इसके अनुसार चालू जमा कर्ताओ को जमा रकम से एक सीमा तक अधिक रकम निकालने की सुविधा प्राप्त हो जाती है परन्तु ब्याज केवल उसी रकम पर लिया जाता है जितना वास्तव मे निकाला जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी ग्राहक को 1 लाख के ओवर ड्राफ्ट की सुविधा 1 माह के लिए दी जाय परन्तु ग्राहक केवल 50 हजार ही निकाले तो ब्याज केवल 50 हजार पर ही लिया जायगा। अधिविकर्ष की सुविधा अल्पकालीन होती है। सामान्यतया जमानत रखने की आवश्यकता होती है परन्तु कभी-कभी व्यक्तिगत जमानत पर भी यह सुविधा प्राप्त हो जाती है।

(ii) नकद साख (Cash Credit) : नकद साख की सुविधा भी बैंक अपने ग्राहको को उपलब्ध करता है। ग्राहक अपनी आवश्यकतानुसार निश्चित रकम की नकद साख का समझौता बैंक से कर लेता है और जमानत रख कर सुविधानुसार रुपया निकालता रहता है। नकद साख की व्यवस्था मे भी ब्याज केवल

वास्तव मे निकाली गई रकम पर ही लिया जाता है। नकद साख और अधिविकर्ष का प्रमुख अन्तर यह है कि नकद साख अपेक्षाकृत लम्ब समय (प्राय 1 वष) के लिए एव अधिविकप अल्प समय (प्राय 3 माह) के लिए दिए जाते है। नकद साख किसी को भी दी जा सकती है परन्तु अधिविकप कवल चालू खाता रखने व ले ग्राहको को ही दी जाती है। अधिविकप पर कभी कभी अधिक ब्याज लिया जाता है।

(iii ऋण एव अग्रिम (Loans and Advances) इस प्रकार क ऋणो की प्रमुख विशेषता यह है कि ऋण देने की तिथि से ही इस पर ऋणी को ब्याज देना पडता है चाहे वह इसका प्रयोग कर रहा है या नही। इस मद से बैंको को सबसे अधिक लाभ प्राप्त होता है। बैंक ऋण लेने वाले का खाता खोल लेता है और ऋण की रकम जमा कर देता है। ऋणी अपनी आवश्यकतानुस र रकम निकालता रहता है।

इस प्रकार का ऋण देने म बैंक ऋणी की साख आदि की पूण जाच करा लेता है और समुचित जमानत की व्यवस्था का अनुराव करता है।

जब कोई व्यक्ति या सस्था बैंक से ऋण प्राप्त करना चाहती है तो उसे एक प्राथना पत्र देना पडता है। इस क य के लिए बैंको के पास उनके छपे हुए फाम हाते हैं जिसमे ग्राहक से सम्बन्धित एव प्रतिभूतियो से सम्बन्धित सभी सूचनाए देनी होती है। बैंक ऋण सम्बन्धी नियमो का भी उसमे उ लेख कर देता है और ग्राहक को उन नियमो के मानने की घोषणा करनी पडती है। आवेदन पत्र प्राप्त होने के बाद बैंक ग्राहक की उपयुक्तता के बारे मे जानकारी प्राप्त करता है और ऋण दने के सम्बन्ध म निणय लेता है। ऋण की स्वीकृति होने पर उसे ग्राहक के खाते म जमा कर दिया जाता है जिसका प्रयाग वह अपनी इच्छानुसार करता है।

ऋण देने के उपरान्त भी बैंक को सावधानी रखनी पडती है। यह देखना बैंक का काय है कि ऋणी ऋण का प्रयोग उ ही कार्यों के लिए कर रहा है जिनके लिए उसने ऋण लिया था। यदि ऋण का प्रयोग अनुत्पादक कार्यो के लिए किया जा रहा हो तो और भी अधिक सतकता की आवश्यकता होती है। यदि जमानत मे रखी गई प्रतिभूतियो का मूल्य कम हो गया हो तो और प्रतिभूतिया मागनी चाहिए। विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतिया का ध्यान मे रखकर उचित सावधानी रखना बैंक क लिए बहुत आवश्यक है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) व्यापारिक बैंको द्वारा अपनी पूजी प्राप्त करन के विभिन्न तरीके क्या हैं? विवेचना कीजिए।

(आगरा बी० काम 1960)

[संकेत—बैंकों को जिन साधनों से पूंजी प्राप्त होती है—अंश पूंजी, संचित कोष, निक्षेप तथा ऋण—उनका विस्तार से विवेचन कीजिए।]

(2) "साहस व्यापार का जीवन है, परन्तु सावधानी न कि भीरुता आधुनिक बैंकिंग का सार है।" इस कथन की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।

(आगरा बी० काम, 1961)

[संकेत—पहले समझाइये कि व्यापार मे जोखिम उठाना पड़ता है; बिना जोखिम उठाये लाभ नही कमाया जा सकता। बैंकिंग के क्षेत्र मे भीरुता न अपना कर सावधानी बरतनी चाहिए क्योंकि बैंक दूसरो के कोषो से व्यापार करता है। फिर बताइये कि ऋण देते समय बैंक को कौन-कौन सी सावधानियां बरतनी चाहिए।]

(3) किसी बैंक के नकद कोषो को निर्धारित करने वाले महत्वपूर्ण घटकों की व्याख्या कीजिए। (आगरा बी० काम, 1959)

[संकेत—बैंको के नकद कोषो के निर्धारित करने वाले तत्वो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

अमेरिकी राष्ट्रपति श्री आइजनहोवर ने स्वीकृति प्रदान करदी। अगस्त 1959 मे राष्ट्रपति आइजनहोवर ने सार्वजनिक रूप से इसे अपना समर्थन प्रदान किया। अक्टूबर 1959 मे वाशिंगटन मे होने वाली अपनी वार्षिक बैठक मे विश्व बैंक के गवर्नर मण्डल ने अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ की स्थापना का प्रस्ताव पारित किया और कार्यकारी सचालको से विकास सघ का समझौता-पत्र (Articles of Agreement) तैयार करने को कहा। 26 जनवरी 1960 को समझौता-पत्र तैयार हो गया और उसे विश्व बैंक के सभी सदस्य देशो मे प्रसारित किया गया। निर्धारित सदस्यो की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर 24 सितम्बर 1960 को अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ का जन्म हुआ और उसने 8 नवम्बर 1960 को विधिवत कार्य करना आरम्भ किया।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ विश्व बैंक की एक पूरक सस्था है और इसका उद्देश्य विकासशील देशो को सरल शर्तो पर ऋणो की व्यवस्था करना है। (The purpose of IDA is to provide development finance to less developed member countries on easy terms that will bear less heavily on the balance of payments position of recipient countries than do Banks loans granted on conventional terms) विकास सघ विकासशील देशो को कम ब्याज पर दीर्घकालीन ऋण देने की व्यवस्था करता है और उनका भुगतान उन्ही की राष्ट्रीय मुद्राओ मे स्वीकार करता है। सक्षेप मे, विकास सघ विकासशील देशो को सुलभ ऋण' (Soft Loans) प्रदान करता है।

विकास सघ की सदस्यता
(Membership of the Association)

विकास सघ विश्व बैंक की सहयोगी (Affiliate) सस्था है और विश्व बैंक का कोई भी सदस्य विकास सघ का सदस्य हो सकता है प्रारम्भ मे विकास सघ के केवल 51 सदस्य थे। 31 दिसम्बर 1968 को विकास सघ की कुल सदस्य सख्या बढकर 102 हो गई है। मारीशस, बोत्सवाना, लेसोथो तथा इन्डोनेशिया ने 1968 मे ही विकास सघ की सदस्यता ग्रहण की है।

विकास सघ के पूंजी साधन
(Capital Resources of the Association)

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ के प्रारम्भिक पूंजी 1 बिलियन (1000 मि० डालर) निर्धारित की गई थी। सदस्य देशो को भाग 1 तथा 2 भाग मे विभाजित किया गया है। भाग 1 मे 18 विकसित देश हैं। पहले भाग 1 के सदस्य देशो की सख्या 17 थी और कुवैत के भाग 1 के सदस्य बन जाने से यह 18 हो गई है। भाग 2 म शेष 84 अविकसित तथा अर्धविकसित देशो को सम्मिलित किया गया है।

भाग 1 के विकसित देशों को उनके पूँजी अंशों का शत प्रतिशत भाग स्वर्ण या परिवर्तनशील मुद्रा में विकास संघ को अदा करना पड़ता है। भाग 1 के विकसित देशों को अपने प्रारम्भिक पूँजी अंशों का 10 प्रतिशत निम्न प्रकार चुकाना था :

(i) आधा भाग विकास संघ का कार्य प्रारम्भ होने या देश के सदस्य बनने के 30 दिन के भीतर।

(ii) 12·5 प्रतिशत विकास संघ का कार्य प्रारम्भ होने के 1 वर्ष के भीतर और फिर 12 5 प्रतिशत प्रतिवर्ष जब तक कुल पूँजी अंश का 10 प्रतिशत अदा न हो जाय।

भाग 2 के देशों को शेष 90 प्रतिशत भाग स्वर्ण या परिवर्तनशील मुद्रा में पाच किस्तों में अदा करना होता है।

भाग 2 के देशों को उनके पूँजी अंशों का 10 प्रतिशत स्वर्ण या परिवर्तनशील मुद्रा में चुकाना होता है। उनको अपनी पूँजी अंशों का शेष 90 प्रतिशत भाग अपने देश की मुद्रा में ही पाच किस्तों में चुकाना होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ

मुख्य देशों के पूँजी अंश (30 जून 1968)

(मिलियन डालरों में)

भाग 1			भाग 2		
देश	पूँजी अंश	कुल का प्रतिशत	देश	पूँजी अंश	कुल का प्रतिशत
1. अमेरिका	320 29	32 02	1. भारत	40 35	4 03
2 ब्रिटेन	131 14	13·11	2. चीन	30 26	3·03
3 फ्रांस	52 96	5 26	3. ब्राजील	18 83	1 08
4 प जर्मनी	52 96	5 29	4 अर्जेंटाइना	18 83	1·08
5. कनाडा	37 83	3 78	5. पाकिस्तान	10 09	1 01
6. जापान	33·39	3 35	6. स्पेन	10 09	1 01
7. नीदरलैंड्स	27 74	2 77	7. मेक्सिको	8 74	·87
8 आस्ट्रेलिया	20 18	2 02	8 टर्की	5 80	·58
9 इटली	18·16	1·82	9. यू ए. आर	5·08	·51
10 स्वीडन	10 09	1·01	10. फिलीपाइंस	5 04	·50

विकास संघ का प्रबन्ध
(Management of IDA)

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ विश्व बैंक की सहयोगी संस्था है और उसका प्रबन्ध तथा प्रशासन विश्व बैंक ही करता है। विश्व बैंक का गवर्नर मंडल (Board of Governors) कार्यकारी संचालक मंडल (Board of Executive Directors) तथा अन्य अधिकारी विकास संघ की भी व्यवस्था करते हैं।

विकास संघ की ऋण व्यवस्था
(Lending Operations of IDA)

अन्तर्राष्ट्रीय सघ ने सदस्य देशो को पर्याप्त ऋण सहायता दी है।

विकास सघ ने अपने जीवन काल के 9 वर्षो मे विकास शील देशो को पर्याप्त सहायता दी है। प्रारम्भ से 30 जून 1968 तक विकास सघ ने 40 देशो को 1968 मि० डालर के ऋण प्रदान किए है। जनवरी 1969 तक विकास सघ 43 देशो को 2,000 मिलियन डालर के 141 ऋण प्रदान कर चुका था। प्रथम दस देशो को मिले ऋणो का विवरण निम्न तालिका मे दिखाया गया है।

विकास सघ द्वारा दिए गये ऋणो का विवरण

(30 जून 1968 तक) (मिलियन डालरों मे)

देश	ऋणो की सख्या	ऋण राशि ($)
1 भारत	21	887
2 पाकिस्तान	24	331
3. टर्की	7	80
4 कीनिया	8	39
5 नाइजीरिया	2	36
6. इथोपिया	3	28
7. मलावी	5	28
8. तन्जानिया	4	27
9 कोरिया	2	25
10 ट्यूनीशिया	3	24

विकास सघ द्वारा दिए गये ऋणों का कार्यानुसार वितरण निम्न तालिका मे दिखाया गया है

विकास सघ द्वारा दिये गये ऋणो का कार्यानुसार वितरण

(30 जून 1968 तक) (मिलियन डालरो म)

मद	ऋण राशि
1 विद्युत शक्ति	112 2
2 यातायात	617 0
3 सदश वाहन	74·8
4 कृषि वन तथा मत्स्य पालन	310 6
5 उद्योग	501 1
6 शिक्षा	127 1
7 जल प्रदाय	34 0
8 प्रायोजना निर्माण	1 6
योग	1788 4

विकास सघ द्वारा दिए गये ऋणो का क्षेत्रानुसार वितरण निम्न तालिका मे दिखाया गया है :

विकास सघ द्वारा दिये गये ऋणो का क्षेत्रानुसार वितरण
(IDA Credits by Area)
(30 जून 1968 तक) (मिलियन डालरो मे)

क्षेत्र	ऋण राशि
1. एशिया तथा मध्य पूर्व	1280 6
2. अफ्रीका	309 8
3. पश्चिमी गोलार्ध	117·5
4. योरोप	80 5
योग	1788·4

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विकास सघ ने कुल ऋणो का 88 प्रतिशत एशिया, मध्यपूर्व तथा अफ्रीका के देशो को दिया है।

ऋणो की अवधि 50 वर्ष की है। प्रथम 10 वर्षों तक कोई अदायगी नही करनी होगी। अगले 10 वर्षों मे ऋण राशि का 1 प्रतिशत प्रतिवर्ष तथा बाकी अगले 30 वर्षों मे 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से अदा करना पडता है। ऋणो पर कोई ब्याज नही लिया जाता। केवल $\frac{3}{4}$ प्रतिशत मे 1 प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से सेवा व्यय (Service charge) लिया जाता है।

विकास सघ तथा भारत
(IDA and India)

भारत अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ का प्रारम्भिक सदस्य है। उसका पूँजी अ श पाचवे नम्बर का है परन्तु विकासशील देश होने के कारण उसे भाग 2 के देशो की श्रेणी मे रखा गया है जिससे उसे विकास सघ से पर्याप्त मात्रा मे ऋण सुविधायें प्राप्त हो सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ से सहायता प्राप्त करने वाले विकासशील देशो मे भारत से गत 9 वर्षों मे सबसे अधिक ऋण प्राप्त किए है। प्रारम्भ से लेकर 30 जून 1968 तक भारत ने विकास सघ के 887 मि० डालर के ऋण प्राप्त किए हैं। उन ऋणो का कार्यानुसार वितरण निम्न तालिका से स्पष्ट है :

विकास संघ द्वारा भारत को स्वीकृत ऋण
(31 जून 1968 तक) (मिलियन डालरों में)

कार्य	राशि
1. विद्युत शक्ति	79 0
2. यातायात .	
रेलें	197 5
बन्दरगाह	18·0
सड़कें	59·5
हवाई जहाज	—
3. संदेश वाहन	75 0
4 कृषि, वन तथा मत्स्य	56 5
5. उद्योग	340 0
योग	825 5

विकास संघ ने दिसम्बर 1966 के बाद जनवरी 1969 में भारत को उसके विकास कार्यक्रम में सहायता देने के लिए 125 मिलियन डालर का ऋण स्वीकृत किया। इस राशि का प्रयोग भारत सरकार उत्पादन माल के आयात के लिए विदेशी विनिमय की व्यवस्था के लिए करेगी।

विकास संघ तथा विश्व बैंक ने जून 1969 में भारत को संदेश वाहन के विकास के लिए 55 मिलियन डालर का ऋण स्वीकृत किया है जिसमें से 35 4 मि० डालर का उपयोग सार्वजनिक क्षेत्र की तीन संस्थायें आवश्यक आयात के लिए करेंगी। शेष 19.6 मि० डालर आवश्यक साज सामान के आयात के लिए प्रयुक्त होंगे।

विश्व बैंक तथा संघ के एशिया विभाग के निर्देशक श्री पीटर कारगिल (Peter Cargill) की भारत सरकार से जून 1969 की बातचीत से आशा है कि शीघ्र ही विकास संघ उर्वरक उत्पादन के लिए नागल तथा कोचीन के प्रस्तावित कारखानों को सहायता देगा। इन परियोजनाओं की जाच के लिए एक दल जुलाई 1969 में भारत आयेगा।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संकेत

1. अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना किन कारणों से हुई? भारत को इसकी सदस्यता से क्या लाभ प्राप्त हुआ है?

[संकेत—प्रथम भाग में विकास संघ की स्थापना के कारण बताइये। विश्व बैंक द्वारा दिए गये ऋणों की कमियों की चर्चा करते हुए बताइये कि अविकसित तथा अर्द्ध विकसित देशों को सस्ती तथा सुलभ शर्तों पर दीर्घकालीन पूंजी उपलब्ध कराने के लिए विकास संघ की स्थापना हुई। द्वितीय भाग विकास संघ से भारत को प्राप्त सहायता का ब्योरा दीजिए।]

27

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम

(International Finance Corporation)

"The International Finance Corporation was established by member governments in 1956 as an affiliate of the International Bank for Reconstruction and Development (World Bank), to assist less developed member countries by helping to promote the growth of the private sector of their economies.

IFC's principal objectives are to provide risk capital for productive private enterprises, in association with private investers and management, to encourage the development of local capital markets, and to stimulate the international flow of private capital."

विश्व बैंक ने ससार के देशो के पुनर्निर्माण तथा आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। परन्तु बैंक द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता मे दो मुख्य कमिया रही है। प्रथम, बैंक ऋण देता है, यह औद्योगिक तथा अन्य सस्थानो की पूँजी के अ श नही खरीदता। इससे बैंक ऋणदाता के रूप मे सस्थानो मे उतनी रुचि नही रखता जितनी अ शधारी रखते हैं। और फिर ऋणी सस्थान ब्याज के बोझ से सदैव दबे रहते हैं। द्वितीय, विश्व बैंक द्वारा ऋण या तो सरकार या सरकार की गारन्टी पर दिए जाते हैं। एक ओर तो सरकारें निजी क्षेत्र के सस्थानो की गारन्टी करना नही चाहती और दूसरी ओर सरकार की गारन्टी लेना निजी सस्थान भी नही पसन्द करते क्योकि इससे उनके कार्यों मे सरकारी हस्तक्षेप के बढने का भय रहता है। इन्ही कमियो को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना की गई।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना का विचार सर्वप्रथम 1952 मे विश्व बैंक द्वारा सयुक्त राष्ट्र सघ की आर्थिक तथा सामाजिक परिषद (Economic and Social Council) के लिए तैयार की गई एक रिपोर्ट मे उठाया गया। बाद मे आर्थिक तथा सामाजिक परिषद तथा साधारण सभा (General Assembly) मे वित्त निगम की स्थापना के प्रस्ताव पर विचार हुआ। दिसम्बर 1954 मे एक प्रस्ताव पारित कर साधारण सभा ने विश्व बैंक से वित्त निगम का घोषणा पत्र (Charter)

बनाने तथा उस पर सहमति प्राप्त करने की प्रार्थना की। 11 अप्रेल 1955 को कार्यकारी सचालकों ने समझौता पत्र का प्रारुप तैयार कर लिया और उसे सदस्य देशों को प्रसारित कर दिया गया और 21 जुलाई 1955 को अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की विधिवत स्थापना हो गई। स्थापना के समय निगम क 31 सदस्य थे और उसकी कुल स्वीकृत पूँजी 78 मि० डालर थी।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के उद्देश्य
(Purposes of International Finance Corporation)

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के समझौता पत्र (Articles of Agreement) के अनुसार "निगम का उद्देश्य सदस्य देशो विशेषकर विकासशील देशो मे उत्पादक निजी उपक्रम को प्रोत्साहन देकर उनके आर्थिक विकास को बढाना है और इस प्रकार विश्व बैंक की क्रियाओ का पूरक होना है......"[1] निगम इस मूलभूत उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित कार्य करता है —

---

[1] "The purpose of the Corporation is to further economic development by encouraging the growth of productive private enterprise in member countries particularly in the less developed areas, thus supplementing the activities of the International Bank for Reconstruction and Development ......In carrying out this purpose, the Corporation shall :

(i) in association with private investors, assist in financing the establishment, improvement and expansion of productive private enterprises which would contribute to the development of its member countries by making investments, without guarantee of repayment by the member government concerned, in cases where sufficient private capital is not available on reasonable terms,

(ii) seek to bring together investment opportunites domestic and foreign private capital, and experienced management, and.

(iii) seek to stimulate and to help create conditions condusive to, the flow of private capital, domestic and foreign, into productive investment in member countries.

"The Corporation shall be guided in all its decisions by the provisions of this Article:"

—Article One, Articles of Agreement

(1) उत्पादक निजी साहस संस्थाओं की स्थापना, सुधार तथा विस्तार की वित्त व्यवस्था में सहायता :

वित्त निगम निजी विनियोगकर्त्ताओं के साथ मिलकर निजी क्षेत्र के उद्योगों तथा अन्य व्यावसायिक संस्थानों की स्थापना, सुधार तथा विस्तार के लिए पूँजी सहायता देता है जिससे सदस्य देशों का आर्थिक विकास हो सके। निगम द्वारा बिना सरकारी गारन्टी के ऋण दिये जाते हैं। ऋण विशेषकर ऐसे क्षेत्रों के लिए दिए जाते हैं जहां सुगम शर्तों पर पर्याप्त निजी पूँजी उपलब्ध न हो।

(2) विनियोग अवसर, पूँजी तथा प्रबन्ध में सहयोग स्थापित करना :

निगम देशी तथा विदेशी निजी पूँजी को विनियोग के क्षेत्र ढूंढने में सहायता करता है। जहां योग्य प्रबन्ध उपलब्ध है परन्तु पूँजी नहीं है वहां पूँजी की व्यवस्था करता है और जहां पूँजी है परन्तु कुशल प्रबन्ध नहीं है वहां कुशल प्रबन्धकों की व्यवस्था करता है। इस प्रकार विनियोग अवसर, पूँजी तथा प्रबन्ध (Investment Opportunities, Capital and Experienced Management) में सहयोग तथा समायोजन स्थापित करता है।

(3) देशी तथा विदेशी निजी पूँजी के प्रवाह तथा उसके उत्पादक विनियोजन को प्रोत्साहन तथा उसके लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना :

सदस्य देशों के आर्थिक विकास के लिए देशी तथा विदेशी निजी पूँजी के विनियोजन को प्रोत्साहित करना तथा उसमें उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करना निगम का मुख्य कार्य है।

निगम की सदस्यता
(Membership of the Corporation)

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व बैंक के साथ काम करने वाली संस्था होती हुई भी स्वतन्त्र संस्था है। वित्त निगम का सदस्य बनने के लिए विश्व बैंक का सदस्य होना आवश्यक है। स्थापना के समय जुलाई 1955 में निगम के 31 सदस्य थे जो 30 जून 1968 को बढ़कर 86 हो गये थे। 31 दिसम्बर को निगम की सदस्य संख्या 90 थी। 1967-68 में वियतनाम, मौरीटाना तथा इन्डोनेशिया ने निगम की सदस्यता ग्रहण की। जुलाई 1968 से दिसम्बर 1968 तक बनने वाले नये सदस्य थे—मारीशस, यूगोस्लाविया, यूरागुये तथा सिंगापुर। जनवरी 1969 में चीन (तैवान) भी निगम का सदस्य बना और इस प्रकार निगम की सदस्य संख्या बढ़कर 91 हो गई।

अत ग्राहक उस व्यक्ति, फर्म या संस्था को कहते है जिसका किसी बैंक मे खाता—सावधि या चालू खाता या इसी प्रकार का सम्बन्ध होता है और जिसे रुपया चेक या किसी दूसरी प्रकार से, बिना किसी पूर्व सूचना के, निकालने का अधिकार होता है। अन्य शब्दो मे, ग्राहक वह है जो बैंक का खाताधारी है चाहे खाता खोलना उसका प्रथम लेन देन ही क्यो न हो।

बैंक और ग्राहक का पारस्परिक सम्बन्ध
(The relation between a Banker and his Customer)

बैंक और ग्राहक का पारस्परिक सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है —

(1) ऋणी तथा ऋण दाता का सम्बन्ध (Relation of Debtor and Creditor)

(2) प्रतिनिधि और प्रधान का सम्बन्ध (Relation of Agent and Principal)

(3) प्रन्यासी तथा प्रत्यासी का सम्बन्ध (Relation of Trustee and Beneficiary)

नीचे तीनो प्रकार के सम्बन्धो की विस्तृत व्याख्या की गई है

(1) ऋणी तथा ऋणदाता का सम्बन्ध (Relation of Debtor and Creditor) —सर जान पैजेट के अनुसार "बैंकर तथा ग्राहक का सम्बन्ध मुख्यत ऋणी तथा ऋणदाता का है।"[1] जब ग्राहक बैंक म खाता खोलकर रुपया जमा करता है तो बैंक ऋणी तथा ग्राहक ऋणदाता होता है और जब ग्राहक बैंक से ऋण लेता है तो ग्राहक ऋणी तथा बैंक ऋणदाता होता है।

ऋणी और ऋणदाता के रूप मे बैंक और ग्राहक के पारस्परिक सम्बन्ध की निम्नलिखित विशेषतायें हैं —

(अ) बैंक केवल मात्र प्रन्यासी नहीं (A banker is not mere Trustee) बैंक और ग्राहक का सम्बन्ध मुख्यत ऋणी और ऋणदाता का है। जब ग्राहक बैंक मे रुपया जमा करता है तो रुपया प्रधान अर्थात् ग्राहक की सम्पत्ति नहीं रहता वरन् वह पूर्णरूपेण बैंक की सम्पत्ति हो जाता है और बैंक को रुपये का इच्छानुसार प्रयोग करने का अधिकार मिल जाता है। बैंक का केवल यह दायित्व होता है कि यदि उसके खाते म जमा शेष है तो माग पर ग्राहक को भुगतान कर देगा। इस प्रकार बैंक प्रन्यासी (Trustee) या प्रतिनिधि (Agent) नही है वरन् केवल मात्र ऋणी (Debtor) है।

---

[1] "The relation of banker and customer is primarily that of debtor and creditor." —Sir John Paget

(ब) भुगतान की मांग आवश्यक (Demand for repayment necessary): – ग्राहक द्वारा बैंक को जमा के रूप मे दिया गया ऋण साधारण वाणिज्यिक ऋण से एक दृष्टि से भिन्न होता है। साधारणतया ऋण का भुगतान करने का दायित्व ऋणी का होता है और ऋणी अपने आप निश्चित समय पर भुगतान करता है, ऋणदाता द्वारा उसका भुगतान मांगना आवश्यक नही होता। परन्तु बैंक जमा के रूप मे प्राप्त ऋण का भुगतान तभी करने को बाध्य है जब ऋणदाता उस रकम के भुगतान की माग करे।[1] सामान्य ऋण तथा बैंक को जमा के रूप मे दिये गये ऋण मे शायद यह अन्तर ग्राहक को सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से रक्खा गया जिससे कि बैंक किसी भी स्थान तथा किसी भी समय जमा की राशि ग्राहक को वापिस कर बिना पर्याप्त सूचना दिए उसका खाता न बन्द कर दे तथा उसके द्वारा जारी की गई चेको को अस्वीकृत कर उसकी साख को धक्का न पहुंचा सके। लार्ड चोर्ले का यह कथन ठीक ही है कि बिना मागे ग्राहक की रकम का भुगतान करन का तात्पर्य है कि बैंक ग्राहक का खाता बन्द कर रहा है। ऐसा बिना किसी गम्भीर कारण के करना उपयुक्त नही है।

(स) समय-सीमा नियम (Law of Limitation):—सामान्यतः समय सीमा नियम (Law of Limitation) के अनुसार ऋणो की अदायगी की तिथि के 3 वर्ष के भीतर ही उनकी वसूली की कार्यवाही प्रारम्भ हो जानी चाहिए। ऋण अदायगी तिथि के 3 वर्ष व्यतीत हो जाने तक यदि वसूली की कोई कार्यवाही प्रारम्भ नहीं की जाती तो समय-सीमा नियम (Law of Limtation) के अनुसार ऋण-दाता ऋणी से ऋण की रकम वसूल नही कर सकता। परन्तु बैंको द्वारा लिए गये ऋणो पर यह नियम लागू नही होता। बैंको द्वारा लिए गये ऋणो पर इस नियम का लागू होना तब तक प्रारम्भ नही होता जब तक कि ग्राहक अपनी रकम के भुगतान के लिए माग न करे। सावधि जमाओ (Fixed Deposits) की भुगतान तिथि बैंक के पास सावधि जमा रसीद (Fixed Deposit Receipt) भेजने की तिथि मानी जाती है। इस तिथि के 3 वर्ष के भीतर रकम वसूली की कार्यवाही प्रारम्भ हो जानी चाहिए। चालू खाते की रकम के सम्बन्ध मे 3 वर्ष की अवधि उस दिन के बाद से गिनी जाती है जब ग्राहक उस रकम के लिए बैंक से माग करता है। इस प्रकार चालू खाते मे रकम जमा करान के तीन वर्ष तक यदि बैंक तथा ग्राहक मे किसी

---

1. 'Whereas in the case of ordinary debts, a request for payment is not necessary before a creditor can take steps to emforce payment, a demand on the bank for repayment is necessary before the debt owing to a customer becomes what is known 'as actually and accruing due, and so recoverable in law'.

प्रकार का लेन देन न भी हुआ हो ग्राहक मे किसी प्रकार का लेन देन न भी हुआ तो ग्राहक बैंक से अपनी जमा रकम न्यायालय के माध्यम से वसूल कर सकता है।

बैंको द्वारा लिए गये ऋणो पर समय-सीमा नियम का यह सिद्धान्त ग्राहको द्वारा बैंक से लिए ऋणो पर लागू नही होता। ग्राहको द्वारा बैंक से लिए गये ऋण साधारण ऋण माने जाते है।

(2) प्रतिनिधि और प्रधान का सम्बन्ध (Relation of Agent and Principal):—बैंक और ग्राहक के बीच दूसरा महत्वपूर्ण सम्बन्ध प्रतिनिधि और प्रधान (Agent and Principal) का है। बैंको के कार्यों की व्याख्या करते समय हमने उन सेवाओ का उल्लेख किया था जो बैंक ग्राहक के प्रतिनिधि के रूप मे करता है। जब बैंक इन कार्यो को करता है—जैसे ग्राहको की ओर से अशो तथा प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय, चेको का भुगतान प्राप्त करना, अशो का लाभाश तथा प्रतिभूतियो का ब्याज वसूल करना, बीमा पर प्रीमियम की किस्तें अदा करना, ग्राहक की ओर से प्रन्यासी (Trustee) सर्वराकार (Executor) या मुख्तार (Attorney) का कार्य करना इत्यादि—तो वह ग्राहक के प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करता है। इन कार्यों के सम्बन्ध मे बैंक और ग्राहक पर एजेन्सी कानून की सभी धारायें लागू होती है। प्रतिनिधि के रूप मे बैंक को पूर्ण सद्विश्वास तथा पर्याप्त सावधानी और मेहनत से कार्य करना चाहिए। इन कार्यो को करते समय बैंक अपने ग्राहक के निर्देशो का पूर्ण रूपेण पालन करे अन्यथा असावधानी तथा अधिकारो के दुरुपयोग के फलस्वरूप ग्राहक को होने वाली हानि के लिए बैंक उत्तरदायी होगा। एजेन्सी के नियमो के अनुसार बैंक को अपने कमीशन आदि के लिए ग्राहक की प्रतिभूतियो इत्यादि पर ग्रहणाधिकार (lien) प्राप्त होता है।

(3) प्रन्यासी तथा प्रत्यासी का सम्बन्ध (Relation of Trustee and Beneficiary) : बैंक तथा उसके ग्राहक के बीच तीसरा महत्वपूर्ण सम्बन्ध प्रन्यासी या धरोहरधारी (Trustee or Bailee) तथा प्रत्यासी या धरोहरधर्ता (Beneficiary or Bailer) का होता है। जिस समय कोई ग्राहक बैंक के पास सोना, चादी, आभूषण तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थ तथा महत्वपूर्ण दस्तावेज इत्यादि सुरक्षा के लिए रखता है तो बैंक धरोहरधारी या प्रन्यासी बन जाता है। इस प्रकार की सुरक्षा प्रदान करने के लिए बैंक कुछ कमीशन या शुल्क लेता है। सुरक्षा के लिए बैंक को सौपी गई वस्तुओ को उसी रूप मे ग्राहक को लौटाने के लिए बैंक उत्तरदायी है। बैंक को इन वस्तुओ की सुरक्षा के लिए यथोचित प्रयत्न करना चाहिए। यदि बैंक यह प्रयत्न न करे और उसकी असावधानी के कारण धरोहर की वस्तु खो जाय या नष्ट हो जाये तो बैंक को ग्राहक की क्षतिपूर्ति करनी होगी। यदि बैंक उन वस्तुओ को किसी अन्य व्यक्ति के पास रख देता है और वस्तुओ को कोई हानि

पहुंचती है तो बैंक ग्राहक के प्रति उत्तरदायी होगा चाहे उसने पर्याप्त सावधानी से ही काम क्यों न किया हो।

धरोहरधारी के रूप में बैंक का उत्तरदायित्व इस बात पर भी निर्भर करता है कि इस कार्य के लिए बैंक कुछ शुल्क लेता है या नहीं। बहुमूल्य वस्तुओं की सुरक्षा प्रदान करने के लिए जब बैंक कुछ शुल्क लेता है तो बैंक का उत्तरदायित्व अधिक होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में मतभेद है कि जब बैंक इस कार्य के लिए कोई पारिश्रमिक नहीं लेता तो वह पारिश्रमिक प्राप्त धरोहरधर्ता माना जाय या नहीं। कुछ विद्वानों का मत है तो उस समय भी उसे पारिश्रमिक प्राप्त धरोहरधर्ता माना जाना चाहिए क्योंकि बैंक ग्राहकों को यह सुविधा उनको अपनी ओर आकर्षित करने के लिए देता है जिससे बैंक उनके खातों का लाभ उठा सके। यदि बैंक ऐसी सुविधायें अपने ग्राहकों को न दे तो वे दूसरे बैंकों में चले जाय। कुछ देशों में इस प्रकार का नियम है कि यदि बैंक धरोहर को सुरक्षित रखने की सेवा के लिए कोई पारिश्रमिक नहीं लेते हैं और इस सम्बन्ध में उनकी घोर असावधानी सिद्ध न हो तो बैंक क्षतिपूर्ति के लिए उत्तरदायी नहीं होते परन्तु भारत के कानून के अनुसार बैंक की असावधानी के कारण धरोहर की वस्तु की हानि के लिए बैंक उत्तरदायी है चाहे बैंक पारिश्रमिक लेता हो या न लेता हो।

ग्राहकों के प्रति बैंक के विशेष उत्तरदायित्व
(Special Obligations of Banks towards Customers)

अभी तक वर्णित तीनों प्रकार के बैंक और ग्राहक के पारस्परिक सम्बन्ध 'साधारण सम्बन्ध' (General Relations) के रूप में जाने जाते हैं परन्तु ऋणी और ऋणदाता के प्रमुख सम्बन्ध के अन्तर्गत बैंक की कुछ विशेष जिम्मेदारियाँ (Special Obligations) तथा अधिकार होते हैं जिन्हें बैंक और ग्राहक के विशिष्ट सम्बन्ध (Special Relations) की श्रेणी में रखा जाता है। यहाँ हम बैंक और ग्राहक के इन्हीं विशिष्ट सम्बन्धों की व्याख्या करेंगे —

(1) चेकों के भुगतान का दायित्व (Bankers obligation to pay Customers cheques) : बैंक का यह प्रमुख दायित्व है कि वह अपने ग्राहकों द्वारा लिखे गये चेकों का भुगतान करे जिनकी रकम जमा की रकम की सीमा तक हो या उस सीमा तक हो जिस तक बैंक ने ग्राहक को अधिविकर्ष (Overdraft) की स्वीकृति दी हो, जो उपयुक्त रूप में लिखा गया हो तथा लेखन की तिथि के उचित समय के भीतर (within reasonable time after their dates of issue) बैंक के समक्ष उपस्थित किया गया हो। भारत में लेखन तिथि के 6 माह व्यतीत हो जाने पर चेक पुराना (Stale) हो जाता है और बैंक उसका भुगतान नहीं करते। बैंकर को ग्राहकों द्वारा खातों से रकमें निकालने से पहले रकमों को जमा करने का पर्याप्त

समय दिया जाना चाहिए। अत बैंक ग्राहकों की चेकों तथा ड्राफ्टों को रकम वसूल होने से पहले उनके खातों में जमा करने तथा ऐसे चेकों, जो जमा किए गये चेकों तथा ड्राफ्ट के विपक्ष मे लिखे गये हैं, का भुगतान करने को बाध्य नहीं है। यदि बैंक अकारण या बिना औचित्य के ग्राहकों के चेकों का भुगतान करने से इन्कार कर देता है तो ग्राहकों की साख की हानि की क्षति पूर्ति करने के लिए वह उत्तरदायी है। ग्राहक बैंक से असाधारण (Substantial) क्षति की पूर्ति करवा सकता है यदि वह यह सिद्ध कर सके कि उसकी साख की हानि हुई है चाहे उसे कोई मौद्रिक हानि न भी हुई हो। क्षति पूर्ति की रकम तभी अधिक नहीं होती जब चेक की रकम अधिक होता है वरन् छोटी रकम के चेक के अस्वीकृत होने पर ग्राहक की साख को हानि बडी ही घातक होती है और वह अधिक क्षति पूर्ति का दावा कर सकता है। साख को हुई हानि का अनुमान लगाते समय न्यायालय ग्राहक की निर्त्तय स्थिति उसकी व्यावसायिक प्रसिद्धि, उसके व्यापार की रीतियां इत्यादि तत्वों का विचार करते है।

कुछ परिस्थितियों म बैंक को चाहिए कि वह ग्राहक के चेकों का भुगतान न करे जैसे यह सूचना मिलने पर कि ग्राहक पागल या दिवालिया हो गया है, ग्राहक ने किसी चक का भुगतान न करने का लिखित आदेश दिया है या ग्राहक से चेक खो गया है।

(2) बैंक का सामान्य ग्रहणाधिकार (Banker's General Lien) ग्रहणाधिकार का अर्थ होता है वस्तुओं को रोक रखने या ग्रहण कर लेने का अधिकार। The right to retain goods is known as lien) यदि बैंक का कुछ रुपया ग्राहक पर बाकी है तो बैंक रुपया वसूल करने के लिए ग्राहक की उस रकम प्रतिभूति या सम्पत्ति को, जो उस बैंकर के नाते प्राप्त हुई है, रोक लेने का अधिकार है। यह सामान्य ग्रहणाधिकार उन सभी रकमों तथा प्रतिभूतियों पर लागू होता है जो बैंक के पास आती हैं और जो विशिष्ट कार्यों के लिए निश्चित नहीं की गई है। (It extends to all funds and securities coming into the hands of the banker which are not specifically appropriated)

निम्नलिखित वस्तुओं पर बैंक को ग्रहणाधिकार नहीं मिल सकता —

(अ) सुरक्षा जमा तथा T/T (Telegraphic Transfers) इत्यादि क्रय करने के लिए जमा (Valuables for safe custody and money deposited for purchase of Telegraphic Transfers etc) ग्राहक द्वारा सुरक्षा के लिए बैंक के पास जो मूल्यवान वस्तुयें जैसे सोना, चांदी, आभूषण अंश या प्रतिभूतियां इत्यादि जमा करवाया गई हैं या कुछ रकम T/T इत्यादि क्रय करने के लिए जमा करवाया गई है या किसी नियमित भुगतान की वसूली के लिए बैंक इन्हें नहीं रोक

सकता। किन्तु यदि बैंक के पास प्रतिभूतियाँ जमा करायी जाती है और बैंक को उन प्रतिभूतियो के कूपन निकालकर ब्याज वसूल करने के लिए अधिकृत किया जाता है तो बैंक को कूपन तथा प्रतिभूतियो दोनो पर ग्रहणाधिकार प्राप्त हो जाता है क्योंकि यहाँ बैंक ये प्रतिभूतियाँ एक सग्रहण-प्रतिनिधि के रूप मे प्राप्त करता है। लेकिन यदि ग्राहक स्वय कूपन निकालकर उनका ब्याज वसूल करने के लिए बैंक को देता है और प्रतिभूतियाँ सुरक्षा हेतु जमा करवाता है तो ग्रहणाधिकार केवल कूपनो पर लागू होगा, प्रतिभूतियो पर नही।

(ब) भूल से बैंक के पास छूटी हुई प्रतिभूतियाँ (Securities left with banker through mistake or inadvertence) यदि ग्राहक भूल से बैंक के पास कुछ प्रतिभूतियाँ पडी रक्खे तो उन पर बैंक ग्रहणाधिकार का प्रयोग नहीं कर सकेगा क्योंकि उन्हे वह बैंक की हैसियत से प्राप्त नही करता। यदि कोई ग्राहक बैंक को ऋण की जमानत के तौर पर कुछ प्रतिभूतियाँ देता है और किसी कारणवश ऋण स्वीकृत न होने पर भी वे बैंक के पास पडी रहती है तो उन पर बैंक को ग्रहणाधिकार नही होगा परन्तु ऋण स्वीकृत हो और उसका भुगतान निश्चित तिथि पर कर दिया जाय और फिर भी प्रतिभूतियाँ बैंक के पास पडी रहे तो उन पर बैंक का सामान्य ग्रहणाधिकार होगा।

(स) विशिष्ट कार्य के लिए जमायें (Deposits with specific purposes) : यदि ग्राहक कुछ रकमे, चेके बिल इत्यादि विशिष्ट कार्यों मे प्रयुक्त करने के आदेश सहित जमा कराये तो उन्हे बैंक उन्ही विशिष्ट कार्यों मे प्रयुक्त करने के लिए बाध्य है और उन्हे अपने सामान्य भुगतान की वसूली के लिए नही रोक सकेगा।

(द) विक्रय हेतु जमा सम्पत्ति (Property assigned for sale). यदि कोई ग्राहक अपनी सम्पत्ति बेचने के लिए बैंक के पास जमा करवाता है तो ऐसी सम्पत्ति पर बैंक का सामान्य ग्रहणाधिकार नही होगा क्योंकि ग्राहको की सम्पत्ति बेचना बैंक का नियमित बैंकिंग व्यवसाय नही है।

(य) अपरिपक्व ऋण (Loans not matured) यदि ग्राहक द्वारा लिए गये किसी ऋण की भुगतान तिथि भविष्य मे आने वाली है तो भुगतान तिथि के आने तक बैंक जमा सम्पत्ति पर ग्रहणाधिकार का प्रयोग नही कर सकता।

अतः बैंक को ग्रहणाधिकार तभी मिल सकता है जब निम्नलिखित आवश्यक शर्तें पूर्ण होती हो

(1) वह वस्तु या रकम बैंक को बैंक की हैसियत से या बैंकिंग के नियमित व्यवसाय के अतर्गत तथा वैध रूप मे प्राप्त हुई हो,

(ii) वह वस्तु किसी विशिष्ट कार्य मे प्रयुक्त होने के लिए बैंक के पास न जमा करायी गई हो,

(iii) ग्राहक तथा बैंक के बीच कोई ऐसा समझौता न हो जिससे ग्रहणाधिकार लागू न हो सके। (There should be no express contract, or circumstances that show an implied contract, inconsistent with lien (Brandao vs Barnett))

(3) खातो की गोपनीयता (Secrecy of the Customers Account) - बैंकर का यह महत्वपूर्ण दायित्व है कि वह अपने ग्राहक के खाते के शेष या वास्तविक स्थिति को पूर्णतया गुप्त रक्खे और उसे किसी बाहरी व्यक्ति को न बताय जिससे कि ग्राहक की साख पर आच आये। यदि बैंक इस सम्बन्ध मे अपने दायित्व को सावधानी पूर्वक न निभायें और ग्राहक को कोई हानि हो जाय तो बैंक क्षतिपूर्ति करने के लिए उत्तरदायी है। बैंक का यह दायित्व रीति पर आधारित था परन्तु बाद मे Tournier Case मे इसे न्यायिक मान्यता प्रदान की गई। इस निर्णय म यह व्यवस्था दी गई थी कि बैंकर उचित तथा उपयुक्त परिस्थितियो को छोडकर अपने ग्राहक के खाते की स्थिति की सूचना किसी को नही देगा और बैंक के इस दायित्व का खाता बद हो जाने पर भी अत नही होगा।

परन्तु निम्नलिखित परिस्थितियो म बैंकर ग्राहक के खाते के तथ्यो को प्रकट कर सकता है —

(i) न्यायालय के आदश पर (By an order of a Court) यदि किसी न्यायालय के आदेश पर खात के सम्बन्ध मे सूचना देना आवश्यक हो जाय तो बैंक का कोई दायित्व नही होगा।

(ii) बैंक का रेफरी के रूप मे नाम देने पर (Where customer has given his banker's name as a referee) जब ग्राहक स्वय बैंक का नाम रेफरी के रूप मे देता है ता व्यावसायिक पूछताछ के उत्तर मे बैंक सूचनायें दे सकता है।

(iii) राष्ट्रीय दायित्व के रूप मे सूचना (When under a public duty to disclose) देशद्रोह तथा राष्ट्र की सुरक्षा को भय की स्थितियो मे बैंक ग्राहक के खाते के सम्बन्ध मे सूचनायें दे सकता है।

(iv) अपने हित की रक्षा मे (When the protection of bankers own interests legally requires it) कभी कभी बैंक स्वय अपन हित म जैसे ऋण की रकम वसूल करने के लिए दावा करने पर खाते की सूचना दे सकता है।

(4) प्रासगिक व्यय लेने का अधिकार (Right to realise Incidental Charges) —बैंक को ग्राहक का खाता रखन मे कुछ व्यय करना होता है। इसलिए ग्राहक के सौदो की मात्रा के आधार पर बैंक वार्षिक या अर्द्ध वार्षिक खाते म एक पूर्व निश्चित राशि से कम जमा रहन पर प्रासगिक व्यय लेते हैं।

(5) चक्र वृद्धि ब्याज लगाने का अधिकार (Right to charge Compound interest) —बैंक को अपने ग्राहकों से, यदि कोई विपरीत समझौता न हो, छमाही चक्र वृद्धि ब्याज प्राप्त करने का अधिकार है।

बैंक और ग्राहक के पारस्परिक सम्बन्ध को उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि बैंक और ग्राहक के सम्बन्धो का दो दृष्टिकोणो से विचार किया जाना चाहिए— वैधानिक (Legal) तथा व्यवहारिक (Practical)। बैंक का वैधानिक आवश्यकताओ तथा नियमो का पालन तो करना ही पडता है परन्तु व्यवहारिक बैंकर के नाते नियमो के सम्बन्ध मे वह बिल्कुल जड भी नही हो सकता। अत इस दिशा मे बैंक को एक सम्यक् तथा गतिशील नीति बनानी चाहिए जिसमे वह अधिक से अधिक ग्राहको को आकर्षित कर अपने व्यापार का विस्तार कर सके और देश के व्यापार तथा वाणिज्य के विकास मे अधिक से अधिक योगदान कर सके।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) बैंकर किसे कहते हैं? बैंकर का ग्राहक किसे कहा जाता है? उनके मध्य सम्बन्धो का वर्णन कीजिए।

(आगरा बी० काम०, 1957)

[सकेत—प्रथम भाग मे बैंकर तथा ग्राहक की परिभाषायें दीजिए। दूसरे भाग मे बैंकर और ग्राहक के ऋणी तथा ऋणदाता, प्रतिनिधि तथा प्रधान और न्यासी तथा प्रत्यासी के रूप म पारस्परिक सम्बन्धो की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।]

(2) बैंक और ग्राहक के पारस्परिक सम्बन्धो की परीक्षा कीजिए।

(राजस्थान बी० काम०, 1960)

[सकेत—भूमिका स्वरूप बैंकर और ग्राहक की सक्षिप्त परिभाषायें देते हुए उनके बीच ऋणी तथा ऋणदाता, प्रतिनिधि तथा प्रधान और न्यासी तथा प्रत्यासी के रूप मे उनके पारस्परिक सम्बन्धो की विवेचना कीजिए।]

केन्द्रीय बैंकिंग
(Central Banking)

"There have been three great inventions since the beginning of time · Fire, the Wheel, and Central Banking"

Will Rogers

आधुनिक समय मे ससार के सभी देशो मे एक ऐसा विशिष्ट बैंक होता है जो देश की मौद्रिक तथा बैंकिंग व्यवस्था पर नियन्त्रण तथा नियमन रखता है। देश की बैंको तथा व्यापार–उद्योग के निकट सम्पर्क मे रहकर वह देश हित मे साख का विस्तार तथा सकुचन करता है। ऐसे बैंक का केन्द्रीय बैंक (Central Bank) कहा जाता है क्योकि देश की अर्थव्यवस्था मे उसका केन्द्रीय स्थान होता है। ससार के लगभग सभी देशो मे ऐसे बैंक स्थापित है और उनके द्वारा समाज की अभूतपूर्व सेवा हुई है। इसीलिए रोजर्स (Rogers) ने केन्द्रीय बैंकिंग को ससार के तीन आविष्कारो मे से एक माना है।

केन्द्रीय बैंकिंग का विकास
(Evolution of Central Banking)

केन्द्रीय बैंकिंग का आरम्भ कब हुआ बताना बडा कठिन है। इस शताब्दी के पूर्व तक "केन्द्रीय बैंकिंग के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट धारणा नही थी।"[1] अधिकतर प्राचीन देशो मे कोई एक बैंक नोट निर्गमन के एकाधिकार तथा सरकारी बैंक के रूप मे काय करने के कारण धीरे धीरे केन्द्रीय बैंक का स्थान ग्रहण करता गया। प्रारम्भ मे उन्हे केन्द्रीय बैंक न कहकर निर्गम बैंक (Bank of Issue) अथवा राष्ट्रीय बैंक (National Banks) कहा जाता था परन्तु शनै शनै ये बैंक केन्द्रीय बैंक के अन्य कार्य भी करने लगे और इसी नाम से पुकारे जाने लगे। वर्तमान केन्द्रीय बैंको मे स्वीडन का रिक्स बैंक (Riksbank of Sweden) सबसे अधिक प्राचीन है क्योकि इसकी स्थापना 1656 ई० मे हुई परन्तु 1694 ई० मे स्थापित बैंक आफ इगलैंड

---

[1]. 'Prior to the beginning of the twentieth century there had been no clearly defined concept of central Banking"

—M. H. De Kock : *Central Banking* (Third Edition), p.1

(Bank of England) प्रथम निर्गम बैंक था जिसने केन्द्रीय बैंक के कार्य करने प्रारम्भ किए। इसीलिए बैंक ग्राफ इगलैण्ड को 'केन्द्रीय बैंको की जननी' (Mother of Central Banks) तथा 'थ्रेडनीडल गली की वृद्ध महिला' (Old Lady of the Threadneedle Street) कहा जाता है तथा बैंक ग्राफ इगलैण्ड का इतिहास केन्द्रीय बैंक के सिद्धान्तो तथा कार्य शैली के विकास का इतिहास माना जाता है। बैंक ग्राफ इगलैण्ड की स्थापना 1694 ई० मे सरकार को ऋण देने के लिए अशधारियो के बैंक के रूप म ससदीय विधान (under a special charter of Parliament) के अन्तगत हुई थी ग्रौर इसके बदले उसे नोट निगमन करने का अधिकार दिया गया। उस समय बैंक ग्राफ इगलैण्ड को नोट निर्गमन का एकाधिकार नही था ग्रौर अन्य व्यापारिक बैंक भी नाट निर्गमन करते थ। 1844 के बैंक एक्ट (Bank Act of 1844) के ग्रन्तर्गत अन्य बैंको के नोटों की मात्रा उस समय की प्रचलित मात्रा पर सीमित कर दी गई ग्रौर कुछ परिस्थितिग्रों में उनके नोटो की समाप्ति की व्यवस्था कर दी गई। इस प्रकार बैंक ग्राफ इगलैण्ड को नाट निर्गमन का ग्राशिक एकाधिकार (Partial Monopoly) हो रहा। बैंक ग्राफ इगलैण्ड के नोट निर्गमन के ग्राशिक एकाधिकार तथा सरकारी बैंक के कार्यों के फलस्वरूप उसकी विशिष्ट स्थिति के कारण अन्य बैंकों ने इस बैंक मे कोष रखने प्रारम्भ किए जिससे यह बैंक बैंको के नकद कोषो तथा इस प्रकार देश के स्वर्ण कोषो का सरक्षक (Custodian of the Cash Reserves of Private Banks, and thus of the Country's gold reserves) बन गया। इस दिशा मे सन् 1854 के बाद विशेष उन्नति हुई जब समाशोधन-गृह (Clearing House) प्रणाली का जन्म हुआ।

बाद मे बैंक ग्राफ इगलैण्ड पर अन्य बैंको की सहायता का दायित्व भी ग्रा पडा ग्रौर यह बैंक बेजहाट (Bagehot) की शब्दावली मे 'ग्रापत्ति काल का ग्रन्तिम ऋणदाता (Lender of last resort) समझा जान लगा। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ तक साख नियन्त्रण के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप मे 'बैंक दर' की महत्ता स्थापित हो चुकी थी। प्रथम महायुद्ध के बाद की ससार की ग्राथिक परिस्थितियो मे बैंक दर के ग्रतिरिक्त साख नियन्त्रण के ग्रन्य साधनो का भी उदय हुग्रा। केन्द्रीय बैंक के रूप म बैंक ग्राफ इगलैंड की सफलता ने ससार के अन्य देशो मे केन्द्रीय बैंको क विकास को प्रात्साहित किया।

फ्रान्स म बैंक ग्राफ फ्रास (Bank of France) की सन् 1800 म तथा जर्मनी म रीश बैंक (Reichs Bank) की सन् 1875 मे स्थापना हुई थी। बैंक ग्राफ नीदरलैन्ड्स (The Bank of Netherlands) सन् 1814 म स्थापित हुई थी। दि नेशनल बैंक ग्राफ ग्रास्ट्रिया तथा बैंक ग्राफ नार्वे सन् 1817, नेशनल बैंक ग्राफ डेनमार्क सन् 1818, नेशनल बैंक ग्राफ बेल्जियम सन् 1850 तथा बैंक ग्राफ स्पेन सन् 1856 म

स्थापित हुई थी। बैंक आफ रशिया (Bank of Russia) की स्थापना सन् 1860 में हुई। जापान की मौद्रिक अव्यवस्था दूर करने के लिए सन् 1882 में बैंक आफ जापान स्थापित की गई। इसके अतिरिक्त 19वी शताब्दी में पुर्तगाल, रुमानिया, बलगारिया, टर्की, जावा, मिस्र तथा अल्जीरिया में भी केन्द्रीय बैंकों की स्थापना हुई। इस प्रकार 19वी शताब्दी के अन्त तक योरोप के लगभग सभी देशों में पूर्व में जापान, जावा तथा परसिया में तथा अफ्रीका में मिस्र तथा अल्जीरिया में विशिष्ट अधिकार प्राप्त निर्गमन बैंक के रूप में केन्द्रीय बैंकों की स्थापना हो चुकी थी। 20वी शताब्दी में भी केन्द्रीय बैंकों के विकास का क्रम जारी रहा। 20वी शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत तथा चीन जैसे देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं थे। अमेरिका में सन् 1907 के वित्तीय सकट ने वहा की विकेन्द्रित बैंकिंग व्यवस्था के दोषों को प्रकट किया और उनकी जाच के लिए विशेष आयोग की नियुक्ति हुई। परिणामस्वरूप सन् 1914 में 12 फेडरल रिजर्व बैंकों तथा वाशिंगटन में फेडरल रिजर्व बोर्ड की स्थापना द्वारा वहा भी एक केन्द्रीय बैंकिंग व्यवस्था को जन्म दिया गया।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रवाद के उदय तथा आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता ने केन्द्रीय बैंकिंग के विकास को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। सन् 1920 में ब्रुसेल्स (Brussels) में हुए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त सम्मेलन (International Financial Conference) में एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया, जिसमें कहा गया कि जिन देशों में केन्द्रीय बैंक स्थापित नहीं हुए हैं उन देशों में शीघ्रातिशीघ्र केन्द्रीय बैंक स्थापित करके न केवल देश की मौद्रिक तथा बैंकिंग व्यवस्था में स्थिरता लानी चाहिए बल्कि विश्व मौद्रिक सहयोग भी बढाना चाहिए।

सन् 1920 से अगले 30 वर्षों में ससार के विभिन्न क्षेत्रों में केन्द्रीय बैंकों की स्थापना को प्रोत्साहन मिला जैसा कि डी काक (M. H. De Kock) द्वारा दी गई निम्न सूची से प्रकट होता है —

स्थापना का वर्ष	केन्द्रीय बैंक का नाम
1921	1 South African Reserve Bank
1922	1 Reserve Bank of Peru (reconstituted as Central Reserve Bank of Peru in 1931)
	2 Bank of Latvia
	3. Bank of Lithuania
1923	1. Bank of the Republic of Colombia

स्थापना का वर्ष	केन्द्रीय बैंक का नाम
1924	1 National Bank of Hungary.
	2 Bank of Poland.
	3 Bank of Danzig
	4. Commonwealth Bank of Australia and Bank of the Republic of Uruguay converted into central Banks
1925	1 National Bank of Albania
1926	1 National Bank of Czechoslovakia.
	2. Central Bank of Chile
	3. Central Bank of Guatemala (replaced by Bank of Guatemala in 1946.)
1927	1 Central Bank of Ecuador
	2. Bank of Estonia Converted into a central bank.
1928	1 Central Bank of China
	2 National Bank of Persia (Iran)
	3. Central Bank of Bolivia
	4. Bank of Greece (In place of National Bank of Greece)
	5. National Bank of Iceland converted into a central bank
1931	1 Central Bank of Turkish Republic.
1932	1 Bank of Mexico converted into a central bank.
1934	1 Reserve Bank of New Zealand
	2. Central Reserve Bank of Salvador.
1935	1. Bank of Canada
	2. Reserve Bank of India.
	3. Central Bank of Argentine Republic
1936	1. Bank of Republic of Paraguay (reconstituted as Bank of Paraguay in 1944)
1937	1 National Bank of Costa Rica (replaced by Central Bank of Costa Rica in 1950.)
1940	1. Central Bank of Venezuela
1941	1. National Bank of Afghanistan
	2. National Bank of Nicaragua converted into a central Bank.
1942	1. Central Bank of Ireland
	2. Bank of Thailand.
	3. State Bank of Ethiopia.

स्थापना का वर्ष	केन्द्रीय बैंक का नाम
1945	1. National Bank of Poland.
1947	1. Central Bank of Dominican Republic.
1948	1. State Bank of Pakistan
	2. Union Bank of Burma
	3 Central Bank of Philippines.
	4. National Bank of Cuba.
1949	1. National Bank of Iraq.
1950	1. Central Bank of Ceylon
	2. Central Bank of Honduras.
1952	1. Central Bank of Belgian Congo.
	2 Bank of Issue of Associated States of Indo China
1954	1. Bank of Israel.
1957	1. Bank of Ghana.
1958	1. Central Bank of Tunisia,
	2 Central Bank of Malaya (renamed as the Central Bank of Malaysia in 1963)
1959	1. Central Bank of the States of West Africa
	2. Central Bank of the States of Equatorial Africa and of Cameroon.
	3. Bank of Morocco
	4. Central Bank of Nigeria.
1960	1. Bank of Sudan
	2. Bank of the Republic of Guinea
	3 Somali National Bank.
1962	1. Bank of Jamaica
	2. Malagasy Bank of Issue.
	3 Bank of Republic of Mali.
1963	1. Central Bank of Algeria.
	2 Central Bank of Cyprus.
1964	1. Bank of Lebanon.
	2 National Bank of Rwanda.
	3. Bank of Kingdom of Burundi
	4 National Bank of the Congo (Leopoldville).

कुछ अपवादों को छोड़कर अब संसार में कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ केन्द्रीय बैंक न हो। अनुमानतः संसार में इस समय सौ से कुछ अधिक केन्द्रीय बैंक हैं और उनमें से आधे से अधिक सन् 1940 के बाद स्थापित हुए हैं। केन्द्रीय बैंकिंग के विकास के कई कारण रहे हैं।

केन्द्रीय बैंकों की स्थापना के कारण (Causes of establishment of Central Banks) : केन्द्रीय बैंकों के तीव्रगति से विस्तार के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

1. **मुद्रा व्यवस्था का नियमन** (Regulation of Monetary System) : ससार मे सन् 1931 के बाद स्वर्णमान के समाप्त हो जाने से मुद्रा मान की स्वयं-सचालिता का गुण नष्ट हो गया। पत्र मुद्रामानों के प्रबन्ध तथा मुद्रा के नियन्त्रण और नियमन के उत्तरदायित्व का वहन करने के लिए एक केन्द्रीय सस्था की आवश्यकता अनुभव की गई।

2. **बैंकिंग व्यवस्था का नियन्त्रण** (Control of the Banking System)· बैंकिंग व्यवस्था के विकास के कारण उसमे काफी जटिलता आ गई और बैंको के नियन्त्रण तथा मार्गदर्शन के लिए सरकार द्वारा सरक्षण प्राप्त किसी केन्द्रीय सस्था की स्थापना को प्रोत्साहन मिला।

3 **देशो की बैंक व्यवस्थाओ के बीच कडी** (Means of communication between the banking system of one country and another) देशों को युद्धोत्तरकाल में अतर्राष्ट्रीय स्तर पर नयी वित्तीय समस्याओं का सामना करना पडा। अतर्राष्ट्रीय लेन देन तथा देशो के बीच अतर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की प्राप्ति के लिए केन्द्रीय बैंको की स्थापना आवश्यक हो गई। केन्द्रीय बैंकिंग के विद्वान् डा० डी काक के शब्दो मे, "केन्द्रीय बैंको के विकास का एक कारण यह अनुभव रहा है कि एक देश तथा दूसरे देश की बैंकिंग व्यवस्थाओ के बीच सहयोग तथा आदान-प्रदान का सर्वोत्तम साधन केन्द्रीय बैंक ही है।"[1]

उपरोक्त कारणो ने ससार के विभिन्न क्षेत्रो मे केन्द्रीय बैंको की स्थापना को प्रोत्साहित किया।

केन्द्रीय बैंक को परिभाषा
(Definition of a Central Bank)

केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिंग व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु होता है और उसके कार्य तथा उत्तरदायित्व बडे विस्तृत तथा प्रभावकारी होते है। केन्द्रीय बैंक की परिभाषा विभिन्न अर्थशास्त्रियो तथा वित्त विशेषज्ञो ने भिन्न भिन्न प्रकार से की है। विद्वानो ने केन्द्रीय बैंक के कार्यो के आधार पर अपनी अपनी परिभाषायें दी हैं। प्रो० आर०पी० केन्ट (Prof. R P. Kent) के शब्दों मे "केन्द्रीय बैंक एक ऐसी सस्था है जिसे

---

[1]. "Another factor is the realisation that a central bank offers the best means of communication and cooperation between the banking system of one country and that of another."

—M. H De Kock : *Central Banking*, 1956, P 21.

सामान्य जन-हित मे मुद्रा की मात्रा के विस्तार तथा सकुचन का उत्तरदायित्व सौपा गया हो।"[1] केन्ट के अनुसार मुद्रा तथा साख का नियत्रण करने वाली सस्था केन्द्रीय बैंक कहलाती है। बैंक आफ कनाडा अधिनियम 1934 म केन्द्रीय बैंक को इस प्रकार परिभाषित किया गया है – "केन्द्रीय बैंक वह है जो देश के आर्थिक जीवन के सर्वोत्तम हित मे साख तथा मुद्रा का नियमन करे, राष्ट्रीय मौद्रिक इकाई के वाह्य मूल्य का नियत्रण तथा सरक्षण करे तथा यथा सम्भव अपने मौद्रिक कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत प्रभाव डालकर उत्पादन व्यापार, मूल्य तथा रोजगार के उच्चावचनो को रोके।"[2] बैंक आफ कनाडा अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय बैंक वह सस्था है जो साख तथा मुद्रा का नियमन करे, मुद्रा के आतरिक तथा वाह्य मूल्य मे स्थिरता तथा अर्थ-व्यवस्था मे उच्चावचनो को रोके।

बैंक आफ इन्टरनेशनल सेटिलमेन्ट्स (Bank of International Settlements) के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक किसी देश का वह बैंक है जिसे वहाँ के चलन तथा साख की मात्रा के नियमन का कर्त्तव्य सौपा गया हो।"[3] इस परिभाषा मे भी केन्द्रीय बैंक के मुद्रा तथा साख के नियमन के कार्य का उल्लेख किया गया है। **किश तथा एलकिन्स** (Messrs Kisch and Elkin) के शब्दो मे, "केन्द्राय बैंक वह बैंक है जिसका प्रमुख कार्य मुद्रा मान की स्थिरता को बनाये रखना होता है।"[4] इस परिभाषा के अन्तर्गत मुद्रा तथा साख पर पूर्ण नियत्रण आ जाता है।

केन्द्रीय बैंक की कुछ अन्य परिभाषायें इस प्रकार हैं —

प्रो० एम० स्प्रेग (O M Sprague) "केन्द्रीय बैंक के विशेष कार्यो को तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है वे सरकारो के अशुल्क अभिकर्त्ता के

---

1. "......it may be defined as an institution charged with the responsibility of managing the expansion and contraction of the volume of money in the interest of general public welfare"
—R P Kent *Money and Banking* p 351

2 ......the Bank is to regulate credit and currency in the best interests of economic life of the nation, to control and to protect the external value of the national monetary unit and to mitigate by its influence flactuations in the general level of production, trade, prices and employment so far as may be possible within the scope of monetary action' —*Bank of Canada*

3 "the bank in any country to which has been entrusted the duty of regulating the volume of currency and credit in that country"
—*Statutes of the Bank for International Settlements*

4. "The essential function of a central bank is the maintenance of the stability of the monetary standard which involves the control of the monetary circulation"
—Kisch and Elkin. *Central Banks* (Fourth Edition), p. 74.

रूप में कार्य करते हैं; नोट-निर्गमन के लगभग पूर्ण एकाधिकार द्वारा चलन पर नियन्त्रण के बहुत अधिकार रखते है तथा, अंतिम रूप से, चूँकि उनके पास अन्य बैंकों के कोषो का अधिकतर भाग जमा रहता है अत: साख पर नियन्त्रण करने का कार्य भी करते हैं। यह अंतिम कार्य केन्द्रीय बैंक का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है।"[1]

भारतीय मुद्रा तथा वित्त आयोग के समक्ष बैंक आफ इंगलैंड के गवर्नर : "केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार होना चाहिए; इसको विधि-ग्राह्य मुद्रा निकालने तथा वापिस लेने का माध्यम—एक मात्र माध्यम होना चाहिए। इसे सभी सरकारी कोषो का धारक तथा देश की सभी बैंको तथा उनकी शाखाओं के सभी कोषो का धारक होना चाहिए। इसे एक ऐसे अभिकर्त्ता का कार्य करना चाहिए जिसके द्वारा देश की सरकार के आतरिक तथा बाह्य वित्तीय कार्य सम्पन्न हो सकें। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक का यह भी दायित्व होगा कि वह सामान्य स्थायित्व के उद्देश्य के अतिरिक्त (साख का) उपयुक्त विस्तार तथा सकुचन करे और आंतरिक तथा बाह्य स्थायित्व बनाये रक्खे। उसे आवश्यकता के समय ऋण प्राप्त करने का ऐसा अन्तिम स्रोत होना चाहिए जहाँ से स्वीकृत बिलों का बट्टा कराकर या स्वीकृत अल्पकालीन प्रतिभूतियों या सरकारी पत्रों की आड पर आवश्यक राशि प्राप्त हो सके।"[2]

---

[1]. "The special functions of the central banks may be grouped under three heads: they serve as fiscal agents of governments; they have large powers of control over currency through more or less complete monopoly of note issue; and finally, since they hold a large part of the reserves of other banks, they are directly responsible for the foundation of the central bank." —O M Sprague.

[2]. It should have the sole right of note-issue, it should be the channel and the only channel for the output and intake of legal tender currency. It should be the holder of all the government balances, the holder of all the reserves of other banks and the branches of all banks in the country It should be agent, so to speak, through which the financial operations at home and abroad, of the government would be performed It would further be the duty of the central bank to effect, as far as it could, suitable contraction and suitable expansion, in addition to aiming at general stability, and to maintain that stability within as well as without. When necessary it would be the ultimate source from which necessary funds might be obtained in the form of rediscounting of approved bills or advances on approved short securities or government paper." —Governor, Bank of England; *Report of the Royal Commission on Indian Currency and Finance*, 1926–Evidences.

वेरास्मिथ (Vera Smith) : "केन्द्रीय बकिंग का मुख्य अभिप्राय उस बैंकिंग व्यवस्था से है जिसमे किसी एक बैंक को नोट निर्गमन का पूर्ण या शेष एकाधिकार प्राप्त हो। इसी नोट निर्गमन के एकाधिकार से हमारी आधुनिक केन्द्रीय बैंको के सहायक कार्य तथा लक्षण निकले हैं।"[1]

हाट्रे (R.G Hawtrey) : "केन्द्रीय बैंक बैंको का बैंक है। समाज के अन्य बैंको—प्रतिस्पर्धी बैंको—को वही सुविधाये देता है जो वे अपने ग्राहको को देते हैं। केन्द्रीय बैंक के पास जमा कोषो को निकालकर प्रतिस्पर्धी बैंक एक दूसरे को भुगतान करती है, अपने व्यापार की आवश्यकतानुसार वे जमा कोषो के आधार पर चलन निकालते हैं या जमा करती हैं और जमा कोषो के कम हो जाने पर केन्द्रीय बैंक से ऋण लेकर उन्हे पूरा करती हैं।"[2]

शा (Shaw) : "एक स्वचालित तथा स्वनियन्त्रित चलन के लिए राज्य को नोट निर्गमन करना चाहिए और यदि चाहे तो उनके वितरण के लिए केन्द्रीय बैंक का प्रयोग करे।...केन्द्रीय बैंक का एक मात्र सत्य तथा साथ मे अपने मे पूर्ण कार्य साख का नियन्त्रण करना है।"[3]

जॉन्से (Jauncey). "समाशोधन (Clearing) ही केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य है।"[4]

---

[1]. "The primary definition of central banking is a banking system in which a single bank has either a complete or residuary monopoly in the note issue", and that, "it is out of monopolies in the note issue that were derived the secondary functions and characteristics of our modern central banks."

—Vera Smith : *Rationale of Central Banking*

[2]. "A central bank is a banker s bank. It affords to the other banks of the community, the competitive banks, the same facilities as they afford to their customers. The competitive banks make payments to one another by drawing on balances at the central bank, they draw out currency against those balances or pay currency in, as their business may require, and they replenish their balances, when low by borrowing from the central bank "

—R G. Hawtrey *The Art of Central Banking*, 1962, p 116

[3]. "In order to have an automatic, self regulatory currency the state should issue notes and use the central bank only for the distribution of notes, if at all......the one true, but at the same time all-sufficing function of a central bank is control of credit.'

—Shaw : *Theory and Principles of Central Banking*, pp V and 78-80.

[4]. "Clearing is the main operation of central banking "

—Jauncey : *Australia's Government Bank*, p 166

केन्द्रीय बैंक की विभिन्न परिभाषाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि केन्द्रीय बैंक का कार्य क्षेत्र कितना विस्तृत तथा महत्वपूर्ण है और केन्द्रीय बैंक के सभी कार्यों का विवेचन किसी एक परिभाषा मे नही है। अत ये सभी परिभाषायें केन्द्रीय बैंक के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट तो करती हैं परन्तु पूर्ण नही कही जा सकती। अन्त मे हम केन्द्रीय बैंक की विस्तृत तथा सर्वोत्तम परिभाषा देते हैं जो केन्द्रीय बैंकिंग के प्रकाड पडित डा० एम०एच०डी० काक ने अपनी पुस्तक Central Banking' मे दी है :—

"केन्द्रीय बैंक उस बैंक को कहते हैं जो देश के राष्ट्रीय आर्थिक हित मे निम्नलिखित कार्यों को करती है

(1) व्यापार तथा सामान्य जनता की आवश्यकतानुसार चलन का नियमन करना जिसके लिए उसको नोट निर्गमन का पूर्ण या आंशिक एकाधिकार प्राप्त होता है।

(2) राज्य के लिए सामान्य बैंकिंग तथा अभिकर्त्ता सेवायें प्रदान करना।

(3) व्यापारिक बैंको के नकद कोषो का सरक्षण।

(4) राष्ट्र के अतर्राष्ट्रीय मुद्रा के कोषो का सरक्षण तथा प्रबन्ध।

(5) व्यापारिक बैंको, बिल दलालो तथा व्यापारियो अथवा अन्य वित्तीय सस्थाओ को बिलो तथा हुँडियो का बट्टा करके या अग्रिम द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान करना तथा अतिम ऋणदाता के उत्तरदायित्व की सामान्य स्वीकृति।

(6) बैंको के पारस्परिक लेन देन समाशोधन द्वारा निपटाना।

(7) राज्य द्वारा निर्धारित मौद्रिक नीति के कार्यान्वयन के उद्देश्य से तथा व्यापार की आवश्यकताओ के अनुसार साख का नियत्रण करना।"[1]

---

[1]. "A central bank is a bank which constitutes the apex of the monetary and banking structure of its country and which performs as best as it can in the national economic interest the following functions

1 The regulation of currency in accordance with the requirements of business and the general public, for which purpose it is granted either the sole right of note issue or at least a partial monopoly thereof

2 The performance of general banking and agency services for the state

3. The custody of the cash reserves of the commercial banks.

4. The custody and management of the nations reserves of international currency.

5. The granting of accommodation, in the form of rediscounts

केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता
(Necessity of Central Bank)

आधुनिक अर्थ-व्यवस्थाओं के सचालन मे केन्द्रीय बैंकों का इतना महत्वपूर्ण योगदान है कि आज वे सभी देशो के आर्थिक सगठनो का आवश्यक अग बन गया हैं। वैसे तो उनकी आवश्यकता के अनेक कारण हैं परन्तु उनमे से कुछ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

1. नोटों का निर्गमन (Issue of Notes) : केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार देने के सम्बन्ध मे अब कोई मतभेद नही है। सभी लोग यह स्वीकार करते हैं कि नोट निर्गमन को लोचपूर्ण बनाने तथा उसे राजनीतिक प्रभावों से मुक्त कर विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्तो पर आधारित रखने के लिए एक स्वतत्र केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता होती है।

2. साख का नियमन (Regulation of Credit) : आधुनिक आर्थिक जीवन मे मुद्रा की तुलना मे साख का अत्याधिक महत्व है। आज व्यापारिक बैंकों का एक महत्वपूर्ण तथा प्रमुख कार्य साख का सृजन करना है। बैंकों की साख-सृजन प्रक्रिया से देश की अर्थ-व्यवस्था को अनेक लाभ है परन्तु व्यापार-वाणिज्य की आवश्यकता से अधिक साख का विस्तार तथा सकुचन देश के लिए भयावह सिद्ध हो सकता है। अत बैंकों के द्वारा साख-सृजन की मात्रा का देश तथा अर्थ-व्यवस्था के हित मे किसी स्वतन्त्र सस्था द्वारा नियमन होना आवश्यक है और यह सस्था केन्द्रीय बैंक ही हो सकती है।

3. बैंकों को आवश्यकता के समय वित्तीय सहायता (Financial accommodation to banks in times of need) : सकट काल तथा वित्तीय कठिनाइयो क समय देश के बैंको को आर्थिक सहायता की आवश्यकता पडती है। यदि ऐसे समय उन्हे बाह्य सहायता न मिले तो वे फेल हो जायें और इससे बैंको मे जन विश्वास समाप्त हो जाय। अत कठिनाइयो के समय बैंको को 'अन्तिम ऋणदाता' के रूप मे केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता पडती है।

---

or collateral advances, to commercial banks, bill brokers and dealers, or other financial institutions, and the general acceptance of the responsibility of lender of last resort.

6. The settlement of clearance balances between the banks; and
7. The control of credit in accordance with the needs of business and with a view to carrying out the broad monetary policy adopted by the state."

—M H. De Kock : Central Banking, (Third Ed.) 1954, p 22

4. बैंकिंग विकास (Banking Development) : किसी देश मे बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार तथा बैंक व्यवस्था को अधिक सुदृढ बनाने के लिए किसी मार्गदर्शक तथा सहायक की आवश्यकता होती है और यह कार्य केन्द्रीय बैंक ही करता है।

5. मौद्रिक नीति का निर्धारण तथा क्रियान्वयन (Formulation and Implementation of Monetary Policy) : देश के आर्थिक विकास मे मौद्रिक नीति का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। देश के विकास की आवश्यकताओं के अनुरुप मौद्रिक नीति का निर्माण तथा उसका सफल क्रियान्वयन सरकार तथा केन्द्रीय बैंक के द्वारा ही हो सकता है।

6. सरकारी बैंक के रूप मे कार्य (Functions as a Government Banker) सरकार के कार्यों के विस्तार के फलस्वरूप सरकार की वित्तीय प्रक्रियाओं का जो सख्यावर्धन हुआ है उसके उत्तरदायित्व को सभालने के लिए केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता होती है।

केन्द्रीय बैंकिंग के सामान्य सिद्धांत
(General Principles of Central Banking)

केन्द्रीय बैंकिंग अब बैंकिंग की पूर्णत अलग शाखा स्वीकार की जाने लगी है। केन्द्रीय बैंको के अपने अलग नियम तथा रीतियाँ होती हैं जिन्हे 'केन्द्रीय बैंकिंग की कला' (The Art of Central Banking) कहा जाता है। डा० डी० काक के अनुसार, "अब 'केन्द्रीय बैंकिंग का विज्ञान' कहना भी अधिक उपयुक्त होगा।"[1] केन्द्रीय बैंकिंग के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

1. केन्द्रीय बैंक सदा जनहित मे कार्य करता है (Central Bank always acts in public interest) : केन्द्रीय बैंक कोई लाभ कमाने वाली सस्था नही है बल्कि राष्ट्रहित या जनहित के उद्देश्य को समक्ष रखकर कार्य करती है। डा० डी० काक के शब्दो मे, "केन्द्रीय बैंक का मार्गदर्शक सिद्धात यह है कि लाभ को प्राथमिक निर्धारक न स्वीकार करते हुए उसे सदा केवल जनहित में कार्य करना चाहिए चाहे किसी विशिष्ट समय पर वह चाहे जो कार्य या कार्यों का समूह करे।"[2] केन्द्रीय बैंक

---

1. "It is now also legitimate to speak of the science of central banking." —M.H. De Kock : *Central Banking*, p 22

2 "The guiding principle for a central bank, whatever function or group of fuctions it performs at any particular moment, is that it should act only in the public interest and without regard to profit as a primary consideration "

—M H. De Kock *Central Banking* p. 25

निक्षेपों पर ब्याज नही देता और जोखिम वाले उद्योगों मे विनियोजन करने की उसे मनाही है।

2 देश के विभिन्न हितो के बीच निष्पक्षता (Should be impartial as between different sectional interests in the country) केन्द्रीय बैंक को सदा विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्तो के आधार पर ही निर्णय लेने चाहिए। देश के विभिन्न वर्गों के आर्थिक हितो के बीच उसे निष्पक्ष होना चाहिए। केन्द्रीय बैंक की नीतियाँ तथा उनका क्रियान्वयन राजनीतिक प्रभावों से मुक्त होना चाहिए। केन्द्रीय बैंक का एक मात्र लक्ष्य जनहित तथा पूरे देश का कल्याण होना चाहिए।

3 देश मे मुद्रा की पूर्ति का अन्तिम स्रोत (Ultimate source of money supply in the country) केन्द्रीय बैंक के पास नोट निर्गमन का एकाधिकार होना है। केन्द्रीय बैंक विभिन्न रीतियो के द्वारा बैंक मुद्रा का नियंत्रण करता है। मुद्रा पूर्ति पर नियंत्रण के अधिकार का प्रयोग केन्द्रीय बैंक द्वारा इस प्रकार होना चाहिए कि राज्य की आर्थिक नीतियो के अनुरूप बैंकिंग तथा मौद्रिक व्यवस्था संचालित हो।

केन्द्रीय बैंकिंग तथा व्यापारिक बैंकिंग की तुलना
(Comparison between Central and Commercial Banking)

केन्द्रीय बैंकिंग के सामान्य सिद्धान्तो के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि केन्द्रीय बैंकिंग तथा व्यापारिक बैंकिंग भिन्न भिन्न है। केन्द्रीय बैंकिंग तथा व्यापारिक बैंकिंग मे कुछ असमानतायें है तो कुछ समानतायें भी हैं।

समानतायें (Similarities)

केन्द्रीय तथा व्यापारिक बैंकिंग के सिद्धान्तो तथा कार्य प्रणालियो मे निम्न लिखित समानतायें है —

1 दोनो ही प्रकार के बैंक मुद्रा तथा साख के निर्माता हैं (Both types of banks are creators of money and credit) केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक दोनो ही मुद्रा और साख का निर्माण करते हैं। केन्द्रीय बैंक नोट निर्गमन करते समय शत प्रतिशत धातु कोष नही रखते और व्यापारिक बैंक नकद जमाओ के आधार पर साख जमाओ का निर्माण करते हैं।

2 दोनो प्रकार के बैंको को स्थिर पूंजी की आवश्यक पूर्ति नहीं करनी चाहिए (Both should not finance fixed capital requirements) केन्द्रीय बैंक 'अन्तिम ऋणदाता' के रूप मे बैंको को तथा व्यापारिक बैंक व्यापार तथा उद्योग की वित्त व्यवस्था के लिए ऋण देते हैं। परन्तु ये ऋण अल्पकालीन होते हैं और कार्यशील पूंजी की आवश्यकता पूर्ति के लिए दिए जाते हैं। दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति दोनो ही बैंक नहीं करते हैं।

3. अल्पकालीन ऋण तथा आदेशो की तरलता (Short term loans and liquidity of assets) : दोनो ही प्रकार की बैंको द्वारा कोषो की तरलता को बहुत महत्व दिया जाता है। व्यापारिक बैंको की विनियोग नीति का यह एक प्रमुख सिद्धांत है। व्यापारिक बैंक अपने दायित्वो का कुछ प्रतिशत ही नकद कोष रखते हैं अत बैंको को ऐसे क्षेत्रो मे अपने कोषो का विनियोग करना चाहिए जिसे आवश्यकता के समय शीघ्र ही नकदी मे परिवर्तित किया जा सके। अल्पकाल के लिए प्राप्त जमाओ के आधार पर व्यापारिक बैंक दीर्घकालीन ऋण कैसे दे सकते है ? आदेयो की तरलता की दृष्टि से दोनो ही प्रकार की बैंक अचल सम्पत्ति जैसे भूमि तथा भवन की प्रतिभूति पर ऋण नही देते।

असमानतायें (Dissimilarities) :—

केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंको के सिद्धान्तो तथा कार्य पद्धति मे निम्न-लिखित भिन्नताये उल्लेखनीय है :—

1. दोनो बको के उद्देश्यो में अन्तर (Difference in objects of establishing them) जैसा कि बताया जा चुका है कि केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंको की स्थापना का ध्येय भिन्न भिन्न होता है। केन्द्रीय बैंक की स्थापना का उद्देश्य देश के बैंकिंग तथा साख-सगठन का देश तथा लोक-हित मे नियन्त्रण करना होना है। केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य लाभ कमाना नही है जबकि व्यापारिक बैंक लाभ कमाने के उद्देश्य मे ही खोली जाती हैं।[1]

2 व्यापारिक बैंको की तरह केन्द्रीय बैंक जनता से प्रत्यक्ष व्यवहार नहीं करता, केवल बैंको से व्यवहार करता है (Like commercial banks, the Central Bank does not directly deal with public; it only deals with banks) केन्द्रीय बैंक सामान्य बैंकिंग सेवायें नही करता जो व्यापारिक बैंको द्वारा की जाती हैं। इस कारण केन्द्रीय बैंक जनता से प्रत्यक्ष लेन देन नही करते, वह बैंकिंग तथा साख व्यवस्था को अपनी सेवाये बैंको के माध्यम से ही प्रदान करता है। केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको की सहायता करते है और व्यापारिक बैंक जनता की सेवा करता है।

3. केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार, परन्तु व्यापारिक बैंको को नहीं (Central Bank has the Monopoly of Note Issue but not Commercial Banks) : केन्द्रीय बैंकिंग के विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे

[1] "The commercial bank thinks primarily of profit making; whereas the Central Bank thinks of the effects of its operations on the working of the economic system.'

—R.S. Sayers : *Modern Banking*, p. 19

इस सम्बन्ध मे वाद-विवाद था कि नोट कौन निर्गमित करे—केन्द्रीय बैंक या सरकार (Central Bank vs. State Issue), एक बैंक या बहुत से बैंक (Single vs Multiple Note Issue) । सरकार तथा बहु-नोट निर्गमन के दोषो का अनुभव कर अब यह सर्व स्वीकार्य है कि नोट निगमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंक को होना चाहिए, निजी बैंको को यह अधिकार प्राप्त नही होना ।

4 केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता' का कार्य करता है व्यापारिक बैंक नहीं (Central Bank acts as the Lender of Last Resort but not Commercial Banks) केन्द्रीय बैंक बैंको का बैंक (Banker's Bank) होता है और आवश्यकता पडने पर व्यापारिक बैंको को ऋण सुविधा प्रदान करता है और उनके लिए साख के कोप (Reservoir of Credit) के रूप मे काय करता है । इसीलिए बेजहाट की शब्दावली मे उसे 'अन्तिम ऋणदाता' (Lender of Last Resort) कहा जाता है । केन्द्रीय बैंक पर व्यापारिक बैंको की इस निर्भरता के कारण केन्द्रीय बैंक उन पर सफलतापूर्वक नियत्रण रख पाता है । व्यापारिक बैंक यह काय नही करती ।

5 केन्द्रीय बैंक सरकारी बैंकर का काय करता है व्यापारिक बैंक का नहीं (Central Bank acts as a Government Banker but not Commercial Banks) —जिस प्रकार सामान्य ग्राहको को बैंक की सहायता की आवश्यकता पडती है उसी प्रकार सरकार को भी एक बैंक को सेवाय चाहिए । सरकार के लेन-देन, सार्वजनिक-ऋण की व्यवस्था तथा अन्य वित्तीय कार्यों को केन्द्रीय बैंक ही सम्पन्न करता है । केन्द्रीय बैंक का यह विशेषाधिकार उसकी स्थिति को और भी अधिक सुदृढ तथा शक्तिशाली बनाता है । अन्य व्यापारिक बैंको को यह कार्य नही सौपा जाता ।

6. केन्द्रीय बैंक को साख नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त है, व्यापारिक बैंकों को नहीं (Central Bank has the right to Control credit but not Commercial Banks):—यद्यपि केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक दोनो ही मुद्रा तथा साख के सृजनकर्त्ता हैं परन्तु बैंको द्वारा सृजित साख पर देश तथा जनहित मे नियन्त्रण का अधिकार केन्द्रीय बैंक को ही प्राप्त है । व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग की आवश्यकतानुसार बैको द्वारा सृजित साख का केन्द्रीय बैंक विस्तार तथा सकुचन (Expansion and Contraction of Credit) करता है, यह कार्य व्यापारिक बैंकिग के कार्य क्षेत्र के बाहर है ।

7 केन्द्रीय बैंक पर देश को मौद्रिक नीति के निर्धारण तथा क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व होता है, व्यापारिक बैंकों पर नहीं (Central Banks are charged with the responsibility of formulation and impl mentation of Monetary Policy but not Commercial Banks) —केन्द्रीय बैंक सर-

कार के सहयोग से देश की मौद्रिक नीति का निर्धारण तथा क्रियान्वयन करता है जिससे देश की अर्थ व्यवस्था सुदृढ आधार पर विकसित होती रहे। मौद्रिक व्यवस्था के सुचारु रूप से सचालन का यह भार बडा गुरुतर है और इसे केन्द्रीय बैंक जैसा वित्त विशेषज्ञ तथा शीर्षस्थ बैंक ही उठा सकता है। व्यापारिक बैंको का मौद्रिक नीति के क्रियान्वयन मे सहयोग तो अपेक्षित है परन्तु प्रत्यक्ष रूप से नीति-निर्धारण तथा क्रियान्वयन के सम्बन्ध मे उनका कोई उत्तरदायित्व नही होता।

अत केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंको की रीति-नीति मे मूलभूत अन्तर है और इसीलिए केन्द्रीय बैंकिंग अब बैंकिंग की एक विशिष्ट तथा पृथक शाखा मानी जाने लगी है।

केन्द्रीय बैंक का संगठन
(Organisation of the Central Bank)

केन्द्रीय बैंक के सगठन की रूपरेखा का निर्धारण करने के लिए तीन पक्षों पर विचार करना आवश्यक है —

(1) केन्द्रीय बैंक का सचालन तथा नियन्त्रण (Direction and Control of the Central Bank)

(2) केन्द्रीय बैंक का स्वामित्व (Ownership of the Central Bank)

(3) केन्द्रीय बैंक का प्रबन्ध (Management of the Central Bank)

(1) केन्द्रीय बैंक का सचालन तथा नियन्त्रण
(Direction and Control of the Central Bank)

केन्द्रीय बैंक के सचालन तथा नियन्त्रण के अन्तगत एक तो इस प्रश्न पर विचार किया जाना चाहिए कि **केन्द्रीय बैंक की स्वतन्त्रता पर किस सीमा तक वैधानिक प्रतिबन्ध होने चाहिए** और, दूसरे इस बात पर कि **सरकार और केन्द्रीय बैंक का पारस्परिक सम्बन्ध क्या होना चाहिए?** लगभग ससार के सभी देशो मे केन्द्रीय बैंक को नोट निगमन का एकाधिकार है परन्तु नोट निर्गमन की व्यवस्था कानून द्वारा निश्चित होनी चाहिए जिससे इस सम्बन्ध मे केन्द्रीय बैंक के अधिकारो तथा दायित्वो के विषय मे कोई अनिश्चितता न रहे। केन्द्रीय बैंक नोट निर्गमन के अपने अधिकार का दुरुपयोग न कर सके, इस विषय म पर्याप्त व्यवस्थायें होनी चाहिए। केन्द्रीय बैंक का कार्यक्षेत्र भी कानून के द्वारा निर्धारित होना चाहिए। उसके लिए ऐसे कार्य निषिद्ध होने चाहिए जिनस उसकी आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पडता हो अथवा जिनसे उसकी देश के अन्य बैंको से प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति बनती हो। केन्द्रीय बैंक 'बैंको के बैंक' या 'अन्तिम ऋणदाता' के रूप मे सफलता-पूर्वक तभी काय कर सकता है और अन्य बैंको का सहयोग तभी प्राप्त कर सकता है जब केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको के प्रतिस्पर्धी कार्य न करे। यहा यह भी स्मरणीय है कि

केन्द्रीय बैंक एक लाभ कमाने वाली व्यावसायिक संस्था नहीं है और उसके सभी कार्य तथा निर्णय राष्ट्र तथा जनहित में होने चाहिए।

सरकार तथा केन्द्रीय बैंक के पारस्परिक सम्बन्धो के बारे मे वडा मतभेद रहा है। 19वी शताब्दी मे यह विचारधारा प्रचलित थी कि केन्द्रीय बैंको को कानून के अन्तर्गत कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता (Complete Independence) होनी चाहिए और सरकार का उस पर किसी प्रकार का नियन्त्रण या हस्तक्षेप नही होना चाहिए। प्रथम महायुद्ध काल मे सरकार तथा केन्द्रीय बैंक के सहयोग की आवश्यकता अनुभव की गई थी परन्तु युद्ध समाप्ति के बाद फिर वही केन्द्रीय बैंक के काम स्वातन्त्र्य' के पक्ष मे विचारधारा रही। प्रथम महायुद्ध के बाद के काल (Post war Period) मे विभिन्न देशो की सरकारो ने मुद्रा स्फीति कर अपनी वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति की जिसका उनकी अर्थ-व्यवस्थाओ पर बडा बुरा प्रभाव पडा और जनमत केन्द्रीय बैंक के कार्यो मे सरकार के हस्तक्षेप के विरुद्ध हो गया। सन् 1929 की महान् मन्दी तथा स्वर्णमान के पतन के परिणामस्वरूप आर्थिक तथा मौद्रिक क्षेत्र म सरकारी हस्तक्षेप तीव्र गति से बढने लगा। द्वितीय महायुद्ध-काल म युद्धकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए तथा युद्धोत्तर-काल मे आर्थिक पुनर्निर्माण की योजनाओ को कार्यान्वित करने म सरकार के प्रभाव का पर्याप्त विस्तार हुआ। इसी प्रकार यह माना जाना लगा कि केन्द्रीय बैंक पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए। इसी कारण ससार के अधिकतर केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और उनका स्वामित्व तथा प्रबन्ध पूर्ण रूप से सरकार के हाथ मे आ गया। विवेकपूर्ण दृष्टिकोण यही है कि केन्द्रीय बैंक पर सरकार का सामान्य नियन्त्रण रहे किन्तु उसकी व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से होती रहे। आजकल सभी राज्य-नियन्त्रित केन्द्रीय बैंको के लाभो म स कोष की व्यवस्था कर शेष राज्य को ही दे दिया जाता है। सरकार तथा केन्द्रीय बैंक के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में मान्टेग्यू नार्मन (Montague Norman) का कथन है —

'केन्द्रीय बैंक तथा सरकार की नीति मे सदा सामजस्य होना चाहिए। मै सदा बैंक को सलाह देने का अनोखा अधिकार रखने वाली सस्था मानता हू और उस सलाह पर अधिकतम सीमा तक जोर देना चाहिए। परन्तु यह सब सरकार की सर्वोच्च शक्ति की सीमा मे ही होना चाहिए।"[1] केन्द्रीय बैंक तथा सरकार के

1. ......the policy of the Bank and the policy of the Government should at all times be in harmony-in as complete harmony as possible I look upon the Bank as having the unique right to offer advice and to press such advice even to the point of nagging, but always, of course subject to the supreme authority of the Government." —Montague Norman, Governor of the Bank of England.

पारस्परिक सम्बन्धों पर इगलैण्ड की रेडक्लिफ समिति (The Radcliffe Committee) के विचार उद्धरण योग्य हैं :—

"The Central Bank is one of the principal authorities concerned with the framing and operation of monetary policy. It follows that this policy whatever form it may take from time to time must include the general planning of monetary policy and monetary operations and that the policies pursued by the Central Bank must be from first to last in harmony with those avowed and defended by Ministers of the Crown responsible to parliament. The problem resolves itself into one of making sure that the exchanges between the two bodies (Government and Bank of England) are organised in such a way that the bank contributes to the Government's discussions on policy, the advice and suggestions which its unique operational experience and contacts qualify it to offer, while the government on its side is careful to associate the Bank with the formation of those decisions on economic policy in which monetary operations are capable of taking a part. The true position, as we see it, is that the Bank carries an equal measure of responsibility, to advise to the best of its ability, and having advised, to execute within limits of the determined policy."

2. केन्द्रीय बैंक का स्वामित्व
(Ownership of the Central Bank)

केन्द्रीय बैंक की पूंजी जनता, सरकार या देश के बैंको द्वारा जुटायी जा सकती है। डा० डी० काक (Dr. De Kock) ने पूंजी लगाने वालों के अनुसार केन्द्रीय बैंक के स्वामित्व को सात श्रेणियों में बांटा है :—

(1) ऐसे बैंक जिनकी कुल पूंजी सामान्य जनता द्वारा जुटायी जाय जैसे नीदरलैंड बैंक, रीश बैंक आदि,

(2) ऐसे बैंक जिनकी कुल पूंजी सरकार द्वारा जुटायी जाय जैसे बैंक आफ इगलैंड, रिजर्व बैंक आफ इन्डिया, बैंक आफ रशा, बैंक आफ फ्रान्स, बैंक आफ कनाडा, बैंक आफ आस्ट्रेलिया आदि,

(3) ऐसे बैंक जिनकी कुल पूंजी देश के बैंको द्वारा ली जाय जैसे अमरिका की फेडरल रिजर्व व्यवस्था,

(4) ऐसे बैंक जिनकी पूंजी सामान्य जनता तथा सरकार दोनो द्वारा जुटायी जाए जैसे सेन्ट्रल बैंक आफ वेनेजुला, बैंक आफ जापान, बैंक आफ मेक्सिको स्टेट बैंक आफ पाकिस्तान आदि,

(5) ऐसे बैंक जिनकी पूंजी सामान्य जनता तथा बैंको दोनो द्वारा जुटायी जाय जैसे सेन्ट्रल रिजर्व बैंक आफ सेल्वाडर,

(6) ऐसे बैंक जिनकी पूंजी सरकार तथा बैंकों ने जुटायी हो; तथा

(7) ऐसे बैंक जिनकी पूंजी जनता, सरकार तथा बैंकों ने जुटायी हो जैसे सेन्ट्रल बैंक ग्राफ चिली।

उपर्युक्त श्रेणियों में से ससार के मुख्य देशो के केन्द्रीय बैंक प्रथम तीन श्रेणियो के अन्तर्गत आते है। तीसरी श्रेणी मे केवल अमेरिका की फेडरल रिजव व्यवस्था ही आती है।

केन्द्रीय बैंको के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न
(The Question of Nationalisation of Central Banks)

प्रारम्भ मे तो अधिकतर केन्द्रीय निजी अशधारियों के बैंक के रूप में स्थापित किए गये थे परन्तु पिछले 30-35 वर्षों मे अनेक देशो मे केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है और पूर्णरूपेण सरकारी स्वामित्व मे आ गये हैं। अधिकतर नये स्थापित केन्द्रीय बैंक राष्ट्रीयकृत सस्था के रूप मे ही हैं। केन्द्रीय बैंक के स्वामित्व के प्रश्न पर विचारधारा आर्थिक क्षेत्र मे सरकार के स्थान (Role of Government in Economic field) के प्रश्न के साथ जुडी हुई है। केन्द्रीय बैंक के सरकारी स्वामित्व के पक्ष-विपक्ष मे तर्कों की मीमासा नीचे की जा रही है।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे तर्क (Arguments in Favour of Nationalisation) केन्द्रीय बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे निम्न तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—

(1) **देश तथा जनहित सरकारी स्वामित्व मे अधिक सुरक्षित** (National or Public Interest more safe in State Ownership) : केन्द्रीय बैंक देश तथा जनहित मे कार्य करता है और वह लाभ कमाने वाली व्यावसायिक सस्था नही है जैसे कि व्यापारिक बैंक होते हैं। निजी अशधारियो की तुलना मे राष्ट्रहित सरकार के हाथो मे अधिक सुरक्षित होता है। निजी अशधारी अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए देश तथा जनहित का बलिदान कर सकते हैं।[1]

(2) **लाभ का राष्ट्रहित मे उपयोग** (Use of profits for national purposes) केन्द्रीय बैंक के नोट निर्गमन के एकाधिकार, सरकारी तथा बैंकों के बैंक के कार्य करने से जो लाभ प्राप्त होता है उस पर राष्ट्र की प्रतिनिधि सरकार का अधिकार होना चाहिए जिससे उसका राष्ट्र हित में उपयोग हो सके। उस लाभ पर निजी अशधारियो का कोई अधिकार नही होना चाहिये।

---

[1]. 'People being narrow minded and selfish, a private Central Bank may adopt a monetary policy not in the interests of the whole country but to enrich themselves"

(3) आर्थिक विकास के लिए सरकार की अर्थनीति तथा मौद्रिक नीति मे सामन्जस्य आवश्यक (Necessity of adjustment between economic and monetary policy of the Government for economic devlopment) : व्यापार चक्रो तथा आर्थिक विकास की समस्याओ क समाधान के लिए सरकार की अर्थ नीति तथा मौद्रिक नीति मे पूर्ण सामन्जस्य की अति आवश्यकता है। समस्या का उचित समाधान केन्द्रीय बैंक तथा सरकार के मिलकर योजनात्मक ढग से कार्य करने से ही निकल सकता है। केन्द्रीय बैंक तथा सरकार के कार्यो मे प्रभावी सहयोग तथा सामन्जस्य तभी स्थापित हो सकता है जब केन्द्रीय बैंक एक राष्ट्रीयकृत सस्था हो।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक तथा अन्य आर्थिक सस्थाओ से सम्पर्क तथा विचार विमर्श अधिक सुविधाजनक (Contact and exchange of views with International Monetary and other Economic Institutions facilitated) द्वितीय महायुद्ध क पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक तथा आर्थिक सहयोग के उद्देश्य से स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ से ससार के विभिन्न केन्द्रीय बैंको का विचार विमर्श होता रहता है। उनके इस पारस्परिक सम्पक तथा आदान प्रदान म निजी अशधारियो के बैंक के स्थान पर राज्य नियन्त्रित केन्द्रीय बैंक अधिक सुविधा प्रदान करेगा क्योकि उसकी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक नीति तथा देश की विदेश नीति मे अधिक सामन्जस्य होगा।

(5) समाजवादी विचारधारा के पक्ष मे जनमत (Public Opinion in favour of Socialist Ideology) ससार मे समाजवादी विचारधारा की ओर जनमत का अधिक झुकाव है और इन विचारो पर आधारित अर्थ व्यवस्था मे राज्य स्वामित्व तथा नियन्त्रण का महत्वपूर्ण स्थान है। इस कारण केन्द्रीय बैंक जैसी शीर्ष सस्था के राष्ट्रीयकरण का सुझाव दिया जाता है।

(6) केन्द्रीय बैंक के कार्यो का स्वभाव (Nature of functions of the Central Bank) 'केन्द्रीय बैंकिंग का विज्ञान तथा कला' (Science and Art of Central Banking) इतना विशिष्ट तथा जटिल कार्य है कि उसे निजी अशधारियो द्वारा सचालित बैंक के हाथो मे नही सौंपा जा सकता। केन्द्रीय बैंकिंग कार्यो का इतना विशिष्ट स्वभाव स्वय राष्ट्रीयकरण का पक्ष सबल करता है।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे तर्क (Arguments against Nationalisation) केन्द्रीय बैंक क राष्ट्रीयकरण के विपक्ष मे निम्नलिखित तक प्रस्तुत किए जाते है—

(1) बैंक की नीति राजनीति से प्रभावित (Not free from Partisan Political Intervention) : जब केन्द्रीय बैंक पर सरकार का स्वामित्व तथा

नियन्त्रण रहता है तो इस बात का भय रहता है कि बैंक की नीतिया राजनीति से प्रभावित हो जाय। इसका प्रभाव अर्थ-व्यवस्था पर बडा बुरा होगा।[1]

(2) कार्यो तथा निर्णयो मे देरी तथा लालफीताशाही (Delay and Red-tapism in functioning and decisions) केन्द्रीय बैंक पूर्ण सरकारी नियत्रण मे आने पर सरकारी कामकाज की तरह वहा भी कार्यों तथा निर्णयो मे देरी तथा लालफीताशाही का बोलबाला हो जाता है। केन्द्रीय बैंक को अर्थव्यवस्था की गतिविधियो का अध्ययन कर शीघ्र निर्णय लेने तथा उनको क्रियान्वित करना होता है। यदि इस दिशा मे कोई भी ढीलढाल हो तो उसके परिणाम बडे भयावह हो सकते हैं। अत कर्मचारियो की कार्यकुशलता बढाने तथा शीघ्र निर्णय आदि के लिए निजी स्वामित्व ही उचित है।

(3) सरकार आर्थिक तथा मौद्रिक गतिविधियो के निकट सम्पर्क मे नहीं (Government not in intimate touch with economic and monetary developments) : देश की आर्थिक तथा मौद्रिक गतिविधियो से जितना निकट सम्पर्क व्यापारियो, उद्योगपतियो तथा वित्त विशेषज्ञो का रहता है उतना सरकार का नही। अत सरकार द्वारा नियन्त्रित बैंक उतनी कार्यकुशलता से कार्य नही कर सकता जितना निजी अशधारियो का बैंक।

(4) मुद्रा स्फीति का भय (Danger of Inflation) : सरकार द्वारा नियन्त्रित केन्द्रीय बैंक सरकार की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) तथा मुद्रा स्फीति (Inflation) बिना किसी कठिनाई के कर लेगी जिसकी सीमा अतिक्रमण होने पर अर्थव्यवस्था को हानि होगी। परिणामस्वरूप जनता को स्फीति जन्य कठिनाइयो का सामना करना पडेगा।

राष्ट्रीयकरण के विरोध मे प्रस्तुत किए जाने वाले तर्कों के बावजूद आज सामान्य प्रवृत्ति राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे है। आवश्यकता पडने पर मुद्रा स्फीति की नीति जब सरकार अपनाती है तो अशधारियो का बैंक भी इस दिशा मे कुछ नही कर सकेगा। इस सम्बन्ध मे डा० डी० काक का विचार है—

---

1 " Governments change very often, with them the policies; and if the Central Bank comes under the control of such ever-changing governments, there can be no economic stability in the country, and in the place of such an instability, chaos will reign supreme—the august financial custodian will be ridden by political party cliques, and the road will be open for political intrigue, there can be no safeguard for the bank to carry on its economic policy in national intrests."

"...it is increasingly felt in the realms of both official and public opinion that a semi-independent central bank, free from direct partisan political intervention, can atleast be relied upon to offer resistance against undue abuse of monetary management and to serve as a bulwark or safeguard against a catastrophic decline in the value of money".

जब केन्द्रीय बैंक निजी स्वामित्व मे रहता है तो भी उस पर सरकार का कुछ न कुछ नियत्रण तो रहता ही है और फिर केन्द्रीय बैंक तथा सरकार मे मतभेद होने पर केन्द्रीय बैंक को सरकार की इच्छानुसार चलना ही पडता हैं।

3. केन्द्रीय बैंक का प्रबध
(Management of the Central Bank)

केन्द्रीय बैंक का प्रबध एक प्रबध समिति या सचालक मडल द्वारा किया जाता है जिसका अध्यक्ष गवनर या प्रेसीडेन्ट कहलाता है । केन्द्रीय बैंक के नीति निर्धारण तथा प्रबध की यह सर्वोच्च सस्था होती है । विभिन्न देशो मे प्रबध समिति के सदस्यो की सख्या मे बडा अन्तर है । सरकारी स्वामित्व के केन्द्रीय बैंक की प्रबध समिति के सभी सदस्य सरकार द्वारा ही नियुक्त किए जाते हैं परन्तु निजी अशधारियो के केन्द्रीय बैंक की प्रबध समिति मे भी अशधारियो के प्रतिनिधियो के साथ साथ कुछ सदस्य सरकार द्वारा भी नियुक्त किए जाते हैं। गवर्नर तथा डिप्टी गवर्नर तो सरकार द्वारा ही नियुक्त किए जाते हैं।

प्रबध समिति के सदस्यो की नियुक्ति सदा योग्यता के आधार पर की जानी चाहिए । विशेष हितो के प्रतिनिधियो को समिति मे नियुक्त करने के बजाय यदि वित्तीय तथा मौद्रिक विशेषज्ञो की नियुक्ति की जाय तो यह अधिक उपयुक्त होगा ।

इस प्रकार प्रबध समिति के निर्माण तथा कार्यो के सम्बन्ध मे निम्नलिखित निष्कर्ष दिए जा सकते हैं—

(1) प्रबध समिति या सचालक मडल मे विशेष हितो के प्रतिनिधियो की नियुक्ति के स्थान पर विशेपज्ञो (Experts) की नियुक्ति होनी चाहिए ।

(2) सरकार द्वारा निर्धारित नीति की सीमा (Within the broad policy frame work as formulated by the Government) के भीतर दिन-प्रतिदिन के कार्यों मे समिति को पूरी स्वतत्रता हो और उसमे सरकार हस्त-क्षेप न करे ।

(3) सरकार का कार्य केवल नीति निर्धारण तक ही सीमित रहे और सर-कारी नीतियो पर ससद का नियत्रण हो ।

उपर्युक्त विवेचन मे निर्धारित मान्यताओ के आधार पर यदि केन्द्रीय बैंक का सचालन तथा सगठन किया जाय तो केन्द्रीय बैंक अपने उद्देश्यो की प्राप्ति मे अधिक सफल हो सकेगी और देश की मुद्रा तथा साख व्यवस्था की अधिक सेवा कर सकेगी।

परीक्षा-प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) एक केन्द्रीय बैंक की क्या आवश्यकता है ? केन्द्रीय बैंकिंग के सिद्धान्तो का विवेचन कीजिए।

(आगरा बी० काम, 1966)

[सकेत—प्रथम भाग मे आधुनिक अर्थ-व्यवस्थाओ के सचालन के लिए केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता के विभिन्न कारण बताइये। दूसरे भाग मे केन्द्रीय बैंक के सिद्धान्तो, जैसे जन-हित मे कार्य, मुद्रा की पूर्ति का अतिम स्रोत आदि की विवेचना कीजिए।]

(2) क्या आप केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे है ? अपने मत के कारण बताइये।

(विक्रम, 1962)

[सकेत—केन्द्रीय बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष तथा विपक्ष मे दिए जाने वाले तर्कों की विस्तार पूर्वक व्याख्या कीजिए। फिर यह बताइये कि ससार मे केन्द्रीय बैंको के राष्ट्रीयकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड रही है।]

(3) केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंक मे अतर स्पष्ट कीजिए।

(सागर बी० ए०, 1957)

[सकेत—केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक की सक्षेप मे समानतायें बताते हुए उनकी असमानताओ का विस्तार पूर्वक विवेचना कीजिए।]

19

(केन्द्रीय बैंकिंग II)

केन्द्रीय बैंक के कार्य

(Functions of the Central Bank)

"The cardinal virtue of the central banker is not conservatism in techniques, but rather a disposition to discover novelties and to be versatile in techniques"

पिछले अध्याय मे केन्द्रीय बैंक की परिभाषाओं का अध्ययन करते समय हमने यह देखा था कि केन्द्रीय बैंक के कार्यों के सम्बन्ध म विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने भिन्न भिन्न मत प्रकट किए हैं। कोई किसी कार्य पर बल देता है और कोई किसी दूसरे कार्य पर। डा० डी० काक के अनुसार केन्द्रीय बैंक के निम्नलिखित सात कार्य हैं —

(1) नोट निर्गमन का एकाधिकार (Monopoly of note Issue)

(2) सरकारी बैंकर, अभिकर्ता तथा परामर्शदाता (Government Banker, Agent and Adviser)

(3) व्यापारिक बैंको के नकद कोषों का सरक्षक (The Custodian of the Cash Reserves of the Commercial Banks)

(4) राष्ट्र के अतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोषो का सरक्षक (The Custodian of the Nation's Reserves of International Currency)

(5) पुन बट्टा का बैंक तथा अतिम ऋणदाता (The Bank of Rediscount and the Lender of Last Resort)

(6) केन्द्रीय समाशोधन, भुगतान तथा हस्तान्तरण का बैंक (Bank of Central Clearance, Settlement and Transfer)

(7) साख का नियत्रणकर्त्ता (Controller of Credit)

1. नोट निर्गमन का एकाधिकार
(Monopoly of Note Issue)

ससार के सभी देशो मे केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का पूर्ण या आशिक एकाधिकार प्राप्त है। केन्द्रीय बैंक का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है यह विशेषा-

धिकार केवल केन्द्रीय बैंक को ही प्राप्त होता है। डा० डी० काक के अनुसार "नोट निर्गमन का कार्य लगभग सभी स्थानो पर केन्द्रीय बैंको के प्रारम्भ तथा विकास के साथ सम्बन्धित रहा है। वास्तव मे 20वी शताब्दी के प्रारम्भ होने तक उनको निर्गम बैंको (Banks of Issue) के नाम से जाना जाता था।"[1] प्रारम्भ मे कुछ देशो मे नोट सरकारो द्वारा निर्गमित किए जाते थे। परन्तु मुद्रा के मूल्य मे गिरावट के कारण लोगो का विश्वास सरकारो मे न रहा। बाद मे यह अधिकार या तो वर्तमान बैंको या विशेष रूप से इसी उद्देश्य के लिए स्थापित बैंक को सौप दिया गया। कालान्तर मे बैंको की सख्या मे वृद्धि तथा व्यापार के विस्तार के कारण नोटो के अधिक प्रचलन के कारण नोटो की एकरूपता तथा नोट निर्गम के उपयुक्त नियमन की आवश्यकता अनुभव की गई और इस उद्देश्य से विभिन्न देशों मे नोट निर्गमन के पूर्ण या आशिक एकाधिकार किसी एक बैंक को देन के लिए कानून पारित किए गये। हालैंड ने सन् 1814, इगलैंड ने सन् 1844, फ्रास ने 1848, जर्मनी ने 1875, स्वीडन ने 1897, सयुक्त राज्य अमेरिका ने 1914, आस्ट्रेलिया ने 1924, कनाडा ने 1935 मे कानून पास किए। इगलैंड मे सन् 1844 के अधिनियम के अतर्गत बैंक आफ इगलैंड के अतिरिक्त अन्य बैंको को भी नोट निगमन का अधिकार दिया गया था परन्तु कुछ परिस्थितियो मे उसकी समाप्ति की व्यवस्था थी। सन् 1920 मे अन्य बैंको का यह अधिकार समाप्त कर दिया गया। इसी प्रकार जर्मनी मे भी सन् 1875 मे जब रीश बैंक स्थापित किया गया तो 33 बैंक नोट निर्गमित करती थीं। परन्तु सन् 1935 तक उनका यह अधिकार समाप्त हो गया और रीश बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त हो गया।

लगभग सभी देशो मे केन्द्रीय बैंको को अब नोट निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त है। नोट निर्गमन का यह विशेषाधिकार केन्द्रीय बैंको के विकास मे प्रमुख तत्व रहा है। सैद्धान्तिक रूप से यद्यपि हाट्रे (R. G. Hawtrey) नोट निर्गमन के कार्य को केन्द्रीय बैंकिंग का आवश्यक कार्य नही मानते परन्तु व्यवहार मे ससार भर मे यह केन्द्रीय बैंकिंग सगठन का इतना महत्वपूर्ण अग माना जाता है कि सभी देशो मे केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार दिया गया है। नोट निर्गमन यदि सरकार द्वारा किया जाता है तो यह भय है कि सुदृढ मौद्रिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से नही बल्कि राजनीतिक कारणो तथा सरकार की वित्तीय आवश्यकताओ

---

[1] "The privilege of note issue was almost everywhere associated with the origin and development of Central Banks. In fact, until the beginning of the twentieth century they were generally known as banks of issue".

—M. H De Kock *Central Banking*, p. 26

के कारण इस अधिकार का दुरुपयोग हो और चलनाधिक्य (Over Issue) तथा मुद्रा मूल्य ह्रास हो जाय। आयरिश फ्रीस्टेट के बैंकिंग आयोग (Irish Free State Banking Commission) का विचार इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है—

"Mindful as it is of the distress of past years in all countries where currency was issued by Government, and recognising the hazards which come from changes of Government from the development of budget deficits and other evils from which no country has found itself immune, the commission is definitely of the opinion that the management of the legal tender note issue should be placed in the hands of a non-political and independent body, which shall control the conditions of issue and shall have full control and custody of the securities it holds."

अतः नोट निर्गमन का अधिकार सरकार के हाथ में रहने पर चलनाधिक्य का भय बना ही रहता है। यदि सरकार 'अन्य मन्तव्यों' (Ulterior Motives) से स्वतन्त्र भी हो तो भी वह पत्र मुद्रा की माग के अनुसार उसकी पूर्ति का समायोजन करने में असमर्थ रहेगी। अतः यह सर्वमान्य है कि नोट-निर्गमन का एकाधिकार सरकार के हाथों में न देकर केन्द्रीय बैंक को ही देना चाहिए। अन्य बैंकों द्वारा भी नोट निर्गमन खतरे से खाली नहीं है क्योंकि लाभ कमाने वाली संस्थायें होने के कारण वे नोट-निर्गमन के अधिकार का दुरुपयोग कर सकती हैं। यद्यपि उनकी क्रियायें कानून द्वारा नियन्त्रित की जा सकती हैं फिर भी उनके द्वारा नोट निर्गमन में चलनाधिक्य का भय तथा नोटों में एकरूपता का अभाव (Danger of Over Issue and Lack of Uniformity) तो रहेगा। अतः केन्द्रीय बैंक ही वह संस्था है जो नोट निर्गमन के लिए उपयुक्त है। भारतीय चलन तथा वित्त आयोग के समक्ष अपनी गवाही में बैंक ऑफ इंगलैंड के गवर्नर ने ठीक ही कहा था —

"A central bank should have the sole right of note-issue, it should be the channel and the only channel, for the output and intake of legal tender currency."[1]

डा० डी० काक ने सभी देशों में केन्द्रीय बैंकों द्वारा नोट निर्गमन के निम्नलिखित चार कारण बताये हैं—

(अ) नोटों में एकरूपता तथा प्रभावी सरकारी नियन्त्रण (Uniformity in Note Issue and Effective State Supervision).—सभी देशों में नोटों की एकरूपता तथा प्रभावी सरकारी नियन्त्रण के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए

---

1. Report of the Royal Commission on Indian Currency and Finance (1926)–Evidences.

नोट निर्गमन का एकाधिकार केन्द्रीय बैंको को सौपा गया । वैसे तो इन उद्देश्यो को सरकार द्वारा नोट निर्गमन करके भी प्राप्त किया जा सकता था परन्तु सरकार द्वारा मुद्रा-मूल्य-ह्रास तथा उससे उत्पन्न जनता के अविश्वास के कारण सरकार ने नोट निर्गमन केन्द्रीय बैंक को सौपा । सरकार ने केवल नोट-निर्गमन पर केन्द्रीय सरकार के माध्यम से अप्रत्यक्ष नियत्रण रखना ही उपयुक्त समझा।

(ब) केन्द्रीय बैंक द्वारा अत्यधिक साख-विस्तार पर नियन्त्रण (Gives Central bank some measure of control over Undue Credit Expansion) केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट निर्गमन व्यापारिक बैंको द्वारा अत्यधिक साख–विस्तार पर नियन्त्रण रखने मे सहायता करता है । साख का अत्यधिक विस्तार नोटो की माग मे वृद्धि करता है और नोटो की पूर्ति केन्द्रीय बैंक के हाथ मे रहने के कारण वह साख नियन्त्रण अच्छी प्रकार कर सकता है।

(स) नोटो को विशिष्ट आदर (Gives Notes a Distinctive Prestige): केन्द्रीय बैंक मे नोट निगमन का अधिकार केन्द्रित होने के कारण और उसको सरकार द्वारा समर्थन दिए जाने के कारण नोटो को विशिष्ट आदर प्राप्त हो जाता है । जिससे नोटा मे जनता का विश्वास सुदृढ हो जाता है ।[1]

(द) नोट निर्गमन से प्राप्त लाभ का बटवारा सुविधाजनक (Participation in profits more advantageous):—नोट-निर्गमन कार्य करना सरकारें उपयुक्त नही समझती और केन्द्रीय बैंक को नोट निर्गमन से जो लाभ होता ह उसका कुछ भाग प्राप्त कर लेती हैं ।

(2) सरकार का बैंक, अभिकर्त्ता तथा सलाहकार
(Banker, Agent and Adviser to Government)

जिस प्रकार व्यापारियो तथा सामान्य जनता को बैंक की सेवाओ की आवश्यकता पडती है उसी प्रकार सरकार को भी एक बैंकर चाहिए । केन्द्रीय बैंक सरकार के बैंक, अभिकर्त्ता तथा सलाहकार का कार्य करता है । सरकार के बैंक के रूप मे केन्द्रीय बैंक सरकारी विभागो, बोर्डो तथा सस्थानो के बैंकिंग खाते रखता है, सरकार को जनता से करो की वसूली तथा ऋणो का धन मिलने तक अल्पकालीन

1. "Concentration of the note issue in one bank which, moreover, enjoys the support of the State, gives such notes a distinctive prestige not attaching to notes issued by several banks a prestige wh ch has proved to be of great value in a crisis or other emergency"
—Dunbar (Quoted by M. H De Kock) *Central Banking*, p 29

अग्रिम देता है तथा मन्दी, युद्ध या अन्य संकटकाल मे सरकार को असाधारण ऋण देता है; और विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय से सम्बन्धित सरकारी सौदे करता है।

सरकार के विभागों तथा संस्थाओं के खाते रखकर केन्द्रीय बैंक के सभी कार्य करता है जो व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों के लिए करता है। यह उनके चेक, ड्राफ्ट तथा नकदी जमा करता है, उनके चेकों तथा ड्राफ्टों का एकत्रीकरण करता है, वेतन आदि के भुगतान के लिए नकद की पूर्ति करता है तथा सरकारी कोषों का एक खाते से दूसरे खाते तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरण करता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक सरकार की समस्त प्राप्तियां जैसे कर, निक्षेप इत्यादि सरकार के खाते मे जमा करता है और सरकार की ओर से समस्त भुगतान करता है। सरकार की वित्तीय प्रक्रियाओं मे वृद्धि हो जाने के कारण यह सब कार्य बड़ा कठिन है। कुछ देशों मे इन कार्यों के बदले सरकार केन्द्रीय बैंक को कुछ भुगतान करती है तथा कुछ अन्य देशों मे कानून के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक को यह सेवायें नोट-निर्गमन के विशेषाधिकार के बदले नि शुल्क करनी होती हैं।

डा० डी० काक के शब्दों मे "केन्द्रीय बैंक सरकार के बैंक के रूप मे केवल इसलिए कार्य नही करता है क्योंकि सरकार के लिए यह अधिक सुविधाजनक तथा मितव्ययी है वरन् इसलिए भी करता है क्योंकि वित्तीय तथा मौद्रिक मामलों मे घनिष्ट सम्बन्ध है।"[1] सभी देशों मे सरकारें सबसे अधिक आय प्राप्तकर्त्ता (Largest Receiver of Revenue) तथा सबसे बड़े ऋणी (Biggest Borrower) हैं और उनके द्वारा किए गये व्यय का देश के आर्थिक जीवन पर बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंकों पर देश के आर्थिक हित में साख का नियन्त्रण तथा समायोजन करने का उत्तरदायित्व होता है तथा सरकार द्वारा निर्धारित मौद्रिक नीति को क्रियान्वित करना होता है। डा० डी० काक का कथन है कि—

"As the manifold financial activities of the State can in certain circumstances exercise a disturbing influence on money market conditions and exchange rates and counteract the credit policy of the central bank, the centralisation of Government banking operations in the central bank atleast gives the latter a better opportunity of judging the general financial situation at any time,

---

1. "The central bank operates as the Government's banker, not only because it is more convenient and economical to the Government but also because of the intimate connection between public finance and monetary affairs"

—Dr. M.H. De Kock ; *Central Banking*, p. 43

giving the appropriate advice to the Government and taking the necessary remedial measures"[1]

सरकार के खाते रखने के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक सरकार के अभिकर्त्ता के रूप मे राष्ट्रीय ऋणो का प्रबंध तथा ब्याज आदि के भुगतान की व्यवस्था करता है। इस कार्य के लिए केन्द्रीय बैंक कुछ शुल्क लेता है। अभिकर्त्ता के रूप मे केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियो तथा विपत्रो का लेन देन, विनिमय-नियत्रण का प्रबध, विदेशी लेन-देन तथा भुगतान सतुलन का प्रबध करता है। केन्द्रीय बैंक वित्तीय मामलो का विशेषज्ञ होने के कारण वित्तीय तथा मौद्रिक विषयो मे सरकार को परामर्श भी देते है और वित्तीय और आर्थिक समस्याओ पर विचार-विनिमय तथा सरकारी नीतियो की आच तथा तत्सम्बन्धी सुझाव भी देते है।

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक तथा सरकार का हित पारस्परिक है तथा उनके कर्त्तव्य तथा दायित्व भी एक दूसरे के पूरक हैं। राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप मे सरकार को केन्द्रीय बैंक का समर्थन, आदर, सद्भावना तथा परामर्श (Support, respect sympathy and advice of the central bank) तथा देश की बैंकिंग तथा मौद्रिक व्यवस्था के केन्द्र के रूप मे केन्द्रीय बैंक को भी इन सब चीजो की सरकार से आशा रखनी चाहिए। दोनो ही सस्थाओ की स्थापना सार्वजनिक हितो की पूर्ति के उद्देश्य से की जाती है और एक दूसरे के अधिकारों तथा दायित्वो के प्रति पारस्परिक सद्भाव तथा उनमें पूर्ण सहयोग से अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

(३) व्यापारिक बैंको के नकद कोषो का सरक्षक
(Custodian of the Cash Reserves of the Commercial Banks)

देश के व्यापारिक बैंक अपने निक्षेपो का कुछ प्रतिशत केन्द्रीय बैंक के पास जमा कर देते हैं। केन्द्रीय बैंक का व्यापारिक बैंको के नकद कोषों के सरक्षक के रूप मे कार्य का विकास नोट निर्गमन तथा सरकारी बैंक के कार्यो के साथ ही हुआ। 18 वी शताब्दी मे इगलैंड के निजी बैंको ने बैंक आफ इगलैंड के पास अपने अधिक कोष रखने आरम्भ किए थे जो बाद मे एक परम्परा बन गई। अमेरिका मे फडरल रिजर्व बैंको की स्थापना होने पर व्यापारिक बैंको द्वारा नकद कोष रखने की अनिवार्यता को कानूनी मान्यता प्रदान की गई। उसके बाद दक्षिणी अफ्रीका दक्षिण तथा मध्य अमेरिका, न्यूजीलैंड तथा भारत मे स्थापित केन्द्रीय बैंको के अधिनियमो म नकद कोष रखने की अनिवार्य व्यवस्था की गई। यह सब मुख्यत सामान्य रूप

[1]. M.H. De Kock, *Central Banking*, p. 43-44

स केन्द्रीय बैंक की वित्तीय स्थिति तथा सामूहिक हित मे साख-नियन्त्रण की शक्ति को सुदृढ करने के लिए किया गया।[1]

केन्द्रित नकद कोषो के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डा० डी० काक न कहा है—

"The centralisation of cash reserves in the central bank is a source of great strength to the banking system of any country. Centralised cash reserves can atleast serve as the basis of a larger and more elastic credit structure than if the same amount were scattered among the individual banks It is obvious that, when bank reserves are pooled in one institution which is, moreover, charged with the responsibility ot safeguarding the national economic interest, such reserves can be employed to the fullest extent possible and in the most effective manner during periods of seasonal strain and in financial crises or general emergencies"[2]

केन्द्रीय बैंक म नकद कोषो के केन्द्रीयकरण से बैंकिग व्यवस्था को बडी शक्ति मिलती है। इस प्रणाली के कई लाभ है—

(अ) बैंकिग तथा साख-व्यवस्था मे लोच तथा तरलता (Elasticity and Liquidity in the Banking and Credit System)—जब व्यापारिक बैंको द्वारा अपने दायित्वो का कुछ प्रतिशत कन्द्रीय बैंक के पास जमा कराया जाता है तो बैंको की साख सृजन शक्ति अधिक लोचपूर्ण हो जाती है। बैंक अधिक से अधिक मात्रा मे साख का सृजन कर सकते है क्योकि उन्हे विश्वास रहता है कि आवश्यकता पडने पर केन्द्रीय बैंक से ऋण प्राप्त कर अपनी मागो की पूर्ति सरलतापूर्वक कर सकेंगे। इस प्रकार बैंकिग व्यवस्था मे लोच तथा साख सृजन मे तरलता का गुण आ जाता है। यह लोच तथा तरलता केन्द्रीय बैंक के पुन बट्टा के कार्य (Function of Rediscount) के द्वारा प्राप्त होती है।

(ब) नकद कोषों का अधिकतम उपयोग (Maximum Utilisation of Cash Reserves)—जब व्यापारिक बैंको के नकद कोषो का अर्थ व्यवस्था तथा लोकहित की रक्षा के उद्देश्य से स्थापित केन्द्रीय बैंक जैसी शीर्षस्थ संस्था मे केन्द्रीयकरण होता है तो केन्द्रित नकद कोषो का मौसमी कठिनाइयो तथा सकट कालो मे अधिकतम तथा प्रभावी प्रयोग हो सकता है। इस प्रकार व्यापारिक बैंक सकट तथा आकस्मिक कठिनाइयो का दृढतापूर्वक सामना कर सकते है।

---

[1] It was chi fly done 'to strengthen the financial position of the central bank in general and its capacity to control credit in the common interest'

[2] M H De Kock *Central Banking* (Third Edition) 1954, p 63

(स) नकद कोषों मे मितव्ययिता (Economy in Cash Reserves) — सभी व्यापारिक बैंको के खाते केन्द्रीय बैंक मे होने के कारण उनके आपसी लेन-देन समाशोधन प्रक्रिया के माध्यम से बिना नकदी के प्रयोग के ही सुविधापूर्वक निपट जाते है और बैंक कम नकद कोष रखकर भी काम चला लेते हैं। आवश्यकता पडने पर केन्द्रीय बैंक द्वारा वित्तीय सहायता के विश्वास के कारण बैंक कम नकद-कोष रख कर अपने दायित्वों की पूर्ति कर लेती हैं और नकद-कोषो मे बचत हो जाती है।

इस प्रकार नकद कोषो का केन्द्रीयकरण बैंकिंग तथा साख-व्यवस्था के लिए बडा लाभदायक है। अमेरिका मे सदस्य बैंको द्वारा फेडरल रिजर्व बैंको मे नकद कोषों के केन्द्रीयकरण के सम्बन्ध मे बर्गेस (Burgess) ने ठीक ही कहा है कि "सदस्य बैंको के पास से फेडरल रिजर्व बैंको के पास कोषो का हस्तान्तरण केवल उसकी (नकद कोषो) स्थिति मे परिवर्तन नही है वरन् यह सुरक्षित कोष की प्रकृति तथा प्रभावोत्पादकता मे परिवर्तन है जिससे वे अपने मौलिक कार्य अधिक सुचारु रुप से करते हैं। [1]

(4) राष्ट्र के अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोषों का संरक्षक (Custodian of the Nation's Reserves of International Currency)

केन्द्रीय बैंक का एक प्रमुख कार्य देश के अतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोषो का सरक्षण करना है। केन्द्रीय बैंक का यह कार्य नोट-निर्गमन के एकाधिकार तथा व्यापारिक बैंको के कोषो के सरक्षण के कार्यों से जुडा हुआ है । (The function is the necessary corollary of the previous functions) आजकल केन्द्रीय बैंक दो प्रकार के कोष रखता है–आतरिक (Internal) तथा वाह्य (External) । आतरिक कोष वह कोष होता है जो देश की मौद्रिक व्यवस्था के आधार का कार्य करता है। किसी देश के मौद्रिक मान की सुरक्षा के लिए पर्याप्त कोषो का रखना आवश्यक है। आतरिक कोष के रखने की प्रथा का आरम्भ पत्र मुद्रा के प्रचलन से हुआ क्योकि पत्र मुद्रा निर्गमित करने पर पर्याप्त मात्रा मे स्वर्ण कोष रखने पडते थे जिससे उनकी परिवर्तनशीलता बनाये रक्खी जा सके। 1931 मे स्वर्णमान के पतन के बाद आतरिक कोष मे स्वर्ण का प्रतिशत बहुत कम हो गया और द्वितीय

1. "The shift of reserves from the vaults of the member banks to the vaults of the Federal Reserve Banks was not simply a change in its physical location, but that it made change in the character and effectiveness of the reserves and enabled them to serve more adequately their original purposes"

—Burgess : *Reserve Banks and the Money Market*, Revised Edition (Harper), pp. 26-27. Quoted by De Kock.

महायुद्ध के बाद तो यह और भी घटा दिया गया। अत. आजकल आतरिक कोष का महत्व बहुत कम हो गया है।

वाह्य कोष मुद्रा के वाह्य मूल्य मे स्थिरता बनाये रखने तथा किसी देश के साथ विपरीत भुगतान सतुलन निपटाने के लिए होता है। अतः देश के विदेशी मुद्रा कोषों का सरक्षण केन्द्रीय बैंक करता है और विनिमय-दरो मे स्थिरता बनाये रखना तथा विनिमय-नियन्त्रण के प्रबध इत्यादि के कार्य करता है।

(5) पुन. बट्टा-कार्य या अंतिम ऋणदाता
(Re-discounting Fonction and Lender of last Resort)

केन्द्रीय बैंक देश के बैंको के 'अतिम ऋणदाता' के रूप मे कार्य करता है। अतिम ऋणदाता के रूप मे केन्द्रीय बैंक अपनी बट्टा-नीति की शर्तों के अनुसार देश के व्यापारिक बैंको, बट्टा-गृहो तथा अन्य साख-सस्थाओं की वित्तीय सहायता की जायज मागो की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पूर्ति करता है। यह कार्य 18 वी शताब्दी के अन्त मे बैंक आफ इगलैंड ने आरम्भ किया परन्तु सन् 1866 के सकटकाल मे उसने इस कार्य को अपने उत्तरदायित्व के रूप मे स्वीकार किया। आजकल तो यह कार्य केन्द्रीय बैंक का इतना महत्वपूर्ण कार्य हो गया है कि केन्द्रीय बैंकिंग की एक आवश्यक विशेषता बन गयी है। (It has come to be regarded as *sine qua non* of central banking)

अतिम ऋणदाता के रूप मे केन्द्रीय बैंक के कार्य को विशेष महत्व सन् 1873 म वाल्टर बेजहाट (Walter Bagehot) की पुस्तक 'Lombart Street' के प्रकाशन पर प्राप्त हुआ जिसमे उन्होने कहा —

"Whatever bank or banks keep, the ultimate banking reserve of the country must lend that most freely in time of apprehension for that is one of the characteristic uses of the bank reserves, and the mode in which it attains one of the main ends for which it is kept"[1]

अतिम ऋणदाता के कार्य का जन्म पुन बट्टा के कार्य से ही हुआ है। पुन बट्टा करने का अर्थ होता है कि व्यापारिक बैंक या अन्य साख सस्थायें आवश्यकता पडने पर व्यापारिक बिलो को केन्द्रीय बैंक के हाथ बेचकर धन प्राप्त करती हैं।

(6) केन्द्रीय समाशोधन, भुगतान तथा हस्तान्तरण
(Central Clearance, Settlement and Transfer)

केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य समाशोधन गृह की सुविधायें प्रदान करना है। शा, विलिस तथा जान्से जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियो ने बैंको के पारस्परिक

1. Walter Bagehot : *Lambard Street*, p. 66

लेन-देनों को समाशोधन द्वारा निबटाने को केन्द्रीय बैंक का एक प्रमुख कार्य माना है। श्री एच० पी० विलिस (H P. Willis) के मतानुसार, "समाशोधन गृह का कार्य केन्द्रीय बैंकिंग के कार्यों मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और यह एक ऐसा कार्य है जिसे अन्य कोई संस्था इतनी अच्छी तरह नही कर सकती है।"[1] जान्से (Jauncey) के शब्दो मे "समाशोधन केन्द्रीय बैंकिंग की मुख्य प्रक्रिया है।"[2]

समाशोधन गृह की सुविधा द्वारा बैंक बिना नकद कोषो का हस्तान्तरण किए पारस्परिक दायित्वों का निबटा लेते हैं। व्यापारिक बैंको के लिए यह सुविधा बडी महत्वपूर्ण है। इससे बैंको का आपसी भुगतान सुविधा पूर्वक हो जाता है और नकदी के उपयोग मे मितव्ययिता होती है। विलिस (H. P. Willis) के शब्दों मे "केन्द्रीय बैंक द्वारा सगठित समाशोधन व्यवस्था केवल नकद तथा पूँजी की मितव्ययिता का साधन ही नही है वरन् किसी भी समय समाज द्वारा बनाये रक्खी जाने वाली तरलता का परीक्षण का भी एक साधन है जिसके सम्बन्ध मे केन्द्रीय बैंक को दिन प्रतिदिन जानकारी रखना आवश्यक है।[3]

(7) साख का नियमन तथा नियन्त्रण
(Regulation and Control of Credit)

साख का नियन्त्रण तथा नियमन केन्द्रीय बैंक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है। केन्द्रीय बैंक के अन्य सभी कार्य इसी को सफलतापूर्वक करने के लिए किए जाते है। व्यापारिक बैंको के द्वारा साख का सृजन किया जाता है और वे लाभ कमाने वाली व्यावसायिक संस्थायें होने के कारण कभी कभी अत्यधिक साख का सृजन कर देती हैं। साख मुद्रा व्यापार तथा वाणिज्य के लिए बडी लाभदायक है परन्तु जब देश की व्यापारिक आवश्यकताओं से अधिक साख का विस्तार हो जाता है तो

---

[1] "The clearing function, with its ancillary elements, ...is among the most significant of central banking function and is one for which only a very incomplete substitute may be found through resort to other expedients"

—H P. Willis : *Theory and Practice of Central Banking*, p 359.

[2]. "Clearing is the main operation of central banking"

—Jauncey *Australias Government Bank*, pp 166+168.

[3] "A system of clearing, organised and soldified by the central banks is not only a means of economising cash or capital but is also a means of testing at any time the degree of liquidity which the community is maintaining, a matter which is essential for the central bank to know from day-to-day."

—H. P. Willis : *Theory and Practice of Central Banking.*

यह अर्थव्यवस्था के लिए सकट का कारण बन जाता हैं । अत. बैंकों द्वारा सृजित साख की मात्रा पर देश तथा जन हित मे केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण होना अति आवश्यक है । केन्द्रीय बैंक साख का नियमन तथा नियत्रण कर देश के सामान्य कीमत स्तर (General price level) मे स्थिरता रख सकता हैं, विदेशी विनिमय दर की स्थिरता (Stability in the Foreign Exchange Rates) बनाये रख सकता है, उत्पत्ति तथा रोजगार का विस्तार कर सकता है, व्यापार चक्रो से अर्थ-व्यवस्था को बचा सकता है तथा देश को आर्थिक प्रगति के मार्ग पर प्रशस्त कर सकता है । इसी कारण साख के नियमन तथा नियत्रण की आवश्यकता आज ससार के सभी देशो में समझी जाती है ।

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख के नियमन तथा नियत्रण के उद्देश्य तथा उसकी प्राप्ति के लिए अपनाय जान वाले विभिन्न तरीको का वर्णन इसी अध्याय मे आगे किया गया है ।

डा० डी० काक द्वारा बताये गये इन सात कार्यो के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक कुछ अन्य कार्य भी करता है ।

(8) सूचनायें तथा आंकड़े एकत्रित करना और प्रकाशित करना
(Collection and Publication of Statistics and other Economic Information)

केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य आर्थिक सूचनाय तथा आकडे एकत्रित करना तथा उन्ह प्रकाशित करना है । इन आकडो की सहायता से देश की आर्थिक नीतियो के निर्धारण तथा क्रियान्वयन मे बडी सहायता मिलती हैं । आर्थिक नियोजन (Economic Planning) को सफल बनाने मे इन सूचनाओ तथा आकडो का उपयोग किया जा सकता है । इन आंकडो की सहायता से देश की आर्थिक प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है और उसकी अन्य देशो से तुलना की जा सकती है । आजकल सभी देशों के केन्द्रीय बैंकों में इस कार्य को सफलता पूर्वक करने के लिए पृथक 'अनुसधान तथा साख्यिकी' विभाग होते है जिनमें अनेक कुशल तथा प्रशिक्षित व्यक्ति कार्य करते हैं । इन योग्य तथा कुशल विशेषज्ञो की सहायता से सूचनाओ तथा आकडो का सकलन तथा प्रकाशन अधिक विश्वसनीय तथा निपुणतापूर्वक किया जा सकता है । ससार के सभी केन्द्रीय बैंक विभिन्न प्रकार के बुलेटिन, रिव्यूज तथा प्रकाशन निकलते हैं जिनसे सूचनाओ का प्रसारण केन्द्रीय बैंक की नीतियो को समझने मे बडी सहायता मिलती है ।

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख का नियमन तथा नियन्त्रण
(Regulation and Control of Credit by the Central Bank)

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख-मुद्रा का नियमन तथा नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है । केन्द्रीय बैंक का यह ऐसा कार्य है जिसमे केन्द्रीय बैंकिंग

नीति के सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न निहित हैं तथा जिसके माध्यम से केन्द्रीय बैंक के सभी काय एक दूसरे से जुड जाते हैं और सम्मिलित उद्देश्य की पूर्ति करते है। नोट निर्गमन के एकाधिकार द्वारा चलन का नियमन साख के नियन्त्रण से जुडा हुआ है और विभिन्न केन्द्रीय बैंकिंग अधिनियमो मे इसका उल्लेख है। उदाहरणार्थ बैंक आफ कनाडा के अधिनियम मे बैंक का प्रमुख कार्य "साख तथा चलन का नियन्त्रण, राष्ट्रीय मौद्रिक इकाई के वाह्य मूल्य की सुरक्षा तथा नियन्त्रण और मौद्रिक कार्य के अन्तर्गत जहा तक सम्भव हो, उत्पादन, व्यापार, कीमतो तथा रोजगार के सामान्य स्तर के उच्चावचनो को अपने प्रभाव द्वारा कम करना" (To regulate credit and currency, to control and protect the external value of the monetary unit, and to mitigate by its influence flactuations in the general level of production, trade, prices and employment so far as may be possible within the scope of monetary action) तथा रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के अधिनियम मे 'चलन तथा साख प्रणाली का देश के लाभ के लिए सचालन' (Generally to operate the currency and credit system of the country to its advantage) आदि की व्यवस्था की गई है।

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियन्त्रण का कार्य इतना महत्वपूर्ण है कि इसी कार्य के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो के बैंक के अधिनियम मे केन्द्रीय बैंक की परिभाषा इस प्रकार दी गई है . ' केन्द्रीय बैंक वह बैंक है जिसको देश के चलन तथा साख को मात्रा के नियमन का उत्तरदायित्व सौंपा गया हो।"[1] सभी जानते हैं कि आज प्रत्येक देश की मौद्रिक व्यवस्था मे साख मुद्रा का महत्व बढ गया है और व्यापारिक बैंको द्वारा सृजित साख की मात्रा देश की अर्थ-व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव डालती है। अतः मौद्रिक नीति के सफल सचालन के लिए साख का नियत्रण आवश्यक हो जाता है। केन्द्रीय बैंक द्वारा साख के नियमन तथा नियत्रण के कार्य का अर्थ है कि देश के व्यापार, उद्योग तथा वाणिज्य की आवश्यकताओ के अनुसार साख की पूर्ति का समायोजन करना है।

साख नियन्त्रण की आवश्यकता (Need for Control of Credit)

बहुत वर्षो से आधुनिक जटिल आर्थिक सगठन मे साख के सृजन तथा वितरण के नियत्रण की आवश्यकता पर जोर दिया जा रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि सभी प्रकार के मौद्रिक एव व्यावसायिक भुगतानो मे साख का वडा महत्व-

---

[1]. "Central Bank is a bank in any country to which has been entrusted the duty of regulating the volume of currency and credit in that country"

—Statutes of the Bank of International Settlements.

पूर्ण योगदान है और देश की अर्थ व्यवस्था पर उसका बुरा और अच्छा दोनों प्रकार का प्रभाव पड़ सकता है। (Credit represents a powerful force for good or evil) अतएव आधुनिक अर्थ-व्यवस्था मुद्रा अर्थ-व्यवस्था (Money Economy) न होकर साख-अर्थ-व्यवस्था (Credit Economy) है।

यद्यपि विद्वानो मे इस बात पर मतभेद है कि साख की मात्रा में परिवर्तन किस सीमा तक तथा किन परिस्थितियों मे मुद्रा की क्रय-शक्ति तथा व्यापारिक क्रियाओ और रोजगार पर प्रभाव डालता है परन्तु सभी सामान्यतया यह स्वीकार करते हैं कि इन तत्वो मे पारस्परिक सम्बन्ध है तथा कीमतो और व्यापारिक क्रियाओ मे परिवर्तन आर्थिक सगठन के विभिन्न अगो मे विघ्न (Disturbances) तथा कुसमायोजन (Mal adjustment) उत्पन्न करता है। वास्तव मे गत 50 60 वर्षों मे मुद्रा की क्रय शक्ति तथा व्यापारिक क्रियाओ मे परिवर्तनो के फल स्वरूप उत्पन्न सामाजिक तथा आर्थिक दुष्परिणामो ने साख के नियमन तथा नियन्त्रण के महत्व को और भी बढा दिया है।

साख-नियन्त्रण के उद्देश्य
(Objectives of Credit Control)

साख नियन्त्रण की आवश्यकता तथा विशेषाधिकार युक्त केन्द्रीय बैंक को साख नियन्त्रण का कार्य सौपने के सम्बन्ध मे आज सभी एकमत हैं किन्तु साख के नियन्त्रण के मुख्य उद्देश्यो के सम्बन्ध मे आज भी मतभेद है। साख-नियन्त्रण के साधारणतया निम्न तीन उद्देश्य बताये जाते हैं :—

(1) आन्तरिक कीमत-स्तर की स्थिरता (Stability of Internal Price Level)

(2) विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता (Stability of the Rate of Foreign Exchange)

(3) आय तथा रोजगार के उच्च स्तर पर आर्थिक स्थायित्व (Economic Stabilisation at High Levels of Income and Employment)

साख नियन्त्रण के विभिन्न उद्देश्यो का विवेचन इस प्रकार है.

(1) आन्तरिक कीमत स्तर की स्थिरता (Stability of Internal Price Level) :—बहुत अधिक समय तक केन्द्रीय बैंको की साख नियन्त्रण नीति का एकमात्र उद्देश्य विदेशी विनिमय दर मे स्थिरता रखना था परन्तु प्रथम युद्धोत्तर काल मे विशेषकर स्वर्णमान के पतन के पश्चात आन्तरिक कीमत-स्तर की स्थिरता के उद्देश्य को अधिक महत्व दिया जाने लगा। लार्ड जे० एम० कीन्स तथा प्रो० गुस्तव कैसल जैसे अनेक विद्वानो का मत है कि आन्तरिक साम्यावस्था (Internal

Equilibrium) के लिए कीमत स्तर को स्थिर रखने की नीति अपनानी चाहिए। डा० रेगनर नर्क्से (Dr. Ragnar Nurkse) के शब्दो मे आन्तरिक साम्यावस्था "राष्ट्रीय आय का वह स्तर है जबकि न तो सामान्य बेरोजगारी हो और न कीमतो मे स्फीतिक वृद्धि।"[1] इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अर्थ-व्यवस्था की सामान्य क्रियाशीलता को अस्त व्यस्त करने वाले कीमतो के उच्चावचनो से बचना चाहिये। हम पहले यह अध्ययन कर चुके है कि कीमता मे स्फीतिक वृद्धि से समाज के विभिन्न वर्गों को कितना कष्ट होता है और यदि मुद्रा स्फीति बढता जाय तो यह सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक तन्त्र को ही उखाड फेंकता है। मुद्रा सकुचन से लोग क्रय शक्ति की कमी तथा बेकारी का शिकार हो जाते हैं। इस प्रकार कीमतो मे अत्यधिक उच्चावचन धन और आय के वितरण को असमान कर देते हैं तथा उत्पादन कार्यों मे असन्तुलन स्थापित हो जाता है। यदि कीमत स्तर की स्थिरता बनाये रक्खी जाय तो समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक आर्थिक सम्बन्धो को स्थिर रक्खा जा सकता है और साथ ही अर्थव्यवस्था को वाह्य कीमत परिवर्तनो के कुप्रभावो से बचाया जा सकता है।

(2) विदेशी विनिमय दरो मे स्थिरता (Stability of the Rates of Foreign Exchange):—पहले केन्द्रीय बैंको की साख नियन्त्रण नीति का उद्देश्य विदेशी विनिमय दर को ही स्थिर रखना होता था। प्रथम महायुद्ध के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का मुख्य उद्देश्य विदेशी विनिमय-दर को स्थायी बनाना ही था क्योकि विभिन्न देशो की मुद्राय या तो स्वर्ण की थी या स्वर्ण पर आधारित थी और उनकी विनिमय दरो मे स्वय ही स्थिरता बनी रहती थी। द्विधातुमान काल मे भी द्विधातुमान पर आधारित सभी विनिमय दरें स्वत स्थिर रहती थी। विनिमय दरो की स्थिरता के लिए आन्तरिक कीमत स्तर म परिवर्तन लाने की आवश्यकता पडती थी। इसके लिए कभी मुद्रा स्फीति और कभी मुद्रा सकुचन किया जाता था। उस समय लोग ऐसा मानते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास (International Confidence) को दृढ करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार के लिए, जिनमे विश्व का अधिकतम आर्थिक कल्याण निहित है, विनिमय दरो को स्थिरता आवश्यक है। प्रथम युद्धोत्तर काल विशेषकर स्वर्णमान के पतन के पश्चात् आन्तरिक कीमत स्तर की

---

[1]. "Internal equilibrium is a level of national income such that there is neither general unemployment nor an inflationary tendency for prices to rise"

—Dr Ragner Nurkse ; Article on Domestic and International Equilibrium in *New Economics* (Edited by S E Harris), p. 272.

स्थिरता पर अधिक जोर दिया जाने लगा और विनिमय दरो की स्थिरता गौण समझी गई। विदेशी विनिमय दरो की स्थिरता तथा आन्तरिक कीमत स्तर स्थिरता परस्पर विरोधी नही है (Exchange Stability is not inconsistent with Internal Price Stability) आजकल विदेशी विनिमय दरो की स्थिरता विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) के द्वारा प्राप्त की जाती है। अब केन्द्रीय बैंक मुद्रा के आन्तरिक और बाह्य दोनो मूल्यो म स्थिरता स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

(3) आय और रोजगार के उच्च स्तर पर स्थायित्व (**Economic Stabilisation at High Levels of Income and Employment**) —साख नियन्त्रण का उद्देश्य आय और रोजगार के उच्चस्तर पर स्थायित्व प्राप्त करना है। सभी देश इस बात का प्रयत्न कर रह हैं कि आय स्तर उच्चतम हो, वृत्ति मे वृद्धि हो, रहन-सहन के दर्जे म सुधार हो और अर्थ-व्यवस्था को पूर्ण वृत्ति (Full Employment) के स्तर तक पहुचाया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति व्यापार चक्रो को नियन्त्रित करके ही की जा सकती है। लार्ड कीन्स के विचारानुसार "The object of a monetary policy should be to reduce the ebb and flow of trade cycles and bring about equilibrium between savings and investment at the point of full employment."[1] अन साख तथा मौद्रिक नीति का उद्देश्य पूर्ण वृत्ति बिन्दु पर सचय और विनियोग के बीच साम्यावस्था स्थापित करना तथा व्यापार चक्रा का नियन्त्रण तथा निराकरण करना होना चाहिए। इसीलिए इगलैंड, अमेरिका, स्वीडन आदि देशो ने साख तथा मौद्रिक नीति मे आय और वृत्ति के उच्चतम स्तर पर स्थायित्व की प्राप्ति को अपना उद्देश्य माना है।

इस सम्बन्ध म "आधुनिक प्रवृत्ति एक ऐसी मौद्रिक तथा साख नीति अपनाने की है जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय स्थायित्व (कुछ परिस्थितियो मे विनिमय दरो के व्यवस्थित समायोजन को ध्यान मे रखते हुए) तथा वास्तविक आय तथा वृत्ति के उच्चतम स्तरो को बनाये रखने के दोनों उद्देश्यो म समन्वय स्थापित किया जा सके।"[2] अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना ने उस व्यवस्था को जन्म दिया है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय स्थायित्व तथा उच्चतम स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक

---

[1]. J. M Keynes: *A Troct on Monetary Reform*, 1923

[2]. "The most recent tendency in official monetary circles is to combine the objective of international exchange stability (subject to provisions for orderly adjustment of exchange rates in certain circumstances) with that of promoting and maintaining high levels of employment and real income"

—M H De Kock *Central Banking*, p 125

स्थायित्व के उद्देश्यो की प्राप्ति की जा सके और उनमे सामान्जस्य स्थापित किया जा सके।

साख-नियन्त्रण की रीतियां
(Methods of Credit Control)

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख-नियन्त्रण के मुख्य उद्देश्यो का अध्ययन करने के बाद उन उद्देश्यो को प्राप्ति के लिए बैंक जिन रीतियो का प्रयोग करता है उनका विवेचन भी आवश्यक है। साख-नियन्त्रण की रीतियों को दो मुख्य श्रेणियो मे बाटा जाता है (1) परिमाणात्मक विधिया (Quantitatve Methods) (2) गुणात्मक विधिया (Qualitative Methods)। परिमाणात्मक विधियाँ वे विधिया हैं जो साख के परिमाण तथा उसकी लागत का नियन्त्रण करती हैं जब कि गुणात्मक विधिया साख के प्रयोग तथा व्यवहार को नियन्त्रित करती है। पहले यह मान्यता थी कि साख का परिमाणात्मक नियन्त्रण ही पर्याप्त है क्योंकि साख के परिमाण के नियन्त्रण से ही साख के प्रयोग तथा व्यवहार पर भी नियन्त्रण हो जाता है। परन्तु अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि साख का परिमाणात्मक नियन्त्रण ही पर्याप्त नही है वरन् उसका गुणात्मक नियन्त्रण भी आवश्यक है। गुणात्मक नियन्त्रण का अर्थ होता है कि साख का प्रयोग उन्ही कार्यो के लिए हो जिन्हे केन्द्रीय बैंक वाँछनीय समझता है, अवांछनीय तथा अनुपयुक्त क्षेत्रो मे साख के प्रयोग पर रोक लगा दी जाती है।

केन्द्रीय बैंक साख के नियन्त्रण की निम्नलिखित रीतियों का प्रयोग करता है :—

(अ) परिमाणात्मक विधिया (*Quantitative Methods of Credit* Control)

(1) बैंक दर नीति (Bank-Rate Policy)
(2) खुले बाजार की क्रियायें (Open Market Operations),
(3) व्यापारिक बैंको के नकद कोष अनुपात मे परिवतन (Variation in the Cash Reserve Ratios of Commercial Bank)
(4) तरल कोषानुपात (Liquidity Ratios)

(ब) गुणात्मक विधिया (Methods of Qualitative Credit Control)

(5) साख की राशनिंग (Rationing of Credit)
(6) प्रतिभूति ऋणो की सीमा आवश्यकताओ मे परिवर्तन (Changes in Margin Requirements of Security Loans)

(7) उपभोक्ता-साख का नियम (Regulation of Consumers Credit)
(8) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action)
(9) नैतिक दवाव (Moral suasion)
(10) प्रचार (Publicity)

अब हम साख नियन्त्रण की इन उपर्युक्त विधियों का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे।

(1) बैंक-दर नीति
(Bank-Rate Policy)

साख नियन्त्रण की विधियों मे बैंक-दर का महत्वपूर्ण स्थान और अन्य विधियों की तुलना मे यह सबसे प्राचीन है।

बैंक-दर का अर्थ (Meaning of Bank Rate):—बैंक-दर से अभिप्राय उस दर से होता है जिस पर देश का केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के प्रथम श्रेणी के बिलों का पुन बट्टा (Rediscount) करता है या स्वीकृत प्रतिभूतियों पर ऋण या अग्रिम देता है। प्रतिभूतियों की जमानत पर दिए गये ऋणों या अग्रिमों की ब्याज-दर को अग्रिम दर (Advances Rate) कहा जाता है।

आर० एस० सेयर्स (R. S Sayers) के अनुसार "बैंक-दर वह ब्याज की दर है जो केन्द्रीय बैंक द्वारा बिलो का पुन: बट्टा करने तथा अग्रिमों को देने पर ली जाती है, यह सदस्य बैंको या अन्य वित्तीय सस्थाओ के पास नकद कोष ला देती है।"[1] स्पाल्डिंग (Spalding) के शब्दों मे बैंक दर वह "न्यूनतम ब्याज दर है जो बैंक (केन्द्रीय बैंक) द्वारा स्वीकृत प्रतिभूतियों का पुन बट्टा करने पर ली जाती है।[2]

लार्ड जे० एम० कीन्स (Lord J. M. Keynes) के अनुसार "यह ब्याज की वह प्रभावी दर है जो बाजार मे ऋण लेने तथा ऋण देने के लिए प्रचलित है।"[3]

---

[1]. "Bank rate is the rate of interest charged by the central bank when, by rediscounting bills or by making advances, it puts reserve cash at the disposal of approved banks or other financial institutions" — R S Sayers. *Central Banking After Bagehot* (Oxford 1957) p 123

[2] Bank rate is "the minimum rate charged by the Bank (Central Bank) for discounting approved bills of exchange"

—W F. Spalding Quoted by Hartley Withers *Meaning of Money*, p. 182.

[3] Bank rate is "the effective rate for lending and borrowing which prevails in the market."

—J. M. Keynes : *A Treatise on Money*, Vol I, p. 200.

कुछ देशो जैसे इंगलैण्ड तथा अमेरिका मे इसे कटौती दर (Discount Rate) भी कहते हैं। इसीलिए पीटर फोसेक (Peter G. Fousek) के कथनानुसार "कटौती-दर नीति वह है जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक उन शर्तों में परिवर्तन करता है जिन पर स्वीकृत अल्पकालीन सम्पत्तियो की कटौती अथवा सुरक्षित ऋणों के माध्यम से वह बाजार को वित्तीय सहायता देता है।"[1]

यहां पर हमे बैंक-दर (Bank Rate) तथा बाजार दर का अन्तर समझ लेना चाहिए। जैसा कि विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट है कि बैंक दर वह दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक देश के व्यापारिक बैंको के बिलो का पुनः बट्टा करता है। इसके विपरीत बाजार दर (Market Rate) वह दर है जिस पर व्यापारिक बैंक तथा अन्य ऋणदाता संस्थायें मुद्रा बाजार मे स्वीकृत बिलो या हुडियो का बट्टा करती हैं या स्वीकृत प्रतिभूतियो के आधार पर उन्हे ऋण या अग्रिम देती हैं।[2] बैंक-दर तथा बाजार-दर में आपस में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। जब बैंक दर बढा दी जाती है तो सभी बाजार दरें बढ जाती हैं और साख की लागत बढने के कारण ऋण लेना हतोत्साहित होता है और साख का सकुचन हो जाता है। इसके विपरीत जब बैंक-दर घटा दी जाती है तो सभी ब्याज दरें घट जाती हैं और साख की लागत घटने के कारण ऋण लेना प्रोत्साहित होता है और साख का विस्तार हो जाता है। संक्षेप मे, यही बैंक-दर द्वारा साख नियन्त्रण की प्रक्रिया है।

बैंक-दर नीति का विकास (Evolution of Bank Rate Policy)

बैंक आफ इगलैड पहला केन्द्रीय बैंक था जिसने साख-नियन्त्रण के साधन के

---

[1]. "Discount policy may conveniently be defined as the varying of the terms, and of the conditions in the broadest sense, under which the market may have temporary access to central bank credit through discount of selected short term assets or through secured advances."

—Peter G. Fousek : *Foreign Central Banking : The Instruments of Monetary Policy*, 1957, p. 13.

[2]. **Bank Rate (Discount Rate)** is the rate at which the Central Bank discounts the approved bills of exchange of the commercial banks *Market Rate is the rate at which the commercial banks and* other lending institutions discount the bills or hundies of their customers or grant loans to them. **Deposit Rate** is the rate which is paid by the commercial and other banks on the deposits of their depositors. **Call Rate** is the rate at which the money is advanced to brokers for very short periods and on the condition that money will be returned either on demand or within the stipulated period usually one or two days.

रूप में बैंक-दर का प्रयोग पहली बार सन् 1839 में किया। बाद में सन् 1847, 1857 तथा 1866 के संकटकालों में फिर इसका प्रयोग किया गया। इस काल में बैंक ग्राफ इंगलैंड धीरे-धीरे 'अन्तिम ऋणदाता' (Lender of Last Resort) की स्थिति ग्रहण करता जा रहा था और साख की राशनिंग (Rationing of Credit) इत्यादि साख नियन्त्रण के साधनों का प्रयोग करने में इसलिए कठिनाई अनुभव कर रहा था क्योंकि इस साधन का 'अन्तिम ऋणदाता' के कार्य से सामान्जस्य नहीं बैठता था। 'अन्तिम ऋणदाता' के दायित्व के अनुरूप उसे संकटकाल में धन की सभी उचित मांगों की पूर्ति करनी थी और इसलिए उसने अपनी सुरक्षा तथा धन की मांगों को केवल 'आवश्यक' तक ही सीमित रखने के लिए कटौती दरों को बढ़ाया। संकट कालों में अपने अनुभव से बैंक ग्राफ इंगलैंड ने दो मुख्य बातें सीखीं जो बाद में अन्य केन्द्रीय बैंकों की कटौती नीति का आवश्यक अंग बन गईं। ये दो निष्कर्ष थे—(1) साख संकुचन लागू करने के लिए केन्द्रीय बैंक को बहुत अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि साख विस्तार तथा सट्टे की प्रवृत्तियों को उलटना तब बड़ा कठिन है जब वे बहुत दूर तक आगे बढ़ चुकी हों। (2) बैंकों को आश्वस्त करना चाहिए कि संकटकाल में उनकी धन की मांगों की किसी भी कीमत पर पूर्ति की जायेगी। इस आश्वासन से ही संकट टल जायेगा। उस समय यह माना जाता था कि बैंक-दर को सामान्यतया बाजार-दर से ऊंचा रखना चाहिए जिससे केन्द्रीय बैंक की सहायता केवल संकटकाल में ही अन्य बैंकों को उपलब्ध हो सके।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के युग में बैंक दर का प्रयोग बहुत बड़े पैमाने पर किया जाता था परन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् साख नियन्त्रण के अन्य साधनों की तुलना में इसका प्रयोग काफी कम हो गया। अक्तूबर 1929 के वाल स्ट्रीट संकट तथा 1931 में स्वर्णमान के पतन के परिणामस्वरूप केन्द्रीय बैंकों ने सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) अपनायी और इस प्रकार बैंक दर का प्रयोग तथा महत्व बहुत कम हो गया। सन् 1951 से फिर बैंक ग्राफ इंगलैंड ने साख-नियन्त्रण के लिए बैंक दर का प्रयोग आरम्भ किया है। भारत में रिजर्व बैंक ग्राफ इण्डिया ने भी सन् 1951 में बैंक दर के अस्त्र का साख नियन्त्रण के लिए प्रयोग किया है। अब इधर कुछ वर्षों में बैंक दर का महत्व फिर बढ़ रहा है।

बैंक-दर नीति का सिद्धान्त
(Theory of Bank Rate Policy)

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के अन्तर्गत साख नियन्त्रण के साधन के रूप में प्रयुक्त बैंक दर नीति के पीछे यह मान्यता थी कि बैंक दर में परिवर्तन के फलस्वरूप सभी ब्याज दरों में समान परिवर्तन होते हैं, ब्याज दरों में परिवर्तन मुद्रा तथा साख

की माग पूर्ति तथा पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह (International flow of capital) मे परिवतन लाता है और फिर कीमत-तल, उत्पादन-व्यय, उत्पादन तथा व्यापार मे अपेक्षित परिवर्तन होगा और भुगतान का सतुलन ठीक हो जायेगा। यदि किसी देश का व्यापार शेप उसके विरुद्ध हो जाना है और भुगतान मे स्वरण विदेशो को जाने लगता है तो केन्द्रीय बैंक बैंक-दर बढा देती है जिससे आतरिक कीमत तल, ब्याज दरें प्रभावित होती है और बिना स्वरण निर्यात के भुगतान सतुलन ठीक हो जाता है। बैंक दर ऊँची होने से विदेशी अपने कोप तथा पूंजी उसी देश मे लगाते हैं और उसी देश की मुद्रा की माग विदशी बाजारो मे बढ जाती है फलत विदेशी मुद्रा की इकाइयो म उस देश की मुद्रा का मूल्य बढ जाना है और विनिमय दर उस देश के पक्ष मे हो जाती है। बैंक दर बढ जाने से ऋण लेना हतोत्साहित होता है क्योकि ऋणियो के लिए वह देश महगा हो जाता है, व्यापारिक क्रियायें कम हो जाती है बाजार म मदी की प्रवृत्ति के कारण मौद्रिक आय तथा कीमत तल घट जात है, कीमतें घटने पर निर्यात प्रो साहित तथा आयात हतोत्साहित होते हैं। फलत व्यापार शेप देश के पक्ष मे आ जाता है। इस प्रकार बैंक दर मे परिवतन अल्पकालीन मुद्रा बाजार तथा दीर्घकालीन पूजी बाजार के माध्यम स विदेशी विनिमय बाजार को प्रभावित करता है और अत म व्यापार-शेप प्रभावित होता है।

बैंक-दर मे परिवर्तन देश की आन्तरिक स्थिति को भी प्रभावित करता है। जब बैंक दर मे वृद्धि होती है तो बाजार की ब्याज दरें बढ जाती हैं। ऋण लेना महगा तथा कम लाभदायक हो जाता है और पूंजी की माग कम हो जाती है। विनियोग वस्तुओ के उत्पादन मे कमी के कारण निर्माण उद्योग म मदी आ जाती है। क्रय शक्ति मे कमी क कारण कीमत गिरने लगती हैं। व्यापारी तथा दुकानदार ऋण लेकर स्टाक रखत थे कीमतो म कमी के अनुमान के कारण ऋणो तथा स्टाक दोनो को घटाते है। व्यापारी उत्पादन को दिये गये आडर रद्द कर देते हैं और उत्पादनकर्ता उनको कम कीमत पर माल बेचने को तैयार हो जाता है फलत. थोक कीमतें भी गिर जाती हैं। लेकिन उत्पादनकर्ताओ की लागतें तथा मजदूरी व्यय नही घटता और अत मे उन्हे उत्पादन घटाना पडना है और बेरोजगारी फैलती है और फिर लागतें तथा मजदूर आय भी कम हो जाती है। बैंक दर घटने पर विपरीत प्रभाव होत है।

इस प्रकार बैंक दर मे परिवर्तन देश की आतरिक तथा बाह्य दोना स्थितियो को ठीक करता है। (The delicate and beautiful instrument of Bank rate is used by the Central Bank for operating on the internal situation as well as on the external situation) बैंक दर में परिवर्तन के अन्य पक्षो को प्रभावित करने की प्रक्रिया को ही हम बैंक-दर नीति का सिद्धान्त (Theory of Bank Rate Policy) कहते हैं।

बैंक दर में परिवर्तनों का प्रभाव (Effect of Changes in Bank Rate)—

बैंक–दर नीति साख को किस प्रकार प्रभावित करती है, इस सम्बन्ध मे अर्थ शास्त्रियो मे ये मतभेद हैं।

परम्परागत विचारधारा (The Traditional View)—

इस दिशा मे हाट्रे तथा लार्ड कीन्स के वाद-विवाद (Hawtrey-Keynes Controversy) का विस्तृत विश्लेषण करने से पहले लार्ड-कीन्स द्वारा अपनी पुस्तक Treatise on Money मे उल्लिखित बैंक-दर के तीन परम्परागत सिद्धान्तो की ओर दिशा संकेत करना अनुपयुक्त न होगा—

(1) प्रथम : विचारधारा के अनुसार बैंक-दर को "बैंक मुद्रा या साख मुद्रा की मात्रा का नियमन करने का साधन" माना गया। लार्ड ग्रोवर स्टोन ने बैंक-दर को चलन की मात्रा का सकुचन करने का सबसे प्रभावी तरीका माना। प्रो० ए० सी० पीगू (Prof A. C. Pigou) के अनुसार बैंक-दर प्रत्यक्ष रूप से बैंक–साख की मात्रा और फिर कीमत-तल पर प्रभाव डालती है।

(2) दूसरी : विचार धारा के अनुसार बैंक-दर विदेशी–उधार (Foreign Lending) की दर का नियमन कर देश के स्वर्ण कोषो की रक्षा करती है।

(3) तीसरी : विचार धारा के अनुसार बैंक-दर विनियोग की दर (Rate of Investment) को प्रभावित करती है। बैंक-दर मे वृद्धि सचय की तुलना मे विनियोग को हतोत्साहित करती है। प्रो० नुट विकसेल (Prof Knut Wicksell) के विचारानुसार बैंक-दर सचय तथा विनियोग के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रभावित करती है।

हाट्रे-कीन्स विवाद (Hawtrey- Keynes Controversy)

बैंक-दर परिवर्तन की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे दो मत प्रतिपादित किए गये हैं। एक मत हॉट्रे (Hawtrey) का है और दूसरा लार्ड कीन्स (Keynes) का। यहां हम इन दोनो विचारो की विस्तृत व्याख्या करेंगे।

हाट्रे की विचारधारा (The Hawtrey Line of Thought)—

श्री आर० जी० हॉट्रे (R G Hawtrey) ने अपने विचारो का प्रतिपादन अपनी 'Art of Central Banking' तथा A Century of Bank Rate' नामक पुस्तको मे किया है। हॉट्रे के अनुसार बैंक दर मे परिवर्तन अल्पकालीन ब्याज दरों को प्रभावित करता है और फिर इसका व्यापारी द्वारा रखे माल के स्टाक पर प्रभाव पडता है। हॉट्रे के मतानुसार व्यापारी ही अर्थ-व्यवस्था का केन्द्र है और उसका कार्य उपभोक्ताओ की माग के अनुमान लगा कर माग और पूर्ति मे समायोजन

स्थापित करना होता है। यहा यह स्मरणीय हैं कि प्रत्येक व्यापारी जो स्टाक रखता है उसकी मात्रा उसके स्टाक रखने के व्यय (जिसमे ब्याज मुख्य होता है) पर निर्भर रहती है। अत प्रत्येक व्यापारी की स्टाक रखने की माग लोचदार होती है। हाट्रे के विचारानुसार यदि बैंक दर में वृद्धि की जाती है तो अल्पकालीन ब्याज-दरें बढ जाती हैं, पक्के तथा अर्ध–पक्के माल का स्टाक रखने की लागत बढ जाती है। परि–णामस्वरूप व्यापारी स्टाक कम कर देते हैं, उत्पादकों को कम माल के आदेश देते हैं, विक्रय राशि वे स्वय एकत्रित करने के लिए या ऋणो का भुगतान करने के लिए अपने पास रख लेते हैं। फलस्वरूप उत्पादन घट जाता है और बेरोजगारी फैलती है, मजदूरी तथा आय घट जाती है और मदी की सृष्टि होती है। सेयर्स (Sayers) के शब्दो मे "The contraction of money incomes leads to a decline in retail sales, leading to reduced purchases from dealars, who again reduce their purchases and so on The whole movement, sometimes called the vicious circle of deflation, is intensified by a general tendency to hold off the market. Once it to realised that the prices are falling – people postpone purchases in the expectation of securing more favourable terms later,"[1]

इसके विपरीत जब बैंक-दर घटा दी जाती है तो अल्प–कालीन ब्याज दरें घट जाती हैं, वस्तुओ के स्टाक की लागत कम हो जाती है, व्यापारी स्टाक की मात्रा बढा देते हैं क्योंकि ब्याज के रूप मे अब उन्हें कम देना पडता है, वे उत्पादन–कर्त्ताओ को अधिक माल के आदेश देते हैं फलत: उत्पादन, रोजगार तथा मौद्रिक आय बढती है। क्रय–शक्ति मे वृद्धि के कारण वस्तुओ की बिक्री भी बढती है और यह सब 'मुद्रा-स्फीति के दुष्चक्र' (Vicious circle of Inflation) के कार्यशील होने के कारण होता है।

हाट्रे के तर्क का मुख्य आधार माल का स्टाक रखने की लागत है जिसमें ब्याज की दर सम्मिलित है। इस सम्बन्ध मे उनका निष्कर्ष दो बातो पर निर्भर करता है—

(1) स्टाक रखने की कुल लागत मे ब्याज के व्यय का अनुपात (The proportion of interest charges to the total cost of holding stocks) तथा,

(2) वस्तुओ की माग की लोच (The Elasticity of demand for those Commodities)

जहा तक पहले तत्व का सम्बन्ध है, ब्याज माल का स्टाक रखने की लागत मे बहुत से व्ययो मे से एक है (अन्य हैं बीमा, भडार कर्म इत्यादि) अत ब्याज व्यापारी

[1]. R. S. Sayers : *Modern Banking* (Second Ed., 1957) p. 142.

के खर्च का प्रमुख भाग नही है, जैसा कि हाट्रे ने माना है। वस्तुओ की माँग भी पर्याप्त रूप से लोचदार नही होती। अत: हॉट्रे के सिद्धान्त की आलोचना की गई है।

कीन्स की विचार धारा (The Keynesian Line of Thought) :

लार्ड जे० एम० कीन्स ने अपनी विचारधारा का प्रतिपादन अपनी पुस्तक 'A Treatise on Money' मे किया है। कीन्स न बैंक दर परिवर्तन के प्रभाव की व्याख्या करते समय 'दीर्घकालीन ब्याज दरो तथा उसका पूँजीगत वस्तुओ के स्टाक पर प्रभाव' को ध्यान मे रखा है। कीन्स के अनुसार बैंक-दर देश की आतरिक स्थिति का अल्पकालीन ब्याज दरो के माध्यम से नही वरन् दीर्घकालीन ब्याज दरो के द्वारा प्रभावित करती है। जब बैंक दर बढा दी जाती है ता दीर्घकालीन ब्याज दरे बढ जाती हैं और साहसियो को कारखानो, यन्त्रो इत्यादि पूँजीगत वस्तुओ का उत्पादन कम आकर्षक लगन लगता है। ब्याज दर जितनी ऊँची होगी, किसी भी प्रकार का पूँजी-विस्तार उतना ही कम आकर्षक होगा और ब्याज-दर जितनी कम होगी, साहसी उतनी ही अधिक पूँजी विस्तार करेंगे। (The higher the rate of interest, the less attractive is any form of capital extension and the lower the rate, the more it is likely that the entrepreneurs will be undertaking capital extension) इस प्रकार दीर्घकालीन ब्याज-दरें बढने से पूँजी की माग कम हो जाती है, पूंजीगत उद्योगो मे उत्पादन घटता है, बेकारी फैलती है और आय, कीमत व्यापार तथा वृत्ति तल गिर जाता है और अर्थ-व्यवस्था म मदी फैलती है। परन्तु व्यावहारिक जीवन मे व्यापार तथा कीमतें ब्याज-दर नीतियो से इतनी सवेदनशील नही होती "Bitter experience has shown that the state of trade, although it does appear to respond eventually to dear or cheap money, responds painfully slowly" अत दीर्घकालीन ब्याज-दर नीति की सफलता पूँजी की माग की लोच पर निर्भर करती है। पूँजी की माग लोच जितनी अधिक होगी, यह नीति उतनी ही प्रभावी होगी। परन्तु मदी-काल म ब्याज दर की कितनी भी कमी उत्पादन को नही बढा सकती और तेजीकाल म ब्याज दर की वृद्धि उसे विनियोग करने से नही रोक सकती। फलत व्यापारियो की पूँजी की माग कुछ बेलाच होती है।

यदि हम उपर्युक्त दोनो विचारधाराओ की तुलना करें तो यह विदित होगा कि हॉट्रे तथा कीन्स दोनो यह आधार लेकर चले हैं कि बैंकिंग नीति वस्तुओ के स्टाक रखन की लागत का प्रभावित करती है अतर केवल वस्तुओ के प्रकार का है जो बैंक दर से प्रभावित होते हैं और यह अतर केवल महत्व की सीमा (Degree of Emphasis) का है।

आज हॉट्रे तथा कीन्स के इस विवाद का कोई महत्व नही रह गया है क्योकि आजकल सभी स्वीकार करते है कि बैंक दर दीर्घकालीन ब्याज दरो के माध्यम से अर्थ व्यवस्था को प्रभावित करती है।

बैंक दर का महत्व (Significance of Bank Rate)

डा० डी० काक ने बैंक दर का तीन प्रकार का महत्व बताया है । प्रथम बैंक दर उन दरो की ओर सकेत करती है जिन पर जनता व्यापारिक बैंको तथा केन्द्रीय बैंक से स्वीकृत पत्रो के आधार पर वित्तीय सहायता प्राप्त करती है। द्वितीय जहा व्यापारिक बैंको के लिए अलग दरो का प्रकाशन नही होता, बैंक दर उन दरो का आधार होती है जिन पर व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से साख प्राप्त करती है। तृतीय केन्द्रीय बैंक के साख-नियन्त्रण के साधन के रूप मे बैंक दर का मनोवैज्ञानिक महत्व बहुत अधिक है । जैसाकि गिबसन (Gibson) ने कहा है कि "बैंक दर की वृद्धि को एक स्वचालित वित्त तथा अर्थ तन्त्र को चेतावनी की लाल रोशनी मानना चाहिए जबकि बैंक दर मे कमी हरी रोशनी की भाति है जिसका अर्थ है कि रास्ता साफ है और व्यापार का जहाज आगे परन्तु सावधानी से, बढ सकता है।'[1]

बैंक-दर नीति की सीमायें (Limitations of Bank Rate Policy)

साख नियन्त्रण के साधन के रूप मे बैंक दर की निम्नलिखित सीमाय —

(1) देश की अर्थ व्यवस्था मे लोच (Elasticity in the Economy) बैंक दर नीति तभी सफल हो सकती है जबकि देश की अर्थव्यवस्था लोचपूर्ण हो। लोचदार अर्थव्यवस्था म बैंक-दर परिवतनो का प्रभाव ब्याज दर, विनियोग उत्पादन, मजदूरी, कीमतो, आय तल आदि पर शीघ्रतापूर्वक पडता है । यदि अर्थ-व्यवस्था लोचदार नही है तो बैंक दर मे परिवतन का प्रभाव सभी क्षेत्रो पर नही पडेगा और बैंक दर नीति सफल नही होगी।

(2) बैंक दर मे परिवतन के अनुरूप अन्य ब्याज दरो मे परिवर्तन (Change in all money rates in line with the Bank Rate) बैंक दर नीति की सफलता की दूसरी आवश्यक शर्त है कि बैंक दर में परिवतन के अनुसार देश की सभी ब्याज की दरें परिवर्तित होनी चाहिए। यदि ऐसा नही होता तो बैंक दर नीति की सफलता सदिग्ध ही रहेगी । इस शर्त की पूर्ति के लिए देश का मुद्रा बाजार

[1] 'A rise in the discount rate may be regarded as the amber coloured light of warning of a robot system of finance and economics, while a fall in discount rate may be looked upon as the green light indicating that the coast is clear and the ship of commerce may proceed on her way with caution.'

—Gibson, Quoted by M H De Kock, *Central Banking*, p, 168.

विकसित तथा सवेदनशील होना चाहिए। भारत जैसे अर्ध-विकसित देश मे, जहाँ मुद्रा बाजार विकसित तथा सुसगठित नही है, बैंक-दर-नीति मे परिवर्तन सभी ब्याज दरो को शीघ्र प्रभावित नही करता।

उपर्युक्त दोनो सीमाओ के कारण बैंक दर नीति की सफलता साख-नियत्रण के साधन के रूप म सदिग्ध रहती है।

(2) खुले-बाजार की क्रियायें
(Open Market Operations)

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियत्रण की दूसरी परम्परागत तथा परिमाणात्मक रीति खुले बाजार की क्रियायें हैं। इस रीति के अतर्गत केन्द्रीय बैंक खुले बाजार मे स्वर्ण तथा प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय कर साख की मात्रा का नियमन करता है। विस्तृत अर्थों मे "खुले बाजार को नीति का अर्थ केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा बाजार मे किसी भी प्रकार के बिलो अथवा प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय है, किन्तु सकीर्ण अर्थों मे खुले बाजार की क्रियाओ का अर्थ केन्द्रीय बैंक द्वारा केवल सरकारी प्रतिभूतियो दीर्घकालीन अथवा अल्पकालीन का क्रय-विक्रय है।"[1] साख नियत्रण की इस रीति का प्रयोग सर्वप्रथम स्वर्ण मान के पतन के पश्चात विभिन्न देशो मे किया गया।

खुले बाजार की क्रियाओ के अतर्गत प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय कर साख की मात्रा को प्रभावित किया जाता है। साख का विस्तार करने के लिए प्रतिभूतियो को खरीदा जाता है और साख का सकुचन करने के लिए प्रतिभूतियो को बेचा जाता है। डा० डी० काक के शब्दो मे "केन्द्रीय बैंक के द्वारा प्रतिभूतियो का क्रय विक्रय प्रत्यक्ष रूप से तथा शीघ्र ही चलन मे मुद्रा की मात्रा और व्यापारिक बैंको के नकद कोषो को बढाता और घटाता है, बैंक नकदी की पूर्ति मे वृद्धि या कमी और इस प्रकार व्यापारिक बैंको की साख-सृजन की शक्ति मे वृद्धि या कमी मुद्रा की मात्रा को और भी बढाती या घटाती है। मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन ब्याज दरो तथा साख मे सापेक्षिक परिवर्तन लाता है जो फिर कीमत-तल, लागतो, उत्पादन तथा व्यापार मे आवश्यक समायोजन लाता है।"[2]

---

1. "In the wider sense, open market operations may be held ot cover the purchase and sale by the Central Bank in the market of any kind of paper in which it deals, whether Government security or other securities. But in the narrower sense, open market operation has come to be applied only to the purchases or sale of Government securities, both long term and short-term.

2 "That purchases or sales of securities by the central bank tend directly and immediately to increase or decrease in the quantity of money in circulation and the cash reserves of commercial banks;

—Contd. on Page 273

खुले बाजार की क्रियाम्रो के इस साधन का प्रयोग विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया जाता है। बैंक–दर नीति को सफल बनाने, म्रातरिक कीमत-तल मे स्थिरता लाने, भुगतान–सतुलन ठीक करने इत्यादि उद्देश्यो की पूर्ति के लिए इस रीति का प्रयोग किया जाता है।

खुले बाजार की क्रियाम्रो की सीमायें (Limitations of Open Market Operations) खुले बाजार की क्रियाम्रो की सफलता की शर्तें निम्नलिखित हैं—

(1) **प्रतिभूतियों की मांग तथा पूर्ति** (Demand and Supply of Securities)—केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाम्रो की सफलता के लिए यह म्रावश्यक है कि म्रर्थ-व्यवस्था मे प्रतिभूतियो की पर्याप्त माग तथा पूर्ति हो।

(2) **बैंकों के नकद कोषों का प्रभावित होना** (Bank's Cash Reserves should be effected) —व्यापारिक बैंको की साख-सृजन की शक्ति उनके द्वारा रक्खे गये नकद कोषों की मात्रा पर निर्भर करती है। खुले बाजार की क्रियायें तभी सफल हो सकती हैं जब केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियो का क्रय–विक्रय उनके नकद कोषो को प्रभावित करे। यदि प्रतिभूतियो का विक्रय हो म्रौर लोग बैंको से धन न निकाल कर म्रपनी सचित राशि से ही भुगतान कर दें म्रौर बैंको के नकद कोष न प्रभावित हो तो खुले बाजार की क्रियायें सफल नही होगी।

(3) **सगठित मुद्रा तथा प्रतिभूति बाजार** (Organised Money and Security Markets)—खुले बाजार की क्रियायें तभी सफल हो सकती है जब देश मे एक पूर्ण विकसित तथा सुसगठित मुद्रा बाजार तथा प्रतिभूति बाजार हो। केन्द्रीय बैंक तथा मुद्रा बाजार के म्रन्य म्रगो मे घनिष्ट पारस्परिक सम्बन्ध हो।

(4) **केन्द्रीय बैंक की प्रतिभूतिया क्रय–विक्रय की शक्ति** (Adequate Capacity of Central Bank to deal in Securities).—खुले बाजार की क्रियायें तभी सफल हो सकती है जब केन्द्रीय बैंक के पास पर्याप्त वित्तीय साधन तथा प्रतिभूतियो की मात्रा हो। जिससे वह म्रावश्यकता पडने पर प्रतिभूतियो मे लेन देन कर सके। लार्ड कीन्स के शब्दो मे "केन्द्रीय बैंक म्राने वाली तेजी को

---

that an increase or decrease in the supply of bank cash and, therefore, in the credit creating capacity of the commercial banks, tends still further to increase or decrease the quantity of money, and that changes in the quantity of money tend to bring about relative changes in money rates and credit conditions, which in turn tend to bring about the desired adjustments in the domestic levels of prices, costs, production and trade."

—M. H. De Kock : *Central Banking*, p. 183-4.

रोकने के लिए केवल इतनी ही बारूद का प्रयोग कर सकती है जितनी उन्होंने मंदी से लड़ने के समय प्राप्त कर पायी है।[1]

(3) बैंकों के नकद कोष अनुपात में परिवर्तन
(Variation in Cash Reserve Ratios of Banks)

आजकल संसार के सभी देशों में व्यापारिक बैंकों को अपने दायित्वों का कुछ प्रतिशत केन्द्रीय बैंक के पास अनिवार्य रूप से जमा कराना पड़ता है। हम अध्ययन कर चुके हैं कि बैंकों द्वारा साख निर्माण का आधार उनके नकद कोष हैं। साख नियन्त्रण की इस रीति द्वारा केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों द्वारा रखे जाने वाले कोष की मात्रा को घटा-बढ़ाकर उनके द्वारा सृजित साख की मात्रा को प्रभावित करते हैं। यदि व्यापारिक बैंक आवश्यकता से अधिक साख का सृजन कर रहे हैं तो केन्द्रीय बैंक उनके द्वारा रखे जाने वाले कोषों का प्रतिशत बढ़ा देता है फलतः उनके नकद कोष घट जाते हैं और उनके द्वारा साख-निर्माण उसी अनुपात में कम हो जायेगा। इसके विपरीत जब देश में आवश्यकता से कम साख का निर्माण हो रहा है तो बैंकों द्वारा रखे जाने वाले नकद कोषों का अनुपात घटा दिया जाता है और बैंकों द्वारा साख का निर्माण उसी अनुपात में बढ़ जाता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक इस रीति द्वारा साख का संकुचन तथा विस्तार करता है।

साख-नियन्त्रण की इस रीति का उपयोग सर्वप्रथम सन् 1933 में अमेरिका में किया गया। बाद में न्यूजीलैंड, कनाडा, नार्वे आदि देशों में इसका प्रयोग हुआ। भारत में भी रिजर्व बैंक को यह अधिकार प्राप्त है। यहां अनुसूचित बैंकों को अपने कुल निक्षेपों का तीन प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास अनिवार्य रूप से जमा करना पड़ता है।

साख नियन्त्रण की यह पद्धति केन्द्रीय बैंकों के हाथों में एक बड़ा ही महत्वपूर्ण तथा प्रभावी अस्त्र है। यह रीति बड़ी सरल तथा सुविधाजनक है और बैंकों के नकद कोषों पर शीघ्रतापूर्वक प्रभाव डालकर साख के निर्माण को नियमित करती है। बर्गेस (Burgess) के शब्दों में

> "Despite these limitations the power (to raise or lower the bank's cash reserve requirements) is the most useful addition to the system's mechanism for credit control, especially as a means for dealing fundamentally with the large excess of reserves created by the extraordinary events of depression emergency."

1. "The Reserve Banks can fire off against an incipient boom only such ammunition as they have been able to pick up while resisting a slump." —J. M. Keynes

सेयर्स (R. S. Sayers) ने भी इस पद्धति का समर्थन इन शब्दो मे किया हैं :

"It is a weapon which should always be placed in the hands of a central bank whose technique is circumscribed by the conditions hindering the effective utilisation of open market operations Given such power, the central bank can perform useful functions that commercial banks cannot be expected to perform"

खुले बाजार की क्रियाओ के सम्बन्ध मे वर्णित सीमायें इस नीति पर भी लागू होती है फिर भी ऐसे देशो के लिए विशेषकर विकासशील देशो के लिए यह रीति बडी उपयुक्त है क्योंकि वहा सुसगठित तथा विकसित मुद्रा तथा प्रतिभूति बाजारो का अभाव है।

(4) तरल कोषानुपात
(Liquidity Ratios)

साख नियत्रण की इस रीति का प्रयोग सर्वप्रथम सन् 1945 मे अमेरिका मे हुआ जब Federal Reserve System की रिपोर्ट मे इसको उठाया गया। इस रीति के अन्तर्गत बैंकिग कानून के अनुसार व्यापारिक बैंको को केन्द्रीय बैंक मे जमा किए गये नकद कोषों के अतिरिक्त कुछ गौण–कोषो (Secondary Reserves) का रखना भी अनिवार्य होता है। इस प्रकार बैंको को अपनी कुल सम्पत्ति का कुछ भाग तरल रूप (Liquid Form) मे रखना अनिवार्य कर दिया जाता है जिससे उनकी साख-सृजन की शक्ति सीमित हो जाती है। तरल कोषो मे नकद राशि तथा स्वीकृत प्रतिभूतिया (Approved Securities) रक्खी जाती है।

इस पद्धति का प्रयोग विभिन्न देशो मे स्फीति जनित साख विस्तार को नियत्रित करने के लिए किया गया था। कुछ देशो मे इसे स्फीति–नियत्रक उपाय (Anti-inflationary Measure) के रूप मे प्रयुक्त किया गया और केन्द्रीय बैंक की बैंक–दर नीति को प्रभावी बनाने मे इसने पर्याप्त सहायता की। डा० डी० काक ने इस रीति के सम्बन्ध मे लिखा है—

"There is no doubt, however, that this new method can be made to play a valuable part in any positive deflationary policy under conditions of exceptional inflationary pressures caused by war, rearmament or other abnormal circumstances,"[1]

---

[1]. M H. De Kock : *Central Banking* p 241.

(5) साख की राशनिंग
(Rationing of Credit)

साख की राशनिंग साख नियन्त्रण की गुणात्मक रीतियो मे महत्वपूर्ण है। केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता का कार्य करता है और आवश्यकता पडने पर सभी सदस्य बैंको को धन की सहायता देता है। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंको को दिए जाने वाले ऋणो पर कुछ प्रतिबन्ध लगा देता है जिससे उनकी साख सृजन की शक्ति कुछ कम हो जाती है। अधिकतर मुद्रा स्फीति के समय सदस्य बैंको द्वारा अत्यधिक साख-सृजन की प्रवृत्ति पर रोक लगाने के लिए इस पद्धति का प्रयोग किया जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक या तो किसी बैंक की विलो के पुनः बट्टा कराने की सुविधा समाप्त कर देता है या किसी बैंक की पुनः बट्टा कराने की सीमा को नियन्त्रित कर देता है या विभिन्न बैंको के लिए साख का कोटा निश्चित कर देता है।

साख नियन्त्रण की इस पद्धति का प्रयोग बैंक आफ इगलैंड ने 18वी शताब्दी के अन्त मे किया। इसके अन्तर्गत बैंक आफ इगलैंड "placed a limit upon its discounts for any one house or rejected a proportion of each discount application whenever total demands exeeded the sum which it was prepared to discount on any one day"

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् किसी न किसी रूप मे इस पद्धति का प्रयोग किया गया। जर्मनी, फ्रास तथा मैक्सिको मे इस पद्धति का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया। रूस की साख नीति का यह पद्धति आवश्यक अग है। साख-नियन्त्रण के साधन के रूप मे साख के राशनिंग की रीति ऐसे देशो के लिये अधिक उपयुक्त है जहा राज्य के नियन्त्रण के अन्तर्गत केन्द्रीय आयोजन (Centralised Planning) होता है। इसीलिए डा० डी० काक ने कहा कि "Rationing of credit and capital is a logical concomitant of the intensive and extensive planning adopted by authoritarian states"

(6) प्रतिभूति ऋणों की सीमा आवश्यकताओ में परिवर्तन
(Changes in Margin Requirements on Security Loans)

साख नियन्त्रण की इस पद्धति का प्रयोग सर्वप्रथम अमेरिका मे (Securities Exchange Act of 1934) के अन्तर्गत फेडरल रिजर्व सिस्टम द्वारा किया गया। इस रीति का मुख्य उद्देश्य प्रतिभूतियो मे सट्टे की प्रवृत्ति को नियन्त्रित करना होता है। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंको को ऋणो की सीमा (Margin Requirements) के सम्बन्ध मे परिवर्तन करने के आदेश देता है जिससे

दिये गये ऋणों में बैंकों को अधिक जोखिम न रहे। ऋणों की सीमा परिवर्तन के फेडरल रिजर्व बोर्ड के अधिकार के सम्बन्ध में बर्गेस (Burgess) का कथन है :

"It is a form of control which is in some degree paternalistic and restrictive, but speculation in securities has proved itself so destructive of econom c stability in this country that some vigorous form of control of this sort appeared to be necessary.'

श्री गोल्डेन वीजर (Golden Weiser) के शब्दों में :

"Margin requirements have served a useful public purpose and some light has been thrown upon their possibilities and their limitations as an instrument of policy,"

(7) उपभोक्ता साख का नियमन
(Regulation of Consumers Credit)

द्वितीय महायुद्ध काल में उपभोक्ताओं को दी जाने वाली साख का नियन्त्रण हेतु इस साधन का प्रयोग सर्वप्रथम अमेरिका में किया गया। युद्ध काल में उपभोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त टिकाऊ वस्तुयें जैसे मोटर कार, मोटर साइकिल, रेफरीजरेटर, सिलाई मशीन, रेडियो इत्यादि की माग बढ जाती है और किश्तो द्वारा भुगतान अदायगी की सुविधा के कारण उनकी कीमतें भी बढ जाती हैं। अमेरिका में 9 अगस्त 1942 के एक आदेश द्वारा बोर्ड आफ गवर्नर्स को यह अधिकार दिया गया कि वे उपयोग्य वस्तुओं के क्रय के लिए दिए जाने वाले ऋणों की शर्तों का नियमन करें। अमेरिका में यद्यपि प्रारम्भ में इसे एक 'सुरक्षा उपाय' (Defence Measure) के रूप में प्रयुक्त किया गया परन्तु इसे युद्ध के पश्चात् भी जारी रक्खा गया और गुणात्मक साख नियन्त्रण का एक महत्वपूर्ण साधन बन गया। इस साधन का प्रयोग कनाडा, इगलैंड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा बेल्जियम इत्यादि देशों में भी किया गया।

(8) प्रत्यक्ष कार्यवाही
(Direct Action)

प्रत्यक्ष कार्यवाही के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित नीतियों तथा निर्देशों का पालन न करने वाले व्यापारिक बैंकों के विरुद्ध केन्द्रीय बैंक कार्यवाही कर सकता है। केन्द्रीय बैंक ऐसे व्यापारिक बैंकों को पुन बट्टा की सुविधायें प्रदान करने से मना कर सकता है और यदि कोई बैंक अपने कोषों से अधिक अनुपात में पुनः बट्टा सुविधा प्राप्त कर चुका होता है तो उसे पुन बट्टा की और सुविधा देने से मना कर सकता है और यदि दे भी तो निर्धारित दर से ऊची दर (Penalty Rate) ले सकता है। डा० डी० काक (Dr. De Kock) के शब्दों में :

"Direct action embraces only those cases where the central bank decides to take such coercive measures against an offending commercial or other financial institution as it can within the limits of its power and functions, or to issue directives to banks generally concerning their lending and investment operations under special statutary authority ....."

साख नियंत्रण तथा अन्य प्रकार से बैंकिंग व्यवस्था के नियमन के इतने विस्तृत अधिकार विभिन्न केन्द्रीय बैंको को अब प्राप्त हैं कि इस साधन के प्रयोग का अवसर ही नही आता। वैसे इस रीति का बैंको पर बुरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता और भविष्य मे उनका सहयोग प्राप्त करन मे कठिनाई आ सकती है। अत इस रीति की उपयुक्तता तथा सफलता मे सदेह व्यक्त किया जाता है।

(9) नैतिक दबाव
(Moral Suasion)

आज के प्रजातन्त्रीय युग मे नैतिक दबाव भी गुणात्मक साख नियन्त्रण की एक मुख्य रीति है। इस रीति के अन्तर्गत देश के बैंको पर केन्द्रीय बैंक अपनी शीर्षस्थ तथा नेता की स्थिति का प्रयोग कर उनको समझा बुझा कर ठीक मार्ग पर लाता है। सीधी कार्यवाही तथा नैतिक दबाव मे अन्तर केवल इतना है कि नैतिक दबाव मे किसी प्रकार का वैधानिक जोर (Legal Compulsion) या दडनीय कार्यवाही (Punitive Action) की धमकी नही होती। यदि कोई जोर या दबाव डाला भी जाता है तो वह मित्रतापूर्ण चेतावनी या परामर्श होता है। नैतिक दबाव का यह लाभ है कि इसका कोई बुरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव बैंको पर नही पडता। बर्गेस (Burgess) के अनुसार .

"The informal influence which they (central banks) exercise in this way, may at times prove more important than their formal action under law. It is an influence to be exercised with the utmost discretion, and would vanish with excessive use"

नैतिक दबाव की इस रीति का प्रयोग इगलैंड, फ्रान्स, स्वीडन तथा हालैंड इत्यादि देशो मे बडी सफलता पूर्वक किया गया है परन्तु अमेरिका जैसे देशो मे जहा इकाई बैंकिंग प्रणाली प्रचलन मे है, यह पद्धति सफल नही रही है। साख नियत्रण की इस रीति की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि देश मे केन्द्रीय बैंक की क्या स्थिति तथा शक्ति है तथा केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंको मे सहयोग की क्या सीमा है।

(10) प्रचार
(Publicity)

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियन्त्रण के साधन के रूप में प्रचार (Publicity) का प्रयोग किया जाता है। इस रीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक प्रचार तथा विज्ञापन द्वारा जनमत (Public Opinion) अपनी नीतियो के पक्ष मे करता है और ऐसा वातावरण पैदा करता है जिससे बैंक वही नीति अपनायें जो केन्द्रीय बैंक चाहता हो। इसके साथ साथ केन्द्रीय बैंक अपनी आर्थिक स्थिति, क्रिया कलापों तथा देश तथा अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न पक्षो जैसे मुद्रा बाजार, उद्योग, व्यापार, आयात निर्यात, विदेशी विनिमय, सार्वजनिक ऋण इत्यादि के सम्बन्ध मे आकडे तथा सूचनायें प्रकाशित करता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक के अधिकारी पत्रकार-सम्मेलनो, गोष्ठियों तथा अन्य सार्वजनिक अवसरों पर बैंक की नीति का स्पष्टीकरण तथा भावी नीति की दिशा के बारे मे ज्ञान कराते रहते हैं।

यद्यपि साख नियन्त्रण के इस साधन का प्रयोग बहुत से देशो मे हुआ है परन्तु इसका सर्वाधिक प्रयोग अमेरिका मे हुआ है जहा प्रत्येक रिजर्व बैंक अपनी स्थिति के विवरण के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के सर्वेक्षण (Reviews) तथा प्रकाशन निकालता है। जर्मनी के रीश बैंक ने भी इस साधन का बडे पैमाने पर प्रयोग किया है तथा स्वीडन के रिक्स बैंक ने भी इस रीति को उपयोग मे लिया है। भारत मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया भी मासिक बुलेटिन के अतिरिक्त विभिन्न प्रकाशन निकालता है।

निष्कर्ष (Conclusion)

ऊपर हमने केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रयुक्त साख नियन्त्रण की विभिन्न रीतियो, उनकी सप्रभाविकता तथा उनकी परिसीमाओं का विस्तार से विवेचन किया है। यह कहना बडा कठिन है कि उनमे से कौन सी रीति अधिक उपयुक्त है। परिस्थितियो के अनुसार केन्द्रीय बैंक किसी एक या कई का साथ साथ प्रयोग करता है। यह सत्य है कि केन्द्रीय बैंक की सकुचन की तुलना मे स्फीति नियन्त्रित करने की शक्ति अधिक है और इन प्रवृत्तियो को उनकी प्रारम्भिक अवस्था मे ही नियन्त्रित किया जा सकता है। साख नियन्त्रण की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उनके पास पर्याप्त अधिकार हो और वे उनका उपयुक्त समय पर तीव्रता से प्रयोग करें।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) बैंक दर के महत्व की व्याख्या कीजिए। यह उत्पादन तथा मूल्यो के सामान्य स्तर को, व्यावसायिक क्रिया-कलाप और नियोजन को किस प्रकार प्रभावित करती है?

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1966)

[संकेत—प्रथम भाग मे साख-नियन्त्रण के साधन के रूप मे बैंक-दर नीति की परिभाषा बताते हुए उसके महत्व की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे बैंक दर परिवर्तन के प्रभावों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण कीजिए। सक्षेप मे हॉट्रे-कीन्स विवाद का भी उल्लेख कीजिए।]

(2) उन मुख्य उपायों का विवेचन कीजिए जिनके द्वारा आधुनिक केन्द्रीय बैंक किसी समाज मे साख के परिमाण को नियमित करता है।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1966)

अथवा

साख-नियन्त्रण के विभिन्न उपायों का सक्षिप्त वर्णन कीजिए।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1968)

अथवा

राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक किस प्रकार साख का नियन्त्रण करता है? साख नियन्त्रण की उसकी शक्ति की सीमायें बताइये।

(आगरा 1968)

[सकेत—केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रयुक्त साख नियन्त्रण की विभिन्न परिमाणात्मक तथा गुणात्मक विधियों का विस्तार पूर्वक विवेचन कीजिए। तृतीय प्रश्न के उत्तर मे साख-नियन्त्रण की विधियों के अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक की साख-नियन्त्रण की शक्ति की सीमायें भी बताइये।]

(3) केन्द्रीय बैंक के क्या कार्य हैं? केन्द्रीय बैंक दूसरे व्यापारिक बैंकों को फेल होने से किस प्रकार बचाता है?

(सागर बी० ए०, 1959)

[संकेत—प्रथम भाग मे केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों का (साख-नियन्त्रण तथा नियमन के सहित) वर्णन कीजिए। दूसरे भाग मे यह बतलाइये कि बैंक व्यवस्था का शीर्ष होने के नाते उसकी सुदृढता तथा विकास का उत्तरदायित्व केन्द्रीय बैंक पर रहता है अत. वह सकट काल के अतिम ऋणदाता का कार्य करता है जिससे बैंक फेल न हों।]

(4) केन्द्रीय बैंक के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए और बतलाइये कि यह साख का नियन्त्रण—(क) खुले बाजार की क्रियाओं तथा (ख) बैंक दर के द्वारा किस प्रकार करता है?

(आगरा बी० ए०, 1959)
(जबलपुर बी० ए० 1958)

[संकेत—प्रथम भाग मे साख-नियन्त्रण के कार्य सहित केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों का वर्णन कीजिए। द्वितीय भाग मे साख नियन्त्रण की दो परिमाणात्मक रीतियों-बैंक दर तथा खुले बाजार की क्रियाओं—की विस्तार से व्याख्या कीजिए। उत्तर का प्रथम भाग बहुत सक्षिप्त हो नही तो उत्तर बहुत लम्बा हो जायेगा।]

भाग ३

Part Three

"A doctor may be a better gardener whom he employs, but he may be a still better doctor and he would lose, if he did not restrict himself to the highest type of work which he could do. His advantage over the gardener is the greatest not when he is acting as a gardener, but when he exercises his function as a doctor. So a country may be able to produce every thing better than every other country, but it will pay it best to concentrate on those articles at which its comparative advantage is greatest whilst the inferior country must restrict itself to those products at which its comparative disadvantage is least."

Bastable

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विदेशी विनिमय

(International Trade and Foreign Exchange)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार
(International Trade)

"The benefit of international trade–a more efficient employment of the productive forces of the world"

J. S. Mill

विभिन्न देशों के बीच वस्तुओ और सेवाओ के क्रय-विक्रय को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सज्ञा दी जाती है। वास्तव मे राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे मौलिक रूप से कोई विशेष अन्तर नही है। ओहलिन के विचार इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की एक विशेष अवस्था है। (International trade is only a special case of inter regional trade between different parts of one country.) दोनो प्रकार के व्यापारो का आधार विनिमय द्वारा आवश्यक एक अतिरिक्त वस्तु के बदले आवश्यक एव अपेक्षाकृत दुर्लभ वस्तुए प्राप्त करना है जिससे अधिकतम सतुष्टि प्राप्त की जा सकें। जिस प्रकार विनिमय द्वारा दो व्यक्तियो को लाभ होता है वैसे ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा दो राष्ट्रो को लाभ होता है। परन्तु इन समानताओ के होते हुए भी आन्तरिक एव अतर्राष्ट्रीय व्यापार मे कुछ ऐसे अन्तर पाए जाते हैं जिनके कारण अर्थशास्त्रियो ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध म अलग सिद्धातो का प्रतिपादन किया है।

आतरिक एव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे अन्तर
(Difference between Internal and International Trade)

आतरिक एव अतर्राष्ट्रीय व्यापार में निम्नलिखित प्रमुख अतर हैं—

1. उत्पादन के साधनों की गतिशीलता (Factors mobility) उत्पादन के साधनो की गतिशीलता आन्तरिक क्षेत्र मे अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसके फलस्वरूप उत्पादन के साधनो के पारिश्रमिक मे एक देश मे सभी क्षेत्रो मे काफी हद तक समानता होती है। एक देश से पूँजी तथा श्रम का दूसरे देश मे जाना-आना कम होने के कई कारण हैं जो सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा भाषा सम्बन्धी कठिनाइयो से उत्पन्न होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गतिशीलता कम होने के कारण विभिन्न

देशों मे उत्पादन के साधनों के पारिश्रमिक मे बहुत अन्तर पाया जाता है। उत्पादन के विभिन्न साधनों मे भी श्रम सर्वाधिक गतिहीन है। एडमस्मिथ के शब्दों मे "Man is, of all forms of luggage, the most difficult to transport." इसलिए मजदूरी मे ब्याज-दर एव लगान की अपेक्षा अधिक अन्तर पाया जाता है।

2. सरकारी प्रतिबन्ध (Govt. Restrictions) : एक देश से दूसरे देश मे माल भेजने अथवा मगाने की प्रायः पूर्ण स्वतत्रता नहीं होती है। कभी-कभी तो सरकारें विदेशी आयात तथा निर्यात पूर्णरूप से बन्द कर देती हैं। प्रत्येक देश अपने आर्थिक हितो को ध्यान मे रखते हुए अपनी आर्थिक नीति निर्धारित करता है; इसलिए उनमे अन्तर पाया जाना स्वाभाविक है। परन्तु आतरिक क्षेत्र मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल भेजने व मगाने की प्रायः स्वतन्त्रता होती है। इस प्रकार आतरिक क्षेत्र मे वस्तुओ और सेवाओ के आदान-प्रदान मे स्वतन्त्रता रहती है; परन्तु लाइसेन्स, कोटा, टैरिफ आदि के कारण अन्तर्राष्ट्रीय लेन दन मे स्वतन्त्रता नही होती।

3. परिवहन की समस्या (Transportation Problem) : आतरिक व्यापार मे परिवहन की समस्या सरलता से हल हो जाती है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे परिवहन की समस्या शीघ्रता से हल नहीं हो पाती। उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करनी पडती है। इसके अतिरिक्त जोखिम भी अधिक होती है। कई देशों के बीच परिवहन के साधनो का समुचित विकास भी नही हुआ है। जहा विकास हुआ भी है वहा राजनैतिक तनाव की स्थिति मे मार्ग कभी-कभी अवरुद्ध हो जाते हैं। स्वेज नहर की बन्दी इसका ज्वलत प्रमाण है।

4. मौद्रिक भिन्नता (Monetary Differences) : आतरिक व्यापार मे क्रेता एव विक्रेता एक ही मुद्रा का भुगतान के माध्यम के रूप मे प्रयोग करते हैं इसलिए सौदों में कोई कठिनाई नही होती। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे दोनों देशों मे अलग-अलग प्रामाणिक मुद्राओ का प्रयोग होता है जिसके फलस्वरूप विनिमय-दर की समस्या पैदा होती है। यही नही, विभिन्न देशो की मौद्रिक सस्थाओ, बैंक व्यवस्था तथा मौद्रिक अधिकारियो एव उनके द्वारा प्रयुक्त साख, रोजगार एव कीमत सम्बन्धी नीतियों में भिन्नता पाई जाती है। मुद्राओ के नाम में समानता होने पर भी उसका अलग-अलग देश मे अलग-अलग मूल्य होता है। इस प्रकार विनिमय दर ज्ञात करने की कठिनाई एव विनिमय-नियन्त्रण की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक विशेष समस्या के रूप मे सामने आती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रयत्न भी इस समस्या को पूर्ण रूप से हल करने मे अभी तक असमर्थ रहे है।

5. अन्य भिन्नताए (Other Differences) : उपरोक्त भिन्नताओ के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आतरिक व्यापार से इसलिए भी भिन्न है क्योंकि

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अनेक भाषाओ, अनेक सरकारो तथा उनके नियमो एव कानूनो तथा विभिन्न व्यापारिक रीति रिवाजो तथा परम्पराओ का सामना करना पडता है। आतरिक व्यापार मे इस प्रकार की कोई समस्या नही होती।

ऊपर लिखे गए विवरण से यह स्पष्ट है कि उत्पादन के साधनो की गतिशीलता मे अन्तर होने के कारण किसी भी वस्तु विशेष की उत्पादन-लागत प्रत्येक देश मे समान नही होती है। प्रत्येक देश तुलनात्मक रूप से अन्य देशो की अपेक्षा कुछ वस्तुयें अपेक्षाकृत कम लागत मे उत्पन्न करता है और कुछ वस्तुयें अपेक्षाकृत अधिक लागत मे। इसलिए उत्पादन मे विशिष्ठीकरण प्रधान हो जाता है। दीर्घकाल मे उत्पादन-व्यय मे समानता की प्रवृत्ति होने के बावजूद भी कई वस्तुओ के मूल्यो मे अन्तर पाया जाता है। उत्पादन व्यय एव मूल्यो मे अन्तर बनाए रखन मे सरकारी नियमो, मुद्रा प्रणाली तथा भौगोलिक दशाओ मे विद्यमान अन्तर भी महत्वपूर्ण भाग लेते हैं। इसलिए अतर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याए आतरिक व्यापार की समस्याओ से पूर्णरूपेण भिन्न होती हैं जिनका विश्लेषण पृथक् सिद्धातो द्वारा ही सम्भव है। परन्तु इस विचारधारा से सभी आधुनिक अर्थशास्त्री सहमत नही हैं। अतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे प्रो ओहलिन का नाम सर्वविदित है और उनकी यह मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अपनी विशिष्ट समस्याओ के कारण 'पृथक अध्ययन' के द्वारा आसानी स स्पष्ट किया जा सकता है। एसा करना लाभप्रद एव सुविधाजनक है परन्तु इसके अध्ययन के लिए 'पृथक सिद्धान्त' की कोई आवश्यकता नही है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता
(*Need for International Trade*)

1 दोनो पक्षो को लाभ (Profitable to both the Parties) विभिन्न देशो की उत्पादन दशाओ (Conditions of Production) मे अन्तर (*Diversity*) होने के कारण एक वस्तु का उत्पादन-व्यय अथवा मूल्य विभिन्न देशो मे असमान होता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से दोनो देशो को लाभ होता है। प्रत्येक देश के प्रकृतिप्रदत्त प्रसाधन, मानवीय श्रम तथा तकनीकी ज्ञान अपनी अलग विशेषताए रखते हैं। इसलिए प्रत्येक देश की उत्पादन-सम्भावनायें (Production possibilities) भी भिन्न होती हैं। यदि कोई देश सभी वस्तुओ का उत्पादन करने का प्रयत्न भी कर तो उस या तो असफलता प्राप्त होगी या सफलता बडी महगी पडेगी। यदि दो देशो मे एकसी वस्तुए बनाना सम्भव भी हो तो भी उनके लिए किसी एक वस्तु या कुछ वस्तुओ मे विशिष्टीकरण करना तथा विनिमय द्वारा दूसरी वस्तुए प्राप्त करना अधिक लाभप्रद होता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विश्व मे विशिष्टीकरण एव व्यापार के आधार पर कुल उत्पादन मे वृद्धि करता है। उत्पादन मे वृद्धि होने से सभी देशो का उपभोग स्तर भी ऊचा उठता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस अवस्था मे भी दोनो पक्षो के लिए लाभदायक है जब एक देश प्राय सभी वस्तुयें दूसरे देश की अपेक्षा कम लागत पर उत्पादित करने की स्थिति मे होता है। जबतक दो देशो म विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन की तुलनात्मक क्षमता (Relative eff ciency of producing different goods) भिन्न होगी तब तक दोनो देशो को तुलनात्मक रूप से अधिक क्षमता वाले क्षेत्र म उत्पादन करना तुलनात्मक रूप से लाभप्रद होगा। इसलिए प्रत्येक देश तुलनात्मक रूप से अधिक लाभप्रद क्षेत्र मे उत्पादन करने मे विशिष्टीकरण करता है।

उपरोक्त विवरण इस बात को स्पष्ट करता है कि उत्पादन व्यय का अतर–चाहे वह निरपेक्ष अतर हो अथवा तुलनात्मक अतर हो, (Absolute Differences or Relative Differences) अतर्राष्ट्रीय व्यापार को आवश्यक बना देता है। इससे दोनो ही पक्ष लाभान्वित होते हैं।

2 अन्य कारण (Other Causes)

(i) लागत ह्रास (Decreasing Cost) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण विशिष्टीकरण अपनी चरम सीमा पर पहुच जाता है और बडे पैमाने पर उत्पादन होने के कारण पैमाने की मितव्ययिता (Economies of Scale प्राप्त होती हैं। इसलिए उत्पादन लागत कम हो जाती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता और अधिक बढ जाती है।

(ii) माग या पसदगी का अन्तर (Differences in Tastes or Demand) दो देशो मे उत्पादन लागत मे अतर न होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सम्भावना समाप्त नही होती क्योकि सम्बन्धित देशो की माग या पसदगी मे अतर होता है। जैसे यदि 'क' तथा 'ख' देशो म गेहूँ और चावल समान लागत और माग मे उत्पादित किए जाते हो परन्तु 'क' देश मे गेहू की अधिक माग हो और 'ख' देश मे चावल की अधिक मांग हो तो दोनो के बीच व्यापार करना लाभदायक होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धात
(Theories of International Trade)

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (Theory of Comparative Cost)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक लागत के सिद्धात की सम्यक व्याख्या मे **डेविड रिकार्डो** (David Ricardo) ने बडे ही सुदर ढग से यह स्पष्ट किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण (International Specialisation) किसी भी देश के लिए लाभप्रद होता है। बाद मे इस सिद्धांत की नवीन व्याख्या फ्रैंक डब्लू टाजिग (F W Taussig) द्वारा प्रस्तुत की गई है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई तुलनात्मक-लागत-सिद्धात की व्याख्या के अन्तर्गत निम्नलिखित दो प्रमुख प्रश्नो पर विचार किया गया है—

1. अतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्या कारण हैं ?
2. आयात-निर्यात की शर्तों (*Terms of trade*) को कौन-सी शक्तियां निर्धारित करती हैं ?

प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध मे इस सिद्धात की यह मान्यता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने का प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक देश उन वस्तुओ का उत्पादन करता है जिनका उत्पादन अन्य देश की तुलना मे अधिक सुविधाजनक है तथा जिनके लिए उसके पास प्रचुर मात्रा मे प्रसाधन और तकनीकी जानकारी उपलब्ध है, एव इन वस्तुओ का निर्यात करके उन वस्तुओ को प्राप्त करता है जिनके उत्पादन के लिए प्रसाधन अपेक्षाकृत कम मात्रा मे उपलब्ध है। इस प्रकार विशिष्टीकरण एव व्यापार का लाभ प्राप्त करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता पड़ती है ।

इस सिद्धात के अनुसार सभी देश यदि उस वस्तु का उत्पादन करें जिसके लिए वे सर्वथा उपयुक्त परिस्थिति मे हैं तो सभी व्यक्तिगत एव सामूहिक रूप से अपनी वास्तविक आय मे वृद्धि कर सकते है। वास्तव मे प्रत्येक देश क्या पैदा करेगा यह उस वस्तु की वास्तविक उत्पादन लागत पर निर्भर करता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लागतो मे निरपेक्ष अतर रहने पर तथा लागतो म सापेक्ष अन्तर रहने पर–दोनों ही दशाओ मे लाभप्रद है

1. लागत मे निरपेक्ष अन्तर (Absolute Differences in Costs) जब किसी देश की जलवायु एव प्रकृतिप्रदत्त साधन किसी वस्तु विशेष के उत्पादन के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं तो अन्य देशो की अपेक्षा उत्पादन-लागत कम होती है और वह इस निरपेक्ष अतर का लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से विशिष्टीकरण करता है एव अतर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा अन्य आवश्यक वस्तुए आयात करता है। निम्नलिखित उदाहरण द्वारा यह बात अधिक स्पष्ट होती है

उत्पादित वस्तुए		देश	श्रम की इकाई के रूप में लागत
चावल	कपडा		
2 इकाई	या 3 इकाई	भारत	श्रम की 1 इकाई
3 इकाई	या 2 इकाई	नेपाल	श्रम की 1 इकाई

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि भारत को कपडे के उत्पादन मे तथा नेपाल को चावल के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करने से लाभ होगा। यदि दोनों

वस्तुओं का उत्पादन करें तो दो इकाई श्रम लगाने से दोनो देशो का कुल उत्पादन इस प्रकार होगा :

भारत—2 इकाई चावल + 3 इकाई कपडा
नेपाल—3 इकाई चावल + 2 इकाई कपडा
योग 5 इकाई चावल + 5 इकाई कपडा

परन्तु यदि भारत कपडे के उत्पादन मे तथा नेपाल चावल के उत्पादन मे अपने श्रम की दोनो इकाइयो का प्रयोग करे तो स्थिति इस प्रकार होगी :

		सामूहिक उत्पादन
भारत—	6 इकाई कपडा	6 इकाई कपडा
नेपाल—	6 इकाई चावल	+ 6 इकाई चावल

अब यदि भारत तथा नेपाल अपने अतिरिक्त कपडे तथा चावल का विनिमय करें तो भारत 3 इकाई कपडे के बदले नेपाल से कम से कम 3 इकाई चावल प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार अतर्राष्ट्रीय व्यापार से वह 1 इकाई चावल का लाभ प्राप्त करेगा, क्योकि यदि स्वय पैदा करता तो उसे केवल 2 इकाई चावल प्राप्त होता। ठीक इसी प्रकार नेपाल को अपनी 3 इकाई चावल के बदले कम से कम 3 इकाई कपडा प्राप्त हो सकता है और उसे 1 इकाई कपडे का लाभ होगा। दोनो देशो को सामूहिक रूप से देखा जाय तो कुल उत्पादन मे भी वृद्धि हो रही है। इस प्रकार लागतो मे निरपेक्ष अतर होने पर अतर्राष्ट्रीय व्यापार आवश्यक हो जाता है और यही सबके लिए श्रेयस्कर है।

2 लागत मे सापेक्ष अतर (Comparative Differences in Costs) अतर्राष्ट्रीय व्यापार केवल लागतो मे निरपेक्ष अतर होने की स्थिति मे ही नही होता बल्कि उस समय भी होता है जब लागतो मे सापेक्ष अतर होता है। उदाहरणार्थ यदि अमेरिका भारत की तुलना मे 'क' तथा 'ख' दोनो ही वस्तुए सस्ती पैदा करता हो परन्तु 'क' के उत्पादन मे अमेरिका की दक्षता भारत से केवल 20% अधिक हो तथा 'ख' के उत्पादन मे अमेरिका की दक्षता भारत से 30% अधिक हो तो ऐसी स्थिति मे अमेरिका 'ख' के उत्पादन म विशिष्टीकरण करके लाभ प्राप्त कर सकता है और भारत 'क' के उत्पादन मे विशिष्टीकरण करके अपनी हानि (Disadvantage) को कम कर सकता है। इस प्रकार तुलनात्मक लाभ (Comparative Advantage) दो देशो के उत्पादकता-अनुपात (Productivity Ratio) पर निर्भर करता है। निम्नलिखित उदाहरण द्वारा यह बात और स्पष्ट हो जाती है

उत्पादित वस्तु	अमेरिका	ब्रिटेन
1 इकाई खाद्य पदार्थ	1 इकाई श्रम	3 इकाई श्रम
1 इकाई कपडा	2 इकाई श्रम	4 इकाई श्रम

उपरोक्त उदाहरण के अनुसार अमेरिका खाद्य पदार्थ तथा कपडा दोनो ही ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक दक्षता से उत्पादित करता है, परन्तु अमेरिका को खाद्य पदार्थ के उत्पादन से तुलनात्मक लाभ अधिक है तथा ब्रिटेन को कपडे के उत्पादन मे तुलनात्मक हानि कम है, क्योंकि अमेरिका मे खाद्य पदार्थ तथा कपडे का लागत अनुपात 1 : 2 (कपडे की एक इकाई की लागत बराबर है खाद्य पदार्थ की 2 इकाई की लागत के) तथा ब्रिटेन मे खाद्य पदार्थ तथा कपडे का लागत अनुपात 3 : 4 है। अमेरिका दोनो वस्तुओ के उत्पादन मे अधिक दक्षता रखता है परन्तु उसकी दक्षता खाद्य पदार्थों के उत्पादन मे अपेक्षाकृत अधिक है इसलिए वह खाद्य पदार्थो मे विशिष्टीकरण करके लाभान्वित होगा। दूसरी तरफ ब्रिटेन दोनो मे कम दक्ष है परन्तु दक्षता की कमी कपडा के उत्पादन मे अपेक्षाकृत कम है और खाद्य पदार्थों के उत्पादन म दक्षता की कमी अपेक्षाकृत अधिक है। इसलिए इसे कपडो का उत्पादन करना लाभप्रद है। यद्यपि यह कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है कि एक देश जिस वस्तु को दूसरे की अपेक्षा सस्ता बना सकता है उसे भी वह दूसरे देश से मगाता है, परन्तु यह इसलिए सम्भव होता है क्योकि उसे ऐसा करने मे तुलनात्मक लाभ अधिक है। एक लेक्चरर अपने नौकर की अपेक्षा शीघ्रता से एव अच्छी पालिश कर सकता है और भाषण तो अच्छा देगा ही फिर भी वह नौकर से पालिश करा कर तुलनात्मक लाभ अधिक प्राप्त कर सकता है, क्योकि जितनी देर वह पालिश करने म लगाएगा उतना ही समय भाषण मे लगाकर अपेक्षाकृत अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है। क्योकि नौकर उससे दोनो मे कम कुशल है पर वह पालिश करने मे कम कमकुशल (Less lesseffıcient) है। केयरनेस के शब्दो मे 'The difference ın the comparative cost of producıng the commodıties exchanged ıs essent'al to, and suffıcient for, the existence of ınternatıonal trade"

3. लागत मे समान अन्तर (Equal Dıfferences ın Costs) .

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त यह स्पष्ट कर देता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तभी सम्भव होता है जब लागतो मे निरपेक्ष या सापेक्ष अन्तर पाया जाता है। यदि लागतो में समान अन्तर हो तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से किसी भी पक्ष को लाभ नही होता है। इसलिए समान अन्तर होने की दशा म या तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रारम्भ ही नही होता या प्रारम्भ होकर शीघ्र समाप्त हो जाता है। निम्नलिखित उदाहरण द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है।

	चावल		कपडा	श्रम की इकाइया (लागत)
भारत	4 इकाई	या	2 इकाई	1 इकाई
नेपाल	2 इकाई	या	1 इकाई	1 इकाई

इस उदाहरण के अनुसार भारत म 1 इकाई कपडा = 2 इकाई चावल है तथा नेपाल म भी लागत अनुपात वही है। 1 इकाई कपडा = 2 इकाई चावल

ऐसी परिस्थिति मे यदि भारत चावल के उत्पादन मे ही अपने श्रम की दोनों इकाइयां लगा दे तो 8 इकाई चावल पैदा करेगा परन्तु नेपाल से 2 इकाई कपडा प्राप्त करने के लिए उसे अपनी 4 इकाई चावल का निर्यात करना पडेगा और वस्तु स्थिति मे कोई परिवर्तन नहीं होगा। इसलिए दोनो मे व्यापार का प्रश्न नहीं पैदा होता है।

आयात-निर्यात शर्तों का निर्धारण (Determination of Terms of Trede):

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तुलनात्मक लागत सिद्धात इस बात की भी व्याख्या करता है कि निरपेक्ष या सापेक्ष लागत-अन्तर होने पर दो देशो के बीच व्यापार की शर्तें किस प्रकार निर्धारित होती हैं। इस प्रश्न पर विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जिन वस्तुओ को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से कोई देश प्राप्त करता है वह उन्हे स्वयं भी पैदा कर सकता है, इसलिए उन वस्तुओ का आतरिक विनिमय अनुपात विद्यमान होता है। इन आतरिक विनिमय अनुपातो के अनुसार ही अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय अनुपात की अधिकतम तथा न्यूनतम दरें निर्धारित होती हैं तथा वास्तविक विनिमय अनुपात सम्वन्धित देशो की एक दूसरे देश की वस्तु की माग की तीव्रता एव मूल्य सापेक्षता द्वारा निधारित होता है। निम्नलिखित उदाहरणो द्वारा इसे आसानी से समझा जा सकता है।

निरपेक्ष अन्तर होने पर (Absolute Differences) : यदि भारत मे 2 इकाई चावल का मूल्य 3 इकाई कपडा के बराबर हो तथा नेपाल में 2 इकाई चावल का मूल्य 1 33 इकाई कपडा के बराबर हो तो भारत और नेपाल मे आतरिक विनिमय अनुपात क्रमशः 1 इकाई चावल=1 5 इकाई कपडा तथा 1 इकाई चावल= ·67 इकाई कपडा होगा। भारत एक इकाई चावल प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक 1·5 इकाई कपडा नेपाल को दे सकता है और नेपाल 1 इकाई चावल के बदले कम से कम ·67 इकाई कपडा लेना चाहेगा। वास्तविक विनिमय अनुपात 67 और 1·5 इकाई कपडा के बीच निर्धारित होगी। यदि 1 इकाई चावल के बदले 1·5 के निकट किसी मात्रा मे कपडा मिलता है तो नेपाल को अधिक लाभ होगा और यदि 67 के निकट किसी मात्रा मे मिलता है तो भारत को अधिक फायदा होगा। यदि भारत की चावल की माग की तीव्रता नेपाल की कपडे की माग की तीव्रता से अधिक है तो भारत 1 इकाई के बदले अधिक कपडा देने को तैयार हो जायेगा और विनिमय दर 1 5 इकाई कपडा के निकट होगी। इसके विपरीत यदि नेपाल की कपडे की माग भारत की चावल की माग से अधिक तीव्र है तो विनिमय दर ·67 इकाई कपडे के निकट होगी।

सापेक्ष अन्तर होने पर (Comparative Differences) : ऊपर सापेक्ष

लागत अन्तर के सम्बन्ध मे दिये गये उदाहरण के अनुसार अमेरिका 1 इकाई खाद्य पदार्थ के बदले कम से कम 5 इकाई कपडा चाहेगा क्यो उसका स्वय का उत्पादकता अनुपात (Productivity Ratio) खाद्य और कपडे के बीच 2 1 है। इसी प्रकार ब्रिटेन 1 इकाई खाद्य क बदले अधिक से अधिक 75 कपडा दे सकता है क्योकि ब्रिटेन का दोनो वस्तुओ का उत्पादकता अनुपात 4 3 है। इसलिए वास्तविक विनिमय दर जिस पर दोनो देश खाद्य एव कपडे का लेन देन करेंगे वह 1 इकाई खाद्य= 5 से 75 इकाई कपडे के बीच उनकी मागो की पारस्परिक तीव्रता के अनुसार निश्चित होगी। यदि अमेरिका की कपडे की माग ब्रिटेन की खाद्य की माग से अधिक तव्र है तो विनिमय दर 5 के निकट होगी और इसके विपरीत यदि ब्रिटेन की माग अधिक तीव्र है तो विनिमय दर 75 के निकट होगी।

तुलनात्मक लागत सिद्धात की मान्यताए (Assumptions of Theory of Comparative Cost)

1 यह सिद्धान्त श्रम लागत मूल्य सिद्धात (Labour cost of value) पर आधारित है। प्रत्येक वस्तु की उत्पादन लागत श्रम की इकाइयो द्वारा व्यक्त की जाती है तथा श्रम की इकाइयो को समान समझा जाता है।

2 इस सिद्धात की दूसरी मान्यता यह है कि एक देश के अन्दर उत्पादन के साधन पूरा गतिशील होते हैं परन्तु दो देशो के बीच पूरा गतिहीन होते हैं।

3 यह सिद्धात उत्पादन के क्षेत्र मे समान लागत सिद्धात (*law of constant costs*) के लागू होने की मान्यता पर आधारित है।

4 इस सिद्धात की व्याख्या म परिवहन व्यय को ध्यान मे नही रखा गया है।

5 यह सिद्धात पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर निर्भर है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कोई प्रतिबन्ध नही है।

6 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार म शामिल वस्तुए समान आर्थिक महत्व रखती हैं।

7 अन्तर्राष्ट्राय व्यापार करने वाले देश स्थायी सतुलन के लिए प्रयत्नशील रहते हैं तथा साम्यावस्था मे होते हैं।

तुलनात्मक लागत सिद्धात की आलोचना (Criticism of the theory of comparative cost

1 प्राय तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की यह आलोचना की जाती है कि दो से अधिक वस्तुओ अथवा दो से अधिक देशो के बीच *आयात निर्यात* की व्याख्या इस सिद्धांत के आधार पर सरलता से नही की जा सकती। साथ ही यह भी आरोप लगाया जाता है कि श्रम मूल्य का सिद्धात कई कारणो से आर्थिक विश्लेषणो के लिए अनुपयुक्त है एव उत्पादन म समान लागत सिद्धात नही बल्कि वृद्धिमान लागत

नियम लागू होता है। परन्तु जिन अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धांत की गहन व्याख्या की है उनका मत है कि यह सिद्धांत मौलिक रूप से सभी परिस्थितियों मे लागू होता है। हा, यह अवश्य है कि तुलना करने के लिए द्रव्य लागत को आधार मानना अधिक उपयुक्त है। इसी प्रकार व्यवहार मे वृद्धिमान लागत नियम एव ह्रासमान लागत नियम अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण को सीमित करने की प्रवृत्ति रखते हैं।

2 तुलनात्मक लागत सिद्धात का दूसरा दोष इसकी इस मान्यता मे निहित है कि उत्पादन के साधन आतरिक दृष्टि से पूर्ण गतिशील एव अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से पूर्ण गतिहीन है। वास्तव मे स्थिति यह है कि उत्पादन साधन आतरिक दृष्टि से न तो पूर्ण गतिशील है, न तो अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से पूर्ण गतिहीन। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि साधनों की गतिशीलता आतरिक क्षेत्र मे अपेक्षाकृत अधिक है।

3 इस सिद्धात का सबसे गम्भीर दोष यह है कि इसमे आर्थिक सतुलन एव साम्यावस्था को स्थिर (Static) माना गया है। कीमत एव मजदूरी, मुद्रा प्रसार एव भुगतान सतुलन की समस्याओं को इसमे ध्यान मे नही रखा गया है। इस सिद्धांत की यह मान्यता है कि जब श्रमिक एक उद्योग को छोड़ता है तो वह दूसरे अधिक दक्ष (Efficient) उद्योग मे काम करता है। उसे कभी बेकारी का सामना नही करना पडता है। परन्तु व्यवहार मे यह सभी बातें खरी नही उतरती। वास्तव मे यह सिद्धात परिस्थितियों को बहुत ही आसान मानकर चलता है परन्तु व्यवहार मे परिस्थितिया बहुत जटिल होती है, फिर भी प्रो० सैमुएलसन के शब्दो म :

"Yet, for all its over simplification, the theory of comparative advantage provides a most important glimpse of truth."

4 अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तुलनात्मक सिद्धात मे परिवहन व्यय पर ध्यान न देना भी इसका दोष कहा जाता है क्योंकि कभी-कभी परिवहन व्यय उत्पादन लागत से भी अधिक होता है जिसके कारण उसकी स्थानापन्न वस्तु का प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु यदि परिवहन व्यय को लागत का एक अग मान लिया जाय तो यह कठिनाई दूर हो सकती है। परिवहन व्यय का महत्व इस बात से भी स्पष्ट होता है कि एक ही देश मे एक भाग मे एक वस्तु उत्पादित करके निर्यात की जाती है और दूसरे भाग मे उसी वस्तु का विदेश से आयात किया जाता है।

5 प्रो० ओहलिन ने इस सिद्धान्त को अनावश्यक एव जटिल कह कर आलोचना की हैं। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मौलिक रूप से आतरिक व्यापार से भिन्न नही है, इसलिए इसकी व्याख्या भी मूल्य के सामान्य सिद्धात के आधार पर सरलता से की जा सकती है। इसके लिए पृथक सिद्धात की कोई आवश्यकता नही है।

तुलनात्मक लागत सिद्धांत का वर्तमान रूप
(Theory of Comparative Costs-Modern View)

आधुनिक अर्थशास्त्री भी इस सिद्धांत को कुछ सुधारों के साथ स्वीकार करते हैं। प्रथम सुझाव यह रखा गया है कि लागत में केवल श्रम को ही नहीं अपितु पूँजी आदि को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए एवं लागत को श्रम के द्वारा नहीं वरन् मुद्रा द्वारा व्यक्त किया जाना चाहिए। दूसरा सुधार इस सम्बन्ध में यह सुझाया गया है कि तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को समान लागत नियम पर आधारित करना अव्यावहारिक है क्योंकि व्यवहार में वृद्धिमान लागत नियम एवं ह्रासमान नियम लागू होते हैं। वास्तव में यह सिद्धांत सभी परिस्थितियों में सत्य है। तीसरा सुधार यह प्रस्तुत किया गया है कि विनिमय दर निर्धारण में वस्तुओं की माग की लोच को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

इस प्रकार तुलनात्मक लागत सिद्धांत आधुनिक युग में अधिक व्यापक हो गया है परन्तु इस सिद्धांत की आधारभूत मान्यता—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लागतों में अन्तर पाये जाने की स्थिति में ही लागू होता है, आज भी पूर्ण रूप से सत्य मानी जाती है। *लागतों का अन्तर श्रम के माध्यम से व्यक्त किया जाय अथवा मुद्रा के माध्यम से वस्तु स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता। निम्नलिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है :*

लागतों में निरपेक्ष अन्तर (Absolute Differences in Costs) :

लागतों का अन्तर मुद्रा के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

	प्रति इकाई लागत (सीमांत)	
	चावल	गेहू
भारत	50 रु०	30 रु०
नेपाल	30 रु०	50 रु०

लागत के दृष्टिकोण से भारत गेहू में तथा नेपाल चावल में विशिष्टीकरण कर सकते हैं तथा बदले में चावल तथा गेहू एक दूसरे से प्राप्त कर लाभ उठा सकते हैं। भारत गेहू भेजकर नेपाल से 30 रु० से 50 रु० प्रति इकाई के बीच अपनी माग के लोच के अनुसार किसी भी दर पर चावल प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार नेपाल गेहू प्राप्त कर सकता है। लाभ किसे अधिक होगा यह उनकी माग की तीव्रता एवं लोच पर निर्भर करेगा।

सापेक्ष अंतर (Comparative Differences in Costs) :

सापेक्ष अंतर मुद्रा के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

	प्रति इकाई लागत (सीमात)	
	जूट	कपास
भारत	30 रु०	30 रु०
पाकिस्तान	20 रु०	25 रु०

यहा भारत जूट तथा कपास दोनों का उत्पादन पाकिस्तान की अपेक्षा अधिक लागत पर करता है परन्तु पाकिस्तान को जूट के उत्पादन मे अधिक तुलनात्मक लाभ है क्योंकि इसमे उसकी तुलनात्मक दक्षता (relative efficiency) अधिक है। इसी प्रकार भारत कपास का उत्पादन करके अपनी सापेक्ष हानि (Comparative disadvantage) को कम कर सकता है। भारत मे जूट और कपास का विनिमय अनुपात 1 · 1 है तथा पाकिस्तान मे जूट और कपास का विनिमय अनुपात 1 1 25 (अर्थात् 1 25 इकाई जूट=1 इकाई कपास) *अब भारत यदि कपास के बदले पाकिस्तान से* जूट प्राप्त करे तो उसे 1 से 1.25 इकाई तक जूट प्राप्त होगी जिससे उसे लाभ होगा। दूसरी ओर पाकिस्तान जूट पैदा करके भारत से 20/25 अर्थात् 4/5 इकाई से 1 इकाई तक कपास प्राप्त कर सकता है और उस लाभ हो सकता है।

ओहलिन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धात
(Ohlin's Theory of International Trade)

बरटिल ओहलिन ने अपनी पुस्तक 'Interregional and International Trade' मे सामान्य सतुलन सिद्धात (General Equilibrium Theory) को अतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे लागू किया है, क्योकि वे अतर्राष्ट्रीय एव आतरिक या अतर्क्षेत्रीय व्यापार में कोई मौलिक अन्तर नही मानते। ओहलिन ने इस बात की ओर सकेत किया है कि केवल अतर्राष्ट्रीय व्यापार ही सापेक्ष लाभ (Comparative advantage) पर आधारित नहीं है बल्कि यह (सापेक्ष लाभ) सभी प्रकार के व्यापार अथवा विनिमय का आधार है चाहे वह आंतरिक हो, अतर्क्षेत्रीय हो या अतर्राष्ट्रीय हो। ओहलिन के विचारानुसार विभिन्न क्षेत्र अथवा देश उन्ही कारणो से विशिष्टीकरण एव विनिमय तथा व्यापार करते है जिन कारणो से व्यक्ति करते हैं। इसलिए अतर्राष्ट्रीय व्यापार अतर्क्षेत्रीय व्यापार की एक विशिष्ट अवस्था है तथा इसके अध्ययन के लिए पृथक सिद्धात की आवश्यकता नही है। इसी प्रकार ओहलिन अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे साधनो की गतिहीनता को भी महत्व नही देते क्योकि साधनो की गतिहीनता एक ही देश के दो क्षेत्रो मे पाई जा सकती है। दो देशो मे दो भिन्न मुद्राओ का चलन भी पृथक सिद्धात के लिए पर्याप्त कारण नही है, क्योकि विनिमय दर मुद्रा की बाह्य क्रयशक्ति को व्यक्त करता है तथा बाह्य क्रय शक्ति एव आतरिक क्रय शक्ति का घनिष्ट सम्बन्ध होता है।

ओहलिन के अनुसार विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रो मे प्रकृति ने अलग-अलग प्रकार से उत्पादन के साधन उपलब्ध किए हैं। यदि प्रत्यक क्षेत्र (उसी देश मे या अलग-अलग देशो मे) अपने यहा अधिकमात्रा मे उपलब्ध साधनो का प्रयाग करने वाली वस्तुओ के उत्पादन मे अपनी शक्ति केन्द्रित करें तो व्यापार के द्वारा सभी क्षेत्रो को पारस्परिक लाभ प्राप्त हो सकता है। ऐसा करने से प्रति इकाई उत्पादन लागत न्यूनतम रखा जा सकता है तथा कीमत अतर (Price Differences) के आधार पर अतर्राष्ट्रीय व्यापार किया जा सकता है। इस प्रकार विशिष्टीकरण तथा विनिमय द्वारा विश्व के उत्पादन साधनो का उपयुक्त एव मितव्ययितापूर्ण (economical) प्रयोग किया जा सकता है तथा विश्व की वास्तविक आय मे वृद्धि की जा सकती है।

ओहलिन की व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि अतर्राष्ट्रीय व्यापार सापेक्ष कीमतो (comparative costs) के अन्तर पर आश्रित है तथा सापेक्ष कीमतों मे अन्तर इसलिए होता है क्योंकि उत्पादन के साधनो की पूर्ति सभी देशो मे समान नही होती। सामान्यतया किसी भी क्षेत्र मे अधिक मात्रा मे पाए जाने वाले साधन सस्ते, और कम मात्रा मे पाए जाने वाले साधन महगे होते हैं। जिस वस्तु के उत्पादन मे अधिक सस्ते साधनो का प्रयोग करने की आवश्यकता होती है उसी मे विशिष्टीकरण किया जाता है तथा उसका निर्यात किया जाता है। दूसरे शब्दो मे सस्ते साधनो का निर्यात एव महगे साधनो का आयात किया जाता है। विनिमय दर का निर्धारण तथा अतर्राष्ट्रीय व्यापार का आकार सम्बन्धित देशो की पारस्परिक मागो द्वारा निर्धारित होता है।

ओहलिन के सिद्धात की अन्य विशेषता यह है कि उनके अनुसार उत्पादन साधनो की दृष्टि से समान देशो के लिए भी व्यापार लाभदायक हो सकता है क्योकि इससे बडे पैमाने के लाभ प्राप्त हो सकते हैं। समान तुलनात्मक लागत वाले क्षेत्र जिन वस्तुओ की घरेलू माँग कम है उनके उत्पादन मे विशिष्टीकरण करके दूसरे देश से विनिमय कर सकते हैं।

अधिकाश अर्थशास्त्री ओहलिन के विचारो की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं परन्तु हैबरलर जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्री यह विचार व्यक्त करते हैं कि ओहलिन का सिद्धात तुलनात्मक लागत के सिद्धात के साथ रखा जा सकता है यदि उसे हैबरलर द्वारा पुनर्कथित रूप मे देखा जाय। इस बारे मे **प्रो० सैमुएलसन** का निम्न उद्धरण बडा सुन्दर प्रतीत होता है :

"With proper public policies, modern nations can achieve a neoclassical synthesis which need not sacrifice the great benefits from trade, but rather can recreate the environment in which the principle of comparative advantage will apply".

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ
(Advantages of International Trade)

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों का आधार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण है, जिसके फलस्वरूप विश्व के कुल उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होती है और सभी देशों को व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से अनेक लाभ होते हैं :

1. विश्व मे उपलब्ध साधनो का सर्वोत्तम प्रयोग (Utilisation of the productive resources of the world to the best advantage) प्रत्येक देश उसी वस्तु के उत्पादन म विशिष्टीकरण कर लता है जिसक लिए वह सर्वाधिक उपयुक्त है। इसके परिणाम स्वरूप प्रत्येक देश कम से कम लागत से अधिक स अधिक एव अच्छी वस्तुओं का उत्पादन करन मे समर्थ हाता है और अपने साधनो से अधिकतम लाभ प्राप्त करता है।

2 दुर्लभ वस्तुओ का उपभोग सम्भव (Consumption of goods which cannot be produced at home, becomes possible) : जिन वस्तुओं का उत्पादन देश मे सम्भव नही है उन्हे विदेशो से प्राप्त किया जा सकता है तथा उपभोक्ता विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उपभोग कर सकता है। इससे आर्थिक कल्याण की अभिवृद्धि होती हैं एव रहन सहन का स्तर ऊंचा उठता है।

3. कीमतों मे अधिक उतार-चढ़ाव पर प्रतिबन्ध (Violent fluctuations in prices are restricted) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण वस्तुओं का बाजार बहुत विस्तृत हो जाता है इसलिए कीमत म उतार-चढाव लाने वाले कारणों का विकेन्द्रित प्रभाव पडता है। यदि किसी स्थान पर किसी चीज की कीमत असामान्य रूप से बढ जाती है तो दूसरे देशों से उस वस्तु का आयात करके उसकी पूर्ति बढा दी जाती है और कीमत को कम कर दिया जाता है। इस प्रकार कीमतो म अपेक्षाकृत स्थायित्व रखा जा सकता है।

4 सकटकाल मे सहायक (Helpful in difficult periods) : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप आवश्यकता के समय कोई भी देश दूसरे देशों से सहायता प्राप्त कर सकता है। धनी देश निर्धन देशो की आर्थिक सकट की स्थिति मे सहायता करते हैं और विश्व एक आर्थिक इकाई के रूप मे सगठित होने की दिशा मे बढने लगता है।

5 उत्पादन विधि मे सुधार (Improvement in production techniques) विशिष्टीकरण होने के कारण प्रत्येक देश नये तरीको का आविष्कार करना चाहता है जिससे वह वस्तुओं को और अच्छा एव सस्ता बना सके तथा तुलनात्मक

लाभ की मात्रा को बढ़ा सके। इस होड मे विज्ञान एवं तकनीक का विकास होता रहता है।

6. वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यो मे कमी *तथा समानता की प्रवृत्ति* (*Tendency of prices to be less and equal*) : विशिष्टीकरण के कारण वस्तुए सस्ती बनाने का प्रयत्न किया जाता है और बाजार विस्तृत करने के लिए कीमतो को कम रखने की प्रवृत्ति होती है। देशो मे पारस्परिक स्पर्द्धा होने के कारण सभी स्थानो पर कीमतो म समानता होने को भी प्रवृत्ति रहती है।

7 सास्कृतिक सम्बन्ध तथा अतर्राष्ट्रीय सहयोग (Cultural gains and international co operation) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से एक देश की सस्कृति दूसरे देश क सम्पर्क मे आती है और विकसित होती है। इससे विश्व शाति एव सहयोग की भावना म वृद्धि होती है। युद्ध से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भग होने का डर रहता है इसलिए सभी युद्ध से बचना चाहते हैं। कोई भी देश पूर्णरूप से आत्म निर्भर नही हो *सकता इसलिए अतर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा वे आपसी सहयोग बढाकर अपना आर्थिक एव सामाजिक कल्याण अधिकतम करने की दिशा मे प्रयत्नशील रहते हैं।*

8 उत्पादन के साधनो की कीमतो मे समानता की प्रवृत्ति (*The prices of factors of production tend to be equal*) *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण* अपेक्षाकृत महगी वस्तुए जब आयात की जाने लगती हैं तो उनसे सम्बन्धित उत्पादन के साधनो की माग कम होने लगती है और निर्यातक देश मे अधिक उत्पादन के लिए उनकी माग बढती है इसलिए कीमत बढने लगती है। इस प्रक्रिया के कारण उनकी कीमतो मे समानता होने की प्रवृत्ति रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हानिया
(Disadvantages of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क लाभ मुक्त व्यापार की नीति एव सद्भावना के वातावरण म ही प्राप्त हो सकते हैं। व्यवहार मे मुक्त व्यापार की नीति पर कायम रहना एव सद्भावना का वातावरण बनाए रखना प्राय कठिन होता है जिसके कारण *अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे कुछ हानियो का जन्म होता है।* प्रमुख हानिया निम्न-लिखित है

1 पिछड़े देशो मे हस्तकला एव कुटीर उद्योगों का विघटन (Destruction of handicrafts and cottage industries in backward countries) : औद्योगिक विकास मे पिछड़े हुए देश कुटीर उद्योगो से उत्पादन करते हैं। हाथ से बने एव छोटे पैमाने पर उत्पादित पदार्थ विशिष्टीकरण करने वाले देशो द्वारा उत्पादित माल से प्रतियोगिता नही कर पाते और धीरे-धीरे व समाप्त हो जाते हैं। भारत इस बात का प्रमाण है।

2 अन्तराष्ट्रीय व्यापार एक देश को दूसरे देश की राजनीति मे हस्तक्षेप का अवसर देता है (International Trade provides opportunity for political interference) : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण कभी-कभी किसी देश का आयात इतना बढ जाता है कि निर्यातक आयातक के देश की राजनीति मे हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर देता है और यह स्थिति आयातक देश को निर्यातक देश के बिलकुल आधीन बना सकती है। कहा जाता है कि साम्राज्यवादी, व्यापारी का अनुगमन करता है (The empire-builder follows the trader)। भारत मे ब्रिटिश लोग व्यापार करने आए थे परन्तु बाद मे शासक बन बैठे।

3. विदेशो पर निर्भरता (Dependence on foreign nations) : विदेशी व्यापार के कारण एक देश दूसरे देश पर निर्भर रहने लगता है। इसका परिणाम यह होता है कि राजनैतिक तनाव की स्थिति मे व्यापार स्थगित हो जाता है और सम्बन्धित देशो को कठिनाई का सामना करना पडता है। एक देश की दूसरे देश पर निर्भरता के कारण एक देश मे आर्थिक सकट आने पर उसका प्रभाव दूसरे देशो पर भी पडता है।

4 कृषिप्रधान देशो को हानि (Disadvantage to agricultural countries) : कृषि प्रधान देशो को इसलिए हानि उठानी पडती है क्योंकि कृषि उत्पादन मे वृद्धिमान लागत नियम शीघ्र लागू हो जाता है तथा औद्योगिक क्षेत्रो मे प्रायः ह्रासमान लागत नियम लागू होता है। इसके अतिरिक्त कृषि उत्पाद अधिक टिकाऊ न होने के कारण कृषि प्रधान देशो की मोल-भाव करने की शक्ति को सीमित कर देते है। इसके विपरीत निर्मित माल अधिक टिकाऊ होता है इसलिए औद्योगिक देशो की मोल-भाव शक्ति अधिक होती है।

5. देश का एकाकी विकास (Imbalanced development) : अतर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण प्रत्येक देश केवल कुछ चुने हुए क्षेत्रो का विकास करने लगता है और उसी मे विशिष्टीकरण करके लाभ प्राप्त करता है। इसलिए अन्य क्षेत्रो मे विकास नही हो पाता। सकटकालीन परिस्थिति मे इस प्रकार के विकास का परिणाम अत्यन्त कष्ट प्रद होता है। दो महायुद्धो का अनुभव इस बात की पुष्टि करता है। इसीलिए प्रायः प्रत्येक देश आत्म निर्भर होने की दिशा मे प्रयत्नशील है। एकागी विकास के कारण कई साधनो का पूर्ण उपयोग भी नही हो पाता और कई बार देश मे कई क्षेत्रो मे अनुसधान तथा आविष्कार को भी प्रोत्साहन मिलना बन्द हो जाता है, जो उचित नही है।

6. राशिपातन का भय (Dumping) : कभी-कभी विदेशी व्यापार पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के प्रलोभन मे कई देश दूसरे देशो मे बहुत सस्ते मूल्य पर

वस्तुये बेचना प्रारम्भ कर देते हैं। जिससे देशी व्यापार उनकी प्रतियोगिता मे नही टिक पाता और प्रायः बन्द सा हो जाता है। बाद मे विदेशी व्यापारी मनमाना मूल्य बढा कर इस स्थिति का फायदा उठाते हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार शोषण का साधन बन जाता है।

7. कच्चे माल की समाप्ति (Country's natural resources are exhausted) : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप कई देशो के ऐसे प्राकृतिक साधन, जिनका प्रतिस्थापन असम्भव होता है, समाप्त हो जाते हैं—जैसे कोयला तेल और अन्य खनिज पदार्थ। इन वस्तुओ का लाभ प्राप्त करने के दृष्टिकोण से निर्यात कर दिया जाता है परन्तु वास्तव मे यह लाभ अल्पकालिक होता है। दीर्घकालीन दृष्टिकोण से उनका स्वय प्रयोग करना और औद्योगिक विकास करना अधिक लाभप्रद है।

8. *व्यापारिक द्वेष युद्ध तथा तनाव पैदा करता है* (Trade rivalry leads to war and friction) : व्यापारिक प्रतियोगिता अक्सर आपसी सम्बन्धो मे तनाव पैदा कर देती है। दो महायुद्धो के कारणो मे जर्मनी की अपनी वस्तुओ के लिए विस्तृत बाजार स्थापित करने की भावना भी उल्लेखनीय है।

9. *हानिकारक एव विलासिता की वस्तुओ का प्रयोग* (Use of harmful goods and Luxuries) : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण उपभोक्ताओ की आदतो मे कभी-कभी हानिकारक परिवर्तन हो जाता है जिसके कारण वे विलासिता के आदी हो जाते हैं और उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती है।

10. उपभोग मे कमी (Less Consumption) : निर्यात के लोभ मे आकर कई देश उन वस्तुओ का भी निर्यात करने लगते हैं जो आवश्यकता से अधिक उत्पादित नही होती हैं। इसलिए उस देश के उपभोक्ता चाहते हुए भी उनके उपभोग से वचित रह जाते हैं। चीनी की कमी होने पर भी उसका निर्यात करने से भारतवासी इसके उपभोग से वचित रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे रुकावटें
(Obstructions in the way of International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अनेक लाभो के बावजूद, इसकी हानियो को ध्यान मे रखकर, *अनेक राष्ट्रो ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अकुश लगाने की नीति समय-समय पर अपनाई है।* सदियो से पिछडे हुए देशो मे राजनैतिक जागृति के साथ आर्थिक विकास की भावना ने भी वहा की जनता एव नेताओ को व्याकुल कर दिया है और वे अपने प्राकृतिक साधनो का निर्यात बन्द कर स्वय उनका प्रयोग करने लगे हैं। सभी देशो ने युद्धकालीन अनुभव के आधार पर आत्मनिर्भरता का लक्ष्य स्वीकार कर लिया है। इन कारणो से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे निम्नलिखित रुकावटें आती हैं—

1 भुगतान समझौते (Clearing Agreements)—दो देश वस्तु विनिमय कर लिया करते हैं और किसी प्रकार का मौद्रिक लेनदेन नहीं होता।

2 आयात कोटा (Import Quotas)—कोई वस्तु कितनी मात्रा मे विदेशो से मगाई जा सकती है इसका कोटा निर्धारित कर दिया जाता है।

3 आयात निर्यात कर (Import Export duties)—इन उपायो द्वारा भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मुक्त प्रवाह को रोका जाता है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्या आधार हैं? विवचन कीजिए। विदेशी व्यापार के लाभो का सक्षिप्त वर्णन कीजिए।

(राजस्थान टी०डी०सी० फाइनल, 1965, 1966)

[सकेत—प्रथम भाग मे बताइये कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तभी होता है जब दो देशो की उत्पादन लागतो मे निरपेक्ष तथा सापेक्ष अन्तर होता है। दूसरे भाग मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभो का वर्णन कीजिए।]

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे तुलनात्मक लागत सिद्धान्त कैसे लागू होता है? इसकी स्पष्ट व्याख्या इस सिद्धान्त के आधुनिक रूप मे करिए।

(राजस्थान बी० ए०, 1964)

अथवा

तुलनात्मक परिव्यय के सिद्धान्त की तर्कपूर्ण व्याख्या कीजिए और इस सिद्धान्त के अपवादो का वर्णन कीजिए।

अथवा

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की व्याख्या के रूप मे परीक्षा कीजिए।

(आगरा, 1967)

[सकेत—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की दो देशों के उदाहरण लेकर विस्तृत व्याख्या कीजिए। रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित प्रतिष्ठित दृष्टिकोण से लेकर सिद्धान्त के आधुनिक रूप तक की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। केवल दूसरे प्रश्न में सिद्धान्त के अपवादो का भी वर्णन कीजिए।]

(3) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आन्तरिक व्यापार से किस प्रकार भिन्न होता है? इसके विशेष लक्षण कौन से हैं?

(नागपुर बी० काम, 1961)

[संकेत—प्रथम भाग मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा आन्तरिक के अन्तर की मुख्य बातो की व्याख्या कीजिए और बताइये कि उनमे कोई आधारभूत अन्तर नही है। जो अन्तर है वह केवल सीमा (Degree) मात्र का है। द्वितीय भाग मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मुख्य लक्षणो की व्याख्या कीजिए।]

(4) 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक प्रकार का वस्तु–विनिमय ही है।' व्याख्या करें।

(राजस्थान टी०डी०सी० फाइनल, 1967)

[सकेत—जिस प्रकार वस्तु–विनिमय ऐसे दो पक्षो के बीच होता है जिनको एक दूसरे की वस्तुओ को आवश्यकता होती है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ऐसे दो देशो के बीच होता है जिनको एक दूसरे की वस्तुओ की आवश्यकता है। इसी को समझाते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विभिन्न आधारो तथा उसके महत्व की चर्चा कीजिए।]

21

विदेशी विनिमय
(Foreign Exchange)

"...exchange rate policy is only one aspect of the much broader problem of equilibrating balances of payments, of determining the response of a nation's economy to developments in the rest of the world, and of making international adjustments to developments within the country itself."

Lester V. Chandler

विदेशी विनिमय का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो से है। प्रत्येक देश की अपनी प्रामाणिक मुद्रा होती है एव आतरिक भुगतानो के लिए स्वतन्त्रता पूर्वक स्वीकार की जाती है; परन्तु कोई भी राष्ट्रीय सीमा के बाहर स्वतन्त्रता पूर्वक स्वीकार नही की जाती। हम सब यह जानते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र का अन्य राष्ट्रो से व्यापारिक सम्बन्ध होता है। एक देश के नागरिको द्वारा दूसरे देश के नागरिको को भुगतान किया जाता है तथा सरकारो को पारस्परिक भुगतान की आवश्यकता पडती रहती है। इस प्रकार के भुगतानो मे एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा मे बदलने की प्रक्रिया निहित है, क्योकि सभी देशो द्वारा मान्य कोई मौद्रिक इकाई चलन मे नही होती है। यदि भारत के किसी व्यापारी को अमेरिका मे भुगतान करना है तो या तो भारतीय व्यापारी को रुपए के बदले डालर प्राप्त करके उसे अमेरिकन व्यापारी के पास भेजना होगा या अमेरिकन व्यापारी को प्राप्त रुपए के बदले डालर प्राप्त करना होगा क्योकि डालर ही उसके काम आ सकता है। दोनो ही परिस्थितियो मे दो मुद्राओ मे विनिमय होता है। यहा यह स्मरण रखना आवश्यक है कि प्रत्येक विनिमय (मुद्राओ का) मे दो पक्ष होना आवश्यक है अर्थात् रुपया डालर मे तब तक नही बदला जा सकता जब तक उसी समय डालर को रुपए मे न बदला जाय। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक देश द्वारा अन्य देशो को किया जाने वाला भुगतान ठीक उस भुगतान के बराबर होना चाहिए जो उस देश

को अन्य देशो से प्राप्त होना है। इस आधारभूत सिद्धान्त को क्राउथर ने विदेशी विनिमय का सुनहरा सिद्धान्त कहा है।[1]

एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा मे बदलने का कार्य विशेष प्रकार के बैंको या व्यापारिक बैंको के विशेष विभागो, केन्द्रीय बैंको एव सरकारो द्वारा किया जाता है। इस प्रकार विदेशी भुगतान से सम्बन्ध सौदो को करने वाली सस्थायें तथा व्यक्ति विदेशी विनिमय बाजार के नाम से सबोधित किए जाते हैं। विदेशी विनिमय का कार्य करने वाली सस्थाओ की कार्यप्रणाली तथा विनिमय दर सम्बन्धी समस्याओ का सम्यक अध्ययन ही विदेशी विनिमय के अध्ययन की विषय सामग्री है। इस प्रकार विदेशी विनिमय एक प्रणाली है, एक व्यवस्था है जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणो का भुगतान किया जाता है। हार्टले विदर्स के अनुसार विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक विनिमय की कला एव विज्ञान है—(Foreign *exchange is the art and science of international money changing*)

'विदेशी विनिमय' शब्द का प्रयोग विदेशी मुद्रा के अर्थ मे भी किया जाता है। *यहा इसका तात्पर्य एक देश द्वारा दूसरे देशो की मुद्रा की प्राप्ति या विदेशो मे* जमा रकम (Balance held abroad) से होता है। परन्तु यह विदेशी विनिमय का सकुचित अर्थ ही कहा जा सकता है।

विनिमय दर
(The Rate of Exchange)

अभी हमने देखा कि अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन मे विभिन्न प्रकार की मुद्राओ को चलन मे रखने वाले देश एक दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं और प्रत्येक देश अपनी मुद्रा मे भुगतान प्राप्त करना चाहता है। इसके लिए एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा मे बदलना आवश्यक होता है। जिस दर पर एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा से परिवर्तित की जाती है उसे ही विनिमय दर कहा जाता है। स्पष्ट है कि एक देश की मुद्रा की विनिमय दर अलग-अलग मुद्राओ के सदर्भ म भिन्न-भिन्न होगी। *इस प्रकार विनिमय दर एक मुद्रा की दूसरी मुद्रा मे व्यक्त की गई कीमत है* (The rate of exchange is the price of one currency in terms of another)

[1] "It necessarily follows that every flow of payments from one country to the rest of the world must be exactly balanced by an equal flow of payments into that country from the rest of the world, for every pound given in exchange by one set of persons is also a pound taken in exchange by another set of persons. This is the first and virtually the only, Golden Rule of the foreign exchange" —Crowther : *An Outline of Morey* p 207

विनिमय दर उद्धृत करने के तरीके (Methods of quoting the rate of exchange) : जिस प्रकार कीमत उद्धृत करने के दो तरीके होते हैं वैसे ही विनिमय दर भी दो प्रकार से उद्धृत की जा सकती है—(1) एक इकाई विदेशी मुद्रा की कीमत स्वदेशी मुद्रा की इकाइयो मे, तथा (2) एक इकाई स्वदेशी मुद्रा की कीमत विदेशी मुद्रा की इकाइयो मे। प्रथम प्रकार से उद्धृत विनिमय दर प्रत्यक्ष विनिमय या निश्चित विनिमय (Fixed or direct exchange) कहा जाता है तथा दूसरे प्रकार से उद्धृत विनिमय दर को अप्रत्यक्ष विनिमय (indirect exchange) कहा जाता है।

विनिमय दर उद्धृत करने के तरीकों को ध्यान मे रखना आवश्यक है, क्योकि विनिमय दर के बढने या घटने का अर्थ दोनो ही तरीको मे समान नही है। यदि विनिमय दर प्रत्यक्ष तरीके से उद्धृत की गई है तो विनिमय दर बढने का तात्पर्य है एक इकाई विदेशी मुद्रा की कीमत पूर्वापेक्षा स्वदेशी मुद्रा की अधिक इकाइया। इसके विपरीत यदि विनिमय दर अप्रत्यक्ष ढग से व्यक्त की गई है तो विनिमय दर बढने का अर्थ है एक इकाई स्वदेशी मुद्रा की कीमत पूर्वापेक्षा विदेशी मुद्रा की अधिक इकाइया। दूसरे शब्दो मे प्रत्यक्ष ढग से विनिमय दर उद्धृत करने पर विनिमय दर का बढना स्वदेश के लिए महगा एव हानिप्रद और विदेश के लिए सस्ता एव लाभप्रद होता है तथा अप्रत्यक्ष ढग से विनिमय दर उद्धृत करने पर विनिमय दर का बढना स्वदेश के लिए सस्ता एवं लाभप्रद एव विदेश के लिए महगा एव हानिप्रद होता है। दोनो ही तरीको मे प्रत्यक्ष ढग से विनिमय दर उद्धृत करना अधिक वैज्ञानिक है क्योकि इसमे यह ज्ञात हो जाता है कि एक इकाई विदेशी मुद्रा के लिए अपनी मुद्रा मे कितनी कीमत देना है।

विनिमय दर का निर्धारण
(Determination of the Rate of Exchange)

माग पूर्ति का सिद्धांत (Demand and Supply Theory) :

ऊपर लिखा जा चुका है कि विदेशी विनिमय दर एक प्रकार की कीमत है और विदेशी विनिमय बाजार इस कीमत निर्धारण का स्थान है। इस बाजार की अपनी निजी विशेषता यह है कि इसमे मुद्रा बेची जाती है, इसलिए मुद्रा ही माग और पूर्ति दोनो पक्षो मे विद्यमान है। विनिमय दर एक कीमत होने के कारण कीमत निर्धारण के सामान्य नियम द्वारा निर्धारित होती है। जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु की माग और पूर्ति के सतुलन बिन्दु पर निर्धारित होता है वैसे ही किसी भी निश्चित समय पर विनिमय दर वह होगी जिस दर पर सम्बन्धित देश की विदेशी मुद्रा की माग तथा पूर्ति बराबर हो।

विदेशी विनिमय (विदेशी मुद्रा) को विदेशी बाजार मे प्रवेश पाने का टिकट कहा जाता है। सामान्य परिस्थितियो मे विदेशी मुद्रा की स्वदेशी मुद्रा के सदर्भ मे कीमत कम होने पर विदेशी मुद्रा की अधिक माग की जाती है। विदेशी मुद्रा की कीमत मे कमी होने का अर्थ विदेशी वस्तुओ का सस्ता होना है जिसके फलस्वरूप आयातो को प्रोत्साहन मिलता है। आयातो के बढने से उनके भुगतान के निमित्त अधिक विदेशी विनिमय की आवश्यकता पडती है और उनकी माग बढ जाती है। उसी प्रकार विदेशी मुद्रा की कीमत बढ जाने पर विदेशी वस्तुयें महगी पडने लगती हैं और आयात कम हो जाता है। कम आयातो के भुगतान के लिए कम विदेशी विनिमय की माग की जाती है। सक्षेप मे विदेशी विनियम का मागवक्र भी ऊपर से नीचे दाहिनी ओर को झुकता है। यहा पर विनिमय दर के अतिरिक्त विदेशी विनियम के माग को प्रभावित करने वाले प्रभावको (Determinants) को स्थिर मान लिया गया है, क्योंकि उनमे परिवर्तन होने पर माग वक्र भी परिवर्तित हो सकता है।

विदशी विनिमय का पूर्तिवक्र नीचे से ऊपर दाहिनी ओर को उठता है, क्योंकि विनिमय दर कम होने पर विदेशो द्वारा किया जाने वाला आयात (अपना निर्यात) कम होगा और विनिमय दर अधिक होने पर विदेशो द्वारा किया जाने वाला आयात अधिक होगा। इस प्रकार विनिमय दर कम होने पर विदेशी विनिमय की पूर्ति कम और अधिक होने पर पूर्ति अधिक होती है। पूर्ति के सम्बन्ध मे भी विनिमय दर के अतिरिक्त अन्य प्रभावको को स्थिर मान लिया जाता है।

विनिमय दर साम्यावस्था मे उस समय होगा जब विदेशी विनिमय की माग ठीक विदशी विनिमय की पूर्ति के बराबर होगी। विनिमय दर साम्यदर से अधिक होने पर विदेशी विनियम की पूर्ति विदशी विनिमय की माग से अधिक होगी तथा विनिमय दर साम्य दर से कम होने पर विदेशी विनिमय की माग विदेशी विनिमय की पूर्ति से अधिक होगी। दोनों ही अवस्थाओ मे माग और पूर्ति की शक्तिया इस प्रकार से कार्य करती है कि विनिमय दर साम्यदर पर पहुचने की प्रवृत्ति रखती है। इस प्रकार बाजार विनिमय दर साम्यदर से भिन्न हो सकती है परन्तु उसकी प्रवृत्ति साम्यदर की ओर आने की होती है। साम्यदर उस समय तक स्थायी रहती है जब तक विदेशी विनिमय की माग एव पूर्ति के प्रभावको मे स्थिरता रहती है। इन प्रभावको मे परिवर्तन होने पर विनिमय की साम्यदर भी परिवर्तित हो जाती है। अगले पृष्ठ पर दिए चित्र द्वारा मुक्त विनिमय बाजार मे विनिमय दर के निर्धारण की विधि को समझाने का प्रयत्न किया गया है :

विदेशी मुद्रा की माग तथा पूर्ति
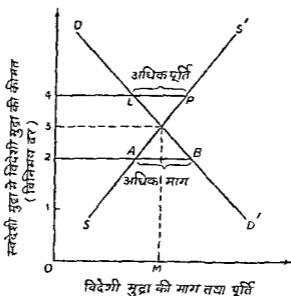
उपरोक्त चित्र से यह स्पष्ट है कि जब विदेशी मुद्रा की माग एवं पूर्ति दोनों OM के बराबर है तो विदेशी मुद्रा की एक इकाई की कीमत 3 इकाई स्वदेशी मुद्रा है। यही विनिमय की साम्यदर है। यदि विनिमय दर कम होकर 2 इकाई स्वदेशी मुद्रा के बराबर हो जाय तो विदेशी विनिमय की पूर्ति की अपेक्षा माग AB मात्रा से अधिक होगी, फलस्वरूप विनिमय दर के बढने की प्रवृत्ति होगी। इसके विपरीत यदि विनिमय दर बढकर 4 इकाई स्वदेशी मुद्रा के बराबर हो जाय तो विदेशी विनिमय की पूर्ति माग की अपेक्षा LP मात्रा से अधिक होगी और विनिमय दर कम होने की प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार बाजार विनिमय दर साम्यदर के इर्द गिर्द घूमती रहेगी। यदि अन्य प्रभावको (विनिमय दर के अतिरिक्त) के कारण माग-वक्र या कीमत वक्र मे परिवर्तन हो जाय तो साम्यदर भी परिवर्तित हो जायेगी।

वास्तव मे विनिमय दर का माग और पूर्ति सिद्धान्त विनिमय दर के भुगतान सतुलन सिद्धान्त का ही सुधरा हुआ रूप है। इस सुधरे हुए रूप मे यह भुगतान सतुलन सिद्धान्त से श्रेष्ठ है। भुगतान सतुलन सिद्धान्त का वर्णन आगे किया जायेगा।

यद्यपि विनिमय दर निर्धारित करने का माँग पूर्ति का सिद्धात सभी प्रकार के मौद्रिक मानो म लागू होता है, फिर भी यह ध्यान देना आवश्यक है कि विदेशी विनिमय की माग एव पूर्ति को निर्धारित करने वाले तत्व मौद्रिक व्यवस्था के अनुसार बदलते रहते हैं। इसलिए विभिन्न मौद्रिक व्यवस्थाओ और विनिमय प्रणालियो मे विनिमय दर की कुछ अपनी अलग विशेषताए होती हैं। अत विभिन्न मौद्रिक व्यवस्थाओ मे विनिमय-दर के निर्धारण की समस्या पर विचार करना आवश्यक है।

स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर
(Exchange Rate under Gold Standard)

स्वर्णमान व्यवस्था के अन्तर्गत चलन मे स्वर्ण मुद्राए होती हैं अथवा मुद्रा स्वर्ण मे निश्चित दर पर परिवर्तनीय होती है। जिस दर पर देश की प्रामाणिक मुद्रा स्वर्ण मे परिवर्तनीय होती है उसे स्वर्ण का टकसाल मूल्य (Mint Price of Gold) कहा जाता है। स्वर्णमान व्यवस्था की दो प्रमुख आवश्यकताए (requirements) हैं—(1) चलन मुद्रा और स्वर्ण की पारस्परिक परिवर्तनशीलता (Inter convertibility between domestic currency and gold) तथा (2) स्वर्ण का स्वतत्र आयात एव निर्यात (Free export and import of gold)। इन दोनो आवश्यकताओ मे किसी भी एक की पूर्ति न होने पर विश्व बाजार (World Market) मे निश्चित मात्रा-स्वर्ण एव मुद्रा विशेष (स्वर्णमान व्यवस्था मे) के बीच की समानता (parity) निश्चित नही रह सकती है।

टकसाली विनिमय दर
(Mint Par of Exchange)

स्वर्णमान पर आधारित देशो के बीच विनिमय दर सामान्यतया उनके टकसाली स्वर्ण मूल्य पर निर्भर करती है। यदि स्वर्णमान पर आधारित एक देश की एक इकाई मुद्रा स्वर्ण की 'क' मात्रा के बराबर है दूसरे देश मे वही स्वर्ण-मात्रा 'क' वहा की चार इकाई मुद्रा के बराबर है तो इस देश की 4 इकाई मुद्रा के बदले पहले देश की 1 इकाई मुद्रा प्राप्त की जा सकती है। इस विनिमय दर को टकसाली विनिमय दर (Mint Par of Exchange) कहा जाता है क्योकि यह दर स्वर्ण के टकसाल मूल्य के आधार पर निकाली जाती है।

स्वर्ण बिन्दु (Specie Points)

टकसाली विनिमय दर ही स्वर्णमान व्यवस्था के अन्तर्गत आधारभूत विनिमय दर होती है। परन्तु व्यवहार मे वास्तविक विनिमय दर, भुगतान सतुलन की स्थिति के अनुसार, आधारभूत विनियम दर से कम या अधिक हो सकती है। वास्तविक विनिमय दर आधारभूत विनिमय दर से कितनी अधिक या कम हो सकती है इसका निश्चय एक देश से दूसरे देश मे सोना भेजने के खर्चों के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार सोना भेजन का खर्च वास्तविक विनिमय दर की उतार-चढाव की सीमा निर्धारित करता है। इन सीमाओ का 'स्वर्ण बिन्दु' (Specie Points or Gold Points) कहा जाता है। इन बिन्दुओ को प्राप्त करने के लिए टकसाली विनिमय दर मे से एक देश से दूसरे देश मे सोना भेजने का खच जाडा या घटाया जाता है। यदि विनिमय दर को प्रत्यक्ष ढग से व्यक्त किया जाय तो टकसाली विनिमय दर

मे स्वर्ण निर्यात व्यय जोडने से स्वर्ण निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) ज्ञात होता है और घटाने से स्वर्ण आयात बिन्दु (Gold Import Point) ज्ञात होता है। वास्तविक विनिमय दर स्वर्ण आयात एव निर्यात बिन्दुओ के बीच सम्बन्धित देशो की माग एव पूर्ति के सन्तुलन बिन्दु पर निर्धारित होती है । स्वर्णमान मे विनिमय दर की विशेषता यह है, कि उसमे इन स्वर्ण बिन्दुओ की सीमाओ के अन्दर ही परिवर्तन होता है । इनके परे परिवर्तन की कोई सम्भावना नही होती क्योकि स्वर्ण बिन्दुओ पर विदेशी विनिमय की माग एव पूर्ति की लोच पूर्ण लोचदार होती है । दूसरे शब्दो मे इससे अधिक परिवर्तन होने पर विदेशो मे भुगतान करने के लिए स्वर्ण धातु का प्रयोग होने लगता है विदेशी विनिमय की आवश्यकता समाप्त हो जाती है । निम्नलिखित उदाहरण से स्वर्ण बिन्दुओ को अच्छी तरह समझा जा सकता है :

मान लीजिए अमेरिका और ब्रिटेन स्वर्ण मान पर आधारित हैं। यह भी मान लीजिए कि ब्रिटेन की 1 इकाई मुद्रा (पौण्ड) टकसाल मे 20 ग्रेन सोने के बराबर है और अमेरिका की 1 इकाई मुद्रा (डालर) टकसाल मे 5 ग्रेन सोने के बराबर है । इसलिए टकसाली विनिमय दर 1 पौण्ड=4 डालर होगा।

मान लीजिए कि किसी दिए हुए समय मे अमेरिका के निर्यात आयात की अपेक्षा कम है । आयात के इस आधिक्य का भुगतान करने के लिए अमेरिका के व्यापारियो के सामने दो विकल्प होगे (1) पौण्ड खरीदकर भुगतान करने का विकल्प तथा (2) स्वर्ण भेजकर भुगतान करने का विकल्प । अमेरिका मे पौण्ड की पूर्ति पौण्ड की माग से कम है (क्योकि आयात अधिक एव निर्यात कम है) इसलिए विनिमय दर अधिक होगी अर्थात 1 पौण्ड के लिए 4 डालर से अधिक देना होगा (पौण्ड के खरीददारो के बीच प्रतियोगिता के कारण) । यदि व्यापारी सोना भेजना चाहे तो उसे ब्रिटेन भेजने मे भाडा, बीमा आदि के रूप मे कुछ खर्च भी उठाना पडेगा । मान लीजिए 1 पौण्ड के मूल्य का सोना भेजने मे उसे 1 डालर का खर्च उठाना पडता है। इसलिए अमेरिकी व्यापारी को ब्रिटेन मे एक पौण्ड का भुगतान करने मे 4 डालर (1 पौण्ड के बराबर 20 ग्रेन सोना खरीदने मे)+1 डालर (भेजने का खर्च) अर्थात् 5 डालर लगाना पडता है। यदि अमरिकी व्यापारी को बाजार मे 5 डालर से कम मे 1 पौण्ड मिल जाता है तो वह पौण्ड खरीदकर भुगतान करना चाहेगा क्योकि इसमें उसे सोना भेजकर भुगतान करने की अपेक्षा लाभ है । यदि बाजार मे 5 डालर मे भी 1 पौण्ड नही प्राप्त हो रहा है अर्थात् 1 पौण्ड का 5 डालर से अधिक मूल्य हो जाता है तो व्यापारी सोना भेजकर भुगतान करेगा और पौण्ड की माग बिलकुल समाप्त हो जायेगी । इसलिए अमेरिका मे 1 पौण्ड की कीमत कभी भी 5 डालर से अधिक नही हो सकती। विनिमय दर 4=1 तथा 5=1

के बीच कही भी हो सकती है। 5=1 स्वर्ण निर्यात बिन्दु है। यदि परिस्थिति इसके विपरीत हो और अमेरिका का निर्यात अधिक हो तथा आयात कम तो ब्रिटिश व्यापारी को अमरिका म 4 डालर क बराबर भुगतान करने के लिए 1 डालर का खच भी उठाना पडेगा। अर्थात् 1 पौण्ड खर्च करके वह केवल 4−1 = 3 डालर का भुगतान कर सकता है। विनिमय दर 4=1 से कम होकर 3=1 होने की प्रवृत्ति दिखाएगी परन्तु विनिमय दर इससे नीचे नही जा सकती क्योंकि उस परिस्थिति मे सोना भेजकर ही भुगतान होने लगेगा। अर्थात् विनिमय दर 3=1 होते ही अमेरिका मे स्वर्ण आयात प्रारम्भ हो जायगा। इसलिए यह स्वर्ण आयात बिन्दु कहा जाता है। अमेरिका का स्वर्ण निर्यात बिन्दु ब्रिटेन का स्वर्ण आयात बिन्दु होगा तथा अमेरिका का स्वर्ण आयात बिन्दु ब्रिटेन का निर्यात बिन्दु होगा।

इस प्रकार उपरोक्त उदाहरण म अमेरिका और ब्रिटेन मे उनकी मुद्राओं का टकसाली मूल्य अनुपात (4 1) ही उनक बीच की टकसाली विनिमय दर होगी। यदि अमेरिका का भुगतान सतुलन उसक विपक्ष मे है तो विनिमय दर बढकर (5 1) होने की प्रवृत्ति रहेगी। जब विनियम दर अधिकतम 5 1 हो जायेगी तो अमेरिका से सोना बाहर भेजा जाने लगेगा। यदि अमेरिका का भुगतान सतुलन पक्ष मे है तो विनिमय दर घटकर 3 1 होने की प्रवृत्ति रखगी। जब विनिमय दर न्यूनतम बिन्दु 3 : 1 हो जायगी तो ब्रिटेन से सोना आने लगगा। इस प्रकार विनिमय दर स्वर्ण निर्यात एव स्वर्ण आयात बिन्दुओ क बीच ही परिवर्तित हो सकती है, इससे अधिक नही। वास्तविक विनिमय दर दोनो देशो की मुद्राओं की पारस्परिक माग और पूर्ति की दशाओ द्वारा निर्धारित होगी। वास्तविक विनिमयद र माग और पूर्ति क सतुलन बिन्दु द्वारा ही निर्धारित होगी। यहा यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि स्वय स्वर्ण आयात एव निर्यात बिन्दु भी परिवर्तित हो सकत हैं, क्योंकि एक देश से दूसर देश मे सोना भेजने का खर्च कई कारणो से परिवर्तित हो सकता है।

पत्र मान के अन्तर्गत विनिमय दर
(Rate of Exchange under Paper Standard)

पत्र मान व्यवस्था के अन्तर्गत मुद्रा स्वर्ण मे परिवर्तनीय नही होती इसलिए किसी टकसाली विनिमय दर का प्रश्न नही उठता। यदि विदेशी विनिमय बाजार पर कोई नियन्त्रण न हो तो विनिमय दर मे असीमित परिवर्तन होता है। नियन्त्रण रहित विनिमय बाजार से एव अपरिवर्तनशील मुद्रा व्यवस्था मे दो सिद्धान्तो का उल्लेख किया जाता है—(1) क्रय शक्ति समता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) तथा (2) भुगतान सन्तुलन सिद्धान्त (The Balance of Payments Theory)

क्रय शक्ति समता सिद्धान्त
(The Purchasing Power Parity Theory)

इस सिद्धान्त का प्रमुख आधार यह है कि मुद्रा की बाह्य क्रय शक्ति या बाह्य मूल्य उसकी आन्तरिक क्रय शक्ति पर निर्भर करता है। अत जब दो देश अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा पर आधारित होते हैं तो उनके बीच विनिमय दर उनकी मुद्राओं की क्रय शक्ति द्वारा निर्धारित होती है। गुस्टव कैसेल (Gustav Cassel) इस सिद्धान्त के प्रणेता माने जाते हैं। इनके अनुसार एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा से उनकी आन्तरिक क्रयशक्ति के अनुपात मे बदली जायेगी। दूसरे शब्दों मे विनिमय दर आवश्यक रूप से उनकी आन्तरिक क्रय शक्तियो के अनुपात को प्रकट करती है। (The rate of exchange between two currencies "must stand essentially as the quotient of the internal purchasing powers of these currencies" —Gustav Cassel) क्रय शक्ति समता सिद्धान्त को 'बाजार समता विनिमय दर' (Market par of exchange) भी कहा जाता है।

यदि रुपए की 1 इकाई भारत मे दी हुई किस्म और गुण की वस्तुओं की 'क' मात्रा खरीद सकती है और वही मात्रा यदि अमरिका मे (गुण और किस्म के समान रहने पर) $\frac{1}{7}$ डालर से खरीदी जा सकती है तो 1 रुपया $\frac{1}{7}$ डालर के बराबर या 7 रुपया=1 डालर होगा। यही भारत और अमेरिका के बीच विनिमय दर होगी। यदि किसी समय अमेरिका मे डालर की क्रय शक्ति बढ जाय और रुपये की क्रय शक्ति भारत मे पूर्ववत् रहे तो विनिमय दर उसी अनुपात म बढ जायेगी जिस अनुपात म डालर की क्रय शक्ति बढी है। यदि मुद्राओ की क्रय शक्ति म परिवर्तन न हो तो विनिमय दर भी अपरिवर्तित रहेगी। यदि किसी कारणवश विनिमय दर बढ जाय अर्थात् 1 डालर का मूल्य 7 रुपए से अधिक हो जाय तो विनिमय बाजार मे रुपए की कीमत कम हो जाने के फलस्वरूप भारत का निर्यात बढगा और आयात कम होगा। अमेरिका मे भुगतान अधिक प्राप्त होगा और दूसरी तरफ भारत को कम भुगतान करना होगा। विनिमय बाजार मे भारत की मुद्रा (रुपया) की माग बढेगी और डालर की माग कम होगी तथा रुपए की पूर्ति कम होगी एव डालर की पूर्ति बढेगी। परिणाम स्वरूप रुपये का मूल्य मुद्रा बाजार मे पुन बढने लगेगा और विनिमय दर पुन 7 रुपया=1 डालर होने की प्रवृत्ति दिखाएगी। यदि रुपये का मूल्य विनिमय बाजार मे किसी कारणवश बढ जाय तो विनिमय बाजार मे माग और पूर्ति मे इस प्रकार परिवर्तन होगे कि विनिमय दर पुन. क्रय शक्ति समता बिन्दु पर पहुच जायेगी।

इस सिद्धान्त से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि यदि परिवहन व्यय तथा अन्य रुकावटो पर ध्यान न दिया जाय तो किसी भी वस्तु की कीमत, क्रय शक्ति समता प्रकट करने वाली दर पर, सम्बन्धित देशो मे समान होगी। परन्तु यह कथन

केवल उन्ही वस्तुओ के सदर्भ मे सत्य प्रतीत होता है जिनकी अन्तर्राष्ट्रीय माग और पूर्ति है। ऐसी वस्तुएं जिनकी माग और पूर्ति देश की सीमा तक ही सीमित होती उनकी कीमतो मे विभिन्न देशो म पर्याप्त अन्तर होता है। परन्तु मुद्रा की क्रय शक्ति की माप सभी वस्तुओ के आधार पर की जानी चाहिए। मुद्रा की सामान्य क्रय शक्ति निर्देशाको के सहारे जानने की विधि अपनाई जाती है, परन्तु निर्देशाक केवल क्रय शक्ति के परिवर्तनो को ही प्रकट कर पाते हैं। मुद्रा की निरपेक्ष क्रय शक्ति जानने मे निर्देशाक असफल होत है। गुस्टव कंसेल ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया और क्रय शक्ति क परिवर्तनो के आधार पर किसी निश्चित समय पर दो देशो की आधार भूत विनिमय दर ज्ञात किए जाने का सुझाव रखा। इसके लिए सामान्य आधार वर्ष मे दोनो देशो के बीच प्रचलित विनिमय दर को उस समय की आधार भूत विनिमय दर मान लिया जाता है। फिर जिस वर्ष की आधार भूत विनिमय दर को ज्ञात करना होता है उस समय के दोनो देशो के निर्देशाक निकाल लिए जाते हैं। जिस अनुपात मे निर्देशाको मे परिवर्तन हुआ होता है उसी अनुपात मे आधार वर्ष की आधार भूत विनिमय दर मे परिवर्तन करके वर्तमान आधार भूत विनिमय दर ज्ञात कर ली जाती है।

उदाहरण के लिए मान लीजिए कि 1952 आधार वर्ष म भारत और अमेरिका के निर्देशाक 100 थे और उस समय दोनो देशा के बीच विनिमय दर 5 रुपये=1 डालर थी। यदि हमे 1961 मे विनिमय दर ज्ञात करना हो तो 1961 के निर्देशाक ज्ञात करने होगे। मान लीजिए कि 1961 मे भारत का निर्देशाक 400 तथा अमेरिका का 200 है तो 1961 की आधार भूत विनिमय दर इस प्रकार ज्ञात की जायेगी

आधार वर्ष की विनिमय दर 5=1
परिवर्तित वर्तमान क्रय शक्ति 400 तथा 200
भारत मे 400×5 रु० की जा क्रय शक्ति होगी अमेरिका मे
वह 1×200 डालर की क्रय शक्ति होगी। इसलिए 2000 रु०
200 डालर के बराबर होगा और विनिमय दर 10 रु० = 1 डालर होगी।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि किसी साम्य विनिमय दर के ज्ञात होने पर ही मौद्रिक इकाइयो की परिवर्तित क्रय शक्ति के आधार पर नई साम्य विनिमय दर ज्ञात हो सकती है। स्वय श्री कैसेल के शब्दो मे:

"It is only when we know the exchange rate which represents a certain *equilibrium* that we can calculate the rate which represents the same equilibrium at an altered value of the monetary units of the two countries"[1]

---

[1]. "Money and Foreign Exchange after 1914", p. 142

प्रो० हैबरलर ने भी इस पर अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि क्रय शक्ति समता सिद्धान्त निरपेक्ष कीमत स्तरों पर (Absolute Levels of Prices) नहीं लागू किया जा सकता, केवल कीमत स्तर के परिवर्तनों पर लागू किया जा सकता है। हैबरलर के अनुसार "Cannot...be applied to absolute levels of prices but only to changes in the price levels"[1]

क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचनायें
(Criticism of the Purchasing Power Parity Theory)

1 कौनसा कीमत स्तर (What price levels) : किसी देश की सामान्य कीमत स्तर सभी प्रकार की वस्तुओं की कीमतों के आधार पर ज्ञात किया जाता है परन्तु विदेशी मुद्रा की आवश्यकता केवल उन्हीं वस्तुओं के लेन देन के लिए होती है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में शामिल होती हैं। इसलिए विनिमय दर केवल इन्हीं वस्तुओं की कीमत से प्रभावित हो सकती है। कौनसी वस्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में शामिल होगी यह स्वयं बहुत कुछ विनिमय दर पर निर्भर करता है। यदि इस सिद्धान्त में क्रय शक्ति माप का आधार अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं को माना जाय तो पूरा सिद्धान्त एक रिक्त सत्यवाद (an empty truism) रह जाता है क्योंकि ऐसी वस्तुओं की अन्तर्राष्ट्रीय माग और पूर्ति होने के कारण उनकी कीमत स्वतः ही समान होने की प्रवृत्ति रखती हैं। यदि क्रय शक्ति माप का आधार घरेलू वस्तुओं या सभी वस्तुओं को बनाया जाय तो परिणाम और भी अधिक भ्रमोत्पादक होगा क्योंकि आतरिक क्रय शक्ति और विनिमय दर में एक अनुपात में परिवर्तन नहीं होता। आतरिक क्रय शक्ति एवं विनिमय दर के सम्बन्धों में जो परिवर्तन होता है वह आंशिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं का घरेलू वस्तुओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होने पर निर्भर करता है।

2 विनिमय दर पर माग का प्रभाव (Exchange Rate is affected by the change in one country's demand for the other country's products) : कीमत स्तर के परिवर्तन को ही क्रय शक्ति समता सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु माना गया है परन्तु कीमत स्तर के अपरिवर्तित रहने पर भी विनिमय दर, किसी एक देश में दूसरे देश की वस्तुओं की माग में वृद्धि या कमी होने से, परिवर्तित हो सकती है। प्रो० नर्क्स ने इसी प्रकार का विचार व्यक्त करते हुए अपनी पुस्तक 'International Currency Experience' में लिखा है :

"The purchasing power parity approach, which uses price movements as the main criterion, tends to neglect the important conditions affecting the volume of demand, it treats demand simply

---

1 "The theory of International Trade" p 35

as a function of price, leaving out of account the wide shifts in aggregate income and expenditure which occur in the business cycle and which lead to wide fluctuations in the volume and hence the value of foreign trade even if prices or price relationships remain the same"

3. एक पक्षीय अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो का प्रभाव (Effects of one sided International payments) : क्रय शक्ति समता सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय पूजी के लेन देन तथा ऋण सम्बन्धी सौदो के फलस्वरूप होने वाले विनिमय दर के परिवर्तनो को ध्यान मे नही रखता। जब एक देश से पूँजी दूसरे देश मे जाती है तो इसकी अन्तर्राष्ट्रीय माग मे वृद्धि होती है तथा उसकी कीमत दूसरी मुद्राओ मे बढ जाती है, लेकिन इसका प्रभाव कीमत स्तर पर उसी समय नही पडता।

4 कीमत स्तर के अनुपात मे विदेशी व्यापार मे परिवर्तन का प्रभाव (Effect of a proportionate change in the terms of the change in price level) : यदि किसी देश के कीमत स्तर मे तकनीकी विकास के कारण 10% कमी हो जाय और उसी समय विदेशी व्यापार उस देश के पक्ष म 10% और बढ जाय (जिससे उस देश के कुल विदेशी व्यापार के मूल्य मे परिवतन न हो) तो विदेशी विनिमय बाजार प्रभावित नही होगा यद्यपि कीमत स्तर मे परिवतन हो गया है।

5 केवल विनिमय दर के परिवर्तनो को ज्ञात करने के लिए उपयोगी (*Useful only to know the changed exchange rate on the basis of* changed price levels) : इस सिद्धान्त मे निरपेक्ष विनिमय दर (Absolute exchange rate) को निर्धारित नही किया जाता। उसे मान लिया जाता है। केवल परिवर्तित कीमत स्तरो के आधार पर परिवर्तित विनिमय दर को ज्ञात किया जाता है।

6. विनिमय दर का कीमत स्तर पर प्रभाव (Price level is affected by exchange rate) · इस सिद्धान्त के अनुसार कीमत स्तर का प्रभाव विनिमय दर पर पडता है परन्तु विनिमय दर कीमत स्तर को प्रभावित नही करती। परन्तु कई कारणो से (सट्टा, पूँजी का स्थानान्तरण, व्यापार का विस्तार आदि) स्वय विनिमय दर कीमत स्तर को प्रभावित करती है।

7 केवल दीर्घकालीन व्याख्या (A long term explanation) : क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त विनिमय दर की दीर्घकालिक प्रवृत्ति की व्याख्या करता है परन्तु व्यवहार मे अल्पकालीन विनिमय दर अधिक महत्वपूर्ण होती है क्योंकि उसके विस्तृत एव गम्भीर परिणाम होते हैं।

उपरोक्त आलोचनाओं एवं व्यावहारिक अनुभव के आधार पर क्रयशक्ति समता सिद्धान्त खरा नहीं उतरता। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह सिद्धात बिल्कुल निरर्थक है। यह सिद्धान्त कुछ विशेष परिस्थितियों में जहां पूंजी के लेन-देन न होते हों, जहां तकनीकी स्थिति तथा व्यापार-दशा (Terms of Trade) अपरिवर्तित रहे, सत्य प्रतीत होता है। इतना तो निश्चित रूप में कहा जा सकता है कि विनिमय दर को प्रभावित करने वाले कारणों में क्रयशक्ति या कीमत स्तर एक प्रमुख कारण है।

भुगतान सतुलन सिद्धान्त
(The Balance of Payments Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार विनिमय दर भुगतान सतुलन (Balance of Payments) द्वारा निर्धारित होती है। इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि हम विदेशों को उतना ही भुगतान कर सकते हैं जितना विदेशों से हमें प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में इस सिद्धान्त का मौलिक आधार यह है कि निर्यातों से ही आयातों का भुगतान किया जाता है। दीर्घकालीन साम्य विनिमय दर उस बिन्दु पर होगी जहां भुगतान सतुलन साम्यावस्था में होगा। यदि किसी समय किसी देश का भुगतान शेष सतुलन की स्थिति में नहीं है तो विनिमय दर में भी परिवर्तन होंगे। यदि भुगतान शेष पक्ष में होता है तो इसका तात्पर्य यह है कि उस देश को भुगतान करने की अपेक्षा पाना अधिक है। इसलिए उस देश की मुद्रा की मांग, पूर्ति की अपेक्षा, अधिक है एवं उसकी कीमत दूसरी मुद्रा के सन्दर्भ में बढ रही है। भुगतान शेष विपक्ष में होने पर उस देश की मुद्रा की कीमत दूसरे देश की मुद्रा के सन्दर्भ में कम होगी। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार आयात की अधिक आवश्यकता का परिणाम मुद्रा या चलन ह्रास (Currency Depreciation) के रूप में सामने आता है और उसके कारण विनिमय दर में वृद्धि हो जाती है (प्रत्यक्ष ढंग) अर्थात् दूसरे देश की एक मुद्रा का मूल्य अपनी मुद्रा में बढ जाता है। इस विनिमय ह्रास (Exchange Depreciation) के कारण सामान्य कीमत स्तर भी बढने लगता है।

परन्तु जब तक विनिमय दर का पता न हो तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक देश की लेनदारियां (receipts) तथा देनदारियां (payments) बराबर हैं क्योंकि दो देशों में दो अलग-अलग मुद्राओं का प्रयोग होता है। विनिमय दर के मालूम होने पर एक देश अपने आयातों और निर्यातों की कीमत की तुलना कर सकता है। जिस दर पर आयातों और निर्यातों की कीमत बराबर होगी वही प्रचलित विनिमय दर होगी। लेकिन इस आयात और निर्यात में स्वर्ण का लेन देन अथवा अल्पकालीन ऋण का लेन-देन शामिल नहीं होता है। परन्तु दीर्घकालीन

अवस्था मे आयात और निर्यात को सतुलित करने के लिए स्वर्ण या अल्पकालीन ऋण का लेन-देन सम्भव नही है इसलिए दीर्घकाल मे विनिमय दर की साम्यावस्था वह होगी जहा आयातो और निर्यातो का सतुलन होगा ।

भुगतान सतुलन सिद्धांत की आलोचना (Criticism of the Balance of Payment Theory) :

इस सिद्धात के अनुसार विनिमय दर मे आयातो एव निर्यातो मे परिवर्तन होने पर ही विनिमय दर परिवर्तित होती है परन्तु वास्तव मे विनिमय दर का परिवर्तन स्वय आयातो और निर्यातो को परिवर्तित कर देता है और एक देश की मुद्रा की माँग और पूर्ति अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय बाजार मे बदल जाती है। इस प्रकार विनिमय दर स्वय अपना सुधारक है।[1] इस सिद्धात के अनुसार आयातो की अधिक आवश्यकता विनिमय ह्रास (Exchange Depreciation) को जन्म देती है परन्तु यह सिद्धात इस तथ्य को भुला देता है कि कितनी ही आवश्यकता क्यो न हो भुगतान करने के साधनो के अभाव मे अधिक आयात नही किया जा सकता ।

इन आलोचनाओं के बावजूद भी भुगतान सतुलन सिद्धात मे कुछ ऐसे तथ्यो की ओर सकेत किया गया है जिसके आधार पर विनिमय दर निर्धारण के माग और पूर्ति सिद्धात का विवेचन किया गया है। इस सिद्धात ने भुगतान शेष आयात तथा निर्यात की ओर ध्यान आकृष्ट किया जो वास्तव मे विदेशी विनिमय की माग और पूर्ति का आधार है। इस सिद्धात ने इस बात की ओर भी सकेत दिया है कि विनिमय दर निर्धारण भी सामान्य साम्य विश्लेषण (General Equilibrium Analysis) मे शामिल है।

स्थायी, परिवर्तनशील, साम्य तथा पेग्ड विनिमय दरें
(Stable, Fluctuating, Equilibrium and Pegged Exchange Rates)

स्थायी विनिमय दर (Stable Exchange Rate) :

विनिमय दर के स्थायित्व को बनाये रखना प्रायः सभी देशो की मौद्रिक नीति का काफी समय तक प्रमुख लक्ष्य रहा है। विनिमय दर के स्थायित्व के निम्नलिखित लाभो के कारण इसे मौद्रिक नीति का अग माना गया है —

1. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन (Encouragement to Foreign Trade) : विनिमय दर मे उतार-चढाव न होने के कारण विदेशी व्यापारियो को हानि की आशका नही रहती है। उन्हे आयात और निर्यात करने से पूर्व ही यह पता हो

---

1. "......the rate of exchange provides its own corrective by re-adjusting the demand for and the supply of a currency in the exchange market." —Prof S. M. Tiwary : *Money*, p. 202

जाता है कि कितना भुगतान देना और पाना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का इतिहास इस बात को प्रमाणित करता है कि जब भी विनिमय दर मे उतार-चढाव की स्थिति आई, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को धक्का लगा। स्थायी विनिमय दर से सम्बद्ध देशों की मुद्रा की विस्तृत सर्व स्वीकार्यता विदेशी व्यापार को बढा देती है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी का मुक्त प्रवाह (Free flow of international capital) : विनिमय दर मे स्थायित्व होने के कारण एक देश से दूसरे देश मे विनियोग पूँजी का स्वतन्त्रता पूर्वक लेन-देन किया जाता है क्योंकि ऋणदाता को यह विश्वास रहता है कि भविष्य मे बिना हानि के वह अपनी पूँजी प्राप्त कर सकता है। ऋणी देश इससे अपने विनियोगों मे वृद्धि करता है और विनिमय दर बढने (दूसरे देश की मुद्रा का मूल्य अपनी मुद्रा के सदर्भ मे बढ़ने) की हानि की ओर से आश्वस्त रहता है।

3 अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग (International Co operation) : विनिमय दर के स्थिर रहने के कारण समान द्रव्य क्षेत्र क लोगों मे सहयोग की भावना का विकास होता है। स्थायी विनिमय दर के प्रभाव मे ऐसे क्षेत्रो मे तनाव की स्थिति पैदा होन का भय हो सकता है। सभी देशों क विकास के लिए शांतिपूर्ण वातावरण लाभदायक होता है।

कठिनाइयाँ (Difficulties) :

1 *स्थायी विनिमय दर की नीति अपनाने का तात्पर्य, आन्तरिक कीमत,* रोजगार तथा उत्पादन की नीति राष्ट्रीय हितो के अनुरूप रखने की स्वतन्त्रता का त्याग करना है। इसके अनुसार आतरिक नीति मे इस प्रकार परिवर्तन करना पडता है कि आतरिक अर्थव्यवस्था पर बाह्य आर्थिक प्रभावो का पूर्ण प्रभाव पड सके। आधुनिक युग मे प्रत्यक राष्ट्र अपन देश का अधिकतम आर्थिक कल्याण चाहता है और उसी के अनुसार अपनी मौद्रिक नीति निर्धारित करता है। इसलिए स्थायी विनिमय दर की नीति समय के अनुकूल नही है।

2. यह भी तर्क दिया जाता है कि विनिमय दर की स्थिरता की नीति न अपनाने पर भी भुगतान सतुलन मे साम्य की स्थिति लाई जा सकती है। वास्तव में विनिमय दर के परिवर्तन द्वारा भुगतान शेष की कठिनाइयो से छुटकारा पाया जा सकता है।

3 आधुनिक युग मे सभी अविकसित देश विकास की दौड मे शामिल हो रहे हैं। प्रारम्भ मे उन्हे विकास के लिए आयात भी अधिक करने होते हैं तथा मुद्रा-प्रसार की नीति अपनानी पडती है। इनके कारण जो विनिमय दर पर प्रभाव पडता है उसके फलस्वरूप विनिमय दर को स्थिर रखना व्यवहार मे कठिन हो जाता है।

परिवर्तनशील विनिमय दर (Fluctuating Exchange Rate) :

यदि विनिमय बाजार मे विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाता हो और मौद्रिक अधिकारी विनिमय दर को प्रभावित करने का कार्य नही कर रहे हो तो विनिमय दर परिवर्तित होने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। इस प्रकार की व्यवस्था मे न तो कोई निश्चित विनिमय दर (Fixed Exchange rate) होती है और न ही उसे स्थिर रखने की इच्छा। देश की मौद्रिक नीति भुगतान शेष की स्थिति से प्रभावित नही होती और उस पर बाह्य आर्थिक प्रभाव असर नही डालते। स्थिर विनिमय दर की कठिनाइयाँ ही परिवर्तनशील विनिमय दर की अच्छाइया हैं। परिवर्तनशील विनिमय दर मे पूर्ति को सतुलित होने के लिए स्वतन्त्र छोड दिया जाता है। देश की मौद्रिक नीति को विदेशी प्रभावो से मुक्त रख कर देश के हितो के अनुकूल रखा जाता है।

परन्तु विनिमय दर के परिवर्तित होते रहने पर वे लाभ प्राप्त नही हो सकते जो विनिमय दर के स्थायी रहने पर प्राप्त होते है। विदेशी व्यापार, पूजी का अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन एव अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव हो जाता है। प्रो० हेन्डरसन ने अपनी पुस्तक 'The Problem of Monetary Stabilisation' म लिखा है, "That fluctuating parities, by creating additional hazard and uncertainty, will be prejudicial to international trade"। जिस आतरिक स्थिरता का दावा परिवर्तनशील विनिमय दर के अन्तर्गत किया जाता है वह भी समवत नही प्राप्त की जा सकती। यदि विनिमय दर मे गम्भीर परिवतन हो जाय तो आतरिक स्थिरता बनाए रखना असम्भव है। इसके अतिरिक्त विनिमय दर का परिवर्तन विदेशी विनिमय से सम्बन्धित किसी एक पक्ष के लिए अवश्य हानिकर होता है। जब तक विनिमय दर एक सीमा के अन्दर परिवर्तित होती है तब तक हानिकर नही कही जा सकती क्योकि विदेशी व्यापारी हेजिंग के द्वारा सुरक्षा प्राप्त कर सकते ह। एक देश से, जिसम मुद्रा के ह्रास (Currency Depreciation) की आशका हो, पूजी दूसरे देश म प्रवाहित होने लगती हैं, और इसके बुरे परिणाम हो सकते है। दीर्घकालीन विदेशी विनियोगो को परिवर्तनशील विनिमय दर से विशेष हानि होती है। इन कठिनाइयो के कारण स्वतन्त्रता पूर्वक परिवर्तित होने वाली विनिमय दर की तीव्र आलोचना की जाती है और इसे अविवेकपूर्ण कहा जा सकता है।

साम्य विनिमय दर (Equilibrium Exchange Rate) :

पूर्ण रूप से स्थिर और स्वतन्त्र रूप से परिवर्तनशील विनिमय दरो की जो कमियां है उनके कारण किसी ऐसी विनिमय दर की आवश्यकता महसूस की जाती है जिसे बिना विशेष कठिनाई के एक सीमा तक स्थायी भी रखा जा सके और भुगतान

शेष मे मौलिक असतुलन (Fundamental disequilibrium) की स्थिति में परिवर्तित करके भुगतान शेष के असतुलन को ठीक भी किया जा सके। ऐसी विनिमय दर को ही साम्य विनिमय दर की सज्ञा दी जाती है। प्रो० नर्क्स ने साम्य विनिमय दर को परिभाषित करते हुए लिखा है, "The rate which, over a certain period, maintains the balance of payments in equilibrium without any net change in the international currency reserve" साम्य विनिमय दर में इच्छित स्थायित्व (desired stability) बनाये रखने का कार्य मौद्रिक अधिकारी विनिमय बाजार म नय-विक्रय करके करते हैं और असतुलन की स्थिति मे विनिमय नियन्त्रण की नीति अपना कर असतुलन पैदा करने वाले कारणो को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। मौद्रिक अधिकारी विनिमय बाजार को प्रभावित करने की नीति अपनाते हैं। साम्य विनिमय दर एक प्रकार से 'तटस्थ' होती है क्योंकि इस पर सम्बन्धित मुद्रा न तो अवमूल्यित होती है, न ही अधिमूल्यित (neither under valued nor over valued)। साम्य विनिमय दर मे निम्न विशेषताए होनी चाहिए :—

1. विनिमय दर एक औसत आंतरिक स्थिरता के अनुकूल होनी चाहिए।

2. दीर्घकालिक दृष्टिकोण से स्थायित्व प्राप्त करने के प्रयत्न म देश के विदेशी विनिमय कोष और स्वर्ण कोष को समाप्त नहीं कर देना चाहिए। साथ ही मुद्रा सकुचन की नीति अपना कर आतरिक स्थिरता को खतरे मे नही डालना चाहिए।

3. साम्य विनिमय दर का तात्पर्य अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में बनावटी ढग से लाभ या हानि पहुचाना नहीं होना चाहिए अर्थात् मुद्राओ म अवमूल्यन की प्रतियोगिता नही होनी चाहिए।

यदि कोई विनिमय दर इन तीन शर्तों को पूरा नही करती तो नई विनिमय दर ज्ञात करनी होगी जो साम्य दर के रूप मे स्थान ग्रहण करेगी। साम्य विनिमय दर का विचार विभिन्न देशो के जागरूक सहयोग (conscious cooperation) की नींव पर ही सफलतापूर्वक व्यवहार म लाया जा सकता है। इस प्रकार की विनिमय दर को लोचपूर्ण विनिमय दर (Flexible exchange rate) भी कहा जाता है।

पेग्ड विनिमय दर (Pegged Exchange Rate)

कभी कभी दो या अधिक देशो की आपसी विनिमय दर समझौतो के आधार पर निश्चित कर दी जाती है और समझौते से सम्बन्धित पक्ष उस विनिमय दर को बनावटी तरीको (artificial devices) से बनाए रखने को सहमत हो जाते हैं। इस प्रकार से निश्चित की गई विनिमय दर को पेग्ड विनिमय दर कहा जाता है। पेग्ड विनिमय दर को बहुत लम्बे समय तक बनाए रखना बहुत कठिन होने के कारण

'ऐडजस्टेबुल पेग्ड रेट' (Adjustable Pegged Rate) अपनाना अधिक अच्छा समझा जाता है। इस प्रकार को विनिमय दर मे लम्बे समय तक पेग्ड विनिमय दर को बनाए रखने पर सहमति नही होती। जब कभी मौलिक असतुलन की स्थिति पैदा हो जाती है तो पेग्ड दर उसके अनुसार समायोजित (adjust) कर दी जाती है। परन्तु जब तक बिना विशेष हानि के कोई देश निश्चित दर को बनाए रखने मे समर्थ है तब तक उसी दर को बनाए रखना है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के समझौते के अनुसार इसी प्रकार की विनिमय दर सदस्य देशो द्वारा अपनाई गई है। परन्तु इस सबध मे यह कठिनाई आती है कि सभी देश पेग्ड विनिमय दर को बनाए रखने का समान प्रयत्न नही करते। कोई देश अधिक त्याग करके भी इसे बनाए रखने का प्रयत्न करता है तो दूसरा थोडी सी कठिनाई होने पर ही नई पेग्ड दर अपनाना चाहता है। इस कठिनाई के कारण इस प्रकार की विनिमय दर कुछ देशो के लिए लाभदायक और कुछ के लिए हानिकर सिद्ध होने लगती है।

विनिमय दर में परिवर्तन
(Fluctuations in the Rate of Exchange)

विनिमय दर मे होने वाले दुष्परिणामो से बचने के लिए प्रत्येक देश विनिमय दर के परिवर्तनो को सीमित रखना चाहता है। व्यवहार मे नीचे दिय गये कारणो से विनिमय दर समय-समय पर परिवर्तित होती ही रहती है।

1. माग और पूर्ति मे परिवर्तन (Change in demand and supply of currency) यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विनिमय दर विदेशी मुद्रा की माग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। इसलिए इनमे से किसी एक मे या दोनो में परिवर्तन होने से विनिमय दर का परिवर्तित होना स्वाभाविक है। किसी मुद्रा की माग और पूर्ति निम्न कारणो से प्रभावित होती है :

मुद्रा-मांग के प्रभावक—

1. अन्य देशो की वास्तविक आय।
2. अन्य देशो की तुलना मे उस देश की कीमत और लागत स्तर।
3. अन्य देशो की तुलना मे उस देश की ब्याज दर।
4. विनिमय दर सम्बन्धी भविष्य का अनुमान।
5. उस देश की वस्तुओ के सम्बन्ध मे रुचि (Taste)।
6. उस देश तथा अन्य देशो की उत्पादकता तथा तुलनात्मक लागत को प्रभावित करने वाले अन्य तत्व।

किसी देश की मुद्रा की मांग को प्रभावित करने वाले उपरोक्त प्रभावकों में किसी एक मे परिवर्तन होने पर विनिमय दर प्रभावित हो सकती है।

पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व—

उस देश की वास्तविक आय तथा अन्य नम्बर 2 से 6 तक, सभी प्रभावक जो मांग को प्रभावित करते हैं। इनमे से किसी म परिवर्तन होने पर विनिमय दर परिवर्तित होती है।

2. मौद्रिक नीति (Monetary policy) : यदि किसी देश की मौद्रिक नीति मे परिवर्तन कर दिया जाता है तो उसका प्रभाव उस देश के सम्पूर्ण आर्थिक ढाचे पर पडता है। मुद्रा की क्रय शक्ति भी आधारभूत रूप से प्रभावित होती है। इन सबका प्रभाव मुद्रा की मांग और पूर्ति पर पड़ता है और विनिमय दर परिवर्तित हो जाती है।

3 पूंजी के लेन-देन मे परिवर्तन (Changes in the flow of capital) . ब्याज दर और राजनैतिक परिस्थितिया पूंजी के आदान-प्रदान को पर्याप्त अशो मे प्रभावित करती है, जिनके फलस्वरूप विनिमय दर परिवर्तित हो जाती है।

4. सट्टे का प्रभाव (Speculative influences) : सट्टेबाजार मे विदेशी बिलो का क्रय-विक्रय किया जाता है। किसा मुद्रा के मूल्य मे भविष्य मे होने वाले परिवर्तनो क अनुमान पर सटोरिये उसकी माग और पूर्ति को प्रभावित करते हैं जिसके कारण विनिमय दर परिवर्तित हो जाती है। अतर्पणन के सौदे भी विनिमय दर को प्रभावित करते है।

5. प्राकृतिक कारण (Natural reasons) : कभी-कभी प्राकृतिक कारणो से देश के उत्पादन म कमी हो जान से उसका प्रभाव विनिमय दर पर पड सकता है।

6 सामयिक परिवर्तन (Seasonal fluctuations) . कुछ देश ऐसे होते है जिनका कुछ महीनो म निर्यात अधिक होता है और कुछ महीनो मे आयात। इसलिए विनिमय दर म भी सामयिक परिवतन होता रहता है।

कुछ अन्य शब्द
(Few Other Terms)

अन्तर्पणन (Arbitrage)

जब कभी विभिन्न देशो के बीच की विनिमय दरो मे अन्तर (Discrepancy) पैदा हो जाता है तो अन्तर्पणन की प्रक्रिया उसे ठीक करने मे सहायक हाती है। सभी देशो की विनिमय दरें परस्पर सम्बन्धित होती है। किसी कारण से यदि किसी देश की विनिमय दर परिवर्तित हो जाती है तथा अन्य देशो से उसका सम्बन्ध वैसा ही रहता है तो अन्तर्पणन प्रारम्भ हो जाता है और विनिमय दर पुन पूर्व स्तर पर आ जाती है। उदाहरण के लिए भारत, ब्रिटेन तथा अमेरिका की विनिमय दरो का

एक निश्चित सम्बन्ध मान लीजिए। यदि पौंड भारत मे महंगा पडने लगे और भारत तथा ब्रिटेन के बीच की विनिमय दर ब्रिटेन के पक्ष मे बदल जाय परन्तु भारत तथा अमेरिका एव ब्रिटेन तथा अमेरिका के बीच की विनिमय दरें पूर्ववत रहे, तो ऐसी अवस्था मे डालर द्वारा पौंड, पौंड द्वारा रुपया और रुपए द्वारा डालर खरीदने मे विदेशी विनिमय का लेन-देन करने वालो को लाभ होगा। परन्तु इस प्रकिया मे रुपए की माग बढने लगेगी और पौंड तथा डालर, एव रुपए और डालर के सम्बन्धों मे भी परिवर्तन प्रारम्भ हो जायगा। पुनः इन मुद्राओ की विनिमय दरें समायोजित हो जायेगी।

अग्रिम विनिमय (Forward Exchange) :

विनिमय दर मे सम्भावित परिवर्तनो की हानि से बचने के लिए वे व्यापारी जिन्हे भविष्य मे भुगतान करना होता है, अग्रिम विनिमय खरीदते हैं तथा वे व्यापारी जिन्हे भविष्य मे भुगतान प्राप्त होना है, अग्रिम विनिमय बेचते हैं। भुगतान कर्त्ता विनिमय महगा होने की हानि से तथा भुगतान पाने वाला विदेशी विनिमय सस्ता होने की हानि से बचना चाहता है। अग्रिम विनिमय के सौदे पहले ही तय कर लिए जाते हैं कि अमुक तिथि पर अमुक मात्रायें विदेशी विनिमय अमुक दर पर बेचा या खरीदा जायगा। अग्रिम विनिमय का सौदा करने में जो खर्च है वह एक प्रकार से भविष्य की जोखिम से बचने की कीमत है।

ऐसी परिस्थितियो मे जहां विनिमय दर मे अधिक परिवर्तन होते हैं, अग्रिम विनिमय के सौदे लाभप्रद होते हैं। यह स्वर्ण-मान की अपेक्षा पत्र-मान मे अधिक लाभप्रद है। प्रथम महायुद्ध के बाद इन प्रकार के सौदे बहुत किए जाते थे परन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद जब से विनिमय नियत्रण की नीति अपनाई जाने लगी है, इस प्रकार के सौदो का महत्व कम हो गया है।

अग्रिम विनिमय दर अग्रिम विनिमय की माग और पूर्ति पर निर्भर करती है। अग्रिम विनिमय दर टी० टी० दर पर बट्टा (Discount) या नजराना (Prem um) के रूप मे सकेत की जाती है। बट्टा अथवा प्रीमियम ब्याज की दरों पर आधारित होता है। अग्रिम विनिमय की माग बढने से प्रीमियम बढता है या बट्टा कम होता है। इसके विपरीत अग्रिम विनिमय की पूर्ति अधिक होने की स्थिति मे प्रीमियम कम होता है अथवा बट्टा बढ जाता है।

विदेशों मे भुगतान का तरीका
(The Procedure of Foreign Payments)

विदेशो मे किए जाने वाले भुगतानो को निम्नलिखित श्रेणियो मे रखा जा सकता है। यहा पर हम इन श्रेणियो मे विदेशी भुगतान सम्बन्धी तरीको का उल्लेख करेंगे।

व्यक्तिगत भुगतान तथा यात्री व्ययों का भुगतान
(Personal Remittances and Tourist Expenditures)

1. मनीआर्डर (Money Order) :

जब किसी व्यक्ति को विदेशों में किसी अल्प राशि का भुगतान करना होता है तो मनीआर्डर भेज कर भुगतान कर सकता है। प्रत्येक देश द्वारा मनीआर्डर द्वारा भुगतान करने की कोई सीमा भी निश्चित कर दी जाती है। यदि विनिमय नियन्त्रण की नीति अपनाई जाती हो तो नियन्त्रण अधिकारी की अनुमति लेनी आवश्यक होती है। इस तरीके द्वारा भुगतान प्रायः विदेशों से पुस्तकें मंगाने या मैगजीन आदि का वार्षिक चन्दा देने में होता है।

2. यात्री-चेक (Traveller's Cheque) :

यात्री-चेकों द्वारा विदेशी यात्रियों को बड़ी सुविधा रहती है। विदेश जाने वाला व्यक्ति अपने बैंक से निश्चित रकम का यात्री-चेक खरीद लेता है। यह यात्री-चेक बैंक अपनी विदेश स्थित शाखा या प्रतिनिधि बैंक के नाम लिखता है। यात्री अपने गन्तव्य स्थान पर इस चेक को भुना कर अपना कार्य कर सकता है। यात्री-चेकों का प्रयोग सुविधाजनक और सुरक्षित होता है। बड़े बैंकों के यात्री-चेक तो नोट की तरह ही प्रयोग किए जा सकते हैं क्योंकि इसे दूसरे देश के व्यापारी-होटल आदि निःसकोच स्वीकार कर लेते हैं। व्यापारी, होटल या यात्री-कार्यालय उस समय प्रचलित विनिमय दर पर उसे भुनाते हैं। यात्री-चेक बेचने वाला बैंक इस कार्य के लिए कुछ शुल्क लेता है।

3. यात्री साख पत्र (Traveller's Letter of Credit) :

जब किसी व्यक्ति को कई देशों की ओर अधिक समय तक यात्रा करनी होती है तो उसे यात्री चेक की अपेक्षा यात्री साख पत्र ले जाने में अधिक सुविधा और सुरक्षा रहती है। यात्री साख पत्र भी अपने बैंक से खरीदा जाता है। इसे बेचने वाला बैंक अपनी शाखाओं या प्रतिनिधि बैंकों के नाम लिखता है। साख पत्र की सूचना बेचने वाला बैंक अपनी शाखाओं और प्रतिनिधि बैंकों को भी भेज देता है। साख पत्र बेचने वाले बैंक के देश में प्रचलित मुद्रा में लिखा जाता है। जब यात्री विदेश में स्थित शाखा या प्रतिनिधि बैंक के पास उस देश की मुद्रा प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत करता है तो वह उसे इच्छित मात्रा में मुद्रा देकर साख पत्र पर लिख देता है। उसी साख पत्र को दूसरे देश में सम्बन्धित शाखा या प्रतिनिधि बैंक के पास प्रस्तुत करने पर फिर यात्री को मुद्रा प्राप्त हो जाती है और यह क्रम साख पत्र की कुल रकम प्राप्त हो जाने तक चलता रहता है। भुगतान करने वाली शाखाएं या बैंक बेचने वाले को भी सूचित करते हैं। साख पत्र प्रयोग करने वाले यात्रियों को अपने साथ अपने हस्ताक्षर तथा फोटो युक्त परिचय पत्र भी रखना पड़ता है।

व्यापारिक भुगतान
(Commercial Payments)

1. विनिमय पत्र द्वारा भुगतान (Payments through Bill of Exchange) : इस पद्धति का प्रयोग प्रथम महायुद्ध के पूर्व प्राय: सामान्य था। इस पद्धति मे भुगतान पाने वाले व्यापारी को अगुआ बनना पड़ता है। भुगतान पाने वाला भुगतान करने वाले को निश्चित समय बाद निश्चित रकम भुगतान करने का आदेश देता है। इस प्रकार का विनिमय पत्र लिख कर भुगतान पाने वाला माल से सम्बन्धित अधिकार पत्र बिल से सलग्न कर देता है एव अपने बैंक से भुना (Discount) लेता है और उसे अपनी मुद्रा मे भुगतान प्राप्त हो जाता है। बिल डिस्काउन्ट करने वाला बैंक उस बिल को विदेश स्थित अपनी शाखा या प्रतिनिधि बैंक के पास भेज देता है। शाखा या प्रतिनिधि बैंक उस बिल को भुगतान करने वाले के पास प्रस्तुत करता है और वह अपनी स्वीकृति बिल पर अकित कर देता है। यदि विनिमय पत्र की शर्तों के मुताबिक अधिकार पत्र स्वीकृति पर मिलने होते है तो अधिकार पत्र उसी समय दे दिया जाता है। यदि शर्तों के अनुसार अधिकार पत्र भुगतान पर मिलने होते हैं तो अधिकार पत्र भुगतान प्राप्त होने के बाद दिए जाते हैं। भुगतान तिथि पर भुगतान करने वाला अपनी मुद्रा मे भुगतान कर देता है। इस प्रक्रिया मे भुगतान पाने वाले देश के बैंक के "विदेशी पावने" म वृद्धि हो जाती है। भविष्य मे जब इसी बैंक को दूसरे देश मे भुगतान करना होता है तो इसका प्रयोग किया जाता है।

2. बैंक ड्राफ्ट द्वारा भुगतान (Payment through Bank draft) : इस प्रणाली के अनुसार भुगतान करने वाले को अगुआ बनना होता है। भुगतान करने वाला अपने बैंक से ड्राफ्ट खरीद लेता है। ड्राफ्ट बेचने वाला बैंक अपनी विदेश स्थित शाखा या प्रतिनिधि बैंक को आदेश देता है कि वह उसमे लिखित रकम, लिखित व्यक्ति या उसके आदेशानुसार अन्य व्यक्ति को दे देवें। यह ड्राफ्ट भुगतान करने वाला भुगतान पाने वाले के पास भेज देना है और पाने वाला उसका भुगतान सम्बन्धित शाखा या बैंक से प्राप्त कर लेता है।

3. साख पत्र (Letter of Credit) : साख पत्र का प्रयोग व्यापारियो द्वारा उस समय किया जाता है जब तत्काल भुगतान की आवश्यकता होती है। आयात कर्ता अपने बैंक से निश्चित रकम का साख पत्र प्राप्त करता है और निर्यात कर्ता के पास भेज देता है। साख पत्र बेचने वाला बैंक भी अपनी विदेश स्थित शाखा या प्रतिनिधि बैंक को इस बात की सूचना भेज देता है। निर्यात कर्ता माल निर्यात करते ही सम्बन्धित अधिकार पत्र शाखा या प्रतिनिधि बैंक को सौंपकर भुगतान प्राप्त कर लेता है।

4. मेल ट्रान्सफर (Mail Transfer) : यह तरीका काफी सरल है। भुगतान करने वाला अपने बैंक के पास भुगतान की रकम जमा कर देता है और उसे यह आदेश देता है कि अमुक देश के अमुक बैंक मे अमुक व्यक्ति के खाते मे वह रकम जमा करनी है। भुगतान कर्त्ता का बैंक विदेश स्थित अपनी शाखा या प्रतिनिधि बैंक को उस व्यक्ति के खाते मे रकम जमा कराने का आदेश देता है। शाखा या प्रतिनिधि बैंक रकम जमा करा कर भुगतान पाने वाले को सूचित कर देते हैं। भुगतान कर्ता का बैंक यह आदेश डाक द्वारा भेजता है जिसमे अनिश्चित समय लग सकता है। यदि समय की अनिश्चितता को समाप्त करने के लिए भुगतान कर्ता निश्चित समय मे भुगतान हो जाने की गारण्टी चाहता है तो गारण्टी सहित मेल ट्रान्सफर (Guaranteed Mail Transfer) की व्यवस्था की जाती है और इसके लिए अतिरिक्त शुल्क लिया जाता है।

भुगतान कर्ता बैंक यदि उपरोक्त सूचना तार द्वारा भेजता है (ग्राहक के आदेश पर) तो इसे T. T. या टेलीग्राफिक ट्रान्सफर कहते हैं और इसका और भी अधिक शुल्क देना पडता है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संकेत

1. स्वर्ण विन्दु क्या है ? क्या विनिमय दर इन बिन्दुओं से आगे जा सकता है ? यदि हा तो कब और कैसे ? विवेचना कीजिए।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, *1964; 1967*)

[संकेत—स्वर्ण मान पर आधारित दो देशो की विनिमय दर टकसाली समानता दर सिद्धान्त द्वारा निश्चित होती है और स्वर्ण बिन्दुओ के बीच ही रहती है, इसे उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए। बताइये कि विनिमय दर साधारणतया इन बिन्दुओ से आगे नही जा सकता।]

2. क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1966)

(आगरा, 1968)

अथवा

विदेशी विनिमय से सम्बन्धित क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं ? इस समता से यह दर कब भिन्न होती है ?

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1962)

[संकेत—प्रथम भाग मे क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की उदाहरण देकर विस्तृत व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाओं का विवेचन कीजिए।]

3. विदेशी विनिमय दरो के भुगतान सतुलन सिद्धान्त का वर्णन कीजिए ।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1968)

[सकेत—प्रथम भाग म विनिमय दरो के भुगतान सतुलन सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन कीजिए । दूसरे भाग मे सक्षेप मे उसकी आलोचना कीजिए ।]

4 विभिन्न देशो मे जहा पत्र-मुद्रा-मान का चलन हो, विनिमय दरो के निर्धारण की सम्पूर्ण विवेचना कीजिए ।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1969)

[सकेत—अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा-मानो के अन्तर्गत दो देशो के बीच विनिमय दर का निर्धारण दो सिद्धान्तो—क्रय-शक्ति-समता सिद्धान्त तथा भुगतान सतुलन सिद्धान्त-द्वारा होता है । दोनो सिद्धान्नो की उदाहरणो सहित सक्षिप्त व्याख्या कीजिए और उनकी आलोचना कीजिए ।]

5. "निर्यात, आयातो का भुगतान करते हैं ।" स्पष्ट कीजिए कि यह कैसे होता है । अतर्राष्ट्रीय भुगतानो मे मुद्रा क्या पार्ट अदा करती है ?

(राजस्थान बी० काम०, 1962) (आगरा, 1962)

[सकेत—प्रथम भाग मे विदेशी विनिमय के भुगतान सतुलन सिद्धान्त की सविस्तार व्याख्या कीजिए । दूसरे भाग मे बताइये कि अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो मे मुद्रा का क्या योगदान है ।]

भुगतान संतुलन
(Balance of Payments)

Miss Prism Cecily, you read your Political Economy in my absence The chapter on the fall of the rupee you may omit It is somewhat too sensational Even these metallic problems have their melodramatic side.

Oscar Wilde

भुगतान-सतुलन एक ऐसा विवरण (Statement) है जिसमे किसी देश के विभिन्न मदो के अन्तगत अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो का ब्योरेवार चिट्ठा तैयार किया जाता है। यह विवरण एक निश्चित अवधि (प्राय. एक वर्ष) के लिए होता है।[1] इस विवरण के अन्तर्गत वे सभी मदें (items) सम्मिलित होती हैं जो किसी एक देश तथा अन्य देशो के बीच मौद्रिक भुगतानो को जन्म देती हैं। इस प्रकार भुगतान सतुलन किसी देश द्वारा समस्त पाए जाने वाले और दिए जाने वाले भुगतानो की एक सूची है।

इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भुगतान सतुलन देशो के बीच होने वाले वर्तमान भुगतानो (Current Flows) को ही सम्मिलित करता है। एक प्रकार से भुगतान सतुलन विवरण (Balance of Payments Statement) को आय-विवरण तो कहा जा सकता है परन्तु आर्थिक चिट्ठा (Balance Sheet) नही कहा जा सकता है।

भुगतान सतुलन किन्ही दो देशो के बीच के भुगतान सम्बन्धो (Payments relationship) को ही नही वरन् एक देश तथा 'अन्य सभी देशो के बीच के भुगतान सम्बन्धो को भी दर्शाता है। भुगतान सतुलन विवरण मे सम्मिलित सभी मदें, किसी मुद्रा की विनिमय बाजार मे की जाने वाली मांग और पूर्ति की, स्रोत होती

---

[1] "The balance of international payments is a comprehensive summary of the international transactions of a country in a given period (usually a year)".

Whittlesey, Freedman, Herman *Money and Banking*, p. 560

हैं, इसलिए वे अन्तर्राष्ट्रीय ऋण (international indebtedness) को आधार होती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानो को जन्म देने वाली जिन मदो को भुगतान सतुलन मे सम्मिलित किया जाता है, उन्हे मुरय रूप से दो भागो मे रखा जाता है :

1. चालू आदान-प्रदान (Current Account)

2 पूंजीगत आदान प्रदान (Capital movements)

चालू आदान प्रदान
(Current Account)

1. माल का आयात एव निर्यात (Import Export of merchandise) :

जब कोई देश किसी अन्य देश से कोई वस्तु मगाता है तो उसे विदेशो मे भुगतान करना होता है और उसकी विदेशी विनिमय की माग बढ जाती है। दूसरी ओर जब वह देश निर्यात करता है तो उसे विदेशो से भुगतान प्राप्त होता है और उसकी विदेशी विनिमय की पूर्ति बढ जाती है। भुगतान सतुलन मे निर्यातो को f. o b तथा आयातो को c. i. f कीमत पर सम्मिलित किया जाता है। सरकारी और व्यापारी आयातो और निर्यातो को अलग-अलग दिखाया जाता है।

2 विनियोगो पर आय, ब्याज, लाभाश आदि (Income on Investments—Interests, dividends, etc)

भुगतान सतुलन विवरण मे सरकारी ऋणो के ब्याजो और लाभाशो को *व्यापारिक ऋणो के ब्याजो एव लाभाशो से पृथक दिखाया जाता है।* सरकारी और व्यापारिक विभाजन के साथ अल्पकालीन और दीर्घकालीन के रूप म भी ब्याजो और लाभाशो को विभाजित किया जा सकता है। जो ब्याज और लाभाश हमारी विदेशी विनिमय की पूर्ति बढाते हैं उन्हे 'पावना' (credit item) के अन्तर्गत रखा जाता है। इसके विपरीत जिस ब्याज और लाभाश से हमारी विदेशी विनिमय की माग बढती है उसे 'देना' (Debit item) के अन्तर्गत रखा जाता है।

3. यात्री व्यय (Travellers' Expenditure) :

आधुनिक युग मे विदेशो मे भ्रमण करना निरतर बढता जा रहा है। विदेश से यात्रियो को आकर्षित करने के अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं। विदेश भ्रमण से सास्कृतिक सामाजिक और शिक्षा के क्षेत्र मे तो लाभ होता ही है, इसमे विदेशी विनिमय की प्राप्ति भी होती है। विदेशो से आने वाले व्यक्ति अपने देश की वस्तुओं और सेवाओ का उपभोग करते हैं। यह एक प्रकार से विदशो द्वारा किए जाने वाले आयात के समान है और अपने लिए निर्यात के समान। इसी प्रकार अपने देश से विदेशो मे जाने वाले यात्री वहा उनकी सेवाओ और वस्तुओ का उपभोग करते हैं।

यह अपने देश के लिए आयात के समान है। स्पष्ट है कि विदेश से आने वाले अपने देश की मुद्राओं द्वारा हमारी मुद्रा खरीदेंगे। हमारे विदेशी 'पावने' में वृद्धि होगी, एवं विदेश जाने वाले अपने देश के निवासी दूसरे देश की मुद्रा ले जावेंगे। हमारा विदेशी 'देना' बढ़ेगा। इन भुगतानों का परिणाम आने-जाने वालों की संख्या, आय, कीमत स्तर आदि पर निर्भर करेगा।

4. परिवहन तथा अन्य व्यय (Transportation and other charges) :

जब कोई देश दूसरे देशों को माल भेजता है या दूसरे देश से माल मंगाता है तो उसे परिवहन सम्बन्धी खर्चे करने पड़ते हैं। माल के लाने और ले जाने के कार्य में सभी देशों की जहाजरानी लगी हुई हैं। जब विदेश के व्यापारी हमारे देश की जहाजों का प्रयोग करते हैं तो उन्हें हमारे देश की मुद्रा में भुगतान करना पड़ता है। उसी प्रकार यदि माल का बीमा हमारे देश की कम्पनियों से कराते हैं तो प्रीमियम भी हमारे देश की मुद्रा में चुकाना पड़ता है। इस प्रकार वे अपनी मुद्रा के बदले हमारी मुद्रा खरीदते हैं और हमारा 'पावना' बढ़ता है। इसके विपरीत जब हम उनकी जहाजों और बीमा कम्पनियों का प्रयोग करते है तो हमें उनकी मुद्रा में भुगतान करना पड़ता है और हमारा 'देना' बढ़ता है। इसी प्रकार जब विदेशी हमारे देश की वित्तीय संस्थाओं का प्रयोग करते हैं तो हमारी विदेशी विनिमय की प्राप्ति बढ़ती है और जब हम विदेशी बैंकों आदि की सेवाओं का उपभोग करते हैं तो हमारा 'देना' बढ़ जाता है।

5. प्रतिफल रहित भुगतान (Unrequitted Payments) :

अभी तक हमने जिन मदों का वर्णन किया है उनके दो पक्ष होते हैं। जब हम भुगतान करते हैं तो बदले में वस्तुएं या सेवाएं प्राप्त करते हैं। परन्तु कुछ प्रतिफल रहित (बदले में कुछ प्राप्त किए बिना) भुगतान भी किए जाते हैं। किसी देश में जो दूसरे देश के नागरिक होते हैं वे अपने सम्बन्धियों को जो रकम भेजते हैं वह इसी प्रकार का भुगतान है। इसी प्रकार किसी देश के नागरिकों या सरकार द्वारा दूसरे देश को जो दान और सहायता दी जाती है, एक प्रतिफल रहित भुगतान है। युद्ध आदि के हर्जाने के रूप में किए जाने वाले भुगतान भी इसी श्रेणी में सम्मिलित किए जाते है।

पूंजीगत आदान-प्रदान
(Capital Movements)

1. दीर्घावधि पूंजी का लेन-देन (Long-term Capital movements)

पूंजी का लेन देन सरकारों तथा व्यापारियों के बीच होता है। दीर्घावधि पूंजी का लेन-देन ऋणों और विदेशी व्यापारिक संस्थाओं के अंशों या ऋण पत्रों के

माध्यम से होता है । जब कोई देश किसी अन्य देश की व्यापारिक संस्थाओं के अंश या ऋणपत्र खरीदते हैं तो उस देश की मुद्रा की माँग बढ जाती है और खरीदने वाले देश का विदेशी 'देना' बढ जाता है । जब दूसरे देश से पूँजी आती है तो विदेशी 'पावना' बढ जाता है और दूसरे देश की मुद्रा की पूर्ति बढ जाती है ।

2. अल्पावधि पूंजी का लेन देन (Short-term capital movements) :

अल्पावधि पूंजी दो प्रकार से लेन देन की जाती है । प्रथम जब किसी देश की सरकार या व्यापारी वर्ग थाडे समय के लिए दूसरे देश मे पूँजी लगाते हैं या ऋण देते हैं । ऐसी अवस्था मे उस देश के विदेशी विनिमय की माग और पूर्ति पर उसी प्रकार प्रभाव पडता है जैसा दीर्घावधि लेन-देन की स्थिति मे पडता है । दूसरे रूप मे अल्पावधि पूजी का लेन-देन उस समय पैदा होता है जब चालू आदान प्रदान तथा दीर्घावधि पूँजी के लेन-देन के दोनो पक्ष (Debit and Credit) एक निश्चित समय मे बराबर नही होते । यही अंतर एक प्रकार से अल्पावधि पूँजी का आदान-प्रदान या आयात निर्यात कहा जाता है । यदि 'पावना' अधिक है और 'देना' कम है तो हम एक प्रकार से विदेशो से अल्पावधि पूँजी प्राप्त करते हैं और इसके विपरीत जब 'देना' अधिक और 'पावना' कम है तो एक प्रकार से अल्पावधि पूँजी देते हैं ।

3. स्वर्ण का आदान-प्रदान (Gold movement) :

चालू आदान-प्रदान तथा दीर्घावधि पूँजो के लेन-देन के दोनो पक्षो के अंतर को निपटाने के लिए स्वर्ण का आयात-निर्यात भी किया जाता है; परन्तु आजकल स्वर्ण का लेन-देन न करके अल्पावधि पूँजी के लेन-देन द्वारा इस अंतर का निपटारा करने का प्रयास किया जाता है ।

भुगतान सतुलन विवरण तैयार करने के लिए कई स्रोतो से आकडे एकत्र किए जाते हैं इसलिए आकडो मे कभी-कभी अंतर पाया जाता है । इस अंतर के कारण भुगतान सतुलन के 'पावनो' एव 'देनो' का योग असमान हो जाता है । इस असमानता को 'भूल-चूक' (Errors and omissions) की मद के अन्तर्गत दिखाते हैं । कभी-कभी किसी वस्तु या सेवा का भूल से भुगतान सतुलन मे उल्लेख नही हो पाता; इस कारण भी दोनो पक्ष बराबर नही हो पाते । इन्हें भी 'भूल-चूक' के अन्तर्गत दिखाया जाता है । भुगतान सतुलन विवरण की मदो का एक नमूना अगले पृष्ठ पर दिया जा रहा है ।

भुगतान सतुलन विवरण
वर्ष (......)

करोड रुपयों में

	पावना +	देना —	शेष
क—चालू खाता (Current Account)			
1. वस्तुए			
(i) निजी क्षेत्र			
(ii) राजकीय क्षेत्र			
2 भ्रमण			
3. परिवहन			
4 बीमा			
5. ब्याज तथा लाभाश			
6. अन्य			
7. दान आदि			
(i) निजी क्षेत्र			
(ii) राजकीय क्षेत्र			
भूल-चूक			
योग			
ख—पूजी खाता (Capital Account)			
1. दीर्घावधि			
(i) निजी क्षेत्र			
(ii) राजकीय क्षेत्र			
2 अल्पावधि			
(i) निजी क्षेत्र			
(ii) राजकीय क्षेत्र			
भूल-चूक			
योग			

भुगतान सतुलन की माल के अतिरिक्त सभी मदें 'अदृश्य मदें' (invisible items) कही जाती हैं। माल के आयात-निर्यात को दृश्य मदें (visible items) कहते हैं।

भुगतान सतुलन तथा व्यापार सतुलन (Balance of Payment and Balance of Trade)

व्यापार सतुलन का सम्बन्ध केवल माल के आयातो तथा निर्यातो से होता है। इन आयातो और निर्यातो को 'दृश्य मदें' (Visible items) की सना दी जाती है एव ये ही भुगतान सतुलन मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। भुगतान सतुलन जैसा पहले बताया जा चुका है, किसी देश की सम्पूर्ण देनदारियो और लेनदारियो का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है। इसमे विदेशी विनिमय से सम्बन्धित 'दृश्य मदे' (Visible items) तथा 'अदृश्य मदें' (Invisible items) सभी शामिल होती हैं।

भुगतान सतुलन तो सदैव सतुलित होता है परन्तु व्यापार सतुलन के दोनों पक्ष किसी निश्चित अवधि मे एक समान नहीं भी हो सकते हैं। निर्यात अधिक होने अर्थात् लेनदारिया (Credit) अधिक होने पर इसे कई लोग 'पक्ष मे' (Favourable) और आयात अर्थात् देनदारिया (Debit) अधिक होने पर विपक्ष मे (unfavourable) कहते है। परन्तु वास्तव म यह विचार भ्रामक है क्योकि प्रत्येक सौदे के दो पक्ष होते हैं – प्रत्येक आयात एक प्रकार का निर्यात भी है (Every import is at the same time an export)। जैसे भारत का आयात किसी न किसी देश का निर्यात व निर्यात किसी न किसी देश का आयात है। यदि सम्पूर्ण ससार को एक मानकर देखें तो सम्पूर्ण आयात सम्पूर्ण निर्यात के बराबर होगा। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धातो मे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सौदे दोनो पक्षो (आयात-कर्त्ता एव निर्यातकर्त्ता) को लाभदायक होते हैं। किन्ही परिस्थितियो मे आयात निर्यात की अपेक्षा राष्ट्रीय हितो की अधिक वृद्धि करता है।

व्यापार सतुलन पर सर्वाधिक प्रभाव किसी देश के आयातो के कीमत-तल एव निर्यातो के कीमत-तल के सम्बन्धो का पडता है। इन्हे ही व्यापार की दशा (Terms of Trade) कहते हैं। यदि निर्यातो का कीमत-तल, आयातो के कीमत-तल की तुलना मे ऊचा है तो व्यापार दशा (Terms of Trade) पक्ष मे तथा इनके विपरीत यदि आयातो का कीमत-तल निर्यातो के कीमत-तल की तुलना मे ऊचा है तो व्यापार दशा (Terms of Trade) विपक्ष मे कही जाती है। यदि व्यापार दशा किसी देश के विपक्ष मे जा रही है तो इसका तात्पर्य है कि उसे लगातार एक दिए हुए आयात के लिए अधिक निर्यात करना होगा। किसी देश के आयातो मे यदि खाद्य एव कच्ची सामग्रिया अधिक हैं तो आयातो मे कमी करना अत्यन्त कठिन हो जाता है और व्यापार दशा प्राय उसके विपक्ष मे होती है।

भुगतान सतुलन सदैव सतुलित होता है
(Balance of Payments always balances)

पूर्ण रूप से तैयार किया गया भुगतान सतुलन, जिसमे चालू और पूजी खातों की सभी लेनदारिया और देनदारिया ध्यान मे रखी गई हो, अवश्य सतुलित होगा। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि स्वभाव से ही भुगतान शेष सतुलित होता है। यदि चालू खाते मे पूर्ण समानता न हो तो उसे किसी अन्य प्रकार से पूरा (cover) किया जाता है। जब भी लेनदारिया देनदारियो से कम होगी, उन्हे पूरा करने के लिए विदेशो से ऋण प्राप्त किया जायगा या स्वर्ण भेजा जायगा। ऋण प्राप्त करने से एव स्वर्ण भेजने से लेनदारिया बढकर देनदारियो के बराबर हो जायगी। पिछडे हुए देशो के लिए ऋण प्राप्त करके भुगतान सतुलन को सतुलित करना अधिक

उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि इन ऋणों का प्रयोग वे अपने विकास के लिए करते हैं। अन्ततोगत्वा इन ऋणों का भुगतान वे वस्तुएं भेजकर ही करते हैं क्योंकि कोई भी देश सदैव ऋणों पर नहीं जीवित रहता। इसीलिए कहा जाता है कि निर्यातों से ही आयातों का भुगतान होता है।

प्रश्न यह पैदा होता है कि जब भुगतान सतुलन सदैव सतुलित होता है तो यह कहने का क्या महत्व है कि भुगतान सतुलन पक्ष मे है या विपक्ष मे ? इस बात को समझने के लिए हमें भुगतान सतुलन मे सम्मिलित मदों पर ध्यान देना होगा। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक दिए हुए समय मे आयात और निर्यात बराबर ही हों या सेवाओं का आदान प्रदान बराबर हो अथवा ब्याज और लाभांश का लेन देन समान हो या अन्य मदें (मौद्रिक स्वर्ण को ध्यान मे न रखने पर) बराबर हों। इस प्रकार सम्भव है कि किसी अवधि मे भुगतान करना अधिक और पाना कम हो, या भुगतान करना कम और पाना अधिक हो। इस प्रकार जब 'पावना' और 'देना' को बराबर करने के लिए मौद्रिक स्वर्ण या अल्पकालीन ऋण के लेन-देन का सहारा लेना पड़े तो भुगतान सतुलन मौलिक रूप से असतुलित ही कहा जायगा। यदि पावना और देना को बराबर करने के लिए मौद्रिक स्वर्ण की प्राप्ति या अल्पकालीन ऋण देना पडता है तो भुगतान सतुलन पक्ष मे और जब मौद्रिक स्वर्ण भेजना या अल्पकालीन ऋण लेना पड़े तो भुगतान सतुलन विपक्ष मे कहा जायगा। इसीलिए मौद्रिक स्वर्ण के लेन देन एवं अल्पकालीन पूंजी के लेन देन को सतुलक मदें (Balancing items) कहा जाता है।

भुगतान सतुलन की साम्यावस्था
(Equilibrium in the Balance of Payments)

यद्यपि भुगतान सतुलन की सभी मदों का ध्यान मे रखने पर भुगतान सतुलन सदैव सतुलित होता है, परन्तु भुगतान सतुलन का सतुलित होना भुगतान सतुलन की साम्यावस्था का द्योतक नहीं कहा जा सकता। इस कथन की सत्यता को पूर्ण रूप से समझने के लिए भुगतान सतुलन मे शामिल मदों को दो भागों मे बाटा जा सकता है—(1) स्वायत्त भुगतान की मदें (Items of Autonomous Payments) तथा (2) अनुग्रही भुगतान की मदें (Items of Accommodating Payments)। स्वायत्त भुगतान की मदें वे हैं जिनका आदान-प्रदान राष्ट्रों के बीच स्वत ही होता रहता है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी आवश्यकताओं के अनुसार इनका लेन-देन करते रहते हैं, बाध्य होकर नहीं। इनकी अपनी सत्ता होती है। अपना अस्तित्व होता है। इसके विपरीत अनुग्रही भुगतान की मदें वे हैं जिन्हें स्वायत्त भुगतानों को पूरा (Cover) करने के लिए आदान-प्रदान किया जाता है। ये

भुगतान स्वायत्त भुगतान के अन्तर को पूरा करने के लिए किए जाते हैं; इनका अपना अस्तित्व नही होता है। इस अतर को पूरा करने के लिए या तो विदेशो से ऋण का लेन-देन करना पडता है या विदेशो को अन्तर के बराबर के मूल्य का माल आयात करने का आग्रह करना पडता है या यदि स्वर्ण कोष है तो उसमे से भुगतान करना पडता है। इस प्रकार स्वायत्त और अनुग्रही भुगतानो को मिलाकर भुगतान सतुलन सतुलित हो जाता है परन्तु वास्तव मे वह भुगतान सतुलन की साम्यावस्था नही होती।

भुगतान सतुलन की साम्यावस्था का अर्थ यह है कि देश की अर्थ-व्यवस्था विश्व के अन्य देशो से इस प्रकार समन्वित (integrated) है कि इसके वर्तमान आर्थिक सम्बन्धो मे ऐसी कोई चीज अतर्निहित (inherent) नही है जिसके कारण इसे विश्व के अन्य देशो से सम्बन्धित विनिमय के ढर्रे (Patterns of exchange) मे कोई परिवर्तन करना पडे।[1] अर्थात् एक देश वस्तुओ, सेवाओ और दीर्घकालीन प्रतिभूतियो के विक्रय से ठीक उतना विदेशी विनिमय प्राप्त कर रहा है जितना उसे वस्तुओ, सेवाओ और दीर्घकालीन प्रतिभूतियो को खरीदने के लिए पर्याप्त है। स्पष्ट है कि भुगतान सतुलन साम्यावस्था मे तभी कहा जा सकता है जब 'पावना' और 'देना' बिना मौद्रिक स्वर्ण के आवागमन एव अल्पकालीन ऋणो के लेन-देन को शामिल किए ही सतुलित हो सके। व्यवहार मे इस प्रकार की साम्यावस्था सदैव प्राप्त नही की जा सकती। अनेक कारणो से भुगतान सतुलन के स्वायत्त भुगतानों मे असमानता आ जाती है। इसलिए भुगतान सतुलन की साम्यावस्था एक ऐसी अवधि के सदर्भ मे अध्ययन की जानी चाहिए जिसमें असतुलन लाने वाले अस्थाई कारणो को खडित किया जा सके। अर्थशास्त्रियो ने इसके लिए व्यापार चक्र की अवधि चुनी है। यदि सम्पूर्ण व्यापार चक्र की अवधि में कुल 'पावना' कुल 'देना' के बराबर है तो भुगतान सतुलन साम्यावस्था मे समझा जायगा। ध्यान रहे कि यहा कुल 'पावना' और कुल 'देना' में मौद्रिक स्वर्ण के आवागमन एव अल्पकालीन ऋणो को शामिल करने की आवश्यकता नही होनी चाहिए।[2] विनिमय नियत्रण

---

[1] "It signifies that a nation's economy is so integrated with the rest of the world that there is nothing inherent in its current economic relations which requires a change in patterns of exchange with other countries".

—Whittlesey, Freedman and Herman: *Money and Banking* p 565.

[2] "Thus movements of gold and short-term debt are to be taken as symptoms of disequilibrium in the balance of international payments."

—Whittlesey, Freedman and Herman: *Money and Banking*, p. 565.

भादि का भी सहारा नही लिया जाना चाहिए। स्वत. ही भुगतान सतुलन सतुलित हो जाना चाहिए।

भुगतान सतुलन को साम्यावस्था मे लाने के उपाय
(Measures to Bring Balance of Payments in Equilibrium)

किसी भी देश का भुगतान सतुलन कुछ समय तक विदेशी अल्पकालीन ऋणों और स्वर्ण निर्यात की सहायता से सतुलित रखा जा सकता है। परन्तु ये दोनों श्रोत निरन्तर बने नही रह सकते। अल्पकालीन ऋण किसी सीमा तक ही लिया जा सकता है। उसी प्रकार प्रत्येक देश का स्वर्ण कोष सीमित होता है और उसका प्रयोग इस काय के लिए एक सीमा तक ही किया जा सकता है।

किसी भी देश का भुगतान सतुलन असाम्यावस्था (disequilibrium) मे उन कारणो के प्रभाव के फलस्वरूप ही आ सकता है जो वस्तुओ और सेवाओ क आयात या निर्यात को प्रभावित करत है, या स्वदेश और विदेश म विनियोगो की लाभदायकता का प्रभावित करते हैं, या एक पक्षीय भुगताना को प्रभावित करते हैं। ध्यान से विचार करने पर ज्ञात होता है कि अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले सभी तत्व–देश और विदेशो की आय मे तुलनात्मक अतर, मुद्रा सकुचन या मुद्रा प्रसार की मात्रा मे अतर, कच्चे माल के श्रोतों की खोज या समाप्ति, तकनीकी परिवर्तन आदि, भुगतान सतुलन को प्रभावित करते हैं।

जब भुगतान सतुलन असाम्यावस्था मे होता है तो उसमे सुधार लाने के लिए निम्नलिखित तरीको का प्रयोग किया जाता है—

1. आय मे परिवर्तन (Changes in income)
2. कीमत–तल मे परिवर्तन (Changes in internal price level)
3. विनिमय दर मे परिवर्तन (Changes in exchange rate)
4. प्रत्यक्ष नियत्रण (Direct Controls)

1 आय मे परिवर्तन (Changes in Income) :

आय की वृद्धि अथवा कमी उपभोगो मे भी वृद्धि अथवा कमी कर देती है। आय का कुछ हिस्सा विदेशो से उपभोग वस्तुओ के आयात करने पर एव कुछ उत्पादक वस्तुओ के आयात पर भी लगाया जाता है। इसलिए आय बढने से स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था मे आयात भी अवश्य बढेगा और आय कम होने से आयात भी कम होगा। आय के कम होने से आतरिक क्षेत्र मे भी वस्तुओ और सेवाओ की माग कम होगी और वस्तुओं की कीमत गिरेगी। कीमत कम होने से वस्तुओ का नियात अधिक हो सकता है। इसलिए आय कम करक आयातो को निर्यातो के अनुसार समायोजित किया जा सकता है। परन्तु आधुनिक युग मे प्रत्येक देश आय बढाने और पूर्ण

रोजगार बिन्दु पर पहुचने का लक्ष्य निर्धारित किए हुए है इसलिए यह तरीका अपनाना आधुनिक समय मे सम्भव नही है क्योकि इससे बेरोजगारी बढती है ।

2. कीमत तल मे परिवर्तन (Changes in Price Level) :

अभी ऊपर यह उल्लेख किया गया है कि कीमत–तल के गिरने का निर्यात पर क्या प्रभाव पडता है । कीमत तल गिराने से भुगतान सतुलन तभी सुधारा जा सकता है जब विभिन्न वस्तुओ की माग की लोच इकाई से अधिक हो । यदि कीमत तल के गिरने पर भी कुल विदेशी विनिमय की प्राप्ति ज्यो की त्यो बनी रहे तो भुगतान सतुलन विपक्ष मे ही रहेगा । परन्तु बार–बार इस तरीके का प्रयोग हानिकारक हो सकता है ।

3 विनिमय दर मे परिवर्तन (Changes in Exchange Rate) :

मुद्रा का बाह्य मूल्य गिराकर–अवमूल्यन (Devaluation) द्वारा भी भुगतान सतुलन को ठीक किया जा सकता है । अवमूल्यन का प्रभाव भी निर्यात को बढावा देना और आयात को कम करना ही होना है । परन्तु अवमूल्यन बडा ही कोमल अस्त्र है और इसका प्रयोग सामान्यतया नही किया जाना चाहिए, क्योकि इसका प्रभाव उल्टा भी पड सकता है । जब भुगतान सतुलन सुधारने के अन्य उपाय कारगर न हो तभी इसका प्रयोग किया जाना चाहिए । इस सम्बन्ध मे यह भी याद रखना होगा कि इसका प्रभाव उसी समय ठीक पड सकता है जब अन्य देश अवमूल्यन न करें, यदि सभी देश अवमूल्यन करने लगें तो यह प्रभावहीन होगा । दूसरी स्मरणीय बात इस सम्बन्ध मे यह है कि यह तरीका उसी हालत मे सफल हो सकता है जब अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे कीमत-स्तर मे असाम्य की स्थिति आ गई हो । भुगतान सतुलन की असाम्यावस्था यदि किसी देश के आर्थिक ढाचे के अस्त-व्यस्त होने के कारण पैदा हुई है तो यह तरीका असफल ही रहेगा ।

4. प्रत्यक्ष नियन्त्रण (Direct Controls) :

प्रत्यक्ष नियन्त्रणो के अन्तर्गत कई उपाय काम मे लाये जा सकते हैं जिनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं

1 आयात पर रोक (Import Restrictions) ।
2 निर्यातो को प्रोत्साहन (Export Promotion)
3 विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)

1. आयातो पर रोक · आयातो पर रोक लगा कर विदेशी विनिमय की माग को प्रभावित किया जाता है । आयातो मे कमी होने से भुगतान सतुलन सुधरने लगता है बशर्ते निर्यात बने रहें या बढें । आयात स्थानापन्न व्यवस्था (Import substitution) को कार्य रूप दिया जाता है और आयात की जाने वाली वस्तुओ

की स्थानापन्न वस्तुएं स्वदेश मे ही बनाई जाने लगती हैं । आयात कर और आयात कोटा (quota) के द्वारा आयातो को सीमित कर दिया जाता है ।

2. **निर्यातों को प्रोत्साहन .** निर्यातो को प्रोत्साहित करके विदेशी विनिमय की पूर्ति को बढाने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे भुगतान संतुलन को सुधारा जा सके । निर्यातो को प्रोत्साहन देने के लिए निर्यात वृत्ति और सहायता (Export Bounty and Subsidy) आदि दी जाती है । दूसरे देशो से दीर्घकालीन ऋण लेकर उत्पादन बढाना, वस्तु विनिमय के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करना एव उचित मौद्रिक नीति अपना कर निर्यातो को बढाने का प्रयत्न किया जाता है ।

3. विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) . इसके द्वारा विदेशी विनिमय की माग और पूर्ति को प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण मे रखा जाता है । इसका विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय मे किया गया है ।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संकेत

1. भुगतान सतुलन के क्या क्या अग हैं ? विपरीत भुगतान सतुलन के सुधारने के क्या उपाय हैं ?

(आगरा बी० ए०, 1964)

[संकेत-प्रथम भाग मे भुगतान सतुलन की मदो को तालिका रूप मे दिखाइये और विभिन्न मदो का संक्षिप्त वर्णन कीजिए । दूसरे भाग मे भुगतान सतुलन की असाम्यता को दूर करने के विभिन्न उपायो का वर्णन कीजिए ।]

2. व्यापार-सतुलन तथा भुगतान-सतुलन मे क्या अन्तर है ? प्रतिकूल भुगतान सतुलन को किस प्रकार सुधारा जा सकता है ?

(आगरा, 1960)

[संकेत प्रथम भाग में बताइये कि व्यापार सतुलन किसी देश की निश्चित अवधि मे होने वाले आयात तथा निर्यात के अन्तर को बताता है जबकि भुगतान-सतुलन अधिक व्यापक शब्द है जिसमें समस्त अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक लेन-देनों को सम्मिलित किया जाता है । इसमे प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार की व्यापारिक मदो का समावेश होता है । दूसरे भाग मे, प्रतिकूल भुगतान सतुलन को सुधारने के विभिन्न उपायो का वर्णन कीजिए ।]

23

विनिमय नियंत्रण
(Exchange Control)

"The system of exchange control is at once very similar to and very different from that of the traditional exchange market"

—Bertrand Nogaro

यो तो प्राचीन काल से ही न्यूनाधिक अशो मे विनिमय नियत्रण की नीति अपनाई जाती रही है परन्तु जिन अर्थों मे विनिमय नियत्रण की नीति का प्रयोग आधुनिक युग मे किया जाता है उसका प्रारम्भ, व्यापक रूप मे, 1931 के बाद हुआ। जब 1931 के बाद एक-एक करके अनेक देशो ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया तो उनके सामने यह प्रश्न पैदा हुआ कि विदेशी विनिमय की कौन सी पद्धति अपनाई जाय। लोगो को ऐसी विदेशी विनिमय प्रणाली की तलाश थी जिसमे स्वर्णमान की हठधर्मी (Rigidity) तो न हो परन्तु विनिमय दर मे स्थायित्व हो। यह सोचा गया कि मौद्रिक अधिकारी ऐस उपाय ढूढ निकालने मे सफल हो सकेगे जिससे आतरिक नीति को बाह्य प्रभावो से मुक्त रखा जा सके और साथ ही विनिमय दर के नित्य प्रति होने वाले उच्चावचनो से बचा जा सके। मौद्रिक अधिकारियो द्वारा तय की गई एसी स्थायी विनिमय दर की आवश्यकता थी जिसे बदली हुई परिस्थितियो के अनुसार बदला भी जा सके। इन्ही उद्देश्यो से प्रेरित होकर किसी न किसी रूप मे विनिमय नियत्रण की नीति अपनाई जाने लगी।

विनिमय नियत्रण उन सरकारी हस्तक्षेपो की ओर सकेत करता है जिनके द्वारा विनिमय दर की स्वाभाविक प्रवृत्ति एव पू जी के आवागमन पर, पूर्व निर्धारित उद्देश्यो की पूर्ति के निमित्त, रोक लगाई जाती है। दूसरे शब्दो मे विनिमय नियत्रण के अन्तर्गत, विदेशी विनिमय से सम्बद्ध सौदो पर, मुद्रा विशेष के विनिमय मूल्य पर पडने वाले दबाव को कम करने के उद्देश्य से, लगाये गए प्रतिबन्ध सम्मिलित हैं।[1]

[1] "The term 'exchange control' refers to the regulation of transactions involving foreign exchange with a view to releiving pressure on the exchange value of a particular currency."

—Whittlesey, Freedman, Herman : *Money and Banking*, p. 582

इसी प्रकार विनिमय नियन्त्रण के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए हैबरलर ने लिखा है कि ' विनिमय नियन्त्रण, विदेशी विनिमय बाजार मे आर्थिक शक्तियो की स्वतन्त्र क्रियाशीलता पर राजकीय नियमन का ही नाम है।"[1] इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण मूलत विदेशी विनिमय के माग और पूर्ति के स्रोतो (Sources) को नियमित करना है। सक्षेप म विनिमय नियन्त्रण की निम्नलिखित विशेषताए होती है—

1 विदेशी विनिमय सम्बन्धी सौदो का सचालन सरकार या अधिकृत सस्था द्वारा ही किया जाता है।

2 जो भी विदेशी विनिमय प्राप्त होता है उसे सरकार या अधिकृत सस्था को सौंपना पडता है।

3. विदेशी विनिमय का वितरण तथा व्यय सरकार या अधिकृत सस्था द्वारा निश्चित कार्य विधि के अनुसार किया जाता है।

4. विदशी विनिमय पर पूर्ण नियन्त्रण होने के कारण देश के आयात एव निर्यात पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण रहता है।

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य

(The Purpose of control in The Exchange Market)

प्रो० आर० जी० थामस के शब्दो मे—"विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य विनिमय दर को मुक्त विनिमय बाजार मे स्थापित होने वाली विनिमय दर से, भिन्न स्तर पर बनाए रखना है।"[2] यदि माग एव पूर्ति की स्वतन्त्र शक्तियो द्वारा निर्धारित विनिमय दर से सरकार सतुष्ट है तो विनिमय नियन्त्रण की आवश्यकता नही है, परन्तु जब नियन्त्रित दर को स्वतन्त्र दर से भिन्न रखना हो तो इसके तीन उद्देश्य हो सकते है—

1. अधिमूल्यन (Over-valuation)

2 अधोमूल्यन (Under-valuation)

3. विनिमय-दर के उच्चावचनो से बचना (Avoidance of Fluctuations in the Rate of Exchange)

अब हम इन उद्देश्यो की व्याख्या करेंगे।

---

[1] "...The state regulation excluding the free play of economic forces from the foreign exchange market'
—Haberler : *The Theory of International Trade*, p. 83

[2] "The purpose of such intervention or control was to hold foreign exchange rates at some point different from the rates that would have existed in a completely free exchange market"
—R G Thomas *Our Modern Banking and Monetary System* p. 543

1 अधिमूल्यन
(Over-valuation)

अधिमूल्यन ही विनिमय नियन्त्रण का सामान्य उद्देश्य रहा है। कोई देश क्यो अधिमूल्यन करना चाहता है, इसके कई कारण हो सकते हैं परन्तु इन सबका स्रोत एक ही है और वह यह कि सम्बन्धित देश का व्यापार सन्तुलन गम्भीर रूप से विपक्ष मे है। स्वतत्र विनिमय दर उस देश की मुद्रा की पूर्ति का माग की अपेक्षा अत्यधिक बढा देगी और उसकी मुद्रा का अन्य मुद्राओ के सदर्भ मे मूल्य गिर जायेगा। इन सबके फलस्वरुप विदेशो मे भुगतान करने के लिए उस देश को अपनी अधिक मुद्रा देनी होगी। युद्ध की परिस्थितियो मे या युद्ध के बाद पुनर्निर्माण के समय या पिछडी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए अधिक आयातो की आवश्यकता तथा निर्यातो की कम सम्भावना इस कठिनाई को और अधिक बढा देती है। ऐसी परिस्थिति मे माग और पूर्ति की सामान्य शक्तिया साम्यावस्था मे आने की प्रवृत्ति नही रखती। इसलिए मुद्रा के अधिमूल्यन की आवश्यकता होती है।[1]

अधिमूल्यन का दूसरा कारण बडी मात्रा के विदेशी ऋणों के भुगतान के भार को कम करना है। जिन देशो को विदेशी ऋणो का भुगतान करना होता है उन्हे विदेशी मुद्रा अधिक मात्रा मे प्राप्त करनी होती है। यदि ऋणी देश अपनी मुद्रा का नियन्त्रण द्वारा अधिमूल्यन कर सके तो विदेशी भुगतान की लागत (cost) कुछ कम हो सकती है।

अधिमूल्यन की आवश्यकता का तीसरा कारण किसी देश विशेष की *आतरिक स्थिति भी हो सकती है। यदि किसी देश मे मुद्रा स्फीति का भय हो और* विदेशी व्यापार उसकी अर्थव्यवस्था का प्रमुख अग हो तो दूसरी मुद्राओ के सदर्भ मे उसकी मुद्रा का मूल्य गिरने से आयात बहुत महगे हो जायगे और निर्यातको को आकस्मिक लाभ होने लगेगा। दोनो ही परिस्थितिया मुद्रा स्फीति को उग्र बना देंगी। इसका प्रभाव सामान्य कीमत-स्तर पर पडेगा और मुद्रा का आतरिक और बाह्य मूल्य गिरता चला जायगा। इस खतरनाक स्थिति से बचने के लिए अधिमूल्यन की नीति अपनाई जाती है।

अधिमूल्यन के दोष :

उपरोक्त कारणो से अधिमूल्यन की नीति अपनाई जाती हैं, परन्तु अधिमूल्यन के कुछ दोष भी है जिससे अर्थव्यवस्था पंगु हो सकती है। अधिमूल्यन के

1 "Over valuation is usually a desirable policy for any country that is under the sudden necessity of making very large purchases from abroad".

—Crowther : *An Outline of Money*, p 238

कारण उस देश का कीमत स्तर अन्य देशो के कीमत स्तर से अधिक होता है। यदि टैरिफ और कोटा (quota) का सहारा न लिया जाय तो निर्यात का धक्का लगता है। इस प्रकार अधिमूल्यन कभी लाभदायक और कभी हानिकारक होता है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि ऋणो का भुगतान करने के लिए या अधिक आयातो का भुगतान करने के लिए अधिमूल्यन लाभदायक है। परन्तु विश्वव्यापी मदी के समय अधिमूल्यन के स्थान पर अधोमूल्यन (Under valuation) को अपनाना लाभदायक है।[1]

2 अधोमूल्यन
(Under-valuation)

अधोमूल्यन का प्रभाव सामान्यतया अधिमूल्यन के विपरीत होता है। निर्यातो को प्रोत्साहन मिलता है, आयात कम हो जाते है। अधोमूल्यन द्वारा देश अपने निर्यात व्यापार की प्रतियोगिता की शक्ति को बढाता है। प्रारम्भ मे इस प्रकार की नीति जापान द्वारा अपनाई गई और बाद मे अमेरिका सहित अन्य अनेक देशों ने भी यह नीति अपनाई। अधोमूल्यन के लाभ दो परिस्थितियो मे प्राप्त होते हैं—(1) पहले से वर्तमान अधिमूल्यन को ठीक करने के लिए किया गया अधोमूल्यन स्पष्टत: लाभप्रद होता है (2) अधोमूल्यन का लाभ तभी प्राप्त होता है जब अन्य देश इस प्रकार की नीति अपनाने मे असफल होते हैं। आतरिक रोजगार तथा निर्यात के क्षेत्र मे अधोमूल्यन इसीलिए लाभप्रद होता है क्योंकि उत्पादन लागत अधोमूल्यन के साथ कदम नही मिला पाती एव धीरे धीरे समायोजित होती है।[2]

अधोमूल्यन की नीति सामान्य कीमत स्तर को आयात और निर्यात की जाने वाली वस्तुओ की कीमतो के माध्यम से प्रभावित करती है। इसलिए जिस देश मे विदेशी व्यापार बहुत महत्वपूर्ण है वहा इसका विस्तृत एव गहन प्रभाव शीघ्र पडता है। इसके साथ ही यदि अधोमूल्यन की नीति अपनाने वाला देश छोटा है और विश्व व्यापार मे उसका भाग विशेष महत्वपूर्ण नही है तो उसे अधिक लाभप्रद होगा क्योकि उसकी प्रति क्रिया अन्य देशो मे होने की आशका कम होती है। इसका

1 "...in times of war and scarcity, over value your currency, in times of slump and surfeit, under value your currency".

—Crowther : *An Outline of Money*, p. 240

2 "The gains in exports and in domestic employment resulting from under-valuation arise from the tendency for costs of production to lag and adjust slowly to the depreciation in the exchange value of the currency".

—R. G. Thomas : *Our Modern Banking and Monetary System* p 545

अभिप्राय यह है कि अधोमूल्यन की नीति न्यूजीलैण्ड तथा डेनमार्क जैसे देशो के लिए, जिनका विदेशी व्यापार स्वय के लिए बहुत महत्वपूर्ण होते हुए भी विश्व व्यापार का बहुत छोटा भाग है, लाभदायक है।

अधोमूल्यन के दोष—

अधोमूल्यन की नीति को स्वार्थपूर्ण कहा जा सकता है क्योकि इससे किसी देश को जो भी लाभ प्राप्त होता है वह किसी अन्य देश की कीमत पर ही प्राप्त होता है। यदि सभी देश इस प्रकार की नीति अपनाना प्रारम्भ कर दे तो सभी देशो की मुद्राए बेकार हो जायगी। इस सम्बन्ध मे क्राउथर को उद्धृत करना असगत नही होगा

"Under valuation is a game that any one can play, but it every one plays at it and currencies enter upon a competition to see which can be pushed furthest below its real value, it quickly develops into a race to render all currencies worthless"

3 विनिमय दर के उच्चावचनो से बचना
(Avoidance of Fluctuations in the Rate of Exchange)

इस बात से सभी सहमत हैं कि विदेशी व्यापार मे लगे हुए देशो के बीच की विनिमय दर स्थाई होनी चाहिए। विनिमय दर के अस्थायी रहने से विदेशी व्यापार की जोखिम बढ जाती है। परन्तु व्यवहार मे इस नीति को अपनाना बडा कठिन है। इस नीति का उद्देश्य, स्वतत्र विनिमय दर के अस्थायी उतार चढाव को रोकना एव विभिन्न मुद्राओ के वास्तविक मूल्यो मे परिवर्तन के फलस्वरूप होने वाले विनिमय दर के परिवतनो मे दखल न देना, होता है। परन्तु कौन अस्थायी परिवर्तन हैं और कौन नही इसका तत्काल निर्णय करना कठिन होता है, इसलिए इस नीति के पालन मे अवसरवादिता का प्रवेश हो जाता है।

विनिमय दर के स्थायित्व को बनाए रखने के लिए नियन्त्रणो की आवश्यकता अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा प्रणाली मे स्वर्णमान की अपेक्षा कही अधिक होती है। विशेष रूप से इस प्रकार की मुद्राओं मे सामयिक परिवर्तन होते ही रहते हैं। इसलिए विनिमय नियत्रण विनिमय दर के स्थायित्व के लिए आवश्यक ह।

विनिमय नियत्रण की रीतिया
(Methods of Exchange Control)

विनिमय नियत्रण के विभिन्न तरीको को दो वर्गो म रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग मे उन उपायो को शामिल किया जा सकता है जिनको अपनाने का प्राथमिक (Primary) उद्देश्य विनिमय दर नियत्रण करना नही होता, परन्तु

इनका प्रभाव परोक्ष रूप से विदेशी विनिमय की माग और पूर्ति पर पडता है। दूसरे वर्ग मे उन उपायो को सम्मिलित किया जा सकता है जिनको अपनाने का प्राथमिक (Primary) उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से विदेशी विनिमय की माग और पूर्ति को प्रभावित करना होता है। इस प्रकार इनको (1) अप्रत्यक्ष उपाय (Indirect Methods) तथा (2) प्रत्यक्ष उपाय (Direct Methods) की सज्ञा दी जा सकती है।

अप्रत्यक्ष उपाय
(Indirect Methods)

इस वर्ग मे उन उपायो को सम्मिलित किया जाता है जो प्रत्यक्ष रूप से किन्ही और कारणो से अपनाए जाते हैं परन्तु फिर भी उनका विनिमय दर पर प्रभाव पड़ता है।[1] इस प्रकार के उपायो मे आयात नियत्रण के तरीकों का उल्लेख किया जा सकता है जिनके परिणाम स्वरूप विदेशी विनिमय बाजार मे उस देश की मुद्रा की पूर्ति कम हो जाती है और उसका मूल्य अन्य मुद्राओं के सदर्भ म बढने की प्रवृत्ति दिखलाता है। परन्तु यदि अन्य देश भी आयात नियत्रण की नीति अपनावें तो किसी भी देश की मुद्रा का तुलनात्मक मूल्य (Relative values) नही बदलेगा। इसी प्रकार यदि निर्यातो को प्रोत्साहित करने के उपाय अपनाए जाय तो उनका भी विनिमय दर पर प्रभाव पडता है। जैसे यदि निर्यात वृत्ति (Export Bounties) का तरीका अपनाया जाय तो दूसरे देशो की मुद्रा के सदर्भ मे उस देश की मुद्रा का मूल्य बढने की प्रवृत्ति रखेगा। यदि निर्यातो पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय तो मुद्रा का मूल्य अन्य मुद्राओ की तुलना मे गिरेगा।

किसी देश म आतरिक कारणो से ब्याज दर मे किए गए परिवर्तन भी परोक्ष रूप से विनिमय दर को प्रभावित करते हैं। विनिमय बाजार के बहुत से सौदे वस्तुओं के क्रय विक्रय से सम्बन्ध नहीं रखते। उनका सम्बन्ध पूंजी और विनियोगों के आवागमन से होता है। किसी देश मे यदि ब्याज दर बढ जाती है तो अन्य देशों की पूंजी और विनियोग आकृष्ट होते हैं और उस देश की मुद्रा की माग बढ जाती है तथा उसका तुलनात्मक मूल्य बढने लगता है। 1924 से 1930 का जर्मनी का अनुभव इसका स्पष्ट उदाहरण है। इस प्रकार ब्याज दर अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी विनिमय की माग एव पूर्ति को प्रभावित करती है।

उपरोक्त सभी परोक्ष उपाय विनिमय नियत्रण के उद्देश्य से नही अपनाये जाते। कस्टमस् ड्यूटी (Customs duties) का उद्देश्य कुछ उद्योगो को सरक्षण

---

[1] "devices that may be applied for entirely different reasons but that nevertheless have an effect on the rates of exchange"

—Crowther. *An Outline of Money* p 246

देना या सरकार की श्राय बढाना हो सकता है, निर्यात वृद्धि का उद्देश्य निर्यातो को बढाना होता है तथा आयात प्रतिबन्धो का लक्ष्य आयातो को कम करना होता है। ब्याज दर आतरिक साख नियत्रण के उद्देश्य से परिवर्तित किया जाता है। परन्तु इन सबका प्रभाव विनिमय दर पर भी पडता है। हाँ, उसका प्रभाव परोक्ष रूप मे पडता है। इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि इनके क्रियाशील होने की सीमाए होती हैं। अन्य देशो के सहयोग के अभाव मे विनिमय नियत्रण की अप्रत्यक्ष रीतिया सफलता नही पा सकती। क्राउथर ने अप्रत्यक्ष नियत्रणो के सम्बन्ध मे निष्कर्ष देते हुए लिखा है

"These methods of indirect control, therefore, though they are by no means negligible, are not nearly strong or precise enough instruments for a government that aspires to bring the exchange rates under close control."

प्रत्यक्ष उपाय
(Direct Methods)

विनिमय नियत्रण का वही तरीका प्रभावशाली हो सकता है जो विदेशी विनिमय बाजार मे मुद्राओ की माग और पूर्ति को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर सके। इस वर्ग मे विनिमय नियत्रण के दो प्रमुख ढग सम्मिलित किए जाते हैं—

(अ) हस्तक्षेप (Intervention)

(ब) विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restriction)

(अ) हस्तक्षेप (Intervention) :

यदि मुक्त विनिमय दर किसी देश की सरकार अथवा अधिकारी सस्था की पसन्द के अनुकूल न हो तो वह स्वय विनिमय बाजार मे प्रवेश करती है तथा मुद्रा की माग अथवा पूर्ति को आवश्यकतानुसार बढाकर विनिमय दर को इच्छित स्तर पर रखने का प्रयत्न करती है। उदाहरण के लिए यदि भारत सरकार रुपए का मूल्य ऊचा रखना चाहती है तो स्वय बाजार मे प्रवेश कर रुपए की माग को बढा सकती है और उसका विनिमय मूल्य ऊचा रख सकती है। यही हस्तक्षेप की नीति कही जाती है। इस नीति की प्रथम विशेषता यह है कि इससे विनिमय बाजार मे सौदो की सख्या बढ जाती है। दूसरी विशेषता यह है कि विनिमय बाजार स्वतन्त्र रहता है विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय पर कोई प्रतिबन्ध नही होता, परन्तु विनिमय बाजार स्वाभाविक न होकर कृत्रिम हो जाता है। तीसरी विशेषता यह है कि हस्तक्षेप की नीति का पालन करने के लिए देश की मुद्रा एव विदेशी मुद्रा अथवा स्वर्ण का पर्याप्त भडार होना चाहिए। इसकी चौथी विशेषता यह है कि इसका प्रयोग विनिमय दर मे अस्थायी एव असामान्य कारणो से उत्पन्न परिवर्तनो को कम करने के लिए ही किया जाता है।

हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करने के लिए सरकार प्राय दो तरीके अपनाती है .

(1) विनिमय उदबन्धन (Exchange Pegging)

(2) विनिमय स्थिरीकरण कोष (Exchange Stabilisation Fund)

1. विनिमय उद्बन्धन (Exchange Pegging) :

जब वास्तविक विनिमय दर को मुक्त विनिमय दर की अपेक्षा नीची दर पर स्थिर करने का प्रयत्न किया जाता है तो इसे नीचे अटकाना (pegging down) कहा जाता है। इस काय के लिए सरकार को पूर्ति पक्ष को समर्थन देना पडता है। इसे अपनी मुद्रा की पूर्ति को बाजार मे बढानी हाती है और विदेशी विनिमय खरीदना पडता है। उदाहरण के लिए यदि भारत का एक रुपया 15 सेण्ट के बराबर हो परन्तु भारत सरकार इसे नीचे अटका कर (Pegged down) 14 सेंट कर दे तथा बाजार शक्तिया इसे 14 5 की ओर ले जाय तो सरकार स्वय 14 सेंट की दर से डालर खरीदने लगेगी और डालर को अपेक्षा रुपए की पूर्ति को बढाकर विनिमय दर को 14 सेण्ट पर स्थिर करने का प्रयास करेगी।

इसके विपरीत यदि सरकार वास्तविक विनिमय दर को स्वाभाविक विनिमय दर से ऊपर टांकना (Pegging up) चाहती हो तो सरकार को विनिमय बाजार म प्रवेश करके विदेशी मुद्रा को असीमित मात्रा मे बेचने तथा अपनी मुद्रा खरीदने का काय करना पडता है जिससे विनिमय बाजार मे विदेशी मुद्रा की पूर्ति का बढाकर विनिमय दर को ऊपर टकी दर (Pegged up rate) पर स्थिर किया जा सके। उदाहरण के लिए यदि वास्तविक विनिमय दर को (ऊपर के उदाहरण मे) 16 सट पर टाकने का प्रयत्न किया जाय और बाजार शक्तिया उसे 15 5 सेण्ट पर ल जाने लग तो सरकार को 16 सेण्ट की दर पर डालर बेचने का कार्य करना होगा जिसस डालर की पूर्ति बढ और रुपये की मात्रा में कमी हो और विनिमयदर 16 सेण्ट पर स्थिर हो सके।

वास्तव मे नीचे टाकना (Pegging Down) तथा ऊपर टाकना (Pegging up) इन दोनो मे नीचे टाकना अधिक सरल है क्योकि उसमे अपनी मुद्रा की पूर्ति को बढाना हाता है तथा ऊपर टाकने मे विदेशी मुद्रा की पूर्ति को बढाना होता है जिसके लिए विदेशी मुद्रा का पर्याप्त भडार होना आवश्यक है। अत ऊपर टाकने की शक्ति सीमित होती है।

2 विनिमय स्थिरीकरण कोष (Exchange Stabilisation Fund)

विनिमय स्थिरीकरण कोष की स्थापना विनिमय दर को स्थिर रखने के उद्देश्य से की जाती है। अस्थाई कारणों से विनिमय दर मे होने वाले उच्चावचनो को रोकना तथा सट्टे के प्रभाववश पूँजी के अल्पकालीन आवागमनो के प्रभावो से

विनिमय दर को सुरक्षित रखना ही इन स्थिरीकरण कोषो का लक्ष्य है ।[1] यद्यपि इन कोषो का कार्य स्थायी एव आधारभूत कारणो से होने वाले विनिमय दर के परिवर्तनो को रोकना नही है फिर भी व्यवहार मे अस्थाई एव स्थायी परिवर्तनो मे अन्तर करना कठिन होने के कारण इनका प्रयोग आधारभूत कारणो से होने वाले परिवर्तनो को रोकने के लिए भी किया गया है । इस तरह की नीति का सबसे अच्छा नमूना 'ब्रिटिश समानीकरण खाता' प्रस्तुत करता है । इसके सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करते हुए क्राउथर ने लिखा है—

"The aim of the Accounts operations was neither to over-value nor to undervalue the pound, but merely to 'iron-out' temporary ups and downs In practice, there are reasons for believing that there were times both of under-valuation and of over-valuation of the pound in these years."

कुछ अन्य देशो के स्थिरीकरण कोषो के कार्यों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उक्त उद्देश्यो के अतिरिक्त अन्य बातो को भी स्थिरीकरण कोषो ने अपना लक्ष्य बनाया । 1931 के पश्चात जब अमेरिका को विदशी व्यापार मे इगलैंड की प्रतियोगिता करन मे कठिनाई का अनुभव हुआ तो अमेरिका के स्थिरीकरण कोष ने स्टर्लिंग के बाह्य मूल्य के गिरने का प्रतिरोध (offsetting) करना अपना प्रमुख उद्देश्य बना लिया । इसी प्रकार फ्रास के स्थिरीकरण कोष की स्थापना 1936 मे इसलिए की गई कि इसकी सहायता मे फ्रैंक को पुन योरोप की मुद्राओ मे उच्च स्थान पर प्रतिस्थापित करके उसके महत्व को कायम किया जा सके ।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के पूर्व सामान्यतया हस्तक्षेप की नीति द्वारा ही विनिमय नियत्रण किया जाता था । विनिमय स्थिरीकरण कोष भी इसी नीति पर आधारित था और इसका उद्देश्य विनिमय दर को स्वाभाविक दर स्थिर करना था तथा मुद्रा के बाह्य मूल्य को नीचे गिरने या ऊपर बढने से रोकना अर्थात मुद्रा का अधिमूल्यन या अधोमूल्यन न होने देना था । इनका कार्य अस्थायी कारणो से उत्पन्न विनिमय दर के परिवर्तनो को रोकना तथा ऐसा करने मे अधिक जोखिम से बचना एव बाह्य परिस्थितियो के प्रभाव से अर्थव्यवस्था को बचाना था ।

ब्रिटेन, फ्रास और अमेरिका मे विनिमय समानीकरण कोषो की स्थापना हो जाने के बाद आपस मे एक त्रिपक्षीय समझौता भी (Tripartite Agreement)

---

1. "Such a fund is for the purpose of defending the exchange market from the effects of speculative inflows and out-flows of short term capital"
—R. G Thomas *Our Modern Banking and Monetary System* p 546

किया जिसके अनुसार वे किसी भी मुद्रा को (तीन मे से) दूसरे दो देशों द्वारा बेची जाने पर, स्वर्ण मे पूर्व निश्चित दर पर खरीद लेने को वचनबद्ध थे। उदाहरण के लिए फ्रास डालर तथा पौण्ड के बदले, अमेरिका फ्रैंक तथा पौण्ड के बदले तथा इगलैंड फ्रैंक तथा डालर के बदले स्वर्ण देने को तैयार था। इनकी विनिमय दर मे मौलिक असतुलन (Fundamental disequilibrium) की स्थिति मे सभी सदस्यो की सहमति से परिवर्तन हो सकता था। बाद मे इस समझौते मे स्विटजरलैंड, बेल्जियम तथा हालैंड भी शामिल हुए। द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के कारण इन कोषो का महत्व सहायक के रूप मे ही महत्वपूर्ण है।

(व) विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restriction) :

विनिमय प्रतिबन्ध सर्वाधिक प्रत्यक्ष, कठोर परन्तु प्रभावशाली ढग है। वास्तव म आधुनिक युग मे विनिमय नियत्रण, विनिमय प्रतिबन्ध का ही पर्यायवाची समझा जाता है। इस रीति से विनिमय नियत्रण करने मे विनिमय बाजार की स्वतनता समाप्त हो जाती है। इसके प्रभाववश विनिमय बाजार मे सौदो की सख्या कम हो जाती है। जनता द्वारा विदेशी विनिमय का रखना प्रतिबन्धित होता है और इसका प्रयोग सरकार की इच्छा और आदेशो के अनुसार ही किया जा सकता है। विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय निश्चित नियमो के अनुसार सरकार या किसी अधिकृत सस्था द्वारा ही किया जाता है।

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के बाद हस्तक्षेप की नीति अपनाकर विनिमय दर को नियन्त्रित करना कई देशो के लिए प्रभावहीन सिद्ध हुआ और उन्हे बाध्य होकर विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restriction) के अधिक सशक्त तरीको का प्रयोग करना पडा। हस्तक्षेप और विनिमय प्रतिबन्ध की रीतियो का मौलिक अतर यह है कि हस्तक्षेप की रीति अपनाने वाली सरकारो को विनिमय बाजार मे सौदो की सख्या बढानी पडती और इसके लिए उनके पास अधिक मात्रा मे विदेशी मुद्रा या स्वर्ण की आवश्यकता होती, दूसरी ओर प्रतिबन्ध की नीति द्वारा देश की मुद्रा की माग को कृत्रिम ढग से बढाने की आवश्यकता नहीं होती है बल्कि इसके स्थान पर बाजार मे मुद्रा की पूर्ति को अनिवार्य रूप से कम कर दिया जाता है। हस्तक्षेप मे माग को बढाकर तुलनात्मक माग बढाई जाती है और प्रतिबन्ध मे पूर्ति को कम करके तुलनात्मक माग को बढाया जाता है। विनिमय प्रतिबन्ध की परिभाषा देते हुए क्राउयर ने लिखा है "We must say that any thing that diminishes the turnover of the foreign exchange market constitutes restriction."। इस प्रकार विनिमय प्रतिबन्ध की निम्नलिखित विशेषताए हो सकती है—

1. विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय सरकार या उसकी अधिकृत सस्था के हाथ मे केन्द्रित रहता है।

2. विदेशी मुद्रा क्रय करने के पूर्व सरकार से आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक होता है। बिना आज्ञा के किसी प्रकार का विदेशी भुगतान वर्जित है।
3. बिना आज्ञा के विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय दडनीय अपराध होता है।
4. भुगतान स्वरूप प्राप्त विदेशी विनिमय को निश्चित विनिमय दर पर सरकार या अधिकृत सस्था को बेचना आवश्यक होता है।
5. पूँजी के निर्यात तथा दूसरे देश की पूँजी की वापसी पर भी सरकार का प्रतिबन्ध होता है।

इस प्रकार के विनिमय प्रतिबन्ध का प्रयोग सवप्रथम जमनी और आस्ट्रिया द्वारा 1931 के आर्थिक सकट के समय किया गया। जर्मनी में इस रीति का बडी कठोरता से पालन किया गया। इन नियमो का उलघन करने का दड जर्मनी मे मृत्युदड था। द्वितीय महायुद्ध छिडने के समय तक विनिमय प्रतिबन्ध की रीति मध्य योरोप तथा दक्षिण अमेरिका के देशो तक सीमित थी परन्तु युद्ध छिडने के बाद और युद्ध समाप्त होने तक ससार की लगभग सभी मुद्राए विनिमय प्रतिबन्ध की परिधि मे समाविष्ट हो गई।

विनिमय प्रतिबन्ध के कई रूप हो सकते हैं, जिनमे कुछ रूपो का वर्णन नीचे दिया जा रहा है—

(1) अवरुद्ध खाते (Blocked Accounts)

1931 की महान आर्थिक सकट की स्थिति मे अनेक ऋणी देशो द्वारा, जिनमे जर्मनी का नाम प्रमुख है, 'अवरुद्ध खातो' का प्रयोग किया गया। इन खातो का उद्देश्य विदेशी ऋणो और ब्याज का भुगतान रोकना था। ऋणी देशो ने विदेशी ऋणो और ब्याज का भुगतान करना बन्द कर दिया और ऋण की रकम के बराबर मूल्य की अपनी देश की मुद्रा अपने केन्द्रीय बैंक के पास ऋणदाता के नाम जमा करा दी। ऋणदाता इस जमा को निकाल नही सकता था। इस प्रकार के जमा खातो को ही "अवरुद्ध खाता" कहा जाता है।

अवरुद्ध खातो के कारण विदेशी ऋणदाताओ को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता था क्योकि वे इसका इच्छित प्रयोग नही कर सकते थे। इन खातो के प्रयोग के कारण उन देशो को विशेष हानि हुई जो अवरुद्ध खातो की रीति अपनाने वाले देशो को माल निर्यात करते थे। अवरुद्ध खातो मे जमा रकम का प्रयोग उन्ही देशो मे कुछ विशेष भुगतानो के लिए किया जा सकता था। जो लोग (ऋण-दाता) इस प्रकार स्वय इन खातो का प्रयोग नही कर सके उन्होने इस जमा को हानि उठाकर दूसरो को बेचना ही ठीक समझा। खरीदने वालो को अवरुद्ध खाता

रखने वाले देशो की मुद्रा सस्ती प्राप्त होती थी इसलिए वे यहाँ से अधिक माल मगाते थे। फलस्वरूप इस प्रकार के खातो का प्रयोग करने वाले देशो का निर्यात बढता था। जर्मनी को इस ढग से काफी लाभ हुआ।

(2) बहुमुखी विनिमय दरें (Multiple Exchange Rates) :

यदि विनिमय बाजार पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो तो दो देशो के बीच की विनिमय दर केवल एक ही होती है परन्तु विनिमय बाजार पर प्रतिबन्ध लगाकर अनेक विनिमय दरें रखी जा सकती हैं। य दरें विभिन्न वस्तुओ के आयात अथवा निर्यात के लिए अलग-अलग हो सकती हैं। पूंजी के लेन-देन के लिए अलग विनिमय दर का प्रयाग किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि एक ही साथ विभिन्न सौदो के लिए विभिन्न दरें हो सकती हैं परन्तु एक बात का ध्यान अवश्य रखा जाता है कि विभिन्न दरो का सम्मिलित प्रभाव आयातो को सस्ता और निर्यातो को अधिक लाभप्रद बनाना हो।

बहुमुखी विनिमय दर की रीति का प्रयोग भी सबसे पहले जर्मनी मे ही किया गया। जर्मनी मे 1933 से 1945 तक इस रीति का काफी प्रयोग किया गया। जर्मनी के बाद अर्जेनटाइना, पेरु, चिली तथा ब्राजील आदि ने इस रीति को अपनाया। सभी देशो का बहुमुखी विनिमय दर कर रीति अपनाने के दो उद्देश्य थे। **प्रथम** निर्यातो के लिए नीची विनिमय दर अपना कर अधिक विदशी विनियम प्राप्त करना तथा **द्वितीय**, आयातो के लिए ऊची विनिमय दर अपना कर अनावश्यक आयातो को कम करना तथा विदेशी विनिमय का मितव्ययिता पूर्ण खर्च करना।

बहुमुखी विनिमय दरो के अपनाने से देश के सन्तुलित विकास मे तभी सहायता हो सकती है जब इसका सचालन व्यवस्थित ढग से एव कुशलतापूर्वक किया जाय। परन्तु इस व्यवस्था के सचालन मे इतनी जटिलता है कि इसका कुशल सचालन प्राय बहुत ही कठिन है। इस कठिनाई के कारण कई देशो ने इस रीति का परित्याग भी कर दिया।

(3) समाशोधन समझौते (Clearing Agreements)

अवरुद्ध खातो के प्रयोग के फलस्वरूप वे देश, जो खाता प्रयोग करने वाले देशो को निर्यात अधिक करते थे, असहाय स्थिति में थे परन्तु जो देश ऐसे देशो से आयात अधिक करते थे उनमे इनकी पर्याप्त प्रतिक्रिया हुई। इन देशो से अधिक आयात करने वाले देशो ने भी यह धमकी दी कि वे भी अवरुद्ध खातो का प्रयोग करेंगे और अधिक आयात (Surplus Imports) का भुगतान नही करेंगे। कुछ देशो ने तो वास्तव मे प्रतिक्रिया स्वरूप अवरुद्ध खातो का प्रयोग प्रारम्भ भी कर दिया। ऐसी स्थिति मे जर्मनी आदि देशो को, जो पहले से अवरुद्ध खाते का प्रयोग कर रहे

थे अपने निर्यातो मे कमी की आशङ्का स्पष्ट दिखाई देने लगी इसलिए उन्होने समाशोधन समझौते करना स्वीकार कर लिया।

समाशोधन समझौतो के अनुसार सम्बन्धित देशो के केन्द्रीय बैंको को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी पड़ती है। दोनो देश के आयातकर्त्ता आयातित माल का भुगतान अपने अपने केन्द्रीय बैंक को करते हैं। इसी प्रकार दोनो देशो के निर्यातकर्त्ताओ को उनके देश का केन्द्रीय बैंक भुगतान करता है। एक निर्धारित समय के बाद दोनो देशो के केन्द्रीय बैंक यह देखते हैं कि उनकी आयातो से प्राप्ति तथा निर्यातो के भुगतान की स्थिति क्या है। उसके आधार पर यह ज्ञात किया जाता है कि उन्हे एक दूसरे से कितना पाना अथवा देना है और समझौते की शर्तों के अनुसार इसका प्रयोग किया जाता है। यहा यह स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि अवरुद्ध खातो का प्रयोग करने वाले देशो से अधिक आयात करने वाले देशो की धमकी के फलस्वरूप ही ऐसे समझौते किये गए थे इसलिए शेष रकम का प्रयोग अवरुद्ध पूँजी और ब्याज के भुगतान के लिए प्रयोग की जाने की शर्तें भी समझौतो की प्रमुख अङ्ग थी। उदाहरण के लिए यदि 'अ' देश अवरुद्ध खातो के प्रयोग द्वारा 'ब' देश की पूँजी और ब्याज का भुगतान बन्द करद तथा 'ब' देश 'अ' देश से एक निश्चित अवधि मे 10 करोड का माल मगाता हो तथा 6 करोड का माल भेजता हो। (अ देश की मुद्रा मे मूल्य व्यक्त किया गया है) तो दोनो देशो के केन्द्रीय बैंक अपने आयातको से भुगतान प्राप्त करेगे और निर्यातको को भुगतान करेगे। अवधि के अन्त मे 'अ' देश को 4 करोड पाना है तथा 'ब' देश को भुगतान देना है। चूकि 'अ' देश ने 'ब' देश की पूँजी तथा ब्याज अवरुद्ध खाते मे डाल रखा है इसलिए समझौते के अनुसार इस 4 करोड मे से एक भाग 'ब' देश अपने ऋण और ब्याज की वसूली के रूप मे रख लेगा। शेष भाग का प्रयोग समझौते की शर्तों के अनुसार होगा।

विनिमय समाशोधन समझौतो के फलस्वरूप विदेशी विनिमय के बिना ही निर्यातो और आयातो का भुगतान होता रहता है और विदेशी व्यापार मे वृद्धि होती है। दोनो देश इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उनके आयात और निर्यात बराबर हो जिससे भुगतान की समस्या पैदा ही न हो। इस प्रकार के समझौतो का प्रयोग विदेशी व्यापार की दिशा को परिवर्तित करने के लिए भी किया गया।

(4) भुगतान समझौते (Payments Agreement) :

समाशोधन समझौनो के दोषो को समाप्त करने के लिए भुगतान समझौतो का आश्रय लिया गया। समाशोधन समझौतो मे निर्यातकर्त्ता प्रोत्साहन नही पाता था क्योकि कभी-कभी उसे भुगतान मिलने मे विलम्ब हो जाता था। इसी प्रकार भुगतानो का केन्द्रीयकरण हो जाने से भी आयातको तथा निर्यातको को कठिनाई होती थी। भुगतान समझौते एक प्रकार से विदेशी विनिमय की राशनिंग की व्यवस्था है। इसके

अनुसार भी निर्यातकों का भुगतान निर्यातकर्ता देश का केन्द्रीय बैंक ही करता था। निर्यात के फलस्वरूप दूसरे देश से जो विदेशी मुद्रा प्राप्त होती थी उसके एक निश्चित भाग के बराबर ही उस देश से आयात किया जा सकता था तथा शेष भाग का प्रयोग समझौते की शर्तों के अनुसार किया जाता था। इस प्रकार के समझौते का उदाहरण ब्रिटेन और जर्मनी के बीच 1934 में किया गया समझौता है। इसके अनुसार जर्मनी ब्रिटेन से प्रतिमास उस रकम के 55 प्रतिशत के मूल्य के बराबर आयात कर सकता था, जितनी रकम का जर्मनी ने पिछले माह के पूर्व के माह में ब्रिटेन को निर्यात किया हो। शेष रकम ब्रिटेन के ऋण और ब्याज आदि के भुगतान में प्रयुक्त होती थी।

(5) यथास्थिर समझौते (Standstill Agreements) :

इस प्रकार के समझौतों का प्रारम्भ भी जर्मनी में 1931 की मन्दी के बाद किया गया। स्थिति यह थी कि अनेक देश जर्मनी से अपनी पूँजी निकालने लगे थे और जर्मनी को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था। जर्मनी ने अपने भार को स्थगित करने के उद्देश्य से कई ऋणदाता देशों से तत्काल भुगतान न लेकर उनकी पूँजी को पुनः उधार के रूप में लेने का समझौता किया। इससे जर्मनी का तत्काल भुगतान करने की कठिनाइयाँ टल गई। पूँजी और ब्याज का भुगतान करने के लिए किश्तों के प्रयोग का समझौता किया गया। इन समझौतों के फलस्वरूप विनिमय दर को नियन्त्रण में रखने के लिए काफी समय उपलब्ध हो गया।

(6) विलम्बकाल हस्तान्तरण (Transfer Moratoria) .

इस रीति के अनुसार विदेशी पूँजी अथवा सम्पत्ति का भुगतान स्थगित कर दिया जाता है। स्थगन काल के समाप्त होने पर ही इनका भुगतान किया जाता है। इस प्रकार स्थगन काल में सरकार को विदेशी विनिमय को समायोजित करने का समय मिल जाता है। वास्तव में भुगतान स्थगन की रीति में सरकार आयातकर्त्ताओं को आयातों तथा ऋणों का भुगतान अधिकृत बैंक को अपनी मुद्रा में करने का आदेश देता है परन्तु विदेशी इनको अपनी मुद्रा में केवल स्थगन काल के समाप्त होने पर ही परिवर्तित करा सकते हैं।

(7) प्रति पूर्ति समझौते (Compensation Agreement) :

ये समझौते वस्तु विनिमय दर पर आधारित हैं। आयातों की अनुमति उसी समय दी जाती है जब ठीक उतनी ही मात्रा में निर्यात भी किया जाय जिससे भुगतान के लिए विदेशी विनिमय की आवश्यकता न पैदा हो।

भारत में विनिमय-नियन्त्रण

(Exchange Control in India)

द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने पर भारत में लागू किए गए "भारत रक्षा नियम" (Defence of India Rules) के अन्तर्गत विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी

नियमों का भी उल्लेख किया गया। विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी इन नियमों के अनुसार विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय, वस्तुओं के आयात-निर्यात, पूँजी के लेन-देन आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया एवं विनिमय नियन्त्रण का कार्य-भार रिजर्व बैंक को सौंप दिया गया। परन्तु विनिमय नियन्त्रण को स्थायी रूप से 1947 में विदेशी विनिमय अधिनियम (Foreign Exchange Regulations Act 1947) पारित होने पर लागू किया गया। इस कानून के अनुसार विदेशी विनिमय सम्बन्धी समस्त कार्य भार भारत सरकार एवं रिजर्व बैंक को दिया गया।

युद्ध काल में विनिमय नियन्त्रण स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के देशों तक सीमित था। इन देशों की मुद्राओं की पूर्ति सीमित होने के कारण उनके प्रयोग पर नियन्त्रण रखना आवश्यक समझा गया। इसलिए अमेरिका तथा अन्य सीमित मुद्रा वाले क्षेत्रों से होने वाले आयातों को कम करने के उद्देश्य से विनिमय नियन्त्रण की नीति अपनाई गई। यद्यपि युद्ध-काल में भारत ने पर्याप्त 'स्टर्लिंग शेष' (Sterling Balances) सचित कर लिया था फिर भी युद्ध के बाद विनिमय नियन्त्रण का क्षेत्र बढ़ा दिया गया और उसकी परिधि में स्टर्लिंग क्षेत्र के देश भी आ गए। भारत में पंचवर्षीय योजना काल के प्रारम्भ होने से विनिमय नियन्त्रण को आर्थिक विकास के सहायक यन्त्र के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। औद्योगीकरण एवं आत्मनिर्भरता की प्राप्ति के लिए विनिमय नियन्त्रण मौद्रिक नीति का प्रमुख अङ्ग बन गया है। भारत में विनिमय नियन्त्रण की व्यवस्थायें निम्न प्रकार हैं—

अधिकृत व्यापारी (Authorised Dealers)

विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम के अनुसार विदेशी मुद्राओं तथा ऋण पत्रों का लेन-देन करने का अधिकार भारत सरकार एवं रिजर्व बैंक को प्राप्त है। परन्तु सुविधा के दृष्टिकोण से रिजर्व बैंक ने अधिनियम में प्राप्त शक्तियों के आधार पर विदेशी विनिमय का लेन देन करने के लिए 37 संस्थाओं को अधिकृत किया है जिनमें अधिकांश भारतीय अनुसूचित बैंक शामिल हैं।

विनिमय दरें (Exchange Rates) :

विदेशी विनिमय दरें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित की जाती हैं जो वास्तविक विनिमय बाजार में 1 प्रतिशत तक घट-बढ़ सकती हैं। स्टर्लिंग और रुपये की विनिमय दर के निश्चित करने में विनिमय व्यापारी संघ का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। जनता की विदेशी विनिमय की आवश्यकता अधिकृत व्यापारियों द्वारा पूरी होती है। कुछ स्वीकृत छूटों के अतिरिक्त सभी भुगतानों के लिए रिजर्व बैंक की आज्ञा (Permit) प्राप्त करना आवश्यक होता है।

विदेशी भुगतान (Foreign Payments) .

विदेशी भुगतानों की आवश्यकता मुख्य रूप से आयातों के कारण होती है।

भारत मे बिना लाइसेन्स के आयात नही किया जा सकता है। आयात लाइसेन्स प्राप्त करने का तात्पर्य होता है कि सरकार उस सीमा तक भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा उपलब्ध करेगी। लाइसेन्स प्राप्त आयात का भुगतान हो जाने पर सम्बन्धित लाइसेन्स रद्द कर दिया जाता है। नियमित रूप से किए जाने वाले आयातो का भुगतान करने की विशेष अनुमति भी रिजर्व बैंक द्वारा दी जाती है परन्तु इन आयातकर्त्ताओ को मासिक विवरण भेजना आवश्यक होता है। आयातो के अतिरिक्त यात्रा, प्रशिक्षा परिवहन व्यय, बीमा शुल्क आदि का भुगतान भी करना पडता है। इन सब भुगतानो के लिए रिजर्व बैंक से अनुमति लेनी पडती है। अनुमति देने के पूर्व ऐसे भुगतानो की आवश्यकता एव उपादेयता पर समुचित विचार किया जाता है। विशेष रूप से डालर का भुगतान करने मे बहुत सतर्कता रखी जाती है और आवश्यक होने पर ही अनुमति दी जाती है।

भारत मे निवास करने वाले विदेशी नागरिक एक सीमा तक ही रकम भेज सकते हैं इसीलिए जब कोई सस्था विदेशियो की सेवाओ का लाभ उठाना चाहती है तो उसे रिजर्व बैंक से अनुमति लेनी पडती है। लाभाश तथा ब्याज की राशि भेजने पर सीमा प्रतिबन्ध नही है। पेशन की पूरी रकम भी अधिकृत व्यापारियो द्वारा भेजी जा सकती है। स्टर्लिंग क्षेत्र में रकम भेजने के 150 पौण्ड तक कोई अनुमति की आवश्यकता नही है परन्तु डालर भेजने के लिए एवं पाकिस्तान मे रुपया भेजने के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति आवश्यक है। पाकिस्तान के लिए 50 रु० तक प्रति माह भेजने की आज्ञा जिलाधीश दे सकता है।

विदेशों से प्राप्ति (Receipt From Foreign Contries)

जिस प्रकार आयात करने के लिए लाइसेन्स की आवश्यकता होती है वैसे ही निर्यात के लिए भी लाइसेन्स आवश्यक है। भुगतान मे प्राप्त विदेशी मुद्रा को अधिकृत व्यापारी के पास जमा करा कर रिजर्व बैंक को सूचना देनी पडती है। इसका उद्देश्य यह है कि विदेशी मुद्रा सरकार को प्राप्त हो और उसका उचित ढग से प्रयोग किया जा सके तथा अनाधिकृत व्यापारी उसका लेन-देन न कर सकें। विदेशो मे निवास करने वाले भारतीय भारत मे किसी भी मात्रा मे विदेशी मुद्रा भेज सकते है। भारत मे विदेशी पूँजी लगाने के लिए सरकार और पूँजी निर्गम के नियन्त्रक (Controller of Capital Issue) से अनुमति लेनी पडती है। विदेशी पूँजी वापस लेने के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति आवश्यक है।

स्वर्ण के आयात-निर्यात पर भी प्रतिबन्ध है। बिना लाइसेन्स स्वर्ण आदि का आयात-निर्यात नही किया जा सकता।

विनिमय नियन्त्रण का प्रशासन रिजर्व बैंक के विनिमय नियन्त्रण विभाग द्वारा किया जाता है जिसका नियन्त्रक रिजर्व बैंक का गवर्नर होता है। विभाग का

उपनियन्त्रक विभाग के कार्यो की देख-रेख करता है। बम्बई, कलकत्ता, नई दिल्ली, मद्रास तथा कानपुर मे विनिमय नियन्त्रण विभाग के उप-कार्यालय स्थित है जिनका नियन्त्रण सहायक नियन्त्रको द्वारा किया जाता है। उप-कार्यालयों के क्षेत्र निश्चित हैं और उन क्षेत्रो से सम्बन्धित विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी सामान्य मामलो का निपटारा वही किया जाता है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संकेत

(1) भारत मे प्रयुक्त रीतियो के विशेष सन्दर्भ मे विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्यो तथा रीतियो का विवेचन कीजिए। (राजस्थान बी० काम, 1962)

[संकेत—प्रथम भाग मे विनिमय-नियन्त्रण के तीन उद्देश्यो-अधिमूल्यन, अधोमूल्यन तथा विनिमय-दर के उच्चावचनो से बचना—की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे विनिमय-नियन्त्रण की उन रीतियो का वर्णन कीजिए जिनका प्रयोग भारत मे हुआ है। उत्तर भारतीय उदाहरणो सहित दीजिए।]

(2) किसी एक परिचित देश के विनिमय-नियन्त्रण के उद्देश्य तथा कार्य-कारिता पर एक संक्षिप्त व्याख्यात्मक टिप्पणी लिखे।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1967)

[संकेत—प्रथम भाग मे विनिमय नियन्त्रण के तीन उद्देश्यो—अधिमूल्यन, अधोमूल्यन तथा विनिमय–दर के उच्चावचनो से बचना—की व्याख्या कीजिए। दूसरे भाग मे भारत मे विनिमय नियन्त्रण की क्रियाशीलता का विवेचन कीजिए।]

(3) विनिमय नियन्त्रण का अर्थ समझाइये। विनिमय-नियन्त्रण की महत्व-पूर्ण विधियो का स्पष्टीकरण कीजिए। (नागपुर बी० काम०, 1961)

[संकेत—प्रथम भाग मे विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न परिभाषाये देते हुए उसका अर्थ स्पष्ट कीजिए। द्वितीय भाग मे विनिमय-नियन्त्रण की मुख्य विधियो की व्याख्या कीजिए।]

भाग ४
Part Four

"The economic problems of the world-inhabited by less-developed nations with their appallingly low living standards, on the one hand and affluent nations worried about the Damocle's sword hanging perilously on their economic prosperity, on the other, have never been so challenging as they appear today The international monetary system ought, therefore to be so strengthened that pressures on key currencies are eased world trade is allowed to grow and the precious foreign aid smoothly flows in a high tide to the receptive shares of less developed countries

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संस्थायें
(International Monetary Institutions)

24

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

(International Monetary Fund)

"The International Monetary Fund is an ingenious attempt to enable the member countries to practice stabilising intervention without committing them to absolute rigidity of the exchange value of their currencies at all times."

प्रथम महायुद्ध के बाद ससार के सभी देशो मे आर्थिक अस्थिरता आ गई थी। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही स्वर्णमान का त्याग कर दिया गया परन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद फिर स्वर्णमान अपनाने के प्रयत्न हुए। सन् 1922 मे जेनेवा मे एक आर्थिक सम्मेलन (Economic Conference) बुलाया गया जिसने स्वर्णमान अपनाने का सुझाव दिया। *स्वर्णमान के अपनाने के बाद फ्रैन्क का अवमूल्यन हुआ* जिसके फलस्वरूप फ्रान्स ने बहुत सा स्वर्णकोष तथा विदेशी विनिमय जमाकर लिया। जर्मनी और इटली जैसे ऋणी देशो के विपरीत व्यापार सतुलन के कारण उनके यहा से स्वर्ण कोषो का निर्यात हो गया और ससार के अधिकाश स्वर्णकोष अमरीका तथा फ्रास के पास केन्द्रित हो गये। अमरीका ने अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के नियमो की अवहेलना कर स्वर्ण कोषो को दबा लिया और सरक्षणात्मक नीतिया अपनाकर उनका प्रभाव कीतल-तल पर नही पडने दिया। इस प्रकार देशो की सकुचित स्वार्थ-पूर्ण नीतियो के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का पतन हो गया। स्वर्णमान के पतन के पश्चात् विनिमय दरो की स्थिरता के उद्देश्य से अमेरिका, इगलैड तथा फ्रास के बीच विनिमय स्थिरीकरण कोषो (Exchange Stabilisation Funds) की व्यवस्था द्वारा कुछ सहयोग चलता रहा परन्तु इस व्यवस्था का क्षेत्र बहुत सीमित था और कुछ देशो के स्वार्थो के कारण चला।

स्वर्णमान की समाप्ति के बाद भुगतान असतुलन को दूर करने की स्वय-सचालक प्रक्रिया नष्ट हो गई और कोई उपयुक्त प्रणाली उसका स्थान न ले सकी। स्वर्णमान के पतन तथा सन् 1929 की महान् मदी के फलस्वरूप ससार मे आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic Nationalism) का युग आ गया और देश स्वार्थी आर्थिक नीतियो को अपनाने लगे। आर्थिक क्षेत्र मे राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया।

भुगतान-सतुलन (Balance of Payments) की समस्या का समाधान करने के लिए विनिमय नियत्रण तथा प्रतियोगी अवमूल्यन की नीतिया अपनायी गईं और देशो ने व्यापार तथा भुगतान पर नियत्रण की विभिन्न विधिया अपनायी जैसे समाशोधन समझौते (Clearing Agreements), अवरुद्ध खाते (Blocked Accounts), बहुमुखी विनिमय दरें (Multiple Exchange Rates) इत्यादि। इसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बुरा प्रभाव पडा और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार घटने लगा। ससार के अधिकाश देशो की अर्थव्यवस्थायें अस्तव्यस्त हो गई और आर्थिक अस्थिरता का शिकार हो गई। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने से इस दिशा मे कोई प्रयत्न नही किया जा सका।

द्वितीय महायुद्ध काल मे यह अनुभव किया जाने लगा कि अर्थव्यवस्थाओ मे पूर्ण-वृत्ति (Full Employment) की प्राप्ति के लिय युद्धोत्तर-काल मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार आवश्यक है और विनिमय-स्थायित्व (Exchange Stabilisation) की प्राप्ति के उपायो पर विचार विमर्श प्रारम्भ हो गया। सभी लोग यह मानने लगे थे कि विनिमय अवमूल्यन (Exchange Depreciation) तथा विनिमय नियत्रण से बचकर ही विनिमय स्थायित्व, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संतुलित विकास तथा अतर्राष्ट्रीय ऋणो के समुचित प्रवाह के उद्देश्य प्राप्त किए जा सकते है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग तथा सहकार (International Monetary Cooperation and collaboration) के प्रश्न को पर्याप्त महत्व प्राप्त हो गया। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की विभिन्न योजनाओ के निर्माण का क्रम प्रारम्भ हुआ।

कीन्स-योजना (The Keynes' Plan) : ब्रिटेन की ओर से विख्यात अर्थशास्त्री लार्ड जे० एम० कीन्स ने 8 अप्रेल, 1943 को 'अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सघ के प्रस्ताव' (Proposals for an International Clearing Union) के नाम से अपनी योजना प्रकाशित की जो कीन्स-योजना (Keynes' Plan) के नाम से जानी जाती है। इस योजना के अतर्गत एक केन्द्रीय भुगतान सघ नामक एक केन्द्रीय सस्था के निर्माण का आयोजन था। इस योजना मे 'बैंकोर' (Bancor) नाम की एक पृथक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा की व्यवस्था थी जिसका प्रबध भुगतान सघ करेगा और बैंकोर का मूल्य स्वर्ण मे निश्चित किया जायगा। भुगतान सघ मे सदस्य देशो के खाते होगे और वे एक दूसरे से बैंकोर के द्वारा खातो मे जमा के रूप मे भुगतान प्राप्त करेंगे। सदस्य देश एक निश्चित सीमा तक भुगतान सघ से 'बैंकोर' की अधिविकर्ष सुविधा प्राप्त कर सकेंगे। योजना के अतर्गत सदस्य देशो को 'अन्तर्राष्ट्रीय कीमत लागत-तल तथा भुगतान सतुलन की स्थिति के अनुरूप विनिमय-दरो मे समायोजन की स्वतन्त्रता थी। कीन्स के प्रस्तावो मे दीर्घकालीन पूँजी-विनियोजन (Long-term Invest-

ments) के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग प्रणाली की भी व्यवस्था थी। कीन्स योजना को अमेरिका मे स्वर्णमान पुर्नस्थापन योजना कहा गया था।

व्हाइट योजना (White Plan) : अमेरिका की ओर से हारवर्ड अर्थशास्त्री तथा अमरीका कोषागार के मौद्रिक अनुसधान विभाग के निर्देशक (Director, Monetary Research in U. S. Treasury) डा० हैरी डेक्सटर व्हाइट (Dr Harry Dexter White) ने 10 जुलाई 1943 को "अन्तर्राष्ट्रीय स्थायित्व कोष का अमरीकी प्रस्ताव" (A United States Proposal for a United and Associated Nations' Stabilisation Fund) के नाम एक योजना प्रकाशित की। इस योजना के अतर्गत एक 'अन्तर्राष्ट्रीय स्थायित्व कोष' की स्थापना का सुभाव था जो 'समायोजन प्रणाली' (Adjustment Mechanism) का काय करेगा। कोष को विनिमय दरो को अपनी मुद्रा मे निश्चित करने का अधिकार होगा और उसमे परिवर्तन 'मूलभूत असतुलन' (Fundamental Disequilibrium)को ठीक करने के लिए आवश्यक होने पर ही किया जायगा और उसके लिए सदस्य देशो के कुल मतो के $\frac{4}{5}$ की स्वीकृति आवश्यक होगी। इस योजना मे यूनिटाज' (Unitas) नामक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक इकाई की व्यवस्था थी जो 10 डालर के बराबर थी और जिसमे सदस्य देशो के स्वर्ण को मापा जाता था।

उपर्युक्त दो योजनाओ मे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग बढाने, अन्तर्राष्ट्रीय देखरेख द्वारा विनिमय-दरों का नियत्रण तथा अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के राष्ट्रीय कोषो मे वृद्धि करन की व्यवस्था थी। स्केमेल (W M. Scammell) के अनुसार "The Keynes Plan was more during in conception and the White Plan was sober and prosaic"[1]

कैनेडियन योजना (Canadian Plan) . 19 देशो की वाशिगटन मे हुई वार्ताओ मे कनाडा ने 9 जून 1943 को एक "Tentative Draft Proposal of Canadian Experts for an International Exchange Un on" नामक योजना रक्खी। यह योजना कीन्स तथा व्हाइट योजनाओ का एक समझौता मात्र थी क्योंकि कनाडा के विशेषज्ञो ने अपनी योजना बनाने के पहले दोनो योजनाओ का अध्ययन कर लिया था। इस योजना पर विचार विमर्श हुआ परन्तु इसे स्वीकार नही किया गया।

ब्रेटनवुड्स सम्मेलन (Bretton Woods Conference) : इन योजनाओ पर विधिवत् विचारविमर्श के पहले लदन मे लार्ड कीन्स तथा डा० व्हाइट मे अनौपचारिक बातचीत हुई। अमरीकी कीन्स योजना को स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे अत

1. W M. Scammell ; *International Monetary Policy*, p 134-5.

अन्त मे व्हाइट योजना मे सशोधन तथा परिवर्तन कर एक परिवर्तित योजना "The Joint Statement by Experts on the Establishment of an International Monetary Fund" के नाम से अप्रेल 1944 मे प्रकाशित की गई।

इस परिवेश मे अमरीका के ब्रेटन वुड्स (न्यू हैम्पशायर) नामक स्थान पर 'मौद्रिक कोष' की योजना पर विचार करने के लिए जुलाई 1944 मे 44 देशो का एक सम्मेलन हुआ जिसे ब्रेटन वुड्स सम्मेलन (Bretten Woods Conference) के नाम से जाना जाता है। सम्मेलन का समारम्भ 1 जुलाई 1944 को अमरीकी कोषागार के तत्कालीन सचिव श्री हेनरी मारगेन्थो (Mr. Henry Morgenthau) के भाषण से हुआ। इस सम्मेलन मे हुए समझौते के अनुसार निम्नलिखित दो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सस्थाओ की स्थापना हुई :

(1) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund).

(2) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development).

पहली सस्था अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सतुलित विकास, सदस्य देशो के भुगतानाशेषो मे अस्थायी असतुलन को दूर करने; विनिमय स्थायित्व तथा देशो के बीच अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को बढाने के उद्देश्य से स्थापित की गई। दूसरी सस्था, अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक, विकसित देशो के पुनर्निर्माण तथा अविकसित देशो के आर्थिक विकास मे योगदान करने के उद्देश्य से दीर्घकालीन पूंजी के विनियोजन को प्रोत्साहित करने के लिए स्थापित हुई। अब हम इस अध्याय मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का विस्तार से विवेचन करेगे।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
(International Monetary Fund)

ब्रेटन वुड्स समझौते के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना 27 दिसम्बर 1945 को हुई जब वाशिंगटन मे 30 देशो के प्रतिनिधियो ने हस्ताक्षर समारोह मे भाग लिया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने वास्तव मे 1 मार्च 1947 से कार्य करना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ मे कोष के 40 सदस्य थे परन्तु अब सदस्यो की सख्या बढकर 111 हो गई है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग के क्षेत्र मे एक अति महत्वपूर्ण घटना है (The establishment of the Fund was indeed a great landmark in the sphere of international monetary co-operation)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य
(Purposes of the International Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के समझौता-पत्र (Articles of the Charter) के अनुसार उसकी स्थापना के उद्देश्य अग्रलिखित है :

1. अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग (*International Monetary Co operation*) : मुद्रा कोष की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य संसार के विभिन्न देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को बढावा देना है। कोष सदस्य देशो मे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र मे विचार विमर्श तथा मिल जुल कर कार्य करने की व्यवस्था करता है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार तथा संतुलित विकास (To facilitate the expansion and balanced growth of International Trade) : अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सभी बाधाओं को दूर कर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार तथा सतुलित विकास को सुविधाजनक बनाना है और इस प्रकार देशो मे वास्तविक आय तथा वृत्ति के उच्चस्तर बनाये रखने तथा उन्हे विकसित करने और उनके उत्पादक-साधनो का विकास करने मे योगदान करना है।

3. विनिमय स्थायित्व (To Promote Exchange Stability) : मुद्रा कोष का महत्वपूर्ण उद्देश्य विनिमय दरो म स्थिरता लाना है। विनिमय दरो मे उच्चावचन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को हानि पहुँचाते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् देशो की विनिमय दरो मे अस्थिरता तथा व्यापारिक लाभ प्राप्त करन के लिए प्रतिस्पर्धात्मक मुद्रा अवमूल्यन के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत घट गया। स्वर्णमान के पतन से उसकी स्वयचालित प्रणाली द्वारा विनिमय स्थायित्व प्राप्ति की व्यवस्था समाप्त हो गई थी और पत्र मुद्रामान के अतर्गत विनिमय-दरो मे उच्चावचन बहुत अधिक होने लगे थे। अतः सदस्य देशो के बीच विनिमय व्यवस्था (Orderly Exchange Arrangements) बनाये रखने के लिए विनिमय स्थायित्व (Exchange Stability) का प्रोत्साहन तथा प्रतिस्पर्धात्मक मुद्रा-अवमूल्यन (Competitive Exchange Depreciation) से बचना मुद्रा कोष का मुख्य उद्देश्य रखा गया। मुद्राकोष द्वारा निश्चित दरें कुछ परिस्थितियो मे परिवर्तित भी की जा सकती हैं। मुद्रा कोष स्वर्णमान को (Rigid Exchange Stability) तथा पत्र-मुद्रामान की अधिक परिवर्तनशील विनिमय-दरो (Widely fluctuating Exchange Rates) के बीच की स्थिति लोचदार विनिमय स्थायित्व (Flexible Exchange Stability) की प्राप्ति का प्रयत्न करता है।

4. बहुमुखी भुगतान प्रणाली की स्थापना में सहायता (To assist in the establishment of a Multilateral System of Payments) : मुद्रा कोष का चौथा महत्वपूर्ण उद्देश्य विभिन्न देशो द्वारा लगाये गये विनिमय-नियत्रणो को समाप्त कर अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की ऐसी बहुमुखी प्रणाली की स्थापना मे सहायता देना है

जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अवरोध समाप्त हो और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार हो।

5. भुगतानाशेषों के असंतुलन को दूर करने के लिए सदस्य देशों को आर्थिक सहायता (Making funds available to member countries to correct Balance of Payments Disequilibria) : मुद्रा कोष का पाचवां उद्देश्य सदस्य देशों के बीच भुगतानाशेष के असन्तुलन को दूर करने के लिए विदेशी मुद्रा उधार देना है जिससे वे अपनी अल्पकालीन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर सकें। ऐसा करते समय सदस्य देश ऐसा कोई भी कार्य न करने के लिए बाध्य है जो राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय समृद्धि के हित में न हो।

6. भुगतानाशेषों के असन्तुलन की अवधि तथा मात्रा में कमी (To shorten the duration and lessen the degree of disequilibrium in International Balance of Payments of members) उपर्युक्त प्रबन्धों के अनुरूप मुद्रा कोष सदस्य राष्ट्रों की कठिनाइयों के समय सहायता कर उनके भुगतानाशेष के अल्पकालीन असन्तुलन की अवधि तथा मात्रा (Duration and Degree of Temporary Balance of Payments Disequilibria) में कमी लाता है। इस प्रकार सदस्य देशों की आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

कोष की सदस्यता
(Membership of the Fund)

कोष की सदस्यता सभी देशों के लिए सुलभ है परन्तु सदस्य देशों के लिए कोष के उद्देश्यों तथा शर्तों का पालन करना आवश्यक है। उद्देश्यों तथा शर्तों की अवहेलना करने वाले राष्ट्रों को सदस्यता से पृथक किया जा सकता है परन्तु इससे पहले उसे उचित चेतावनी देनी पड़ती है। सदस्य राष्ट्र अपनी इच्छानुसार सदस्यता का त्याग भी कर सकते हैं। कोष की स्थापना के समय इसके 40 सदस्य थे परन्तु अब उनकी संख्या बढ़कर 111 हो गई है। चार नवोदित राष्ट्रों—बोट्सवाना (Botswana) लेसेथो (Lesotho), माल्टा (Malta) तथा मारीशस (Mauritius) ने पिछले वर्ष (1968) में ही कोष की सदस्यता ग्रहण की।

कोष की पूंजी तथा अभ्यंश
(Capital and Quotas)

मुद्राकोष के सदस्यों का अभ्यंश (Quota) निश्चित कर दिया जाता है और इन अभ्यंशों का योग ही मुद्रा कोष की पूंजी है। यदि कोई सदस्य देश अपने अभ्यंश की मात्रा में परिवर्तन कराना चाहे तो कोष उस पर विचार कर सकता है परन्तु *कुल मत शक्ति का 80 प्रतिशत* उस परिवर्तन के पक्ष में होना आवश्यक है। प्रत्येक

देश को कम से कम अपने अभ्यश का 25 प्रतिशत अथवा अपने स्वर्ण तथा डालर कोषो का 10 प्रतिशत (इन दोनो म जो भी कम हो) स्वर्ण मे तथा शेष अपने देश की मुद्रा मे मुद्रा कोष को देना आवश्यक होता है। मुद्राकोष के स्वर्ण कोष का 50 प्रतिशत भाग सबसे अधिक अभ्यश वाले देश मे तथा कम से कम 40 प्रतिशत अन्य चार अधिकतम अभ्यश वाले देशो म रखा जाता है। देशो की राष्ट्रीय मुद्रा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के खाते म देशो की केन्द्रीय बैंको के पास ही जमा रहती है।

सदस्य राष्ट्रो के अभ्यश निर्धारित करते समय (1) उनका राजनीतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व (2) उनकी राष्ट्रीय आय (3) उनके स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय कोष, तथा (4) उनके भुगतानशेष की स्थिति इत्यादि पर ध्यान दिया गया है।

ब्रेटन वुडस सम्मेलन के निर्णयानुसार मुद्रा कोष की पूँजी 10,000 मिलियन डालर निश्चित की गई थी परन्तु 1200 मि० डालर के अभ्यश वाले रूस द्वारा सदस्यता स्वीकार न करने के कारण प्रारम्भ मे कोष के कुल साधन 8,800 मि० डालर ही थे जिसे सदस्य राष्ट्रो मे अभ्यशो के रूप म बाटा गया था तथा शेष बाद मे बनने वाले सदस्यो म निर्धारित होना था। उस समय कुछ प्रमुख देशो के अभ्यश थे—अमेरिका 2750 मि० डालर, इगलैंड 1300 मि० डालर, चीन 550 मि० डालर, फ्रान्स 525 मि० डालर, भारत 400 मि० डालर तथा कनाडा 300 मि० डालर इत्यादि।

अभ्यश वृद्धि (Increase in Quotas) अक्तूबर 1958 मे नयी दिल्ली मे हुई अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की 13 वी वार्षिक बैठक म कोष की पूँजी बढाने का निर्णय लिया गया और कार्यकारी सचालको (Executive Directors) को अधिकार दिया गया कि इस प्रश्न पर विचार कर अपना प्रतिवेदन दे। कार्यकारी सचालको ने 22 दिसम्बर 1958 को अपनी रिपोर्ट पेश की और सदस्य देशो के अभ्यशो मे 50 प्रतिशत वृद्धि का सुझाव दिया। इस प्रतिवेदन के स्वीकृत होने पर 15 दिसम्बर 1959 से अधिकाश देशो के अभ्यशो म 50 प्रतिशत वृद्धि कर दी गई। कनाडा, पश्चिमी जर्मनी तथा जापान के तीव्र आर्थिक विकास के कारण उनके अभ्यशो मे अतिरिक्त वृद्धि का सुझाव भी स्वीकृत हो गया।

अभ्यशो मे फिर वृद्धि (Increase in Quotas again) मुद्रा कोष की सितम्बर 1963 मे टोकियो मे हुई अपनी वार्षिक बैठक मे अभ्यशो की वृद्धि की आवश्यकता अनुभव की गई और कार्यकारी सचालको को निश्चित प्रस्ताव पेश करने को कहा गया। 26 फरवरी 1965 के अपने प्रतिवेदन मे कार्यकारी सचालको ने सदस्य देशो के अभ्यशो मे 25 प्रतिशत की सामान्य वृद्धि का सुझाव दिया। इसके अतिरिक्त 16 देशो के अभ्यशो मे विशेष वृद्धि (Special Increase) करने का

सुझाव दिया गया था। वे 16 देश थे—आस्ट्रिया, कनाडा, फिनलैंड, पश्चिमी जर्मनी, ग्रीस, ईरान, इज्राइल, जापान, मेक्सिको, नार्वे, फिलीपीन्स, दक्षिणी अफ्रीका, स्पेन, स्वीडन, आयरलैंड तथा वेनजुला। कार्यकारी सचालकों का यह सुझाव बोर्ड आफ गवर्नर्स ने अपने 31 मार्च 1965 के प्रस्ताव द्वारा स्वीकार कर लिया।

दिसम्बर 1959 तथा मार्च 1965 की अभ्यंश वृद्धि को निम्न तालिका में दिखाया गया है :

मुद्रा कोष में मुख्य देशों के अभ्यंश

(मिलियन डालरों में)

देश	अभ्यंश (प्रारम्भिक)	अभ्यंश दिस 1959	अभ्यंश मार्च 1965	नई अभ्यंश वृद्धि की स्वीकृति तिथि
U S A.	2750	4125	5160	Feb. 23, 1966
U K.	1300	1950	2440	March 23, 1966
China	550	550	690	— —
France	525	787·5	985	Aug. 17, 1966
India	400	600 0	750	March 12, 1966
West Germany	300	787·5	1200	May 27, 1966
Canada	300	550	740	May 31, 1966
Japan	250	500	725	March 25, 1966
Italy		500	625	March 24, 1966
Netherlands		412 5	520	May 25, 1966
Australia		400	500	Feb 23, 1966

मार्च 1965 में सभी सदस्य देशों के अभ्यंश में 25 प्रतिशत तथा 16 देशों के अभ्यंश में विशेष वृद्धि हो जाने के बाद इस विषय पर सदस्य देश अपनी स्वीकृति देते रहे हैं। 27 मई 1968 तक 95 सदस्य देशों ने इस सम्बन्ध में अपनी सहमति कोष को दे दी है। अभ्यंश वृद्धि की स्वीकृति भेजने वाले इन 95 सदस्य देशों की मत शक्ति कुल सदस्यों की मत शक्ति (26 फरवरी 1965 को) का 95 83 है। 26 फरवरी 1965 को जो कोष के सदस्य थे उनमें से 6 सदस्य देशों ने अभ्यंश वृद्धि के प्रस्तावों पर अपनी औपचारिक स्वीकृति 30 अप्रैल 1968 तक कोष को नहीं दी है।

दिसम्बर 1968 को मुद्रा कोष के 111 सदस्य देशों के अभ्यंशों का योग 21198 मि० डालर था।

मुद्रा कोष एवं विनिमय स्थायित्व
(Monetary Fund and Exchange Stability)

जैसा कि हम अध्ययन कर चुके हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रमुख उद्देश्य विनिमय-दरों में स्थायित्व की स्थापना करना है तथा सदस्य राष्ट्रों के बीच

नियमित विनिमय व्यवस्था (Orderly Exchange Arrangements) बनाये रखना है जिससे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का विस्तार तथा सतुलित विकास बिना किसी अवरोध के हो सके। किन्तु विनिमय-स्थायित्व के लिए विभिन्न देशो की मुद्राओ के बीच एक सामान्य आधार (Common Basis of Currencies) की आवश्यकता है। इसीलिए कोष मे सदस्य देशा के बीच समता दरों के निर्धारण की व्यवस्था है।

समता-दरो का निर्धारण (Determination of Par Values) :

विनिमय-स्थायित्व तथा विभिन्न देशो की मुद्राओ के लिए एक सामान्य आधार प्राप्त करने के लिए सभी सदस्य देशो को अपनी मुद्रा की कीमत स्वर्ण या अमरीकी डालर (जिसका वजन तथा शुद्धता वह होगी जो 1 जुलाई 1944 को थी) मे यक्त करनी पडती है और इस प्रकार प्रत्येक सदस्य देश की समता-दरो (Par Values) का पता लग जाता है। सदस्य देशो की मुद्राओ की समता दर को स्वर्ण अथवा डालर मे ज्ञात करने के बाद विनिमय-दरो के निर्धारण मे कोई कठिनाई नही रह जाती।

समता-दरो मे परिवर्तन (Changes in Par Values) .

अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान की तरह विनिमय-दरो को बिल्कुल स्थायी (Rigid Exchange Stability) नही बनाता बल्कि एक सीमा मे विनिमय-दरो मे परिवर्तन भी किया जा सकता है। कोष के Articles of Agreement के Articles IV की विभिन्न धाराओ के अनुमार समता-दरो मे परिवर्तन के नियम इस प्रकार है—

(1) कोई भी सदस्य देश 'आधारभूत असतुलन' (Fundamental Disequilibrium) को दूर करने के उद्देश्य के अतिरिक्त समता-दरो म परिवर्तन नही करेगा।

(2) समता-दरो मे परिवर्तन केवल सदस्य देश के प्रस्ताव पर तथा कोष से परामर्श करके ही किया जा सकता है।

(3) यदि समता-दर मे परिवतन 10 प्रतिशत की सीमा से अधिक नही है तो कोष को कोई एतराज नही होगा। इसके अतिरिक्त सदस्य देश समता-दर मे 10 प्रतिशत तक और (अर्थात् कुल 20 प्रतिशत) परिवर्तन कर सकते हैं और इसके लिए कोष स्वीकृति दे सकता है मना भी कर सकता है परन्तु इस सम्बध मे अपना निर्णय 72 घटे के अन्दर ही देना पडता है। उपर्युक्त दो सीमाओ से भी अधिक (अर्थात् प्रारम्भिक समता-दर मे 20 प्रतिशत से अधिक) परिवर्तन के लिए सदस्य देश कोष से प्राथना कर सकते हैं और कोष इसे स्वीकृत या अस्वीकृत कर सकता है

परन्तु निर्णय देने मे अधिक समय लग सकता है। 20 प्रतिशत से अधिक परिवर्तन के लिए कोष के सदस्य देशों के दो-तिहाई बहुमत की सहमति आवश्यक है।

(4) कोई भी सदस्य देश कोष की बिना सहमति के समता दर मे परिवर्तन कर सकता है यदि यह परिवतन सदस्य राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय सौदो पर बुरा प्रभाव न डालता हो।

मुद्रा कोष समता दरो मे परिवर्तन की अनुमति तभी देता है जब उसे विश्वास हो जाता है कि परिवर्तन 'आधारभूत असाम्यता' (Fundamental Disequilibrium) में सुधार के लिए आवश्यक है। इसके पीछे कोष का मन्तव्य यह है कि समता दरो मे परिवर्तन सदस्य देशों के आन्तरिक कीमत तथा आय तलो मे परिवर्तन के अनुसार ही हो। कोष प्रतिस्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन (Competitive Exchange Depreciation) की स्वीकृति कभी नही देता क्योंकि यह कोष के मूलभूत उद्देश्यों के विरुद्ध है।

इस प्रकार कोई भी सदस्य देश बिना कोष की अनुमति के विनिमय-दर मे 10 प्रतिशत तक परिवर्तन कर सकता है। 'आधार भूत असाम्यता' क्या है, इस सम्बध मे निर्णय लेते समय कोष सदस्य देश की राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक नीतियों से प्रभावित नही होता। इस प्रकार सदस्य देशों की आन्तरिक नीति में कोष किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करता और उन्हे स्वतन्त्र मौद्रिक तथा आर्थिक नीतियां अपनाने की स्वतन्त्रता रहती है। इस प्रकार "कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धो मे नि शस्त्रीकरण के उपाय को प्रवेश दे दिया है।" (The Fund has introduced a measure of disarmament into the field of international economic relations) इस प्रकार की स्वतन्त्रता अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान की स्वचालिता व्यवस्था मे नही थी। इस प्रकार मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की स्थायी विनिमय दर के स्थान पर सदस्य देशों को विनिमय दर मे व्यवस्थित-परिवर्तन की सुविधा प्रदान करता है। (The Fund substitutes for the Gold Standard's exchange rigidity, the principle of managed flexibility in the adjustment of exchange values of member currencies.)

सदस्य देशों द्वारा 20 प्रतिशत तक समता दरो मे परिवर्तन की व्यवस्था के सम्बध मे प्रो० के० के० कुरिहरा (Prof K K Kurihara) का कथन है—

"It is one important concession to exchange flexibility which is impossible under either the gold standard or the paper standard. For under the Gold Standard, the exchange flexibility of any kind is out of the question while under the paper standard, exchange flexibility is in the habit of degenerating into disorderly, discriminatory competitive exchange depreciation "[1]

[1] K K. Kurihara : *Monetary Theory and Public Policy*, p p 343-4

मुद्रा कोष से ऋण व्यवस्था
(Credit Arrangements under the Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का एक महत्वपूर्ण कार्य सदस्य देशो को भुगतान-शेष के अस्थायी घाटे (Temporary Deficits) की पूर्ति के लिए विदेशी मुद्रा के ऋण देना है। मुद्रा कोष के पास सभी देशो की मुद्रायें होती हैं और आवश्यकता पडने पर सदस्य देश किसी देश की मुद्रा उधार ले सकते हैं। कोष किसी देश के लिए आवश्यक सारी विदेशी मुद्रा की पूर्ति का दायित्व नही लेता। कोष के द्वारा दी जाने वाली ऋण सुविधा सकट काल की द्वितीय रक्षा पंक्ति का कार्य करती हैं।

ऋण देने की शर्तें (Conditions for Loans) :

सदस्य अपनी मुद्रा देकर विदेशी मुद्रा निम्नलिखित शर्तों पर क्रय कर सकते हैं—

(1) विदेशी मुद्रा का क्रय कोष के उद्देश्यों के अनुरूप होना चाहिए अर्थात् ऋण देश के अति आवश्यक चालू सौदो की वित्त व्यवस्था करने के लिए होने चाहिए न कि पूंजी सौदो की पूर्ति के लिए।

(2) किसी भी समय कोष के पास किसी सदस्य देश की मुद्रा की मात्रा उसके अभ्यश के 200 प्रतिशत से अधिक नही होनी चाहिए अर्थात् सदस्य देश अधिक से अधिक अपने अभ्यश के 125 प्रतिशत तक विदेशी मुद्रा खरीद सकते हैं।

(3) कोई भी सदस्य देश एक वर्ष की अवधि मे अपने अभ्यश के 25 प्रतिशत से अधिक विदेशी मुद्रा नही खरीद सकता। (परन्तु पिछले वर्षों मे इस धारा का पालन नही हो रहा है और प्राय: 50 प्रतिशत तक ऋण दे दिए जाते हैं)

उपर्युक्त शर्तों को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। माना कि किसी सदस्य देश का अभ्यश 200 मिलियन डालर है जिसका 25 प्रतिशत अर्थात् 50 मि० डालर स्वर्ण मे तथा 75 प्रतिशत अर्थात् 150 मि० डालर की शेष राशि सदस्य देश की राष्ट्रीय मुद्रा में कोष के पास जमा कराई गई है। शर्त के अनुसार कोष के पास सदस्य देश की मुद्रा उसके अभ्यश के 200 प्रतिशत से अधिक नही होनी चाहिये अर्थात् 400 मि० डालर से अधिक नही होनी चाहिए। इसमे 150 मि० डालर अभ्यश के रूप मे उसने पहले ही जमा करा दी है इसलिए ऋण के रूप मे अब उसे (400-150)=250 मि० डालर (अर्थात् अभ्यश का 125 प्रतिशत) ही प्राप्त हो सकता है। अन्तिम शर्त के अनुसार किसी एक वर्ष मे सदस्य देश अपने अभ्यश का 25 प्रतिशत से अधिक ऋण नही प्राप्त कर सकता अत: 250 मि० डालर उसे पाँच

वर्ष की अवधि मे प्राप्त करने चाहिए परन्तु इस शर्त का अब कोष द्वारा ढील बरतने के कारण महत्व नही रह गया है।

ऋणों के प्रकार (Kinds of Loans) ·

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा दिए जाने वाले ऋण चार प्रकार के होते हैं—

(1) **संकटकालीन ऋण (Emergency Loans)** यदि किसी देश या क्षेत्र मे आकस्मिक आर्थिक संकट की परिस्थिति पैदा हो जाय या कोई राजनैतिक संकट खडा हो जाय जिससे देशो के आर्थिक स्थायित्व को खतरा पैदा होने की आशंका हो तो ऐसे समय कोष संकटकालीन ऋण देता है। दिसम्बर 1956 मे ब्रिटेन को स्वेज-नहर संकट के समय दिया गया ऋण इसका उदाहरण है।

(2) **स्थायित्व ऋण (Stability Loans)** मुद्रा कोष का मुख्य उद्देश्य विनिमय दरों मे स्थायित्व की स्थापना करना है। आर्थिक कठिनाइयो के समय देश बहुमुखी विनिमय दर (Multiple Exchange Rates) अपना लेते है और विभिन्न देशो या विभिन्न वस्तुओ के भुगतान के लिए अलग अलग विनिमय दरें प्रयुक्त होती है। बहुमुखी विनिमय दर समाप्त कर विनिमय दर समता स्थापित करने के लिए देशो को स्थायित्व ऋण दिए जाते हैं। इज्राइल, कोस्टारिका, ब्राजील आदि देशो को ये ऋण दिए गये हैं।

(3) **सामयिक विनिमय कठिनाई दूर करने के लिए ऋण (Loans to tide over Seasonal Exchange Difficulties)** जिन देशो को मौसमी या सामयिक निर्यातो के कारण भुगतान शेष की कठिनाइयो का सामना करना पडता है उनको अल्पकाल के लिए (६ माह से 1 वर्ष तक) ऋण दिए जाते है। उदाहरणार्थ एलसेल्वाडर, क्यूबा, निकारागुआ को दिए गये ऋण।

(4) **चालू भुगतान शेष की असाम्यता दूर करने के ऋण (Loans to tide over current Balance of payments disequilibria)**— सदस्य देशो की विकास योजनाओ को क्रियान्वित करते समय उनको भुगतानशेष की असाम्यता की कठिनाई का सामना करना पडता है। इन अल्पकालीन कठिनाई को दूर करने के लिए मुद्राकोष ऋण सहायता देता है। इस प्रकार के ऋण भारत, जापान, कनाडा फ्रान्स आदि देशो को दिए गये है।

ऋण शुल्क (Charges)

मुद्रा कोष द्वारा सदस्य देशों को दिए गये विदेशी मुद्रा के ऋणो पर शुल्क लिया जाता है। शुल्क की दर ऋण की मात्रा तथा अवधि पर निर्भर करती है। जैसे जैसे ऋण की मात्रा तथा अवधि बढती जाती है वैसे वैसे शुल्क की दर भी बढ़ती जाती है। शुल्क की दरें 0 5 प्रतिशत से 5 0 प्रतिशत होती हैं। तीन माह

तक के लिए गये ऋणो पर कोई शुल्क नही लिया जाता। शुल्क का भुगतान स्वर्ण मे किया जाना चाहिए।

दुर्लभ मुद्रायें (Scarce Currencies) :

किसी देश की मुद्रा 'दुर्लभ मुद्रा' (Scarce Currency) होने का तात्पर्य यह है कि सदस्य देश उस मुद्रा को लगातार खरीदते रहे है और कोष के पास उसका भडार न्यूनतम रह गया है। ऐसी स्थिति मे कोष सदस्य देशो की सापेक्षिक आवश्यकताओ तथा सामान्य अन्तर राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति इत्यादि बातो को ध्यान मे रख कर उस मुद्रा की राशनिंग कर देता है जिससे उसकी माँग तथा पूर्ति मे समायोजन स्थापित हो सके।

किसी देश की मुद्रा 'दुर्लभ' क्यो हो जाती है ? या तो (1) उस देश की मुद्रा अधोमूल्यित (Undervalued) है या (2) उस देश ने आयातो पर ऊँचे कर लगा रक्खे हैं या (3) उस देश ने विदेशो मे अपनी पूँजी का पर्याप्त विनियोजन नही किया है या (4) वह देश विदेशो मे वस्तुओ का राशि पातन (Dumping) करता रहा है। वास्तव मे किसी देश की मुद्रा के दुर्लभ होने का तात्पर्य यही है कि उस देश का भुगतान शेष लगातार उसके अनुकूल रहा है। इसका कारण आर्थिक विकास की उच्चावस्था तथा निर्यात की अनुकूल स्थिति होती है। वास्तव मे विनिमय स्थायित्व को धक्का पहुचाने मे अनुकूल भुगतान शेष वाले देश उतने ही दोषी है जितने प्रतिकूल भुगतान शेष वाले देश और दोनो ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सतुलित विकास को हानि पहुचाते है। कोष ऐसे देशो को अपनी मुद्रा का पुनर्मूल्यन (Revaluation) करने का परामर्श देता है जिससे उसके आन्तरिक मूल्य तथा लागत तल मे वृद्धि हो, उसके आयात बढें और निर्यात घटें और इस प्रकार स्थिति मे सुधार हो। कोष सदस्य देशो को दुर्लभ मुद्रा वाले देश के प्रति विनिमय नियन्त्रण लगाने का अधिकार दे सकता है।

कोष के साधनो की तरलता (*Liquidity of the Fund's Resources*) —

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ससार मे एक रक्षित कोष के रूप मे सदा सहायक होने के उद्देश्य से अपने साधनो को सदा तरल बनाये रखने का प्रयत्न करता है। यदि सदस्य देश अपनी मुद्रा के बदले दुर्लभ मुद्रा खरीदते चले जाय तो ऐसी स्थिति आ सकती है कि कोष के पास अधिक मागी जाने वाली मुद्रा के कोष समाप्त हो जाय और उसके पास ऐसी मुद्रा के भडार अत्यधिक हो जाय जिनकी माग न हो। ऐसा होने पर कोष रक्षित कोष के अपने दायित्व पूर्ण नही कर सकेगा। इसीलिए सदस्य देशो द्वारा विदेशी मुद्रा खरीदते समय जो अपनी मुद्रा दी जाती है उसके पुनःक्रय (Re purchase) की व्यवस्था है। कोष के साधनो की तरलता के लिए यह भी

व्यवस्था है कि (i) सदस्य देश स्वर्ण देकर किसी देश की भी मुद्रा क्रय कर सकते हैं, (ii) यदि कोष के पास किसी देश की मुद्रा उसके अभ्यंश से अधिक मात्रा में है तो वह अतिरिक्त मुद्रा स्वर्ण देकर क्रय कर सकता है तथा (iii) सदस्य देश कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में कोष के पास अपनी मुद्रा का कुछ भाग स्वर्ण या परिवर्तनीय मुद्रा देकर क्रय कर सकता है।

पिछले दस-बारह वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार तथा विश्व के आर्थिक विकास के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय तरलता (International Liquidity) बढ़ाने के लिए चर्चायें हुई और बहुत से सुझाव दिए गये। ट्रिफिन योजना (Triffin Plan), स्टाम्प योजना (Stamp Plan) बर्नस्टीन योजना (Berstein Plan) इत्यादि अनेक योजनायें रक्खी गई।

स्पेशल ड्राइंग राइट्स (Special Drawing Rights):

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सितम्बर 1967 में रियोडेजेनरो (Rio de Janeiro) में हुई वार्षिक बैठक में स्पेशल ड्राइंग राइट्स (Special Drawing Rights) (S D. R.) की व्यवस्था स्वीकार की गई जिसका अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक जगत में हार्दिक स्वागत हुआ। रियोडेजेनरो बैठक में स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार 19 अप्रैल 1968 को कोष के कार्यकारी सचालकों ने Articles of Agreement में सशोधन सम्बन्धी अपनी रिपोर्ट बोर्ड आफ गवर्नर्स को भेज दी अब यह सशोधन विधिवत स्वीकार किए जाते हैं। समझौते की धाराओं में आवश्यक सशोधन स्वीकृत होते ही यह वित्तीय सहायता सदस्य राष्ट्रों को प्राप्त होने लगेगी। सितम्बर 1969 में होने वाली कोष की वार्षिक बैठक में S D R के Ratification के सम्बन्ध में निर्णय पर पूर्व बातचीत के लिए Group of Ten की बैठक जून 1969 में पेरिस में हुई जिसमें S D R के समय तथा मात्रा दोनों पर मतभेद थे। शायद अगस्त तक इन देशों की फिर कोई बैठक हो।

मुद्रा कोष व्यवस्था में स्वर्ण का स्थान
(Position of Gold under the Fund's Scheme)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की व्यवस्था में स्वर्ण को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। कोष को कई प्रकार से स्वर्ण के साथ सम्बन्धित किया गया जैसा कि निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट है—

(1) सदस्य देशों को अपनी मुद्रा की प्रारम्भिक विनिमय दर (Initial par value) स्वर्ण में ही निश्चित करनी होती है। इस प्रकार स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-मापक (International measure of value) तथा सामान्य इकाई (Common Denominator का कार्य करता है।

(2) सदस्य देशो को अपने अभ्यश (Quota) का एक निश्चित भाग स्वर्ण मे ही जमा कराना पड़ता है। प्रत्येक सदस्य देश को अपने अभ्यश का 25 प्रतिशत भाग अथवा अपने स्वर्ण तथा डालर कोषो का 10 प्रतिशत (इन दोनो मे जो भी कम हो) स्वर्ण मे जमा कराना पडता है।

(3) सदस्य देश स्वर्ण का क्रय विक्रय कोष द्वारा निर्धारित दर पर ही कर सकते हैं।

(4) कोष व्यवस्था के अनुसार प्रतिकूल भुगतान शेष वाले देश (Deficit Countries) स्वर्ण देकर विदेशी मुद्रा क्रय कर सकते हैं। अनुकूल भुगतानशेष वाले देशो (Surplus Countries) से स्वय मुद्रा कोष स्वर्ण देकर उनकी मुद्रा खरीद सकता है।

मुद्रा कोष की व्यवस्था मे स्वर्ण को इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है कि कुछ अर्थशास्त्रियो ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को स्वर्ण मान का पुर्नस्थापन माना है। प्रो० जान० एच० विलियम्स (Prof. John H. Williams) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान मे कोई अन्तर नही है। उनके अनुसार मुद्रा कोष से लेन देन का प्रभाव सदस्य देशो पर उसी प्रकार पडता है जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान मे स्वर्ण के आयात-निर्यात (Gold Import and Export) का पडता था।

मुद्रा कोष तथा स्वर्ण मान मे समानतायें (Similarities between the fund and gold standard) :

मुद्रा कोष की व्यवस्था को स्वर्णमान का पुर्नस्थापन मानने वाले अपने मत के पक्ष मे मुद्रा कोष तथा स्वर्ण मान की निम्नलिखित समानताओ को तर्क के रूप मे प्रस्तुत करते हैं :

(1) दोनो मे विनिमय दरो का स्वर्ण मे निर्धारण (Exchange Rates determined in terms of Gold) —अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की व्यवस्था मे स्वर्ण को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य मापक के रूप मे स्वीकार किया गया है। प्रत्येक देश को अपनी मुद्रा को स्वर्ण के मूल्य मे ही व्यक्त करना पडता है और इस प्रकार विनिमय समता दरो का निर्धारण होता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान मे भी देश अपनी मुद्राओ की विनिमय दर मुद्रा के स्वर्ण मूल्य के अनुपात मे ही निश्चित करते थे।

(2) दोनों मे बहु पक्षीय भुगतान प्रणाली (Multilateral Payment System exists under both):—*जिस प्रकार स्वर्णमान मे मुद्राओ के स्वर्ण मूल्य के अनुपात मे विनिमय दरों का निर्धारण कर एक बहु पक्षीय भुगतान प्रणाली चलन मे थी* उसी प्रकार मुद्रा कोष भी निश्चित समता दरो के द्वारा विभिन्न देशो की

मुद्राओं की बहुपक्षीय परिवर्तनशीलता को प्रोत्साहन देता है। (Fund also encourages multilateral Convertibility of currencies at fixed parities).

(3) स्वर्ण या अभ्यंश द्वारा प्रतिकूल भुगतान शेष में सुधार (Improvement in adverse balance of Payments Position through gold or Quota) —अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान में प्रतिकूल भुगतान शेष वाले देश को स्वर्ण का निर्यात कर असंतुलन दूर करना पड़ता था। अब मुद्रा कोष व्यवस्था में स्वर्ण का स्थान अभ्यंश (Quota) ने ले लिया है जिसके आधार पर ही विदेशी मुद्रा के ऋण प्राप्त होते हैं। जैसा कि प्रो० जान० एच० विलियम्स ने कहा है :—

"Transactions made through the Fund affect bank reserves in precisely the same manner as the movements of gold under the gold standard "[1]

(4) दोनों में स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को मान्यता तथा विनिमय-नियन्त्रण दूर करने का सुझाव (Both accept the Principle of Free International Trade and Removal of Exchange Controls) —स्वर्णमान की तरह मुद्रा कोष भी अवरोध रहित स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार तथा सतुलित विकास के सिद्धान्त को मानता है और विनिमय नियन्त्रणों को दूर करने का प्रयत्न करता है।[2]

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह कहा जाता है कि मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान का ही एक परिवर्तित रूप है। प्रो० जी० एन० हाम (Prof. George N. Halm) के अनुसार—' कोष के अन्तर्गत स्वर्ण की स्थिति केवल दिखावा मात्र नहीं है। सदस्य देशों की मुद्राओं को स्थिरता प्रदान करने तथा कोष के सबसे तरल आदय के रूप में स्वर्ण का महत्वपूर्ण योगदान है।"[3]

इस विवेचन से हम यह नहीं मान लेना चाहिए कि मुद्रा कोष व्यवस्था स्वर्णमान का ही प्रतिरूप है। वास्तव में दोनों व्यवस्थाओं में महत्वपूर्ण अन्तर है। इसी कारण

---

[1] John H. Williams : *Post War Monetary Plans*, pp 8-9

[2] "Under gold standard there are no restrictions on international movement of goods in the form of quotas or other exchange restrictions. The Fund also frowns upon such restrictions and is committed to their removal as early as possible and the establishment of multilateral trade on the basis of freely convertible currencies".

[3] "The Fund's gold provisions are not just window dressing. Gold plays a really important role as the Fund's most liquid asset and as a common anchorage for the member currencies"

—George N. Halm : *Monetary Theory*, p 285.

लार्ड जे० एम० कीन्स ने कोष व्यवस्था को स्वर्णमान का ठीक उल्टा माना है। (The new arrangement [I. M. F.] is just the opposite of gold Standard.) इस मत के पक्ष मे स्वर्णमान तथा मुद्रा कोष की असमानता को तर्क के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है।

मुद्रा कोष तथा स्वर्णमान में असमानतायें (Dissimilarities between the Fund and Gold Standard):—

मुद्रा कोष व्यवस्था तथा स्वर्णमान मे निम्नलिखित महत्वपूर्ण अन्तर हैं —

(1) विनिमय-दर तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की स्थिति (Rate of Exchange and International Payments position) –अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय-दरो मे जड स्थायित्व (Rigid Exchange Stability) होता है क्योकि स्वर्णमान का उद्देश्य दरो मे पूर्ण स्थिरता की स्थापना है परन्तु मुद्रा कोष मे समता दरो मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन की व्यवस्था है। मुद्रा कोष विनिमय दरो मे लोचदार विनिमय स्थायित्व (Flexible Exchange Stab lity) की स्थापना करता है।

(2) देश की आर्थिक नीतियाँ (Economic Policies of the Country):—स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वचालिता के कारण स्वर्ण के गमनागमन का प्रभाव उत्पादन तथा वृत्ति तल पर पड़ता था। प्रतिकूल भुगतानशेष के फलस्वरूप स्वर्ण का निर्यात हो जाता था और मुद्रा तथा साख का सकुचन हो जाता था जिससे मन्दी तथा बेकारी फैलती थी। अर्थव्यवस्था पर इन कुप्रभावो मे मुद्रा कोष व्यवस्था मे बचा जा सकता है क्योंकि भुगतान शेष के अस्थायी असाम्य मे सुधार के लिए मुद्रा कोष सदस्य देशो को विदेशी मुद्रा के ऋण देता है। इस प्रकार स्वर्णमान के अन्तर्गत देश की आर्थिक नीतियो पर अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय सम्बन्धो का प्रभाव पडता है जबकि मुद्रा कोष की व्यवस्था मे सभी देश स्वतन्त्र आर्थिक नीतिया अपनाते हैं।

(3) विनिमय दरो का निर्धारण तथा व्यवस्था की प्रकृति (Determination of Rates of Exchange and Nature of the System) : स्वर्णमान एक स्वचालित मान (Automatic Standard) है और उसमे विनिमय दरो का निर्धारण स्वाभाविक रूप से हो जाता है। मुद्रा कोष द्वारा स्थापित स्वर्ण-समता मान एक प्रबन्धित मान (Managed Standard) है और इस व्यवस्था मे विनिमय-दरो का निर्धारण कृत्रिम रूप से होता है।

(4) मौद्रिक नीति के उद्देश्य (Objectives of Monetary Policy) : स्वर्णमान के अन्तर्गत मौद्रिक नीति का पहला उद्देश्य विनिमय-दरो की स्थिरता स्थापित करना था जिसे स्वर्ण के आयात तथा निर्यात (Inflow and Outflow

of Gold) द्वारा प्राप्त किया जाता था परन्तु आजकल मौद्रिक नीति के उद्देश्यों मे 'कीमत स्थिरता' (Price Stability) को अधिक महत्व दिया जाता है। मुद्रा कोष व्यवस्था जडताओ से दूर होकर आधारभूत असाम्य की स्थिति मे विनिमय दरों मे परिवर्तन की आज्ञा देता है।

स्वर्णमान तथा मुद्रा कोष के अन्तर के बारे मे 23 मई 1944 को House of Lords मे अपने भाषण मे लार्ड जे० एम० कीन्स (Lord J. M. Keynes) ने कहा था कि—"स्वर्णमान व्यवस्था मे देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य पूर्णतया स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा से बधा होता है। इस मूल्य मे केवल प्रधान शक्ति की अनुमति स ही परिवर्तन किया जा सकता है। स्वर्णमान मे देश को एक ऐसी वित्तीय नीति का पालन करना पडता है जिसके अन्तर्गत मुद्रा के आन्तरिक मूल्य को उसके बाह्य मूल्य के समान रखना पडता है। इसके विपरीत स्वर्ण को एक ऐसे सामान्य मापक के रूप मे उपयोग करना, जिसके द्वारा विभिन्न राष्ट्रीय मुद्राओ का सापेक्ष मूल्य जिसमे बिना किसी प्रकार की कठिनाई के समय-समय पर परिवर्तन किए जा सकते हैं, स्वर्णमान से बिल्कुल भिन्न है। कोष की योजना मे देश की मुद्रा के आन्तरिक मूल्य मे उसके बाह्य मूल्य के अनुसार परिवर्तन होने के बजाय उसके बाह्य मूल्य मे उसके आन्तरिक मूल्य के अनुसार परिवर्तन किए जाते है। वास्तव मे कोष का यह कर्त्तव्य है कि सदस्य देशो की मुद्राओ के बाह्य मूल्यो मे किए जाने वाले इस प्रकार के परिवर्तनों को स्वीकार करे। इसीलिए मै कहता हू कि यह प्रस्ताव स्वर्णमान के ठीक उल्टे हैं। कोष की योजना मे अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा एक नये सिद्धान्त का सार प्रस्तुत किया गया है जो स्वर्णमान की पुरानी जडता से कोसो दूर है।"[1]

[1] "The gold standard, as I understand it, means a system under which the external value of a national currency is rigidly tied to a fixed quantity of gold which can only honourably be broken under *force majeure*, and it involves a financial policy which compels the internal value of the domestic currency to conform to this external value as fixed in terms of gold On the other hand, the use of gold merely as a convenient common denominator by means of which the relative values of national currencies—these being free to change--are expressed from time to time is obviously quite another matter..... instead of maintaining the principle that the internal value of a national currency should conform to a prescribed *de jure* external value, it provides that the external value should be altered if necessary so as to conform to whatever *de facto* internal value results from domestic policies, which themselves shall be immune from the criticism by the Fund Indeed, it is

Continued

मुद्रा कोष का सगठन तथा प्रबन्ध
(Organisation and Management of the Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का प्रबन्ध दो सस्थाओ द्वारा होता है —

(1) बोर्ड आफ गवर्नर्स (Board of Governors)
(2) कार्यकारी सचालक मण्डल (Board of Executive Directors)

गवर्नर मडल (Board of Governors) : कोष की सर्वोच्च सस्था है जिसका कार्य कोष की नीति का निर्धारण करना है। गवर्नर मडल साधारण सभा (General House) का कार्य करता है। प्रत्येक सदस्य देश को एक गवर्नर तथा एक विकल्प गवर्नर (Alternate Governor) नियुक्त करने का अधिकार है। गवर्नर की अनुपस्थिति मे विकल्प-गवर्नर गवर्नर का कार्य करता है। गवर्नर मडल के अधिकार वडे व्यापक हैं और उसे सदस्य देशो के अभ्यश मे परिवर्तन, समता दरो, सदस्यो के प्रवेश इत्यादि विषयो के सम्बन्ध मे विस्तृत अधिकार हैं।

सचालक मडल (Board of Executive Directors) कार्यकारिणी समिति है जिसका उत्तरदायित्व सामान्य प्रशासन तथा दैनिक कार्य सचालन करना है। सचालक मण्डल मे कम से कम 12 सदस्य होने चाहिए जिनमे पाच सचालक स्थायी होते हैं जो पाच सबसे अधिक अभ्यश वाले देशो द्वारा मनोनीत किये जाते है तथा शेष का निर्वाचन होता है। आजकल सचालक मडल की कुल सदस्य सख्या (प्रबन्ध सचालक तथा सहायक प्रबन्ध सचालक को छोडकर) 20 हैं जिनमे पाच सदस्य स्थायी सदस्य हैं (आजकल अमेरिका, इगलैंड, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी तथा भारत स्थायी सदस्य हैं) तथा शेष 15 सदस्य देशो द्वारा निर्वाचित होते हैं। कार्यकारी सचालको के अतिरिक्त एक प्रबन्ध सचालक (Managing Director) तथा एक उप-प्रबन्ध सचालक (Deputy Managing Director) होता है। प्रबन्ध सचालक, सचालक मडल का अध्यक्ष होता है तथा कार्यालय के कार्य के लिए उत्तरदायी होता है। आजकल श्री Pierre–Paul Schweitzer **प्रबन्ध संचालक तथा श्री** Frank A. Southard Jr. **उपप्रबध सचालक** का कार्य कर रहे है।

---

made the duty of the Fund to approve change which will have this effect That is why I say that these proposals are the exact opposite of the gold standard. They lay down by "international agreement the essence of the new doctrine, far removed from the old orthodoxy"

—Text of Lord J. M. Keynes' speech delivered before the House of Lords on May 23, 1944 reproduced from *The New Economics* edited by S E. Harris p 376.

मुद्रा कोष का प्रधान कार्यालय वाशिंगटन (अमेरिका) में है। कोष के विधान के अनुसार कोष का प्रधान कार्यालय सबसे बड़े अम्यंशधारी देश में होगा।

मुद्रा कोष के कार्य तथा सेवायें
(Functions and Services of the Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विश्व प्रगति को की गई सेवायें बड़ी महत्वपूर्ण रही हैं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :

(1) ऋण तथा ऋण-वचन (Loans and stand by Agreements) :

मुद्रा कोष सदस्य देशों को आवश्यकता पड़ने पर विदेशी मुद्रा बेचता है या बेचने का वचन देता है। पिछले 21 वर्ष के मुद्रा कोष के लेन-देन इस प्रकार हैं :—

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के लेन-देन

(मिलियन डालरों में)

वर्ष	सदस्यों द्वारा कुल क्रय	मुद्रा विक्रय के वचन	सदस्यों द्वारा कुल पुनर्क्रय
1948	606.04	—	—
1949	119.44	—	—
1950	51.80	—	24.21
1951	28.00	—	19.09
1952	46.25	—	36.58
1953	66.12	53.00	184.96
1954	231.29	90.00	145.11
1955	48.75	90.00	276.28
1956	38.75	97.50	271.66
1957	1,114.05	968.90	75.04
1958	665.73	884.28	86.81
1959	263.52	1,132.84	537.32
1960	165.53	291.88	522.41
1961	577.00	338.62	658.60
1962	2,243.20	1,942.88	1,260.00
1963	579.97	1,287.25	807.25
1964	625.90	1,970.15	380.41
1965	1,897.44	516.15	516.97
1966	2,817.29	421.04	406.00
1967	1,061.28	401.55	340.12
1968	1,348.25	2,017.81	1,115.51
Total	14,595.60		7,664.31

मुद्रा कोष के प्रारम्भ से 30 अप्रेल 1968 तक 65 सदस्य देशो ने 14 6 अरब डालर की मुद्राये क्रय की । इसके अतिरिक्त 5 सदस्य देशों को 9 मुद्रा विक्रय वचन स्वीकृत हुए किन्तु कोष से नय नही किया ।

31 दिसम्बर 1968 को समाप्त हुए वर्ष मे 37 सदस्य देशो ने 3552 मि० डालर कोष से निकाले । इस वर्ष के सौदो मे फरवरी 1968 मे कनाडा को 391 मि० डालर, मार्च मे अमरिका को 200 मि० डालर, जून 1968 मे फ्रास को 885 मि० डालर और इगलैंड को 1 4 मि० डालर (नवम्बर 1967 के अवमूल्यन के समय स्वीकृत) के ऋण दिये गये । इसके अतिरिक्त भारत (90 मि०), न्यूजीलैंड (99 20 मि०), सयुक्त अरब गणराज्य (63 मि०), फिलीपीन्स (55 मि०) यूगोस्वालिया (45 मि०)तथा पीरू (42·50 मि० डालर) इत्यादि देशो को महायता प्राप्त हुई ।

(2) कोष द्वारा तकनीकी सहायता (Technical Assistance by the Fund) :

कोष सदस्य देशो को बडे पैमाने पर वित्तीय मौद्रिक मामलो मे तकनीकी सहायता प्रदान करता है। इस कार्य के लिए वह विभिन्न देशो मे विशेषज्ञ दल भेजता है । तकनीकी सहायता देशो की मौद्रिक विनिमय तथा प्रशुल्क नीतियो के निर्धारण तथा क्रियान्वयन, प्रशुल्क व्यवस्था के सुधार, केन्द्रीय बैंकिंग विधान के निर्माण, केन्द्रीय बैंको के सगठन तथा उनकी कार्य प्रणाली के विकास, साख तथा बैंकिंग व्यवस्था मे सुधार, वित्तीय तथा भुगतान सतुलन सांख्यिकी के विकास इत्यादि विषयो से सम्बन्धित होता है ।

अधिकतर तकनीकी सहायता 1964 मे स्थापित कोष की केन्द्रीय बैंकिंग सेवा (Central Banking Service) तथा प्रशुल्क मामलों के विभाग (Fiscal Affairs Department) के माध्यम से दी जाती है । 1967–68 मे प्रशुल्क मामलो के विभागो ने 17 देशो की 30 प्रार्थनाओ पर तकनीकी सहायता दी । अधिकतर मामलो मे यह सहायता विशेषज्ञो के दल भेज कर दी गई । यह सहायता कर नीति, कर-प्रशासन तथा बजट सम्बन्धी समस्याओ के सम्बन्ध मे दी गई । 1967–68 मे केन्द्रीय बैंकिंग सेवा कर्मचारियो द्वारा 14 देशो को केन्द्रीय बैंको के सर्वेक्षणो, बैंकिंग व्यवस्थाओ तथा साख समस्याओ को लेकर वित्तीय विधान के निर्माण तक के विषयो म दी गई । इसी वर्ष 26 देशो को 60 विशेषज्ञ भेजे गये ।

(3) कोष-प्रशिक्षणालय (The IMF Institute) :

मई 1964 मे स्थापित कोष प्रशिक्षणालय वित्तीय मामलो मे सदस्य देशो के विशेषज्ञो को प्रशिक्षण देता है । प्रशिक्षणालय अग्रेजी, फ्रेंच तथा स्पेनिश भाषाओ मे 'वित्तीय विश्लेषण तथा नीति' (Financial Analysis and Policy) पर

साढे चार महीने का कार्यक्रम चलाता है। इस विषय मे पहला कार्यक्रम 9 अक्तूबर 1967 को फ्रेंच भाषा मे प्रारम्भ किया गया जिसमे 18 देशो के 24 अधिकारी सम्मिलित हुए। इसके अतिरिक्त प्रशिक्षणालय राजस्व (Public Finance) तथा भुगतान सतुलन रीतियो (Balance of Payments Methodology) विषयो पर कार्यक्रम चलाता है। प्रशिक्षणालय द्वारा सितम्बर 1968 से जून 1969 तक 'वित्तीय विश्लेषण तथा नीति' पर 3, भुगतान सतुलन रीतियो पर 1 तथा राजस्व पर एक कार्यक्रम चलाया गया।

(4) **अन्य अन्तर्राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय सस्थाओं से सहयोग** (Relations with other International and Regional Organisations).

मुद्रा कोष समान रुचि के विषयो पर अन्य अन्तर्राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय सगठनो से सहयोग करता है तथा कोष के अधिकारी उनकी सभाओ म भाग लेते हैं। विश्व बैंक (जिसके साथ कोष का विशेष सम्बन्ध है) के अतिरिक्त सयुक्त राष्ट्र सघ के विभिन्न अगो से कोष का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सयुक्त राष्ट्र परिवार से बाहर अन्य सगठनो जैसे General Agreement on Tariffs and Trade (GATT) Bank for International Settlements (BIS), Organisation for Economic Cooperation and Development (OECD) इत्यादि से भी सम्पर्क रखता है।

मुद्रा कोष की आलोचना
(A Critical Appraisal of the Fund)

अपने 22 वर्ष के कार्यकाल में मुद्रा कोष ने महत्वपूर्ण कार्य किए है फिर भी उसकी कुछ अपनी सीमायें है। विभिन्न आधारो पर मुद्रा कोष की आलोचना की जाती है :

(1) **कोष का कार्यक्षेत्र सीमित** (Scope of the Functions of the Fund is limited)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एक दीर्घकालीन मौद्रिक नियमन सस्था है और उसका कार्य केवल चालू भुगतान तक सीमित है। दीर्घकालीन ऋण तथा पूंजी के आयात-निर्यात के प्रश्न कोष के कार्य क्षेत्र से बाहर हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओ का समाधान कोष की वर्तमान व्यवस्था द्वारा सम्भव नही दीखता। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र मे कोष ने सराहनीय कार्य किया है।

(2) **डालर का लगातार अभाव** (Continuous shortage of Dollars) :

कोष मे प्रारम्भ से लेकर आज तक सदा डालर का अभाव बना रहा है और कोष इस समस्या का समाधान नही खोज पाया है। प्रो० विलियम्स के कथनानुसार :—

"The main trouble in the scheme of the Fund lies in the disparity between the possible demand for and the available supply of dollars in the Fund."

मुद्रा कोष भुगतान सतुलन की आधारभूत समस्या विशेषकर अविकसित राष्ट्रो के भुगतान असतुलन को सुधारने मे असफल रहा है। डालर तथा अन्य शक्तिशाली मुद्राओ पर पिछल सकट इस बात के प्रमाण है कि इस विषय मे मूलभूत परिवर्तन की आवश्यकता है।

(3) भेदभाव पूर्ण नीति का अवलम्बन (Policy of discrimination followed) : मुद्रा कोष न अपनी नीतियो के कार्यान्वयन मे भेदभाव पूर्ण नीति अपनायी है। आलोचको का आरोप है कि कोष अमेरिका तथा अन्य बडे पश्चिमी राष्ट्रो की इच्छानुसार कार्य करता है और उनके समथको को ऋण देता है। शक्तिशाली राष्ट्रो पर अनुशासन रखने मे कोष असफल रहा है। 1948 म फ्रास न कोष की आज्ञा के विरुद्ध फ्रैंक का 44 प्रतिशत अवमूल्यन कर लिया और कोष न उसके विरुद्ध कोई कठोर कदम नही उठाया। 1949 मे डालर का अभाव होते हुए भी कोष न डालर को 'दुर्लभ मुद्रा' घोषित नही किया।

इसी प्रकार अनुकूल भुगतानशेष वाले दशो (Surplus Countries) पर कोई अनुशासन न रखकर केवल प्रतिकूल भुगतानशेष वाल दशो (Deficit Countries) पर ही नियन्त्रण लगाये हैं।

"It is disheartening to note that the IMF has forgotten to look to the other side of the equation, namely, to surpluses in the balance of payments of a country accumulating reserves ...The automatic adjustment mechanism devised at Bretton Woods was undermined by increased restrictions being imposed on deficit countries alone"

इसीलिए मुद्राकोष के लिए कहा गया है कि :

"The IMF has degenerated into a traditional bank rather than being elevated to an international institution with an in built device for correcting imbalances in world trade"

उपर्युक्त दोषो तथा सीमाओ के बावजूद कोष ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक जगत की अभूतपूर्व सेवा की है। बहुमुखी विश्व व्यापार बढाने तथा विनिमय दरो मे स्थिरता स्थापित करने मे उसका प्रयत्न सराहनीय है। मुद्रा कोष के महत्व पर प्रकाश डालते हुए मुद्रा कोष के भूतपूर्व प्रबन्ध सचालक स्वर्गीय श्री पेर जेकोब्सन (Per Jacobsson) ने कहा था :

"If we then examine how the Fund has actually operated, I think it is fair to say that the Fund has increasingly been a factor not for weakening, but rather for strenthening monetary discipline, been able to grant assistance only when countries make reasonable efforts to solve their problems and present programmes, holding out the hope of enduring stability at realistic rates of exchange. Indeed the more possibility of having access to the Fund's resources even if no drawing is actually made may make countries more confident in their attempts to restore balance, and may indeed induce them to take stricter measures than if they had to rely on their own resources alone."

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा भारत
(International Monetary Fund and India)

भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सस्थापक सदस्य है और पाच सबसे बडे अभ्यंशधारी देशो मे से एक होने के कारण सचालक मण्डल (Board of Directors) पर उसे एक कार्यकारी सचालक नियुक्त करने का अधिकार है। भारत की ओर से सचालक मण्डल मे श्री बी० के० मदान (Shri B. K. Madan) कार्यकारी सचालक का कार्य कर रहे हैं।

कोष की स्थापना के समय भारतीय रुपये की प्रारम्भिक समता दर (Initial Par Value) 0 268601 ग्राम शुद्ध स्वर्ण या 30 225 अमेरिकन सेन्ट्स के बराबर (या 1$=Rs. 3 309) निश्चित की गई थी। दिसम्बर 1949 मे रुपये के अवमूल्यन के कारण उसका मूल्य घटाकर 0 186621 ग्राम स्वर्ण या 21 अमेरिकी सेन्ट्स (या 1$=Rs. 4 7619) के बराबर निर्धारित किया गया। जून 1966 मे जब फिर रुपये का 36·5 प्रतिशत अवमूल्यन हुआ तो समता दर का पुनर्निर्धारण किया गया और रुपये का मूल्य घटाकर 0·118489 ग्राम स्वर्ण या 13 3 सेन्ट्स (या 1$=Rs. 7 50) कर दिया गया।

मुद्रा कोष की स्थापना के समय भारत का अभ्यश 400 मि० डालर था जिसे दिसम्बर 1959 मे बढाकर 600 मि० डालर कर दिया गया था। मार्च 1965 मे जब फिर अभ्यश वृद्धि की गई तो भारत का अभ्यश बढाकर 750 मि० डालर कर दिया गया। अभ्यश की मात्रा की दृष्टि से भारत का पाचवा स्थान है और उसे कुल मत-शक्ति का 3 29 प्रतिशत मताधिकार प्राप्त है।

भारत ने समय समय पर कोष से विदेशी मुद्रा का क्रय किया है। मुद्रा कोष से भारत के लेन-देन अग्रलिखित तालिका मे दिखाये गये है :—

भारत द्वारा विदेशी मुद्रा का क्रय तथा पुनर्क्रय

(मिलियन डालरों में)

वर्ष	ऋण	पुनर्क्रय
1947–55	100 00	87 40
1957	200 00	—
1958	—	—
1959	—	—
1960	—	72 50
1961	250 00	127 50
1962	25 00	—
1963	—	25 00
1964	—	50 00
1965	125 00	100 00
1966	262 50	75 00
1967	—	57 50
1968	90 00	57 50
योग		

भारत को मुद्रा कोष से लाभ मुद्रा कोष का सदस्य बनने से भारत को कई महत्वपूर्ण लाभ हुए है

(1) सकटकाल मे सहायता (Help in times of emergencies) समय-समय पर भारत ने सकट पर विजय पाने तथा भुगतानशेष की असाम्यता को दूर करने के लिए मुद्रा कोष से विदेशी मुद्रा उधार ली है। आवश्यक पूंजीगत माल तथा कच्चे माल मगाकर भारत ने अपने उत्पादन मे वृद्धि का प्रयास किया है।

(2) विश्व बैंक की सदस्यता (Membership of the World Bank). मुद्राकोष के सदस्य होने के कारण ही भारत को विश्व बैंक की सदस्यता प्राप्त हो सकी है। अब तक विश्व बैंक से 1000 मि० डालर से अधिक के ऋण भारत प्राप्त कर चुका है।

(3) कोष के प्रबन्ध तथा नीति निर्धारण मे योगदान (Contribution in the management and polices of the Fund) कोष के पाच बडे अभ्यशधारियो मे से एक होने के कारण भारत कोष का सस्थापक स्थायी सदस्य है और कार्यकारी सचालक मडल पर उसे अपना प्रतिनिधि मनोनीत करने का अधिकार है। इस प्रकार भारत अविकसित तथा अर्द्ध विकसित देशो के हितो को ध्यान मे रखकर कोष की नीति को प्रभावित करता है। कोष द्वारा नये Special Drawing Rights की स्वीकृति मे भारत का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

(4) विशेषज्ञों के परामर्श से लाभ (Advantage of Expert Advice) : मौद्रिक तथा वित्तीय मामलो पर भारत को कोष तथा बैंक के विशेषज्ञो के परामर्श का लाभ मिलता रहा है जिनमे भारतीय योजनाओ के निर्माण तथा क्रियान्वयन मे महत्वपूर्ण सहायता मिली है।

इस प्रकार मुद्राकोष की सदस्यता भारत के लिए बडी लाभदायक रही है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

1. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की कार्य विधि का सक्षिप्त वर्णन कीजिए तथा विनिमय दरो के स्थायित्व मे इसके कार्य की समीक्षा कीजिए।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1969)

[सकेत—पहले सक्षेप में मुद्रा कोष के उद्देश्यो का वर्णन कीजिए और फिर विनिमय-दरो के निर्धारण तथा परिवर्तन सम्बन्धी व्यवस्थाओ का विस्तार से विवेचन कीजिए।]

2. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य क्या हैं ? अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान से यह किस प्रकार भिन्न है ?

(बिहार बी० ए०, 1958)

[सकेत—प्रथम भाग मे मुद्रा कोष के उद्देश्य बताइये। दूसरे भाग म मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की समानतायें तथा असमानतायें बताइये। इस सम्बन्ध म प्रो० विलियम्स तथा लार्ड कीन्स के कथनो को उद्धृत कीजिए।]

3 अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना किन मुख्य उद्देश्यो म की गई थी ? कोष स भारत को क्या लाभ प्राप्त हुए हैं ?

(आगरा बी० ए०, 1964)

[सकेत—प्रथम भाग म मुद्रा कोष की स्थापना के उद्देश्यो का वर्णन कीजिए। दूसरे भाग मे मुद्रा कोष तथा भारत के सम्बन्धों की चर्चा करत हुए भारत को उमस प्राप्त लाभो का उल्लेख कीजिए।]

(4) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्यों को समझाइय। इस कोष ने कार्यों को पूर्ण करने मे कहा तक सफलता प्राप्त की है ?

(*विक्रम, 1961, आगरा, 1968*)

[सकेत—प्रथम भाग म मुद्रा कोष के कार्यों तथा सेवाओ का वर्णन कीजिए दूसरे भाग मे मुद्रा कोष का आलाचनात्मक मूल्याकन कीजिए। निष्कर्ष में बताइये कि कुछ सीमाओ के बावजूद कोष न अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है।]

25

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक

(International Bank for Reconstruction and Development)

"A just tribute to the Bank would be that the world would be poorer without it, for the underdeveloped countries owe to it the many smiling fields and green pastures which relieve the vast arid deserts of their economy."

ब्रेटेन वुडस (न्यूहैम्पशायर) मे जुलाई 1944 मे जो सयुक्त राष्ट्र मौद्रिक तथा वित्तीय सम्मेलन (United Nations Monetary and Financial Conference) हुआ था और जिसमे भारत सहित 44 देशो ने भाग लिया था, उसी मे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक की स्थापना का निर्णय हुआ था। सम्मेलन मे स्वीकृत अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक की समझौते की शर्तों (Articles of Agreement) को 25 दिसम्बर 1945 से लागू किया गया। भारत ने 24 दिसम्बर 1945 को समझौते को स्वीकृति दी थी। बैंक ने वास्तव मे 25 जून 1946 से कार्य करना प्रारम्भ किया।

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक (जिसे साधारणतया विश्व बैंक (World Bank) के नाम से पुकारा जाता है) की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की एक पूरक सस्था के रूप म की गई थी। द्वितीय महायुद्ध काल मे ही देशो ने अनुभव कर लिया था कि युद्ध से विध्वसित राष्ट्रो तथा उनकी जर्जर और अस्त-व्यस्त अर्थ-व्यवस्थाओ के पुनर्वास तथा पुनर्निर्माण के लिए असीम पूंजी तथा अथक परिश्रम की आवश्यकता होगी। साथ ही साथ स्थायी विश्व शाति की स्थापना के लिए भी यह आवश्यक समझा गया कि अविकसित तथा अर्ध-विकसित देशो के आर्थिक साधनो मे वृद्धि तथा उनके रहन-सहन के स्तर को उन्नत किया जाय। इसी सन्दर्भ मे विश्व बैंक की स्थापना ठीक दिशा मे एक महत्वपूर्ण कदम था।

विश्व बैंक के उद्देश्य
(Objectives of the World Bank)

विश्व बैंक एक अन्तर सरकारी कानून जनित सस्था है जिसकी पूँजी सभी सदस्य-सरकारो ने जुटायी है। (The Bank is an inter-governmental institution, corporate in form, the capital stock of which is entirely owned by its member governments) समझौता पत्र की धारा I (Article I of the Agreement) के अनुसार बैंक के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—

(1) पूँजी के विनियोग को सुविधाजनक बनाकर पुनर्निर्माण तथा विकास मे सहायता (To assist in the reconstruction and development by facilitating investment of Capital) —विश्व बैंक का प्रथम मुख्य उद्देश्य युद्ध विध्वसित अर्थ व्यवस्थाओ के पुनर्वास तथा देशो के पुनर्निर्माण तथा विकास मे सहायता करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बैंक उत्पादक कार्यो मे पूँजी के विनियोग को सुगम बनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

(2) विदेशी निजी पूंजी विनियोग को प्रोत्साहन (To promote foreign private investment) —विश्व बैंक अविकसित तथा पिछड़े राष्ट्रो मे विदेशी विनियोगकर्त्ताओ को पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहित करता है। इसके लिए विश्व बैंक उनके द्वारा दिए गये ऋणो की गारटी करता है तथा उनके साझे म ऋण देता है। इसके साथ साथ उपयुक्त शर्तों पर निजी पूँजी उपलब्ध न होने पर स्वय अपने साधनो से पूँजी विनियोग की कमी की पूर्ति करता है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दीर्घकालीन सतुलित विकास तथा भुगतान शेष मे साम्यता बनाये रखने मे योगदान(To promote long range balanced growth of international trade and the maintenance of eqilibrium in balance of payments)·–विश्व बैंक का तीसरा उद्देश्य अन्तर्राष्टीय विनियोग को प्रोत्साहन देकर व्यापार के दीघकालीन सतुलित विकास तथा देशो के भुगतान शेष मे साम्यता (Eqilibrium) बनाये रखने मे सहायता करना है और इस प्रकार बैंक सदस्य देशो मे उत्पादन, रहन-सहन तथा श्रमिको की दशाओ की उन्नति म योगदान करता है।

(4) शान्तिकालीन अर्थ व्यवस्था की स्थापना (Establishment of Peacetime Economy) विश्व बैंक अपने सभी कार्य इस उद्देश्य से करता है कि ससार की युद्ध विनिष्ट अर्थ व्यवस्थाओ का शातिकालीन अर्थ-व्यवस्थाओ मे परिवर्तन सहज हो जाय।

इस प्रकार विश्व बैंक की स्थापना के उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष के उद्देश्यो के पूरक हैं। विश्व बैंक की स्थापना एक विनियोग बैंक (Investment

Bank) की तरह हुई है। "विश्व बैंक मुद्रा कोष की पूरक संस्था के रूप मे कार्य करेगा तथा इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सतुलित विकास तथा आय और वृत्ति के उच्च स्तर को कायम रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को प्रोत्साहित करना है।" (The World Bank is intended to serve as an essential adjunct to the Monetary Fund and in particular to ensure a high and stable level of international investment with a view to promoting balanced growth of international trade and maintenance of higher levels of income and employment)

बैंक की सदस्यता
(Membership of the Bank)

कोई भी देश विश्व बैंक का सदस्य बन सकता है यदि वह बैंक के उद्देश्य-पत्र (Charter) को स्वीकार करता है परन्तु बैंक का सदस्य होने के लिए मुद्रा कोष का सदस्य होना अनिवार्य है। (Membership of the Fund is a prerequisite for admission to the membership in the Bank) इस प्रकार मुद्रा कोष के सभी सदस्य स्वत: विश्व बैंक के सदस्य बन जाते हैं। कोई भी सदस्य अपनी इच्छानुसार किसी भी समय बैंक की सदस्यता त्याग सकता है और बैंक को इसकी लिखित सूचना मिलने पर त्याग पत्र कार्यशील हो जाता है। यदि कोई सदस्य बैंक के अतर्गत अपने दायित्वों को पूर्ण करने म असफल रहता है तो उसे सदस्यता से निलबित किया जा सकता है। सदस्यता का त्याग करने के बाद भी उस तिथि को बैंक को हुई हानियो के अपने भाग का भाग पर भुगतान करने को सदस्य देश उत्तरदायी है।

जिन देशो ने 31 दिसम्बर 1945 तक मुद्रा कोष की सदस्यता ग्रहण करली थी वे विश्व बैंक के सस्थापक सदस्य माने जाते है। प्रारम्भ मे बैंक की सदस्य सख्या केवल 44 थी परन्तु अब (दिसम्बर 1968 तक) यह बढकर 110 तक पहुच गई है। 1968 के वर्ष मे मारीशस, (Mauritius) बोत्सवाना (Botswana) तथा लेसेथो (Lesotho) ने बैंक की सदस्यता ग्रहण की।

बैंक के पूंजी-साधन
(Capital Resources of the Bank)

बैंक की स्थापना के समय बैंक की अधिकृत पूंजी 10 मिलियन डालर (10,000 मि० डालर) निश्चित की गई थी जो 1-1 लाख डालर के 1 लाख अशो मे विभाजित थी। 30 जून 1959 तक बैंक की स्वीकृत पूंजी 9.4 बिलियन डालर (9,400 मि० डालर) थी।

प्रत्येक सदस्य की पूँजी तीन भागों मे विभाजित है :

(1) प्रत्येक देश को अपने हिस्से की पूँजी का 2 प्रतिशत भाग स्वर्ण या अमेरिकी डालर मे बैंक के पास जमा करना पडता है और इस राशि को स्वतन्त्रतापूर्वक ऋणों के रूप में दिया जा सकता है,

(2) सदस्य देश को अपने हिस्से की पूँजी का 18 प्रतिशत भाग अपनी राष्ट्रीय मुद्रा के रूप मे बैंक को देना पडता है और इस राशि को सदस्य देश की स्वीकृति लेकर ही ऋणो के रूप म दिया जा सकता है, तथा

(3) हिस्से की पूँजी का शेष 80 प्रतिशत भाग बैंक को नही दिया जाता परन्तु आवश्यकता पडने पर बैंक के दायित्वों का भुगतान करने के लिए सदस्यों से मांगा जा सकता है।

इस प्रकार बैंक की अधिकृत पूंजी का 20 प्रतिशत भाग स्वर्ण या अमरीकी डालरों तथा सदस्यों की राष्ट्रीय मुद्राओं के रूप मे उसके पास ऋण देने के लिए सदा उपलब्ध रहता है और इससे भी अधिक गारन्टी साधन (Guarantee Resources) बैंक के पास होते हैं जिनसे वह निजी पूँजी के अन्तराष्ट्रीय विनियोजन को प्रोत्साहित करता है।

बैंक की पूँजी मे वृद्धि (Increase in Bank s Capital Resources) —

बैंक के कार्यों के विस्तार तथा सदस्य देशों की ऋणों की बढती हुई माग को देखते हुए बैंक के पूँजी साधनों म वृद्धि की आवश्यकता अनुभव की गई। अत. अक्तूबर 1958 मे बैंक की नई दिल्ली म हुई वार्षिक बैठक मे बोर्ड आफ गवर्नर्स ने बैंक की पूँजी की वृद्धि के प्रश्न पर विचार किया और सचालक मडल को पूजी वृद्धि के प्रश्न पर विचार करने तथा तत्सम्बन्धी सुझाव पेश करने को कहा । सचालक मडल ने सदस्य देशों की पूँजी के हिस्सों को दुगना करने का निश्चय किया । इस प्रकार 15 सितम्बर 1959 तक सदस्य देशों की पूँजी के अशो को दुगना कर दिया गया तथा कुछ देशों, प० जर्मनी कनाडा, जापान इत्यादि देशो के पूँजी अशो मे दुगने से भी अधिक वृद्धि की गई। फलत बैंक की अधिकृत पूँजी 10,000 मि० डालर से बढकर 21 000 मि० डालर हो गई। इस वृद्धि के बाद फिर 31 दिसम्बर 1963 को बैंक की अधिकृत पूजी 21,000 मि० डालर से बढाकर 22,000 मिलियन डालर कर दी गई। बाद म इसे 21,000 मि० डालर से बढाकर 24,000 मिलियन डालर कर दिया गया। 30 जून 1968 को बैंक की अधिकृत पूजी 24000 मि० डालर थी जो 100,000 डालर के 2,40,000 अशो मे विभाजित थी।

30 जून 1968 को बैंक की प्रार्थित पूँजी 22941 मि० डालर थी जो 31 दिसम्बर 1968 को बढकर 22991 मि० डालर हो गई थी।

कुछ मुख्य देशो के पूंजी अशो को निम्न तालिका म दिखाया गया है।

विश्व बैंक

मुख्य देशो के पूंजी अश

(मिलियन डालरो मे)

सदस्य देश	प्रारम्भिक पूंजी अश		वृद्धि के बाद पूंजीअंश		वतमान पूजाअश (30 जून 1968)	
	मात्रा	कुल का प्रतिशत	मात्रा	कुल का प्रतिशत	मात्रा	कुल का प्रतिशत
1 U S A	3175	29 72	6350	27 79	6350	27 68
2 U K	1300	12 31	2600	11 38	2600	11 33
3 W Germany	525		1050	5 60	1280	5 58
4 France	525	5 11	1050	·4 60	1050	4 58
5 India	400	3 95	800	3 50	800	3 49
6 Canada	325		750	3 47	792	3 45
7 China	600	5 31	750	3 38	750	3 27
8 Japan	250	2 55	660	3 28	772	3 37
9 Netherlands			550	3 41	550	2 40
10 Australia			533	2 33	533	2 32

विश्व बैंक का सगठन तथा प्रबध

(Organisation and Management of the Bank)

मुद्रा कोष की तरह विश्व बैंक का भी प्रबध एक गवनर मडल (Board of Governors) कायकारी सचालक मडल (Board of Executive Directors), एक अध्यक्ष (President) तथा अन्य कमचारियो द्वारा किया जाता है। प्रबन्ध के इन अवयवो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है —

गवर्नर मडल (Board of Governors)

विश्व बैंक के प्रबध तथा नीति निर्धारण के लिए उत्तरदायी गवर्नर मडल सगठन की सर्वोच्च सस्था है। यह सस्थाओ की साधारण सभा (General House) की तरह होता है। प्रत्येक सदस्य देश को गवनर मडल पर एक गवनर तथा एक विकल्प गवनर नियुक्त करने का अधिकार है जिनका कायकाल पाच वष का होता है। विकल्प गवनर सभाओ मे भाग ले सकता है परन्तु गवनर की अनुपस्थिति मे ही मत दे सकता है। गवनर अधिकतर सदस्य दशो के वित्त मत्री होते है। गवर्नर मडल की वष मे एक बैठक होना आवश्यक है। गवनर मडल की वार्षिक बैठक मुद्रा कोष के गवनर मडल की बैठक के साथ ही होती है। गवनर मडल के सदस्य अपन म से एक अध्यक्ष (Chairman) चुन लेते है जो वार्षिक बैठको की अध्यक्षता करता है।

कार्यकारी सचालक मडल (Board of Executive Directors)

बैंक के दिन प्रति दिन के कार्य के लिए कार्यकारी सचालक मडल उत्तरदायी है। कुछ कार्यो को छोडकर[1] गवर्नर मडल ने अपने अधिकार कार्यकारी सचालको को सौप रक्खे हैं। कार्यकारी सचालक मडल एक कार्यकारिणी समिति (Executive Committee) की तरह है और वह अपने समस्त कार्यों के लिए गवर्नर मडल के प्रति उत्तरदायी है। कार्यकारी सचालक मडल की बैठक महीने म एक बार होती है। कार्यकारी सचालको की बैठक म उनकी कुल मत शक्ति का 50 प्रतिशत या उससे अधिक बहुमत कोरम माना जाता है।

कार्यकारी सचालक मडल के कुल सदस्यो की सख्या 20 होती है जिसमे से पाच सचालक बैंक की पूजी के पाच सबसे बडे अशधारियो द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। अमेरिका इगलैड, प० जमनी फ्रास तथा भारत पाच सबसे बडे अशधारी है और उनके द्वारा मनोनीत कार्यकारी सचालक इसके स्थायी सदस्य होते हैं। शेष 15 कार्यकारी सचालको का अन्य देशो द्वारा निर्वाचन होता है। कार्यकारी सचालको को अपने देश के पूंजी अश के अनुपात मे मताधिकार प्राप्त होते हैं।

अध्यक्ष (President)

बैंक का एक अध्यक्ष (President) होता है जो कार्यकारी सचालको द्वारा चुना जाता है। वह कार्यकारी सचालक मडल का सभापति होता है। उसे मताधिकार नही होता परन्तु समान मत पडने पर अपना निर्णय मत (Deciding Vote) देने का अधिकार होता है। बैंक का वह मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है और नीतिगत प्रश्नो पर कार्यकारी सचालकों के निर्देशन मे बैंक के सगठन तथा सामान्य कार्य चलाने के लिए उत्तरदायी होता है। 1 अप्रेल 1968 से बैंक के अध्यक्ष अमेरिका के श्री राबर्ट एस० मैकनमारा (Robert S McNamara) है।

सलाहकार परिषद् (Advisory Council)

बैंक को सामान्य नीति सम्बन्धी प्रश्नो पर सलाह देने के लिए कम से कम सात सदस्यो की एक सलाहकार परिषद है जिसमे बैंकिग वाणिज्य श्रम तथा कृषि

[1] "The exceptions include the admission of new members, the increase or decrease of the capital stock the suspension of a member, decision of appeals from interpretations of the Articles of Agreement made by the Executive Directors, approval of formal agreements with other international organisations, decision on distribution of the net income of the Bank and its liquidation

—*The World Bank . Principles and Policies*, p. 14.

क्षेत्र के विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है। इस परिषद की बैठक साधारणतया वर्ष म एक बार होती है परन्तु आवश्यकता पडने और बैठकें भी बुलाई जा सकती है।

ऋण समितिया (Loan Committees) ·

बैंक को प्राप्त ऋण के प्रार्थनापत्रो की जाच के लिए बैंक समय-समय पर ऋण समितिया नियुक्त करता है। इस समितियो की रिपोर्ट के आधार पर ही बैंक ऋण स्वीकृत करता है।

विश्व बैंक के कार्य तथा सेवायें
(Functions and Services of the Bank)

विश्व के पुनर्निर्माण तथा आर्थिक विकास के क्षेत्र मे विश्व बैंक ने अविस्मरणीय सेवायें की है। अविकसित तथा अर्घविकसित राष्ट्रो के लिए विश्व बैंक एक बडी उपयोगी सस्था है। विश्व बैंक की क्रियायें तथा सेवायें निम्नलिखित है

1. ऋण देना (Granting of Loans)
2. ऋणो की गारन्टी देना (Guaranteeing of Loans)
3. तकनीकी सहायता (Technical Assistance)
4. प्रशिक्षण सुविधायें (Training Facilities)
5. मध्यस्थ के रूप मे सेवाये (Conciliatary Services)

(1) ऋण देना
(Granting of Loans)

विश्व बैंक अपने साधन दो स्रोतो से प्राप्त करता है। एक तो, सदस्य देशों से पूंजी अश के रूप मे प्राप्त तथा दूसरे, उधार लेकर प्राप्त। विश्व बैंक इस प्रकार प्राप्त साधनो का उपयोग सदस्य देशो को ऋण देने मे करता है। ऋण सदस्य देश की सरकार या उस देश के किसी राजनीतिक प्रदेश (Political Sub division) जैसे प्रान्त या राज्य या किसी अर्धसरकारी सस्था जैसे, नगरनिगम या उस दश मे स्थित किसी निजी व्यापारिक, औद्योगिक या कृषि सस्थान को दिए जा सकते है। निजी सस्थानो को दिए गये ऋणो की सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा गारन्टी देना आवश्यक है।

बैक पुनर्निर्माण तथा विकास दोनो कार्यों के लिए ऋण दता है। पुनर्निर्माण के लिए तो युद्धोत्तर काल मे कुछ ऋण दिए गये थे। अधिकतर विकास कार्यों के लिए ऋण दिये गये है। बैंक सामान्यतया मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋण देता है। वास्तव मे ऋण की अवधि कारखाने या साज सामान के उपयोगी जीवन काल (useful life of the equipment or Plant) पर निर्भर रहती हैं। बैंक द्वारा दिए

गये ऋणों पर ब्याज की दर बैंक को उन्ही शर्तों पर बाजार से ऋण लेने की लागत के बराबर होती है और बिना भेदभाव के सभी ऋणी देशो से समान ब्याज दर ली जाती है। अधिकतर दिए गये ऋणो पर 4 5 प्रतिशत से 6 प्रतिशत तक ब्याज दर ली गई थी। ऋण लेने की लागत म वृद्धि के कारण बैंक को अपनी ब्याज दर जनवरी 1968 में 6 प्रतिशत से 6 25 प्रतिशत करनी पडी। अगस्त 1968 मे यह बढाकर 6 50 प्रतिशत कर दी गई है। सदस्य देशो द्वारा लिए गये ऋणो पर बैंक द्वारा ब्याज दर के अतिरिक्त 1 प्रतिशत से 1·5 प्रतिशत तक कमीशन लेने को समझौता पत्र मे व्यवस्था थी परन्तु बैंक ने 1 प्रतिशत ही कमीशन लिया है। इस कमीशन द्वारा प्राप्त आय से एक विशेष कोष बनाया गया है जिसका उपयोग ऋणों की वसूली न होने से होने वाली हानि को पूरा करने के लिए किया जाता है।

ऋण स्वीकृति की चार अवस्थायें (Four Stages of Granting Loans) :

सदस्य देशो को दिए जाने वाले ऋणो की स्वीकृति की निम्नलिखित चार क्रमावस्थायें हैं

(1) **प्रारम्भिक बातचीत तथा जाच** (Exploratory discussions and Preliminary Investigation) जब किसी सदस्य देश की सरकार या सस्था ऋण लेने का प्रार्थनापत्र बैंक के पास भेजती है तो बैंक तथा ऋणी के प्रतिनिधियो में प्रारम्भिक बातचीत होती हैं और ऋणी की भुगतान योग्यता के बारे मे पता लगाया जाता है। यदि किसी देश से पहले ही ऋण की माग हो रही है तो बैंक वहा एक अध्ययन दल भेजता है जो उस देश के कृषि, खनिज तथा औद्योगिक साधनो, निर्यात तथा भुगतान सतुलन, मुद्रा-प्रणाली इत्यादि का अध्ययन करता है जिससे देश की ऋण क उपयुक्त प्रयोग की क्षमता का ज्ञान हो सके। यदि ऋणी देश द्वारा पहले ऋण लिए जा चुके हैं तो देश की वर्तमान आर्थिक गतिविधियो की जानकारी प्राप्त की जाती है।

2 **विशिष्ट योजना की जाच** (Investigation of the Specific Project) प्रारम्भिक जाच के बाद योजना विशेष (जिसके लिए ऋण मागा गया है) के तकनीकी, वित्तीय तथा प्रशासनिक पक्षो की जाच की जाती है। उसमे निम्न मुख्य बातो पर विचार होता है

(i) योजना ठीक से बनायी गयी है या नही।

(ii) योजना के लिए आवश्यक स्थानीय पूँजी प्राप्त है या नही।

(iii) योजना को पूरा करने के लिए पर्याप्त तकनीकी जानकारी उपलब्ध है या नही।

(iv) योजना का प्रबन्ध सुयोग्य हाथो मे है या नही इत्यादि।

उपर्युक्त तथ्यों की जाच के बाद बैंक यह निर्णय करता है कि इस योजना के लिए ऋण देना उचित है या नही।

(3) ऋण की शर्तों के सम्बन्ध मे बातचीत (Negotiation of the terms of the Loan) तीसरी अवस्था मे ऋण की शर्तों के सम्बन्ध में बातचीत होती है। इसम बैंक द्वारा कुल विनियोग की मात्रा, ब्याज दर, ऋण अवधि, बैंक के हितो की सुरक्षा के लिए आश्वासन तथा गारन्टियो इत्यादि के सम्बन्ध मे निर्णय होता है। इसमे अधिक समय नही लगता क्योंकि बैंक इस सम्बन्ध मे प्रमापित विधि का प्रयोग करता है। सामान्यत. बैंक योजना की विदेशी विनिमय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ऋण देता है।

(4) ऋण-प्रशासन (Administration of the Loan) अंतिम अवस्था मे ऋण-प्रशासन आता है जो बैंक ऋणो की विशेषता है। बैंक योजना के निर्माण काय की देख रेख रखता है। बैंक के प्रतिनिधि योजना स्थल पर जाकर यह देखते है कि ऋण का प्रयोग ठीक ढग से हो रहा है और यह ऋण समझौते के अनुरूप है। ऋणी द्वारा बैंक को योजना का प्रगति-विवरण लगातार भेजना आवश्यक है जिसस ऋण के प्रारम्भ से अंत तक बैंक पूरी देख-रेख रख सके।

बैंक द्वारा दिए गये ऋण
(Loan Operations of the Bank)

गत 22 वर्षो मे विश्व बैंक ने सदस्य देशो के पुर्ननिर्माण तथा आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त सहायता दी है। बैंक ने प्रारम्भ मे 1947 मे फ्रास, नीदरलैंड्स, डेनमार्क तथा लक्जेमबर्ग को पुर्ननिर्माण के लिए ऋण दिए थे। बाद मे सभी ऋण आर्थिक विकास के लिए दिए गये। स्थापना के समय से 30 जून 1968 तक 85 देशो को 11,247 मि० डालर के ऋण दिए गये। पिछले कुछ वर्षो का ऋणो का ब्योरा निम्न तालिका म दिया गया है

बैंक द्वारा दिए गये ऋणों का ब्योरा

(मिलियन डालरों मे)

प्रशुल्क वर्ष (Fiscal Year)	ऋणो की मात्रा (Loans)
1959 तक	4,251
1960	659
1961	610
1962	882
1963	449
1964	810
1965	1,023
1966	839
1967	877
1968	847
Total	11,247

विश्व बैंक द्वारा प्रारम्भ से 30 जून 1968 तक सदस्य देशों को दिए गये ऋणों का उद्देश्यानुसार (Purpose wise) विवरण निम्न तालिका मे दिखाया गया है।

विश्व बैंक द्वारा दिए गये ऋणो का उद्देश्यानुसार वितरण
(प्रारम्भ से 30 जून 1968 तक)

(मिलियन डालरो मे)

उद्देश्य	राशि ($)	राशि ($)
1 विद्युत शक्ति		3,826
2. यातायात		3,639
(i) रेलें	1,513	
(ii) जहाजरानी	12	
(iii) बन्दरगाह तथा जल मार्ग	399	
(iv) सड़कें	1,579	
(v) हवाई मार्ग तथा हवाई अड्डे	57	
(vi) पाइप लाइनें	79	
3. सदेश वाहन		144
4. कृषि, वन तथा मत्स्य-पालन		942
(i) फार्म यन्त्रीकरण	136	
(ii) सिंचाई तथा बाढ नियन्त्रण	527	
(iii) भूमि सुधार आदि	91	
(iv) भडार आदि	14	
(v) पशु विकास	141	
(vi) वन तथा मत्स्य पालन	33	
5. उद्योग :		1,782
(i) लौह स्पात	414	
(ii) कागज तथा लुग्दी	135	
(iii) उर्वरक तथा अन्य रसायन	112	
(iv) अन्य उद्योग	260	
(v) खनन	197	
(vi) विकास वित्त कम्पनिया	665	
6. सामान्य विकास		205
7. शिक्षा		35
8 जल व्यवस्थायें		74
9. युद्धोत्तर पुनर्निर्माण		497
10. योजना निर्माण		5
11. ऋण वित्त व्यवस्था (IFC)		100
योग		11,247

उपर्युक्त आकडा से स्पष्ट है कि विश्व बैंक ने अधिकतर ऋण विद्युत-शक्ति, यातायात के साधनों तथा उद्योगों के विकास के लिए दिए हैं।

1967–68 मे विश्व बैंक ने 31 सदस्य देशो को 847 मि० डालर के ऋण दिए। इन ऋणो का कार्यानुसार वितरण निम्न तालिका मे दिखाया गया है :

विश्व बैंक द्वारा दिए गये ऋणो का कार्यानुसार वितरण
(1967—68)

(मिलियन डालरो मे)

मदें	राशि ($)
1. कृषि	145 30
2. शिक्षा	10 60
3. विद्युत शक्ति	254 45
4. सदेश वाहन	27 00
5. उद्योग	191 50
6. यानायात	196 10
7. जल पूर्ति	22 00
योग	846 95

बैंक के द्वारा दिए गये ऋणो से यह स्पष्ट है कि पिछले 5–6 वर्षो से बैंक कृषि तथा शिक्षा के क्षेत्र मे विकास के लिए अधिक ध्यान दे रहा है। कृषि-विकास के क्षेत्र मे बैंक ने मलेशिया, थाई लैंड, पाकिस्तान तथा फिलिपीन्स को सिचाई के लिए ऋण दिए। 1967–68 मे बैंक ने ब्राजील को मास तथा ऊन उत्पादन वृद्धि के लिए 40 मि० डालर का ऋण दिया। इसी प्रकार बैंक ने फसल सुधार के लिए मलावी को, भूमि-साधनो के शोषण के लिए, मलेशिया को, तथा जल साधनो तथा कृषि के विकास के लिए ईरान को ऋण दिए।

प्रारम्भ से 30 जून 1968 तक विश्व बैंक ने जो 11,247 मि० डालर के ऋण दिए उनका क्षेत्रानुसार वर्गीकरण निम्न तालिका मे दिखाया गया है।

विश्व बैंक द्वारा दिए गये ऋणो का क्षेत्रानुसार विवरण
(प्रारम्भ से 30 जून 1968 तक)

(मिलियन डालरो मे)

क्षेत्र	राशि ($)
1 एशिया तथा मध्य-पूर्व	3,777
2 पश्चिमी गोलार्ध	3,200
3. योरोप	2,238
4 अफ्रीका	1,412
5 आस्ट्रेलिया	520
6 अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम	100
योग	11,247

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि विश्व बैंक द्वारा दिए गये अधिकाश ऋण एशिया, अफ्रीका, मध्य पूर्व तथा लैटिन अमेरिका के अविकसित तथा पिछड़े हुए देशों को दिए गये हैं।

भावी नीति (Future Policy) :

बैंक ग्रुप के अध्यक्ष श्री राबर्ट मैकनामारा (Robert S. McNamara) ने बैंक की सितम्बर-अक्तूबर 1968 की वार्षिक बैठक तथा अन्य भाषणो मे बैंक की भावी पाच वर्षीय ऋण योजना का सकेत दिया है। उन्होंने कहा है कि भविष्य मे बैंक कृषि तथा शिक्षा के क्षेत्र मे विशेष सहायता देगा।

(2) ऋणों की गारन्टी देना
(Guaranteeing of Loans)

बैंक अपने पूंजी साधनो तथा उधार लेकर ऋण देने के अतिरिक्त निजी व्यक्तियो तथा सस्थाओ से ऋण दिलाता है और स्वय उसकी गारन्टी करता है। इस प्रकार बैंक निजी पूंजी विनियोजन को प्रोत्साहित करता है। बैंक द्वारा की जाने वाली यह सुविधा सदस्य देशो के लिए बडी लाभदायक सिद्ध हुई है। बैंक गारन्टी के इस कार्य के लिए सदस्य देशो से कुछ कमीशन लेता है। बैंक के समझौता पत्र मे यह व्यवस्था थी कि बैंक गारन्टी के लिए ऋणी देशो से 1 प्रतिशत से लेकर 1.5 प्रतिशत तक कमीशन लेगा परन्तु बैंक ने 1 प्रतिशत कमीशन ही लिया है।

(3) तकनीकी सहायता
(Technical Assistance)

विश्व बैंक ने सदस्य देशो को ऋण-व्यवस्था के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण तकनीकी सहायता प्रदान की है। यह सहायता विशेष रूप से निम्नलिखित विषयो से सम्बन्धित रही है

(अ) विभिन्न योजनाओ मे प्राथमिकतायें निश्चित करना,

(ब) योजना की तकनीकी व्यवस्था मे सशोधन करना जिससे उसकी लागत मे कमी तथा कार्यकुशलता मे वृद्धि हो सके;

(स) योजना की प्रशासकीय या सगठनात्मक व्यवस्था या योजना की वित्त व्यवस्था (स्थानीय पूंजी की व्यवस्था सहित)।

विकास कार्यक्रमो के निर्माण मे बैंक ने बडे पैमाने पर विकासशील देशो को तकनीकी सहायता दी है। बैंक उन देशो मे सर्वेक्षण दल (Survey Missions) भेजकर उनके राष्ट्रीय साधनो का अध्ययन करता है। यह अध्ययन उनके दीर्घकालीन आर्थिक विकास का आधार बनता है। विकासशील देशो की प्रार्थना पर वित्तीय तथा आर्थिक विशेषज्ञो को वहा भेजा गया है।

तकनीकी सहायता के क्षेत्र मे बैंक ने योजनाओ की जानकारी तथा उनके निर्माण मे सदस्य देशो की सहायता को ही सदा से महत्व दिया है (The main emphasis of the Bank's technical assistance activities remains on assisting governments in the identification and preparation of projects.) । पूर्वी तथा पश्चिमी अफ्रीका मे स्थित बैंक के दो Permanent Missions का यही मुख्य कार्य है । इसी उद्देश्य से बैंक FAO तथा UNESCO से सहयोग करता है।

पिछले वर्ष बैंक ने पश्चिमी पाकिस्तान के जल तथा शक्ति साधनो का अध्ययन पूर्ण किया है । बैंक ने 1968 मे इन्डोनेशिया के आर्थिक विकास मे सहायता दने के लिए जकर्ता मे Resident staff की नियुक्ति की है ।

विकास नियोजन के क्षेत्र मे बैंक परामर्श भी देता है ।

(4) प्रशिक्षण सुविधायें
(Training Facilities)

सदस्य देशो की योजनाओ के सफल सचालन के लिए प्रशिक्षित अधिकारियो की व्यवस्था करने के लिए बैंक प्रशिक्षण-सुविधायें भी देता है । 1956 मे बैंक ने राकफेलर तथा फोर्ड फाउन्डेशन की वित्तीय सहायता से वाशिंगटन मे एक 'आर्थिक विकास सस्थान' (The Economic Development Institute [EDI]) की स्थापना की जिसमे विकासशील सदस्य देशों के वरिष्ठ सरकारी अधिकारियो को प्रशिक्षण दिया जाता है । (EDI is striving forward the long term goal of helping less developed countries to have enough expertise to meet the demands of economic development)

आर्थिक विकास सस्थान ने 1956 मे अपने प्रारम्भ से 30 जून 1968 तक 103 देशो के 885 अधिकारियो को प्रशिक्षण दिया । 1967-68 मे 69 दशो तथा 4 अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के 140 अधिकारियो को प्रशिक्षण मिला । इसके अतिरिक्त विभिन्न राष्ट्रीय सगठनों से सहयोग कर वहाँ प्रशिक्षण मे सस्थान ने हाथ बँटाया है ।

आजकल इस सस्थान के निर्देशक एक भारतीय अर्थ विशेषज्ञ श्री के० एस० कृष्णास्वामी हैं ।

(5) मध्यस्थ रूप मे सेवायें
(Conciliatory Services)

विश्व बैंक उपर्युक्त सेवाओ के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विवादो मे मध्यस्थता (mediation) का कार्य भी करता है । भारत और पाकिस्तान के बीच

वर्षो से चले आ रहे नहरी पानी विवाद मे मध्यस्थ के रूप में कार्य करके उसे निपटाया है।

विश्व बैंक और भारत

(World Bank and India)

भारत विश्व बैंक का सस्थापक सदस्य है। भारत ने 24 दिसम्बर 1945 को ही बैंक समझौता पत्र को स्वीकृति दे दी थी। बैंक की कुल प्राथित पूँजी मे 400 मि० डालर का अश भारत के पास था। इस प्रकार वह पाच बडे अशधारियो मे से एक था और उसे बैंक के कार्यकारी सचालक मडल मे स्थायी स्थान प्राप्त है। अब भारत का पूँजी अश बढकर 800 मि० डालर हो गया है जो कुल पूँजी का 3 49 प्रतिशत है। भारत के पास बैंक के 8000 अश है और उसे 8 250 मतों का अधिकार प्राप्त है जो कुल मत शक्ति का 3 22 प्रतिशत है।

विश्व बैंक ने भारत के आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त सहायता दी है। विश्व बैंक से ऋण प्राप्त करने वाले देशो मे भारत का प्रथम स्थान है, उसने बैंक से सबसे अधिक ऋण लिए हैं। 30 सितम्बर 1968 तक भारत ने 1007 2 मिलियन डालर राशि के 35 ऋण प्राप्त किए। ऋणो का अधिकतर भाग सडको, रेलो, जल-परिवहन तथा बदरगाहो के विकास के लिए दिया गया।

भारत को दिए गये ऋणो का विस्तृत विवरण

समझौते की तिथि	प्रायोजना	राशि (मि डालर)	अन्य विवरण
18 8 49	रेल्वे	34 0	घटाकर 32 80 मि०
29 9-49	भूमि तोडना	10 0	घटाकर 7·20 मि०
18 4-50	शक्ति (दामोदर)	18 5	घटाकर 16 72 मि०
18-12-52	उद्योग	31 5	घटाकर 30 02 मि०
23-1-53	शक्ति (दामोदर)	19 5	घटाकर 10 50 मि०
19 11 54	शक्ति	16 2	घटाकर 13 95 मि०
14-3-55	उद्योग	10 0	ICICI को
26 6-56	उद्योग	75 0	टाटा आइरन एण्ड स्टील क० को
19-12-56	उद्योग	20 0	इन्डियन आइरन को
5-3-57	एविएशन	5 6	एयर इन्डिया को
29 5-57	शक्ति	9 8	टाटा ग्रुप को
12 7-56	रेल्वे	90 0	रेल व्यवस्था सुधार के लिए
20-11-57	उद्योग	32 5	टाटा आइरन को
23-7-58	शक्ति (दामोदर)	25 0	तृतीय दामोदर परियोजना
25-7-58	बदरगाह विकास	29 0	कलकत्ता पोर्ट कमिश्नर्स को
25-7-58	बदरगाह विकास	14 0	मद्रास पोर्ट

—Contd on next page

समझौते की तिथि	प्रायोजना	राशि (मि डालर)	अन्य विवरण
16 9-58	रेल्वे	85 0	रेलो के विकास के लिए
8-4-59	शक्ति	25 0	—
15-7-59	उद्योग	10 0	ICICI को
15-7-59	रेल्वे	50 0	रेलो के विकास के लिए
29-7-60	रेल्व	70 0	इन्जन इत्यादि आयात करने के लिए
28-10-60	उद्योग	20 0	ICICI को
17-8-61	बंदरगाह विकास	21 0	—
9-8-61	उद्योग	35·0	कोयला उद्योग को
13-10-61	रेल्वे	50 0	रेलो के विकास के लिए
22-12-61	उद्योग	19 5	इन्डियन आइरन को
28-2-62	उद्योग	20 0	ICICI को
10-8-62	व्यास नदी घाटी	3 0	पोग बाँध
28-4-63	"	6 0	—
5-6-63	उद्योग	30 0	ICICI को
21-5-65	उद्योग	50 0	ICICI को
11-6-65	विद्युत-शक्ति	70 0	लाइनो के विस्तार आदि के लिए
11-6 65	विद्युत शक्ति	14 0	कोठागुडेम विद्युत गृह (आन्ध्र)
8-7-66	उद्योग	30 0	इन्डियन आयरन को
19-9-67	उद्योग	25 0	ICICI को
11-6-69	कृषि	13 0	कृषि (बीज उत्पादन)

ऋणो के अतिरिक्त विश्व बैंक ने समय समय पर विशेपज्ञो के दल भेजकर भारत के विकास सम्बन्धी योजनाओ के निर्माण क्रियान्वयन तथा उनके मूल्याकन मे बडी सहायता की है। मई 1963 से बैंक ने नई दिल्ली मे एक प्रतिनिधि (Resident Mission) नियुक्त कर रखा है। जुलाई 1964 मे बैंक ने 0·86 मि० डालर का व्यय कर कोयला–यातायात की समस्या का अध्ययन किया है। एक विशेष अध्ययन दल ने चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अध्ययन के लिए भारत की आर्थिक स्थिति का गहन अध्ययन किया। इसके बाद भारत की विकास नीति की सफलता का मूल्याकन करने श्री ड्यू पियरसन (Drew Pearson) के नेतृत्व मे एक विशेपज्ञ दल आया। जून 1969 मे बैंक के एशिया विभाग के निर्देशक श्री पीटर कारगिल (Peter Cargill) भारत आये।

इसके अतिरिक्त बैंक भारत को आर्थिक सहायता देने के लिए Aid India Club की बैठको मे भाग लेकर भारत की सहायता करता है।

आधारभूत वस्तुओं के मूल्य-स्थायित्व के प्रश्न का अध्ययन (Study of the problem of the stabilisation of prices of primary products) :

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप के सहयोग से विश्व बैंक आधारभूत वस्तुओ की

कीमतों के स्थायित्व की समस्या का आजकल अध्ययन कर रहा है। इस अध्ययन के लिए बोर्ड आफ गवर्नर्स ने अपनी रियोडिजेनरो बैठक में एक प्रस्ताव पारित कर आदेश दिया था।

पियरसन आयोग (Pearson Commission) ·

विकास के लिये देशों को आर्थिक सहायता देने के प्रश्न की सभी पहलुओं से जाच करने, पिछली दशाब्द मे दी गई सहायता के प्रभाव तथा भावी नीति के सम्बन्ध मे विस्तृत जाच के लिए कनाडा के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री लेस्टर पियरसन की अध्यक्षता मे एक कमीशन का गठन किया गया है। बैंक अध्यक्ष श्री मैकनामारा के शब्दो मे "Its function is to examine the past aid efforts, and to see what lessons they teach for the future on both the political and economic level."

कमीशन के अध्यक्ष श्री पियरसन ने इसी जाच के सम्बन्ध मे भारत सहित विभिन्न देशो की यात्रायें की हैं। इस कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने पर विश्व के आर्थिक विकास तथा विकास के लिए सहायता के प्रश्नो पर विस्तृत प्रकाश पडने की सम्भावना है। कमीशन के निष्कर्षो के आधार पर विश्व बैंक अपनी भविष्य की नीति निर्धारित करेगा।

निष्कर्ष ·

विश्व बैंक ने वास्तव मे विश्व के आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण सेवायें की हैं। विश्व बैंक के महत्व के बारे म बैंक के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री ब्लेक का निम्न कथन स्मरणीय है:—

"The Bank's work is not to be assessed in terms of the building of cold monuments of stone, and steel and concrete; it has had a deeper purpose—to enlarge the riches of the earth, to give men light and warmth, to lift them out of drudgery and despair, to interest them in the stirring of ideas and in the grasp of organisation and techniques toward the realisation of a day in which plenty will be a real possibility and not a distant dream"

डब्ल्यू०एम० स्केमेल (W M Scammel) के शब्दो मे—

"It has shown that international functional co-operation has meaning and reality."

इसी प्रकार डा० डी. काक (Dr Kock) के कथनानुसार —

"It has become an essential cog in the machinery of international investment"

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संकेत

(1) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के मुख्य कार्य क्या हैं ? भारत को इस बैंक से क्या लाभ प्राप्त हुआ है ? वर्णन कीजिये ।

(आगरा, 1959, 1968)

[संकेत—प्रथम भाग मे विश्व बैंक के उद्देश्यो का सक्षेप मे वर्णन करते हुए बैंक के मुख्य कार्य—ऋण देना, गारन्टी करना, तकनीकी सहायता, प्रशिक्षण सुविधाये इत्यादि की विस्तार पूर्वक व्याख्या कीजिये । दूसरे भाग में भारत को विश्व बैंक से प्राप्त ऋणो तथा अन्य प्रकार की सहायता का विवरण दीजिये ।]

(2) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक के विधान तथा मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये । भारत को इससे कहा तक लाभ हुआ है ?

(विक्रम बी०ए०, 1964)

[सकेत—प्रथम भाग मे अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक के उद्देश्य, सदस्यता, पूंजी-साधन, प्रबन्ध तथा मुख्य कार्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये । दूसरे भाग मे बैंक द्वारा भारत को प्राप्त सहायता का विवरण दीजिये ।]

(3) "भारत से विश्व बैंक का सम्बन्ध शायद उसके अन्य 68 (अब 110) सदस्य देशों की तुलना मे सबसे अधिक विस्तृत है ।" भारत को दिये गये ऋणों के सन्दर्भ मे व्याख्या कीजिये :

(राजस्थान बी०काम०, 1959)

[संकेत—*भारत को विश्व बैंक से जो ऋण तथा अन्य* सहायता प्राप्त हुई है उसका विस्तृत वर्णन कीजिये । यह बताते हुए कि भारत का ऋण प्राप्त करने वाले देशो मे प्रथम स्थान है, भारत तथा विश्व बैंक के घनिष्ट सम्बन्धो का विवेचन कीजिये ।]

26

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ

(International Development Association)

Much of mankind I am convinced yearns for a new philosophy in the conduct of human affairs for a re ordering of our time, our skills and our material resources to build a more creative world order

A danger of our present economic trends is that they will add both to internal and global tensions If the development of the poor countries lags, their sense of frustration will be an element threatening the stability of society, exacerbating conflict and hobbling progress The growing contrast between the rich and poor countries in material achievements and ways of life will make dialogue between the two more and more difficult'

Robert S McNamara

विकासशील देशों को जिन शर्तों पर विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम से ऋण प्राप्त होते हैं वे शर्ते उनके अधिक अनुकूल नहीं हैं। एक ओर तो उन्हें दीर्घ कालीन पूंजी की आवश्यकता होती है क्योंकि अधिकतर उन्हें महंगे यन्त्र इत्यादि के लिये धन चाहिये और दूसरी ओर उनके सामने ब्याज चुकाने की समस्या रहती है। यदि दीर्घकालीन ऋणों पर 5-6 प्रतिशत की सामान्य दर से ब्याज चुकाया जाय तो 20 वर्षों में मूलधन (Principal) के बराबर ब्याज चुकाना पड़ता है। इस प्रकार विकासशील देशों के लिए यह भार असह्य हो जाता है। विकासशील देशों की इन कठिन समस्याओं के सन्दर्भ में एक ऐसी संस्था की स्थापना का विचार हुआ जो सस्ती तथा सुगम शर्तों पर विकासशील देशों की दीर्घकालीन पूंजी की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ इसी दिशा में किए गये प्रयत्नों का परिणाम है।

विकास संघ की स्थापना तथा उद्देश्य

(Establishment of Development Association and its Objectives)

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना का विचार सबसे पहले 1958 में अमेरिका के सिनेटर मोनरोनी (Senator Monroney) ने दिया जिसे तत्कालीन

अमेरिकी राष्ट्रपति श्री आइजनहोवर ने स्वीकृति प्रदान करदी। अगस्त 1959 मे राष्ट्रपति आइजनहोवर ने सार्वजनिक रूप से इसे अपना समर्थन प्रदान किया। अक्टूबर 1959 मे वाशिगटन में होने वाली अपनी वार्षिक बैठक मे विश्व बैंक के गवर्नर मण्डल ने अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ की स्थापना का प्रस्ताव पारित किया और कार्यकारी सचालको से विकास सघ का समझौता-पत्र (Articles of Agreement) तैयार करने को कहा। 26 जनवरी 1960 को समझौता-पत्र तैयार हो गया और उसे विश्व बैंक के सभी सदस्य देशो मे प्रसारित किया गया। निर्धारित सदस्यो की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर 24 सितम्बर 1960 को अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ का जन्म हुआ और उसने 8 नवम्बर 1960 को विधिवत कार्य करना आरम्भ किया।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ विश्व बैंक की एक पूरक सस्था है और इसका उद्देश्य विकासशील देशो को सरल शर्तों पर ऋणो की व्यवस्था करना है। (The purpose of IDA is to provide development finance to less developed member countries on easy terms that will bear less heavily on the balance of payments position of recipient countries than do Banks loans granted on conventional terms) विकास सघ विकासशील देशो को कम ब्याज पर दीर्घकालीन ऋण देने की व्यवस्था करता है और उनका भुगतान उन्ही की राष्ट्रीय मुद्राओ मे स्वीकार करता है। सक्षेप म, विकास सघ विकासशील दशो को सुलभ ऋण' (Soft Loans) प्रदान करता है।

विकास सघ की सदस्यता
(Membership of the Association)

विकास सघ विश्व बैंक की सहयोगी (Affiliate) सस्था है और विश्व बैंक का कोई भी सदस्य विकास सघ का सदस्य हो सकता है प्रारम्भ म विकास सघ के केवल 51 सदस्य थे। 31 दिसम्बर 1968 को विकास सघ की कुल सदस्य सख्या बढकर 102 हो गई है। मारीशस, बोत्सवाना, लेसोथो तथा इन्डोनेशिया ने 1968 मे ही विकास सघ की सदस्यता ग्रहण की है।

विकास सघ के पूंजी साधन
(Capital Resources of the Association)

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ के प्रारम्भिक पूंजी 1 बिलियन (1000 मि० डालर) निर्धारित की गई थी। सदस्य देशो को भाग 1 तथा 2 भाग मे विभाजित किया गया है। भाग 1 मे 18 विकसित देश हैं। पहले भाग 1 के सदस्य देशो की सख्या 17 थी और कुवैत के भाग 1 के सदस्य बन जाने से यह 18 हो गई है। भाग 2 म शेष 84 अविकसित तथा अर्धविकसित दशो को सम्मिलित किया गया है।

भाग 1 के विकसित देशो को उनके पूंजी अशो का शत प्रतिशत भाग स्वर्ग या परिवर्तनशील मुद्रा म विकास सघ का अदा करना पडता है। भाग 1 के विकसित दशो को अपने प्रारम्भिक पूंजी अशो का 10 प्रतिशत निम्न प्रकार चुकाना था .

(i) आधा भाग विकास सघ का कार्य प्रारम्भ होने या देश के सदस्य बनने के 30 दिन के भीतर।

(ii) 12 5 प्रतिशत विकास सघ का कार्य प्रारम्भ होने के 1 वर्ष के भीतर और फिर 12 5 प्रतिशत प्रतिवष जब तक कुल पूंजी अश का 10 प्रतिशत अदा न हो जाय।

भाग 2 क दशो का शेप 90 प्रतिशत भाग स्वण या परिवर्तनशील मुद्रा मे पाच किस्तो म अदा करना होता है।

भाग 2 के देशो को उनके पूंजी अ शों का 10 प्रतिशत स्वण या परिवतन-शील मुद्रा म चुकाना होता है। उनको अपनी पूजी अशो का शेप 90 प्रतिशत भाग अपन दश की मुद्रा म ही पाच किस्तों मे चुकाना होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ

मुख्य देशों के पूंजी अश (30 जून 1968)

(मिलियन डालरो म)

भाग 1			भाग 2		
दश	पूजी अश	कुल का प्रतिशत	देश	पूंजी अश	कुल का प्रतिशत
1 अमारका	320 29	32 02	1 भारत	40 35	4 03
2 ब्रिटन	131 14	13 11	2 चीन	30 26	3 03
3 फ्राम	52 96	5 26	3 ब्राजील	18 83	1 08
4 प जमनी	52 96	5 29	4 अर्जेंटाइना	18 83	1 08
5 कनाडा	37 83	3 78	5 पाकिस्तान	10 09	1 01
6 जापान	33 59	3 35	6 स्पेन	10 09	1 01
7 नीदरलैंडस	27 74	2 77	7 मेक्सिको	8 74	87
8 आस्ट्रेलिया	20 18	2 02	8 टर्की	5 80	58
9 इटली	18 16	1 82	9 यू ए आर	5 08	51
10 स्वीडन	10 09	1 01	10 फिलीपाइन्स	5 04	50

विकास सघ का प्रबन्ध
(Management of IDA)

अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ विश्व बैंक की सहयोगी सस्था है और उसका प्रबन्ध तथा प्रशासन विश्व बैंक ही करता है। विश्व बैंक का गवनर मडल (Board of Governors) कायकारी सचालक मडल (Board of Executive Directors) तथा अन्य अधिकारी विकास सघ की भी व्यवस्था करते हैं।

विकास संघ की ऋण व्यवस्था
(Lending Operations of IDA)

अन्तर्राष्ट्रीय सघ ने सदस्य देशो को पर्याप्त ऋण सहायता दी है।

विकास सघ ने अपने जीवन काल के 9 वर्षों मे विकास शील देशो को पर्याप्त सहायता दी है। प्रारम्भ से 30 जून 1968 तक विकास सघ ने 40 देशो को 1968 मि० डालर के ऋण प्रदान किए है। जनवरी 1969 तक विकास सघ 43 देशो को 2,000 मिलियन डालर के 141 ऋण प्रदान कर चुका था। प्रथम दस देशो को मिले ऋणो का विवरण निम्न तालिका मे दिखाया गया है।

विकास सघ द्वारा दिए गये ऋणो का विवरण

(30 जून 1968 तक) (मिलियन डालरो मे)

देश	ऋणो की सख्या	ऋण-राशि ($)
1 भारत	21	887
2. पाकिस्तान	24	331
3. टर्की	7	80
4 कीनिया	8	39
5. नाइजीरिया	2	36
6. इथोपिया	3	28
7. मलावी	5	28
8. तन्जानिया	4	27
9 कोरिया	2	25
10 ट्यूनीशिया	3	24

विकास सघ द्वारा दिए गये ऋणो का कार्यानुसार वितरण निम्न तालिका मे दिखाया गया है :

विकास सघ द्वारा दिये गये ऋणों का कार्यानुसार वितरण

(30 जून 1968 तक) (मिलियन डालरो मे)

मद	ऋण राशि
1 विद्युत शक्ति	112 2
2 यातायात	617·0
3. सदेश वाहन	74·8
4 कृषि, वन तथा मत्स्य पालन	310 6
5. उद्योग	501·1
6 शिक्षा	127·1
7 जल प्रदाय	34 0
8 प्रायोजना निर्माण	1 6
योग	1788 4

विकास संघ द्वारा दिए गये ऋणों का क्षेत्रानुसार वितरण निम्न तालिका में दिखाया गया है :

विकास संघ द्वारा दिये गये ऋणों का क्षेत्रानुसार वितरण
(IDA Credits by Area)
(30 जून 1968 तक) (मिलियन डालरों में)

क्षेत्र	ऋण राशि
1. एशिया तथा मध्य पूर्व	1280 6
2. अफ्रीका	309·8
3. पश्चिमी गोलार्ध	117·5
4. योरोप	80 5
योग	1788·4

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विकास संघ ने कुल ऋणों का 88 प्रतिशत एशिया, मध्यपूर्व तथा अफ्रीका के देशों को दिया है।

ऋणों की अवधि 50 वर्ष की है। प्रथम 10 वर्षों तक कोई अदायगी नहीं करनी होगी। अगले 10 वर्षों में ऋण राशि का 1 प्रतिशत प्रतिवर्ष तथा बाकी अगले 30 वर्षों में 3 प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से अदा करना पड़ता है। ऋणों पर कोई ब्याज नहीं लिया जाता। केवल $\frac{3}{4}$ प्रतिशत से 1 प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से सेवा व्यय (Service charge) लिया जाता है।

विकास संघ तथा भारत
(IDA and India)

भारत अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ का प्रारम्भिक सदस्य है। उसका पूँजी अंश पाचवें नम्बर का है परन्तु विकासशील देश होने के कारण उसे भाग 2 के देशों की श्रेणी में रखा गया है जिससे उसे विकास संघ से पर्याप्त मात्रा में ऋण सुविधायें प्राप्त हो सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ से सहायता प्राप्त करने वाले विकासशील देशों में भारत ने गत 9 वर्षों में सबसे अधिक ऋण प्राप्त किए है। प्रारम्भ से लेकर 30 जून 1968 तक भारत ने विकास संघ के 887 मि० डालर के ऋण प्राप्त किए हैं। उन ऋणों का कार्यानुसार वितरण निम्न तालिका से स्पष्ट है :

विकास संघ द्वारा भारत को स्वीकृत ऋण

(31 जून 1968 तक) (मिलियन डालरों में)

कार्य	राशि
1. विद्युत शक्ति	79 0
2. यातायात :	
रेलें	197 5
बन्दरगाह	18·0
सड़कें	59·5
हवाई जहाज	—
3. सदेश वाहन	75 0
4 कृषि, वन तथा मत्स्य	56·5
5. उद्योग	340 0
योग	825 5

विकास सघ ने दिसम्बर 1966 के बाद जनवरी 1969 मे भारत को उसके विकास कार्यक्रम मे सहायता देने के लिए 125 मिलियन डालर का ऋण स्वीकृत किया। इस राशि का प्रयोग भारत सरकार उत्पादन माल के आयात के लिए विदेशी विनिमय की व्यवस्था के लिए करेगी।

विकास सघ तथा विश्व बैंक ने जून 1969 मे भारत को सदेश वाहन के विकास के लिए 55 मिलियन डालर का ऋण स्वीकृत किया है जिसमे से 35 4 मि० डालर का *उपयोग सार्वजनिक क्षेत्र की तीन संस्थायें आवश्यक आयात के लिए* करेंगी। शेष 19.6 मि० डालर आवश्यक साज सामान के आयात के लिए प्रयुक्त होंगे।

विश्व बैंक तथा सघ के एशिया विभाग के निर्देशक श्री पीटर कारगिल (Peter Cargill) की भारत सरकार से जून 1969 की बातचीत से आशा है कि शीघ्र ही विकास सघ उर्वरक उत्पादन के लिए नागल तथा कोचीन के प्रस्तावित कारखानों को सहायता देगा। इन परियोजनाओं की जाच के लिए एक दल जुलाई 1969 मे भारत आयेगा।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

1. अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ की स्थापना किन कारणों से हुई ? भारत को इसकी *सदस्यता से क्या लाभ प्राप्त हुआ है ?*

[सकेत—प्रथम भाग मे विकास सघ की स्थापना के कारण बताइये। विश्व बैंक द्वारा दिए गये ऋणों की कमियों की चर्चा करते हुए बताइये कि अविकसित तथा अर्द्ध विकसित देशों को सस्ती तथा सुलभ शर्तों पर दीर्घकालीन पूँजी उपलब्ध कराने के लिए विकास सघ की स्थापना हुई। द्वितीय भाग विकास सघ से भारत को प्राप्त सहायता का ब्योरा दीजिए।]

27

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम

(International Finance Corporation)

"The International Finance Corporation was established by member governments in 1956 as an affiliate of the International Bank for Reconstruction and Development (World Bank), to assist less developed member countries by helping to promote the growth of the private sector of their economies

IFC's principal objectives are to provide risk capital for productive private enterprises, in association with private investers and management, to encourage the development of local capital markets, and to stimulate the international flow of private capital"

विश्व बैंक ने ससार के देशो के पुनर्निर्माण तथा आर्थिक विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। परन्तु बैंक द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता मे दो मुख्य कमिया रही है। प्रथम, बैंक ऋण देता है, यह औद्योगिक तथा अन्य सस्थानो की पूंजी के अ श नही खरीदता। इससे बैंक ऋणदाता के रूप मे सस्थानो म उतनी रुचि नही रखता जितनी अ शधारी रखते हैं। और फिर ऋणी सस्थान ब्याज के बोझ से सदैव दबे रहते है। द्वितीय, विश्व बैंक द्वारा ऋण या तो सरकार या सरकार की गारन्टी पर दिए जाते हैं। एक ओर तो सरकारें निजी क्षेत्र के सस्थानो की गारन्टी करना नही चाहती और दूसरी ओर सरकार की गारन्टी लेना निजी सस्थान भी नही पसन्द करते क्योकि इससे उनके कार्यो मे सरकारी हस्तक्षेप के बढने का भय रहता है। इन्ही कमियो को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना की गई।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना का विचार सर्वप्रथम 1952 मे विश्व बैंक द्वारा सयुक्त राष्ट्र सघ की आर्थिक तथा सामाजिक परिषद (Economic and Social Council) के लिए तैयार की गई एक रिपोर्ट में उठाया गया। बाद मे आर्थिक तथा सामाजिक परिषद तथा साधारण सभा (General Assembly) मे वित्त निगम की स्थापना के प्रस्ताव पर विचार हुआ। दिसम्बर 1954 मे एक प्रस्ताव पारित कर साधारण सभा ने विश्व बैंक से वित्त निगम का घोषणा पत्र (Charter)

बनाने तथा उस पर सहमति प्राप्त करने की प्रार्थना की। 11 अप्रैल 1955 को कार्यकारी सचालकों ने समझौता-पत्र का प्रारुप तैयार कर लिया और उसे सदस्य देशो को प्रसारित कर दिया गया और 21 जुलाई 1955 को अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की विधिवत स्थापना हो गई। स्थापना के समय निगम के 31 सदस्य थे और उसकी कुल स्वीकृत पूंजी 78 मि० डालर थी।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के उद्देश्य

(Purposes of International Finance Corporation)

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के समझौता-पत्र (Articles of Agreement) के अनुसार "निगम का उद्देश्य सदस्य देशो विशेषकर विकासशील दशो मे उत्पादक निजी उपक्रम को प्रोत्साहन देकर उनके आर्थिक विकास को बढाना है और इस प्रकार विश्व बैंक की क्रियाओ का पूरक होना है······"[1] निगम इस मूलभूत उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित कार्य करता है :—

---

[1] "The purpose of the Corporation is to further economic development by encouraging the growth of productive private enterprise in member countries particularly in the less developed areas, thus supplementing the activities of the International Bank for Reconstruction and Development ......In carrying out this purpose, the Corporation shall :

(i) in association with private investors, assist in financing the establishment, improvement and expansion of productive private enterprises which would contribute to the development of its member countries by making investments, without guarantee of repayment by the member government concerned, in cases where sufficient private capital is not available on reasonable terms;

(ii) seek to bring together investment opportunities domestic and foreign private capital, and experienced management, and.

(iii) seek to stimulate and to help create conditions condusive to, the flow of private capital, domestic and foreign, into productive investment in member countries

"The Corporation shall be guided in all its decisions by the provisions of this Article:"

—Article One, Articles of Agreement.

(1) उत्पादक निजी साहस संस्थाओं की स्थापना, सुधार तथा विस्तार की वित्त व्यवस्था में सहायता :

वित्त निगम निजी विनियोगकर्त्ताओं के साथ मिलकर निजी क्षेत्र के उद्योगों तथा अन्य व्यावसायिक संस्थानों की स्थापना, सुधार तथा विस्तार के लिए पूँजी सहायता देता है जिससे सदस्य देशों का आर्थिक विकास हो सके। निगम द्वारा बिना सरकारी गारन्टी के ऋण दिये जाते हैं। ऋण विशेषकर ऐसे क्षेत्रों के लिए दिए जाते हैं जहा सुगम शर्तों पर पर्याप्त निजी पूँजी उपलब्ध न हो।

(2) विनियोग अवसर, पूँजी तथा प्रबन्ध में सहयोग स्थापित करना :

निगम देशी तथा विदेशी निजी पूँजी को विनियोग के क्षेत्र ढूढने में सहायता करता है। जहा योग्य प्रबन्ध उपलब्ध है परन्तु पूँजी नही है वहा पूँजी की व्यवस्था करता है और जहा पूँजी है परन्तु कुशल प्रबन्ध नही है वहा कुशल प्रबन्धको की व्यवस्था करता है। इस प्रकार विनियोग अवसर, पूँजी तथा प्रबन्ध (Investment Opportunities, Capital and Experienced Management) में सहयोग तथा समायोजन स्थापित करता है।

(3) देशी तथा विदेशी निजी पूँजी के प्रवाह तथा उसके उत्पादक विनियोजन को प्रोत्साहन तथा उसके लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना :

सदस्य देशों के आर्थिक विकास के लिए देशी तथा विदेशी निजी पूँजी के विनियोजन को प्रोत्साहित करना तथा उसमे उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करना निगम का मुख्य कार्य है।

निगम की सदस्यता
(Membership of the Corporation)

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व बैंक के साथ काम करने वाली संस्था होती हुई भी स्वतन्त्र संस्था है। वित्त निगम का सदस्य बनने के लिए विश्व बैंक का सदस्य होना आवश्यक है। स्थापना के समय जुलाई 1955 में निगम के 31 सदस्य थे जो 30 जून 1968 को बढकर 86 हो गये थे। 31 दिसम्बर को निगम की सदस्य संख्या 90 थी। 1967–68 में वियतनाम, मौरीटाना तथा इन्डोनेशिया ने निगम की सदस्यता ग्रहण की। जुलाई 1968 से दिसम्बर 1968 तक बनने वाले नये सदस्य थे—मारीशस, यूगोस्लाविया, यूरागुये तथा सिंगापुर। जनवरी 1969 में चीन (ताँवान) भी निगम का सदस्य बना और इस प्रकार निगम की सदस्य संख्या बढकर 91 हो गई।

निगम के पूँजी साधन
(Capital Resources of the Corporation)

वित्त निगम की अधिकृत पूँजी 110 मिलियन डालर है जो 1000 डालरो के 110,000 अशो मे विभाजित है। दिसम्बर 1968 मे निगम की कुल प्रार्थित पूँजी 102 386 मि० डालर थी। जनवरी 1969 मे चीन (तैवान) के निगम के सदस्य बन जाने से निगम की प्रार्थित पूँजी बढकर 106·540 मि० डालर हो गई है।

91 सदस्यीय वित्त निगम के प्रथम दस बडे अशधारी सदस्य देशो के पूँजी अ श निम्न तालिका मे दिखाये गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम

मुख्य देशों के पूँजी अश

(30 जून 1968) (मिलियन डालरो मे)

सदस्य देश	पूँजी अश	कुल का प्रतिशत
1 अमेरिका	35 168	34 69
2 ब्रिटेन	14 400	14 21
3 फ्रान्स	5 815	5 74
4 भारत	4 431	4 37
5 जर्मनी	3 655	3 61
6 कनाडा	3 600	3 55
7 नीदरलैंड्स	3 046	3 01
8 जापान	2 769	2 73
9 बेल्जियम	2 492	2 46
10 आस्टेलिया	2 215	2 19

वित्त निगम का प्रबन्ध
(Management of IFC)

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का प्रबन्ध विश्व बैंक की तरह ही एक गवर्नर मण्डल (Board of Governors), कार्यकारी सचालक मडल (Board of Executive Directors) द्वारा होता है। गवनर मडल मे प्रत्येक सदस्य देश को गवनर मडल मे एक गवनर मनोनीत करने का अधिकार होता है। दिन प्रतिदिन के कार्यो के सचालन का उत्तरदायित्व कार्यकारी सचालक मडल पर होता है। विश्व बैंक का अध्यक्ष निगम का अध्यक्ष होता है। विश्व बैंक के अध्यक्ष की सलाह से सचालक मडल एक कार्यकारी उप सभापति का निर्वाचन करता है।

निगम के कार्यकारी सचालक मडल मे 20 सदस्य होते हैं। पाँच मनोनीत सदस्य होते हैं जो निगम के पाच सबस बडे अशधारी देशो द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। निगम के चौथे सबसे बडे अशधारी होने के कारण भारत को एक कार्यकारी सचालक मनोनीत करने का अधिकार है। शेष 15 सदस्य सदस्य देशो द्वारा निर्वाचित होते हैं।

वित्त निगम की प्रक्रियायें
(Operations of the IFC)

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम केवल निजी क्षेत्र के उद्योगों मे पूँजी लगाता है या निजी विनियोग कर्त्ताओं को पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहित करता है। स्थापना के समय से लेकर 30 जून 1968 तक निगम ने 39 देशो को 272 मिलियन डालर के विनियोग (Operational Investments) तथा अभिगोपन इत्यादि किए हैं। 31 दिसम्बर, 1968 को यह राशि बढकर 289 मि० डालर हो गई। पहले दस देशो को प्राप्त विनियोग सहायता का विवरण निम्न तालिका मे दिखाया गया है।

वित्त निगम के विनियोग
(30 जून 1968) (मिलियन डालरो मे)

देश	विनियोग राशि
1. ब्राजील	33.50
2. भारत	23·40
3. मयूरिटाना	20 05
4. पाकिस्तान	17·82
5. कोलम्बिया	15 18
6. अर्जेन्टाइना	13 71
7. वेनेज्युला	12·48
8. चिली	10·29
9. इथोपिया	6 74
10. पीरू	8 98

वित्त निगम ने अपनी स्थापना से 30 जून 1968 तक 34.08 मि० डालर के अभिगोपन तथा वचन रकम के वायदे किए हैं जिसका विवरण इस प्रकार है :

वित्त निगम द्वारा अभिगोपन तथा वचन दी गई रकम के दायित्व
(Stand by and Underwriting Committments)
(30 जून 1968) (मिलियन डालरो मे)

देश	राशि
1. मैक्सिको	22 54
2. फिलीपीन्स	4 36
3. इथोपिया	3 71
4. नाइजीरिया	1·40
5. वेनेज्युला	·52
6. मलेशिया	·49
7. कोलम्बिया	·35
8. कोस्टारिका	·31
9. लाइबेरिया	·24
10. फिनलैंड	·16
योग	34·08

दस देशो से सम्बन्धित इस 34.8 मि० डालर के अभिगोपन दायित्व का सबसे अधिक भाग (22 54 मि० डालर) मेक्सिको के सस्थानो से सम्बन्धित है।

31 दिसम्बर 1968 को समाप्त हुए वर्ष मे निगम ने 10 देशो में 47 9 मि० डालर के 17 विनियोग किए। इस वर्ष निगम ने ब्राजील, कोलम्बिया, जैमेका, कीनिया, कोरिया, मोरीटानिया, निकारागुआ, पाकिस्तान तथा वेनेज्यूला मे विनियोग किए। इस वर्ष निगम ने आठ बडे नये उद्योगो को सहायता दी जिनमे 5 लेटिन अमेरिका, दो एशिया तथा एक अफ्रीका मे था।

अप्रेल 1969 मे निगम ने थाईलैंड के सबसे बडे Building Material Producer Siam Cement group of Companies को 22.1 मि० डालर के ऋण का दायित्व स्वीकार किया है। 22 1 मि० डालर का 61 प्रतिशत या 14.1 मि० डालर निजी वित्तीय सस्थायें विनियोजित करेगी। निगम द्वारा अभी तक किए गये विनियोगो मे यह सबसे बडा विनियोग है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम और भारत
(IFC and India)

भारत अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम का प्रारम्भ से ही सदस्य रहा है। भारत ने 19 अक्तूबर 1955 को वित्त निगम के समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए थे। पूँजी अश की दृष्टि से भारत का चौथा स्थान है और उसका पूँजी अश 4 431 मि० डालर है। वित्त निगम के पाच सबसे बडे पूँजी अशधारी होने के कारण भारत का एक कार्यकारी सचालक मनोनीत करने का अधिकार है।

अन्तर्राष्ट्रीय निगम से पूँजी सहायता प्राप्त करने वाले देशो मे भारत का दूसरा स्थान है। 30 जून 1968 तक भारत ने 23.40 मिलियन डालर की विनियोग सहायता प्राप्त की है जिसका विस्तृत विवरण निम्न तालिका मे प्रस्तुत है :

वित्त निगम के भारत मे विनियोग
(30 जून 1968)

उद्योग	राशि
1. Republic Forge Company, Ltd.	1 50
2. Kirlosker Oil Engine, Ltd.	0 85
3 Assam Sillimanite Ltd	1·37
4. K. S B Pumps, Ltd.	0 21
5. Precision Bearings India, Ltd.	1 03
6. Fort Gloster Industries, Ltd	1 21
7 Mahindra Ugine Steel Co, Ltd	3 30
8 Lakshmi Machine Works, Ltd	1 31
9 Jayshree Chemicals, Ltd	1 15
10 Indian Explosives, Ltd	11 47
योग	23 40

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हैं कि निगम के कार्यकाल के प्रारम्भिक वर्षो मे भारत को कोई विशेष सहायता नही मिली। इसका कारण यह रहा है कि विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास सघ से भारत ने पर्याप्त सहायता ली है। निगम की ऊंची ब्याज दरो तथा ऋण स्वीकार करने की कठोर शर्तों के कारण भी निजी क्षेत्र के संस्थान निगम से ऋण लेने के लिए अधिक उत्साहित नही रहते।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

1. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के उद्देश्यो पर प्रकाश डालिए। निगम की प्रगति का विवरण देते हुए बताइये कि यह कहा तक अपने उद्देश्यो मे सफल हुआ है।

[संकेत—प्रथम भाग मे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की स्थापना के उद्देश्यो जैसे सदस्य देशो मे उत्पादक निजी पूंजी विनियोग को प्रोत्साहन आदि—का वर्णन कीजिए। दूसरे भाग मे निगम की प्रगति का उल्लेख करते हुए इसकी आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।]

भाग ५
Part Five

"The flavour of Indian tea remains the same after devaluation, so does the quality of jute as cheap packing material Devaluation does not alter the incomes of people abroad who consume Indian tea, nor is the quantum of world trade affected by devaluation to cause any reduced demand for packing materials. This logic broadly applies to export goods generally.'

Prof B R Shenoy

भारतीय मुद्रा का इतिहास
(History of Indian Currency)

भारतीय चलन का इतिहास

(The Histor) of Indian Currency)

"On the whole it seems that while in all other branches and departments of administration, we endeavour to give to India the best of every thing so far as we can, yet in respect to metallic currency, we deliberately withhold from her the first rate article and afford her a second rate one "

Sir Richard Temple

यद्यपि सिक्को का प्रयोग भारत मे प्राचीन काल मे भी होता था परन्तु भारतीय चलन का इतिहास अपनी प्राचीनता से अधिक अपनी जटिलता के लिए प्रसिद्ध है। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पूर्व उत्तर भारत मे सोने की मुहरो और चादी के सिक्को, दोनो का प्रयोग चलन के रूप मे होता था। दक्षिण भारत मे स्वर्ण मुद्राएं ही प्रधान थी। मुगलो के पतन के बाद अनेक छोटी रियासतो का उदय हुआ जिन्होने अपनी स्वतन्त्रता के प्रतीक के रूप मे अपनी निजी मुद्राए जारी की। भार एव शुद्धता मे अन्तर होते हुए भी सम्पूर्ण भारत मे दोनो धातुओ के सोना और चादी, के प्रामाणिक सिक्के चलन म थे परन्तु इनमे कोई वैधानिक अनुपात निश्चित नही किया गया था। इस प्रकार उन्नीसवी सदी के प्रथम चरण मे भारतीय मुद्रा व्यवस्था एक प्रकार से बडी अस्त–व्यस्त अवस्था मे थी जिसमे अनेक प्रकार के स्वर्ण एव चादी के सिक्के चलन म थे। इस अस्त व्यस्न परिस्थिति को श्री एच० डी० मैकलॉयड (H D Mcleod) ने निम्नलिखित शब्दो मे चित्रित किया है—

"994 different kinds of gold and silver coins current, of different weights and fineness, and whose value was constantly varying from day to day No one could tell the value of the coins he might hold. In making even moderate payments the parties were obliged to call in a shroff–a professional money changer to declare the value of each coin."

रजत मान की स्थापना
(Silver Standard Introduced)

ईस्ट इ डिया कम्पनी द्वारा सर्वप्रथम उस समय की जटिल एव उलझी हुई मौद्रिक व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया । इसके लिए साथ-साथ सोने एव चादी के सिक्के उनकी भार एव शुद्धता के प्रमाण के साथ जारी किए जाने लगे एव उनका कानूनी विनिमय अनुपात निश्चित कर दिया गया । इस प्रकार द्विधातुमान की स्थापना की गई । दोनो धातुओ के सिक्को का कानूनी अनुपात बनाए रखना कठिन था क्योकि उनके बाजार मूल्य मे बहुत परिवर्तन होता रहता था । उसी समय ब्रिटेन के विचारको ने एक धातुमान की अच्छाइयो का गुणगान भी प्रारम्भ किया । लार्ड लिविर पूल की प्रसिद्ध पुस्तक "ट्रीटाइज ऑन दि क्वाइस आफ दि रीम' (Treatise on the Coins of the Realm) प्रकाशित हुई जिसमे एक धातुमान की विशद् व्याख्या की गई । इन बातो से प्रभावित होकर 1835 मे एक कानून द्वारा रजत मान की स्थापना की गई । इसके अनुसार चादी का सिक्का 180 (11/12 शुद्ध) का रखा गया और वही देश का प्रामाणिक एव विधि ग्राह्य सिक्का था । स्वर्ण की मुहरें विधि ग्राह्य न होते हुए भी विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रयुक्त होती रही । 1841 मे एक घोषणा द्वारा जनता को यह सुविधा प्रदान की गई । वह कर, लगान आदि का भुगतान सरकारी खजानो मे सोने के सिक्को के माध्यम से कर सकती थी । इसके अनुसार सोने और चादी के सिक्को के बीच 1:15 का अनुपात निश्चित हुआ । 1853 मे इस घोषणा को रद्द कर दिया गया क्योकि आस्ट्रेलिया तथा कैलिफोर्निया मे सोने की नई खोजो के फलस्वरूप सोने का मूल्य कम होने लगा और ग्रेशम का नियम लागू होने लगा तथा चादी के सिक्के चलन से गायब होने लगे । स्वर्ण के सिक्के पूर्ण रुप से चलन से बाहर कर दिए गए ।

परन्तु जनता ने स्वर्णमान की माग जारी रखी । उधर भारत का विदेशी व्यापार भी बढता गया और चादी के सिक्के बढती हुई व्यापारिक आवश्यकताओ को पूरा करने मे असमर्थ हो गए । इसलिए स्वर्ण के सिक्को को विधिग्राह्य बनाने की माग और अधिक प्रबल होती गई । अन्तत 1866 मे सरकार ने स्वर्णमान के सम्बन्ध मे विचार करने के लिए 'मैन्सफील्ड कमीशन' की स्थापना की । इस कमीशन ने स्वर्णमान के पक्ष मे राय दी । परन्तु सरकार ने इसे स्वीकार नही किया और 1874 मे स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दी गई कि स्वर्णमान भारत के लिए उपयुक्त नही है ।

1874 से 1893 की अवधि मे चादी के स्वर्ण मूल्य मे भारी कमी हुई, क्योकि अनेक द्विधातुमान देशों ने स्वर्णमान अपना लिया और उनकी चादी की माग

प्रायः समाप्त हो गई । उनकी चादी की मुद्राग्रो का धातु के रूप मे प्रयोग किया गया जिससे विश्व मे चादी की पूर्ति बढी । यही नही इस अवधि मे अनेक चादी की नई खाने भी प्राप्त हुई जिससे चादी की पूर्ति बढी । उधर द्विधातुमान छोडकर अनेक देशो (जर्मनी, फ्रास, नार्वे, स्वीडन आदि) द्वारा स्वर्णमान अपनाने के कारण सान की माग बढी । इस प्रकार चादी की पूर्ति बढने तथा माग कम होने तथा स्वर्ण की माग बढने के परिणामस्वरूप चादी के स्वर्ण-मूल्य मे कमी होती गई । चादी के स्वर्ण-मूल्य को गिरने से रोकने के कई प्रयत्न किए गए जिनमे अमरिका का 'शर्मन एक्ट' महत्वपूर्ण है । परन्तु इन सबका कोई विशेष प्रभाव नही पडा और 1892 तक चा ी का मूल्य बहुत अधिक गिर गया था ।

चादी के मूल्य मे जो ह्रास हुआ उसका प्रभाव उन सभी देशो पर पडा जो रजनमान अपनाए हुए थे । भारत भी रजतमान पर आधारित था इसलिए इसके प्रभाव से बच नही सका । इसके निम्नलिखित प्रभाव पडे—

(1) भारतीय मुद्रा की विनिमय-दर क्रमश गिरने लगी ।

(2) विदेशो द्वारा भारत मे चादी के माध्यम से भुगतान करने के कारण चादी का आयात बढने लगा और मुद्रा प्रसार को स्थिति पैदा हो गई और कीमत स्तर बढने लगा ।

(3) ब्रिटिश कर्मचारियो को हानि होने लगी क्योकि रजत सिक्के का पौण्ड-मूल्य कम होता गया ।

(4) भारत सरकार को आर्थिक कठिनाई होने लगी क्योकि प्रति वर्ष पौण्ड के रूप मे निर्धारित रकम भेजने के लिए अधिक रजत-सिक्को की आवश्यकता होती थी ।

(5) विदेशी पूंजी की सहायता प्राप्त करना तथा देश का आर्थिक विकास करना कठिन हो गया क्योकि विनिमय दर की अनिश्चितता के कारण ऋणी एव ऋणदाता की स्थिति स्पष्ट नही हो पाती थी । इसके कारण देश के औद्योगिक विकास मे रुकावटें पैदा होने लगी ।

इस अवधि मे चादी के मूल्य मे कमी आने के प्रश्न पर विचार करने के लिए दो समितिया नियुक्त की गई । 1892 मे भारत सरकार ने चादी के स्वतन्त्र टकन का बन्द करने का प्रस्ताव रखा जिससे स्वर्णमान को अपनाया जा सके । 1893 मे भारत सरकार ने एक दूसरा प्रस्ताव भी सेक्रेटरी ऑफ स्टट फॉर इडिया के समक्ष रखा जिसके अनुसार ब्रिटिश सिक्के को भारत मे भी विधिग्राह्य बनाना था । 1892 मे ही इस प्रश्न पर विचार करने के लिए 'हर्शेल कमेटी' नियुक्त की गई ।

हर्शेल समिति
(Herschell Committee)

इस कमेटी की निम्नलिखित बातों पर विचार करने का आदेश दिया गया था :

(1) क्या चांदी का स्वतन्त्र टंकन बन्द कर दिया जाय ?

(2) क्या स्वर्ण के सिक्के अपनाए जाय और स्वर्णमान की स्थापना के लिए आवश्यक कदम उठाए जाय ?

इस कमेटी ने 1893 में अपनी रिपोर्ट दी जिसमे भारत सरकार के प्रस्तावो का समर्थन किया गया। कमेटी के मुख्य सुझाव निम्नलिखित थे—

1 स्वर्ण अथवा चांदी के स्वतन्त्र टंकन के लिए टकसाल बन्द कर देना चाहिए परन्तु सरकार को यह अधिकार होना चाहिए कि जनता की माग पर 1 शि. 4 पे. की दर पर स्वर्ण के बदले चादी सिक्के ढाल सके।

2. रुपया पूर्ण विधि ग्राह्य मुद्रा बना रहना चाहिए।

3. सोने के सिक्को का प्रयोग नही किया जाना चाहिए क्योकि स्वर्णमान अपनाने के लिए सोने के सिक्को का प्रयोग आवश्यक नही है। अप्रत्यक्ष रूप से ही स्वर्णमान अपनाना चाहिए।

4. सरकारी खजानो मे कर, लगान आदि 1 शि. 4 पे. प्रति रुपए की दर से स्वर्ण के सिक्को मे भी स्वीकार की जानी चाहिए।

भारत सरकार द्वारा इस कमेटी के सुझावो को स्वीकार कर लिया गया। इन्हे लागू करने के उद्देश्य से 1893 मे ही क्वाइनेज ऐक्ट (Coinage Act 1893) पास किया गया। स्वतन्त्र टंकन बन्द कर दिया गया परन्तु सरकार को आवश्यकता के समय मुद्रण का अधिकार था। टकसालो से 1 शि 4 पे की दर से सोने के बदले सिक्के प्राप्त करने की सुविधा दी गई। जनता को सरकारी भुगतानो मे सावरेन अथवा अर्द्ध सावरेन का प्रयोग करने की छूट दे दी गई। 15 रुपए 1 सावरेन के बराबर निश्चित किया गया। सरकार को इसी दर पर कोष रखकर नोट जारी करने का भी अधिकार दिया गया।

स्वर्ण विनिमय मान
(Gold Exchange Standard)

1893 से 1898 की अवधि को सक्रमण काल कहा जा सकता है जिसमे रुपए का विनिमय मूल्य लगभग 1 शि 4 पे. तक पहुँच गया। व्यापारिक वर्ग ने मौद्रिक अनिश्चितता को समाप्त करने के लिए सरकार से जोरदार आग्रह किया। फलत भारत सरकार ने स्वर्णमान की स्थापना और स्थायी विनिमय दर के लिए

प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव पर पूर्ण रूप से विचार करने के लिए 1898 मे 'फाउलर कमेटी' (Fowler Committee) की नियुक्ति की गई।

फाउलर कमेटी (Fowler Committee):

इस कमेटी से यह अपेक्षा की गई थी कि भारतीय मुद्रा प्रणाली मे क्या स्थाई सुधार किए जाने चाहिए तथा विनिमय दर को स्थायित्व प्रदान करने के लिए क्या कार्यवाही की जानी चाहिए। सभी पहलुओ पर विचार करने के बाद इस कमेटी ने निम्नलिखित सिफारिशें की—

1. भारतीय टकसालो मे सावरेन तथा अर्द्ध सावरेन का स्वतत्र टकन प्रारम्भ कर देना चाहिए परन्तु रुपए का स्वतत्र टकन उस समय तक नही होना चाहिए जब तक कि चलन मे स्वर्ण का अनुपात जनता की आवश्यकताओ से अधिक न हो जाय:

2. रुपए की विनिमयदर 1 शि 4 पे. बनी रहनी चाहिए।

3 रुपया प्रधान एव विधिग्राह्य मुद्रा बना रहे।

4 स्वर्ण के बदले रुपए दिये जाने चाहिए परन्तु सरकार रुपए के बदले स्वर्ण देने को बाध्य नही होनी चाहिए।

5. *अलग से एक स्वर्ण कोष (Gold Standard Reserve) की स्थापना* की जानी चाहिए और भविष्य मे रुपए की ढलाई से होने वाला लाभ इसी कोष मे रखा जाना चाहिए। इस कोष से रुपए की सावरेन में परिवर्तनीयता निश्चित हो सकेगी।

6. सरकार को विदेशी भुगतानो के लिए स्वर्ण उपलब्ध करना चाहिए।

भारत सरकार ने कमेटी के सुझावो को स्वीकार कर लिया। सावरेन एव अर्द्ध सावरेन को भारतवर्ष मे असीमित विधिग्राह्य मुद्रा घोषित किया गया और इसके निमित्त 1899 मे एक एक्ट पास किया गया। परन्तु इनके टकन के लिए भारत मे टकसाल नही खोली जा सकी। रुपए के टकन पर भी नियत्रण नही रखा जा सका। स्वर्ण कोष भी उस प्रकार नही रखा गया जैसे इस कमेटी ने सिफारिश की थी और रुपए की ढलाई से होने वाले लाभ को इस कोष मे न रखकर अन्यत्र उपयोग किया गया। इन कारणो से सोना भारत से बाहर इगलैंड मे केन्द्रित होने लगा और स्वर्णमान व्यवहार मे स्थापित नही हो सका। स्वर्ण के सिक्को के स्थान पर कागजी मुद्रा और प्रतीक सिक्के चलन मे रखे गए। ऐसे नियम बनाए गए जिनसे विनिमय दर 1 शि. 4 पे. पर बनी रहे। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान ही स्थापित किया जा सका क्योकि इन व्यवस्था मे सोने के सिक्के चलन मे नही

थे, सोना केवल विदेशी भुगतान के लिए ही मिल सकता था और विदेशो मे स्वर्ण कोष निर्मित किया गया। इस प्रकार स्वर्ण मान स्थापना के प्रयत्नो को परिस्थितियो ने ऐसा मोड दिया कि वह स्वर्ण मान न रहकर स्वर्ण विनिमय मान बन गया। विनिमय दर के परिवर्तनो को रोकने के लिए रिजर्व कौंसिल बिल का प्रयोग किया जाता था। इसका लाभ यह था कि लन्दन मे इन बिलो को बेचने से काफी स्वर्ण कोष प्राप्त हो जाता था और भारत से ब्रिटेन मे 'होम चार्जेज' (Home charges) की रकम का सोना नही भेजना होता था इसलिए उसका परिवहन व्यय बच जाता था। साथ ही विनिमय दर भी स्थायी बनी रहती थी। परन्तु 1907–8 मे भारत का निर्यात बहुत कम हो जाने से विनिमय दर गिरने लगी जिसे स्वर्ण और स्टर्लिंग ड्राफ्ट बेचकर रोकने का प्रयत्न किया गया। फलत: स्वर्ण कोष बहुत कम हो गया। इस स्थिति का सामना करने के लिए भारत ने अनुरोध किया कि स्वर्ण कोष का अधिकाश भाग भारत मे ही रहना चाहिए और इन्हे प्रतिभूतियो मे विनियोग नही किया जाना चाहिए। यह भी माग की गई कि पत्र मुद्रा कोष भी स्वर्ण मे रखा जाना चाहिए।

इन प्रस्तावो मे से अधिकाश भारत सचिव को मान्य नही थे जिसकी तीव्र आलोचना की गई। परिणाम यह हुआ कि सभी बातो की जाच करने के लिए चेम्बरलेन आयोग गठित किया गया।

चेम्बरलेन आयोग
(Chamberlain Commission)

इस आयोग का गठन 1913 मे किया गया। लार्ड कीन्स भी इस आयोग के एक सदस्य थे। इस आयोग ने भारतीय मुद्रा पद्धति का विस्तृत अध्ययन करने के बाद अपनी रिपोर्ट फरवरी 1914 मे प्रस्तुत की। आयोग की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थी—

1. भारत के लिए स्वर्ण विनिमय मान सर्वथा उपयुक्त है और स्वर्ण चलन मान की कोई आवश्यकता नही है।

2. स्वर्ण के टकन के लिए टकसाल की आवश्यकता नहीं, परन्तु यदि भारतीय जनता की भावना को सतुष्ट करने के लिए ऐसा करना आवश्यक हो तथा टकसाल का व्यय भारत सरकार उठाने को तैयार हो तो सावरेन अथवा अर्द्ध सावरेन के टकन के लिए टकसाल स्थापित की जा सकती है।

3. आतरिक मुद्रा के पीछे पर्याप्त स्वर्ण कोष रखा जाना चाहिए।

4. स्वर्ण कोष (Gold Standard Reserve) के सचिति की कोई अधिकतम सीमा निर्धारित करने की आवश्यकता नही है तथा रुपए के टकण का लाभ कम से कम कुछ समय तक पूर्ण रूप से इसी कोष मे जमा किया जाना चाहिए।

5. स्वर्ण कोष का अधिकाश भाग लदन मे स्वर्ण के रूप मे रखा जाना चाहिए तथा स्वर्ण कोष की भारतीय शाखा को समाप्त कर देना चाहिए।

6 प्रतिभूतियों के आधार पर अधिक मात्रा मे नोट जारी करके मुद्रा पद्धति को अधिक लोचपूर्ण बनाना चाहिए तथा 500 रु० के नोटो को सभी स्थानो पर मान्य घोषित किया जाना चाहिए।

7. भारत सरकार को यह उत्तरदायित्व स्वीकार करना चाहिए कि वह लदन पर 1 शि $3\frac{29}{32}$ पे. की दर पर बिलो को बेचेंगी।

इस आयोग की सिफारिशो को क्रियान्वित नही किया जा सका क्योंकि कुछ ही समय बाद प्रथम महायुद्ध छिड गया। फिर भी सिफारिशो के अनुसार स्वर्णमान कोष की भारत शाखा समाप्त कर दी गई और ऊपर दी गई सातवी सिफारिश भी लागू कर दी गई।

प्रथम महायुद्ध (First World War):—युद्ध के प्रारम्भ मे व्यापार एव वाणिज्य अस्त व्यस्त स्थिनि म आ गया तथा फलस्वरूप मुद्रा एव विनिमय की स्थिति भी कमजोर हो गई। सरकार ने तत्काल स्थिति का सामना करने के उपाय किए। बचत खातो से रुपया निकाला जाने लगा था और अधिक मात्रा मे नोट परिवर्तन के लिए प्रस्तुत किए जाने लगे थे, परन्तु सरकार ने दृढता से इन मागो को पूरा किया जिससे जनता का विश्वास बनाए रखने मे सहायता हुई। इस क्रिया मे सरकार को हानि भी उठानी पडी तथा अगस्त 1914 मे व्यक्तिगत रूप से स्वर्ण देना बन्द कर दिया गया। वास्तव मे 1916 के अन्त मे भारतीय मुद्रा व्यवस्था मे उलझने पैदा होने लगी। भारत का आयात सकुचित होता गया और निर्यात बढता गया और व्यापार सतुलन भारत के पक्ष मे हो गया। इसके कारण रुपए की माग बढी और सरकार ने बहुत बडी मात्रा मे चादी खरीदकर रुपए की माग को पूरा किया। इसका परिणाम यह हुआ कि चादी का मूल्य बढ गया और विनिमय दर 1 शि. 4 पे पर बनाए रखना कठिन हो गया प्रत्येक चादी की मूल्य वृद्धि के साथ विनिमय दर भी बढानी होती। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान की समाप्ति हो गई।

बेबिंगटन स्मिथ समिति
(Babington Smith Committee)

युद्ध का तनावपूर्ण वातावरण जब सामान्य हुआ तो विनिमय दर को स्थाई रखना अर्थ व्यवस्था के सहज सचालन के लिए आवश्यक हो गया। मई 1919 म भारत सचिव ने एक समिति नियुक्त की जिसका उद्देश्य भारतीय मुद्रा व्यवस्था पर युद्ध के प्रभावो का अध्ययन करना और सुधार के सुझाव प्रस्तुत करना था। इस कमेटी ने निम्नलिखित सुझाव रखे—

1. रुपया देश की प्रधान एव असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा बना रहे और इसका विनिमय मूल्य स्टर्लिंग मे न रखकर स्वर्ण मे रखा जाय । रुपए का मूल्य 2 शि. स्वर्ण अथवा 11.30016 ग्रेन शुद्ध सोना रखा जाना चाहिए ।

2. स्वर्ण सरकार के पास सचित रहना चाहिए जिससे विदेशी भुगतान किया जा सके । यदि आवश्यक हो तो थोडी मात्रा मे सावरेन की ढलाई की जानी चाहिए ।

3. व्यक्तिगत चादी का आयात एव निर्यात प्रतिबन्ध रहित कर दिया जाना चाहिए ।

4 सरकार को सावरेन के बदले रुपए देने का दायित्व समाप्त कर देना चाहिए ।

5. स्वर्ण का आयात निर्यात स्वतंत्र कर दिया जाना चाहिए ।

6 रुपए के टकन से प्राप्त लाभ स्वर्णमान कोष मे जमा होता रहना चाहिए एव इसका अधिकाश भाग स्वर्ण के रूप मे होना चाहिए । स्वर्णमान कोष मे सचित सोना का एक भाग (आधा से अधिक नही) भारत मे ही रहना चाहिए ।

7. पत्र मुद्रा जारी करने के लिए 40 प्रतिशत धात्विक कोष रखने का कानून बना देना चाहिए । यह धात्विक कोष भारत मे ही रखा जाना चाहिए ।

8 भारत सचिव व्यापारियो द्वारा माग करने पर कौंसिल बिल बेच सकता है । भारत सरकार को भी बिना भारत सचिव के परामर्श के रिवर्स कौंसिल बिल बेचने का अधिकार दिया जाना चाहिए ।

उपरोक्त सिफारिशे समिति ने बहुमत से की थी । भारतीय सदस्य सर दादिबा मेरवान जी दलाल ने इन सुझावो से असहमति प्रकट की और अपना विपरीत मत प्रकट किया । उनके अनुसार विनिमय दर को 1 शि. 4 पे. ही रखना उचित था क्योकि चादी का मूल्य स्थायी रूप से नही बढा था । विनिमय दर 2 शि होने से व्यापार सतुलन भी भारत के विपक्ष मे हो जायगा और सस्ते विदेशी मालो के आयात के कारण देशी व्यापार को हानि होगी ।

भारत सरकार ने बहुमत की सिफारिशो को स्वीकार कर लिया और उन्हे क्रियान्वित करने के लिए कदम उठाए । विनिमय दर 2 शि. स्वर्ण रखा गया परन्तु कुछ ही समय बाद जब भुगतान सतुलन विपक्ष मे हो गया तो यह महसूस किया गया कि यह दर बनाए रखना अत्यन्त कठिन है । इसी समय चादी का मूल्य भी गिरने लगा था जिससे स्थापित और गम्भीर हो गई और विनिमय दर गिरकर 1 शि. स्वर्ण पर पहुँच गई । परन्तु 1922 में जब पुन व्यापार शेष पक्ष मे हो गया तो विनिमय दर बढने लगी और 1924 मे बढकर 1 शि 6 पे हो गई । इसके बाद

विनिमय दर को मुद्रा संकुचन की नीति अपनाकर इसी स्तर पर रखने का प्रयत्न किया गया।

हिल्टन यंग आयोग
(Hilton Young Commission)

अगस्त 1925 मे भारतीय मुद्रा पद्धति का विस्तृत विवेचन करने और सुधार सम्बन्धी सुझाव देने के लिए हिल्टन यग आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग को मुख्य रूप से तीन प्रश्नो पर विचार करना था—(1) मौद्रिक मान का प्रश्न, (2) मौद्रिक अधिकारी का प्रश्न तथा (3) विनिमय दर का प्रश्न। इस आयोग की रिपोर्ट अगस्त 1926 मे प्रस्तुत की गई। आयोग के भारतीय सदस्य सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास आयोग की रिपोर्ट से असहमत थे और उन्होने अपनी असहमति रिपोर्ट (minute of dissent) प्रस्तुत की।

आयोग ने सुझाव देने के पूर्व तत्कालीन मुद्रा पद्धति के निम्नलिखित दोषों की ओर भी सकेत किया—

1. उस समय देश मे तीन प्रकार के कोष रखे जाते थे—स्वर्णमान कोष तथा बैंकिंग कोष। परन्तु जिन सिद्धान्तो पर उन्हे रखा जाता था वे केवल भारत सचिव की सुविधा के अनुसार वदल जाते थे। इन कोषो के कारण मुद्रा एव साख नियन्त्रण का उत्तरदायित्व भी विभाजित हो गया और उसका परिणाम लाभदायक नही हुआ।

2. भारतीय मुद्रा पद्धति उलझी हुई थी। दो प्रकार की साकेतिक मुद्राए चलन मे थी—सिक्के तथा कागजी नोट। दूसरी तरफ पूर्ण मूल्य सावरेन भी मुद्रा पद्धति का अग था यद्यपि वह चलन मे नही था। पत्र मुद्रा सिक्के मे परिवर्तनीय होने के कारण मुद्रा पद्धति बहुत खर्चीली हो गई थी।

3. भारतीय मुद्रा पद्धति मे लोच का नितात अभाव था। देश का आतरिक व्यापार अपनी वित्तीय आवश्यकता नकद साख द्वारा पूरी करता था। मौद्रिक अधिकारी वैधानिक तौर पर केवल 12 करोड के नोट हुडियो के आधार पर जारी कर सकता था। देश मे उचित हुडियो की कमी के कारण अतिरिक्त नकद उपलब्ध नही हो पाता जिसके कारण नकद साख (Cash Credit) भी नही मिलती। इस प्रकार लोच की कमी थी।

4. भारतीय मुद्रा पद्धति का एक दोष यह भी वताया गया कि इसमे स्वयचालिता नही है। अर्थात मुद्रा की मात्रा स्वत व्यापारिक एव आर्थिक आवश्यकताओ के अनुसार घटती अथवा बढती नहीं थी।

5. इन कमियों का परिणाम यह था कि भारतीय मुद्रा पद्धति में जनता का विश्वास अधिक नहीं था। आयोग का मत था कि भारतीय मुद्रा पद्धति में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है : "The evolution of Indian economic system has now reached the stage when her currency can and should be placed upon a more simple certain and stable basis"

मौद्रिक मान के प्रश्न पर विचार करते समय आयोग ने स्वर्णमान की सभी किस्मों पर विचार किया। तत्कालीन स्टर्लिंग विनिमय मान के सम्बन्ध में आयोग का मत था कि यद्यपि इसके दोषों को दो कोषों के स्थान पर एक कोष रखकर दूर किया जा सकता है परन्तु इस पद्धति में जो निहित दोष हैं उनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। अर्थात् रुपए का भाग्य स्टर्लिंग के ऊपर निर्भर करेगा, इसलिए यह उपयुक्त नहीं है।

स्वर्ण विनिमय मान के सम्बन्ध में आयोग की यह धारणा थी कि इसमें जनता का विश्वास नहीं रहता इसलिए तत्कालीन परिस्थितियों में भारत के लिए यह भी उपयुक्त नहीं था।

स्वर्ण चलन मान के सम्बन्ध में एक योजना श्री एच. डेनिंग द्वारा प्रस्तुत की गई। इस योजना में यह आशा प्रकट की गई थी कि स्वर्ण चलन मान भारतीय मुद्रा पद्धति की सभी कमियों को दूर कर देगा। परन्तु कमीशन की राय में यह भी उपयुक्त नहीं था क्योंकि इसके लिए भारत द्वारा सोने की अधिक माँग की जायगी। इसे पूरा करना कठिन होगा। दूसरे स्वर्णमान देशों पर भी इसका प्रभाव पड़ेगा। कमीशन ने यह विचार व्यक्त किया कि जब अन्य देश स्वर्ण चलन मान का परित्याग करके मितव्ययिता लाने के लिए प्रयत्न कर रहे हों तो भारत में स्वर्ण चलन मान की स्थापना की बात करना उचित नहीं है। स्वर्ण चलन मान अपनाने का चाँदी बाजार पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा।

आयोग के समक्ष अब केवल स्वर्ण पिंडमान का विकल्प शेष था और इसने इसे ही अपनाने का सुझाव दिया। आयोग ने यह मत व्यक्त किया कि इस प्रकार के स्वर्ण पिंडमान में देश के अन्दर पहले की तरह पत्र मुद्रा और प्रतीक सिक्कों का चलन रहेगा परन्तु मुद्रा का मान स्वर्ण होगा। देश की मुद्रा एक निश्चित दर पर 1065 तोले के स्वर्ण पिंडों में परिवर्तनीय होगी। इसी दर पर सरकार सोना खरीदने को भी बाध्य होगी। इसके कारण मुद्रा पद्धति में स्वयचालिता का गुण आ जायगा तथा जनता का विश्वास भी प्राप्त हो जायगा। इसके सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिए—

1. सावरेन को विधिग्राह्य मुद्रा नहीं रखा जाय।

स्टर्लिंग पावने के रूप मे भारत ने जो इतनी बडी रकम जमा करली थी उसका एक साथ भुगतान करना इगलैंड के लिए प्राय. असम्भव था। इगलैंड के कई राजनीतिज्ञ इत मत के समर्थक थे कि भारत को इस ऋण का भुगतान नही किया जाना चाहिए क्योकि युद्ध का व्यय भारत के रक्षार्थ भी हुआ है। कई लोग इस रकम को घटाने का सुझाव दे रहे थे क्योकि उनके अनुसार जो माल भारत ने बेच कर यह पावना एकत्र किया है वह युद्ध के कारण बहुत ऊची कीमत पर बेचा है। इस विचारधारा की भारत मे बडी आलोचना भी हुई और ऐसे ब्रिटिश नेताओ और विद्वानो को कृतघ्न कहा गया क्योकि भारत ने जनहित की उपेक्षा करके युद्ध-व्यय वहन करने के लिए जो माल भेजा वह वास्तव मे बाजार भाव से भी कम मूल्य पर भेजा। इसके परिणामस्वरूप भारत मे मुद्रा प्रसार की स्थिति पैदा हो गई थी और लोगो को बडी कठिनाई का सामना करना पडा परन्तु इगलैंड मे जो लोग सत्तारूढ थे उन्होने सदैव न्याय सगत रुख अपनाया और आश्वासन दिया कि इगलैंड स्टर्लिंग पावना का भुगतान करने मे प्रयत्नशील रहेगा।

स्टर्लिंग पावनो के प्रयोग का सर्व प्रथम एक अल्पकालिक समझौता 1947 की जुलाई मे हुआ जिसके अनुसार 6 5 करोड पौड का तत्काल प्रयोग किया गया। जुलाई 1948 मे एक समझौते के अनुसार इगलैंड द्वारा खरीदे गए युद्ध के सामानो को भारत ने स्टर्लिंग पावना की रकम म से 10 करोड पौण्ड देकर खरीद लिया। *अग्रेज कर्मचारियो की पेंशन आदि का भुगतान करने के लिए 14·75 करोड पौंड* का प्रयोग किया गया। भारत ने रक्षा-व्यय योजना के अन्तर्गत इस रकम मे से 5 5 करोड पौड का इगलैंड को भुगतान किया। सन् 1951 की जून तक रिजर्व बैंक को 16 करोड पौंड के प्रयोग का अधिकार दिया गया। स्टर्लिंग पावने में से 434 करोड रुपये के बराबर भाग पाकिस्तान को दिया गया। जुलाई 1951 मे एक अन्य समझौता किया गया जिसके अनुसार भारत को जून 1957 तक $3\frac{1}{2}$ करोड पौड प्राप्त करने का अधिकार दिया गया। 31 करोड पौण्ड की रकम रिजर्व बैंक के मुद्रा कोष के रूप में जमा करने की व्यवस्था की गई। परन्तु वास्तव में स्टर्लिंग पावनो का प्रयोग द्वितीय पचवर्षीय योजना काल में विदेशी विनिमय के सकट काल मे उपभोग वस्तुओ के भुगतान के निमित्त किया गया। तृतीय योजना काल के अन्त तक पौण्ड पावना केवल इतिहास की बात रह गया।

साम्राज्य डालर कोष (Empire Dollar Pool) : द्वितीय महायुद्ध की *अवधि में अमेरिका ही प्रधान निर्यातक था इसलिए डालर की माग बढती गई और* वह दुर्लभ मुद्रा बन गया। इस दुर्लभ मुद्रा को उत्तम ढग से प्रयोग करने के उद्देश्य से ब्रिटिश साम्राज्य के देशा न एक समझौते के अनुसार उनके द्वारा अर्जित डालरो को एक ही कोष में जमा करने की व्यवस्था की गई। यही कोष साम्राज्य डालर कोष कहा जाना है।

इस कोष का प्रयोग करने में बड़ी मितव्ययिता रखना था। इस कोष का सचालन बैंक आफ इगलैंड के हाथ मे था। अनिवार्य होने सदस्य देश इस कोष स डालर प्राप्त कर सकते थे। युद्ध के प्रारम्भिक कुछ वर्षों तक भारत का भी इस कोष मे महत्वपूर्ण सहयोग रहा परन्तु बाद म भारत अमेरिका से आयात अधिक करने लगा और भुगतान के लिए डालरो की आवश्यकता पडी इसीलिए कुल सहयोग की मात्रा कम हो गई।

युद्ध के बाद के वर्षों मे डालर प्राप्त करना और इसकी पूर्ति अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक से उधार लेकर की जाने लगी। अन्य अन्तर्राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय मौद्रिक सस्थाओ की स्थापना के बाद से इस कोष का महत्व निरन्तर कम होता जा रहा है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारतीय मुद्रा तथा विनिमय प्रणाली मे क्या महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं ?

(आगरा 1962, राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1969)

अथवा

सन् 1947 से सन् 1960 के बीच की भारतीय मुद्रा व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओ का वर्णन कीजिए।

(आगरा, 1964)

[सकेत—द्वितीय महायुद्ध के बाद मौद्रिक क्षेत्र मे होने वाली प्रमुख घटनाओ—मुद्रा स्फीति, भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन, स्टर्लिंग सम्पत्तियो का अत्यधिक सग्रह तथा विनिमय नियन्त्रण आदि—का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।]

(2) द्वितीय महायुद्ध के भारतीय चलन तथा विनिमय प्रणाली पर हुए प्रभाव का विश्लेषण कीजिए।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल 1968)

[सकेत—द्वितीय महायुद्ध का भारतीय चलन तथा विनिमय प्रणाली पर मुद्रा स्फीति, स्टर्लिंग सम्पत्तियो के अत्यधिक सग्रह तथा विनिमय नियन्त्रण आदि के रूप मे जो प्रभाव पडा, उसका विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।

भारत की वर्तमान मुद्रा प्रणाली
(The Present Monetary System of India)

"Economic stability cannot be achieved by monetary policy alone."

George N. Halm

भारत की वर्तमान मौद्रिक व्यवस्था की व्याख्या करते समय हमे भारतीय मुद्रा पद्धति की प्रधान विशेषताओ पर विचार करना होगा। इस सम्बन्ध मे यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भारत मे इस समय किस प्रकार का मौद्रिक मान अपनाया गया है, मौद्रिक नीति किस प्रकार की है तथा मौद्रिक नियन्त्रण की व्यवस्था किस प्रकार की जाती है।

मौद्रिक मान (**Monetary Standard**) :

यहाँ भारतीय मौद्रिक मान के दोनो पक्षो—आन्तरिक एवं बाह्य, पर विचार किया जायगा। भारत की आन्तरिक मौद्रिक व्यवस्था 'पत्र-मान' (Paper Standard) पर आधारित है। देश की सीमाओ के अन्दर पत्र-मुद्रा तथा साकेतिक सिक्को का चलन है *तथा वे विधिग्राह्य हैं। आतरिक क्षेत्र मे रुपया किसी धातु से सम्बन्धित नही* है। रुपए का मूल्य किसी भी धातु के सदर्भ मे स्थिर नही रखा जाता है। मुद्रा की मात्रा एव मूल्य, मुद्रा की माग तथा रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति पर निर्भर करता है। चलन मे नोटो का बाहुल्य है। रुपए का सिक्का भी चलन मे है परन्तु वह प्रामाणिक सिक्का नही है। यह केवल हिसाब की इकाई मात्र है। रुपया भारत की *प्रधान मुद्रा* है। प्रधान मुद्रा के अतिरिक्त *सहायक* मुद्रा भी चलन मे प्रयोग की जाती है।

भारत म नोट जारी करने की जो *वर्तमान व्यवस्था* है उसमे रिजर्व बैंक तथा सरकार दोनो ही भागीदार है। एक रुपए के नोटो को जारी करने का अधिकार सरकार को है परन्तु इसके अलावा अन्य नोटो को जारी करने का एकाधिकार रिजर्व बैंक को है। रिजर्व बैंक द्वारा जारी किए गए नोटो पर रिजर्व बैंक के गवर्नर के हस्ताक्षर युक्त प्रतिज्ञा की गई रहती है कि धारक को अंकित रुपए का भुगतान रिजर्व

बैंक मागने पर करेगा। जब से नए नोटो पर हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों मे यह प्रतिज्ञा अंकित की जाने लगी है तब से 'मागने पर' शब्द हटा दिया गया है। अब इस प्रकार की प्रतिज्ञा होती है—"मैं धारक को…रुपए अदा करने का वचन देता हूँ" (I promise to pay the bearer the sum of Rupees...)। यहा यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि रिजर्व बैंक के गवर्नर द्वारा दिए गए वचन का तात्पर्य यह नही है कि रिजर्व बैंक द्वारा जारी किए गए नोट परिवर्तनशील हैं क्योकि इन नोटो के बदले रिजर्व बैंक केवल एक रुपये के नोट देने का वचन देता है जो सरकार द्वारा जारी किए जाते हैं और जिन पर किसी प्रकार की प्रतिज्ञा अंकित नही होती। परिवर्तनशील उस समय कहा जाता जब इनके बदले धातु देने का वचन दिया जाता। इसलिए भारतीय पत्र-मुद्रा अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा है।

किसी देश की मौद्रिक प्रणाली के अध्ययन मे नोट जारी करने की व्यवस्था भी महत्वपूर्ण होती है। भारत मे सन् 1935 से अक्टूबर 19 6 तक 'आनुपातिक कोष प्रणाली' के आधार पर नोट जारी किए जाते थे। अधिनियम के अनुसार जारी किए गए नोटो के 40 प्रतिशत के बराबर स्वर्ण, स्वर्ण सिक्के या विदेशी प्रतिभूतिया रखना अनिवार्य था। इस प्रणाली का प्रमुख दोष यह था कि इसके अन्तर्गत उपयुक्त लोच का अभाव था। मुद्रा को सुविधापूर्वक बढाया नही जा सकता था। भारत ने 1951 से नियोजित आर्थिक विकास का सकल्प कर लिया था। अत मुद्रा प्रणाली मे सापेक्षता एव लोच होना आवश्यक था। इसलिए रिजर्व बैंक अधिनियम मे अक्टूबर 1956 मे सशोधन किया गया और नोट जारी करने की 'न्यूनतम कोष प्रणाली' अपनाई गई। सशोधन से पूर्व सोने का मूल्य 21 24 रुपये प्रति तोला के हिसाब से निश्चित था परन्तु इसके बाद 62 50 रुपए प्रति तोला की दर पर निश्चित किया गया। अक्टूबर 1956 से अक्टूबर 1957 तक भारत मे नोट जारी करने के लिए रिजर्व बैंक को कुल 515 करोड रुपये का न्यूनतम कोष रखना अनिवार्य था जिसमे स्वर्ण या स्वर्ण सिक्को का न्यूनतम कोष 115 करोड तथा विदेशी प्रतिभूतियो का न्यूनतम कोष 400 करोड निश्चित किया गया था। विशेष सकट की स्थिति मे सरकार की पूर्व अनुमति से प्रतिभूतियो का कोष 300 करोड तक घटाया जा सकता था परन्तु इससे (300 करोड रुपए) कम प्रतिभूतिया किसी भी हालत मे नही हो सकती थीं। 1957 मे पुन रिजर्व बैंक अधिनियम मे परिवर्तन किया गया। स्मरण रहे कि उस समय भारत मे विदेशी विनिमय का सकट था और इसका सामना करने के लिए विदेशी प्रतिभूतियो की आवश्यकता थी। इस स्थिति को ध्यान मे रखकर न्यूनतम कोष 200 करोड रुपए कर दिया गया जिसम स्वर्ण या स्वर्ण सिक्को की न्यूनतम सीमा 115 करोड और शेष विदेशी प्रतिभूतिया रखना था। याद रहे कि विदेशी प्रतिभूतियो की न्यूनतम सीमा समाप्त कर दी गई।

सकट की स्थिति मे सरकार की पूर्व अनुमति से प्रतिभूतियो को पूर्णरूप से समाप्त किया जा सकता है ।

सहायक सिक्को की ढलाई भारत मे अप्रैल, 1957 से दशमिक प्रणाली के अनुसार की जाती है । ये सभी साकेतिक सिक्के हैं। रुपए का $\frac{1}{2}$ भाग अर्थात् 50 पैसे का सिक्का 1 रुपये के सिक्के की तरह असीमित विधि ग्राह्य है तथा अन्य सिक्के सीमित विधि ग्राह्य हैं । प्रारम्भ मे 'नया पैसा' सहायक मुद्रा की इकाई के रूप मे माना गया परन्तु जून 1964 से 'नया पैसा' के स्थान पर 'पैसा' सहायक मुद्रा की इकाई बन गया है । आजकल 1,2,3,5,10,20, 25 और 50 पैसे के सिक्के सहायक सिक्को के रूप मे चलन मे हैं । दशमिक प्रणाली अपनाने से हिसाब-किताब रखने मे पर्याप्त सुविधा हो गई है ।

भारतीय मौद्रिक मान का दूसरा पक्ष उसका बाह्य रूप है। दूसरे देशो की मुद्राओ से भारतीय रुपए का सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जाता है, यही रुपए का बाह्य पक्ष है । सितम्बर 1931 से फरवरी 1947 तक भारत के रुपए का बाह्य मूल्य पौण्ड स्टर्लिंग से सम्बद्ध था । इस अवधि म भारत मे स्टर्लिंग विनिमय मान लागू था और 1 रुपया, 1 शि० 6 पे० के बराबर माना जाता था । मार्च 1947 मे भारत के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बनते ही भारतीय मुद्रा प्रणाली मे एक उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ और स्टर्लिंग विनिमय मान की समाप्ति हो गई ।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता स्वीकार करने के बाद भारतीय रुपए का समता मूल्य (Par value) स्वर्ण तथा अमेरिकी डालर मे व्यक्त किया गया । उसी समय से रुपए का बाह्य मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के नियमो के अनुसार नियन्त्रित होता है । प्रारम्भ मे भारतीय रुपए का समता मूल्य 0 268601 ग्राम शुद्ध सोना तथा 30 225 अमेरिकी सेण्ट निर्धारित किया गया । 1949 मे जब पौण्ड स्टर्लिंग के अवमूल्यन के फलस्वरूप रुपए का भी अवमूल्यन कर दिया गया तो समता मूल्य बदलकर 0 186621 ग्राम शुद्ध सोना तथा 21 अमेरिकी सेण्ट हो गया । 5 जून 1966 को पुन रुपए का अवमूल्यन हो जाने से रुपए का समता मूल्य अब 0 118516 ग्राम शुद्ध सोना तथा 13 33 अमेरिकी सेण्ट रह गया है। अब रुपया अपने समता मूल्य के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सभी सदस्य देशो की मुद्राओ से स्वतन्त्र रूप से सम्बन्धित है । रिजर्व बैंक आफ इ डिया केवल स्टर्लिंग का ही नही अपितु सभी सदस्य देशो की मुद्राओ का क्रय-विक्रय करता हैं । यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भारत मे विदेशी मुद्राओ का क्रय विक्रय स्वतन्त्रता पूवक नही किया जाता । द्वितीय महायुद्ध काल से ही भारत मे कम अधिक मात्रा मे विनिमय नियन्त्रण की नीति अपनाई गई है । विनिमय नियन्त्रण का काय भार रिजव

बैंक को सौंपा गया है। भारत ने जब से आर्थिक विकास को नियोजित ढग से करने की नीति अपनाई है उस समय से हमारी विदेशी विनिमय की माग निरन्तर बढती रही है। बढती हुई विदेशी विनिमय की आवश्यकता के कारण विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण दिन-प्रति-दिन कडा होता जा रहा है। विनिमय नियन्त्रण के अध्याय मे आपको यह बताया जा चुका है कि भारत मे विनिमय नियन्त्रण की क्या व्यवस्था है।

मौद्रिक अधिकारी और व्यवस्था
(Monetary Authority and Management)

रिजर्व बैंक भारत का केन्द्रीय बैंक है। केन्द्रीय बैंक होने के नाते इसे नोट जारी करने का एकाधिकार प्राप्त है। यही सरकार तथा व्यापारिक बैंको के बैंक एव अन्तिम ऋणदाता का कार्य करता है। देश की मौद्रिक व्यवस्था को सचालित एव नियन्त्रित करने की जिम्मेदारी रिजर्व बैंक की ही है। इसलिए देश हित को ध्यान मे रखते हुए साख एव मुद्रा का नियन्त्रण करना रिजर्व बैंक का प्रमुख कार्य है। इस कार्य मे सफलता प्राप्त करने के लिए इसे मुद्रा बाजार पर नियन्त्रण रखना भी आवश्यक होता है।

भारतीय मुद्रा बाजार के दो रूप हैं—सगठित तथा असगठित। जहा तक मुद्रा बाजार के सगठित अग—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, व्यापारिक बैंक, विनिमय बैंक, आदि, का प्रश्न है उन पर अकुश रखने मे रिजर्व बैंक को पर्याप्त सफलता मिलती है। परन्तु ग्रामीण भारत मे जिन वित्तीय स्रोतो का महत्व है वे भारतीय मुद्रा बाजार के असगठित अङ्ग म शामिल हैं। इस अङ्ग पर नियन्त्रण करने म रिजव बैंक पूर्ण-रूप से सफल नहीं हो पाता। रिजर्व बैंक साख नियन्त्रण के उन सभी तरीको का प्रयोग करता है जो किसी केन्द्रीय बैंक को उपलब्ध हैं—बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाए, नकद कोष मे परिवर्तन, ऋण नीति मे परिवर्तन, नैतिक प्रभाव एव प्रचार आदि। रिजर्व बैंक सामान्य एव विशिष्ट दोनो प्रकार से साख नियन्त्रण करता है।

वर्षो से यह महसूस किया जा रहा था कि व्यापारिक बैंक कृषि और ग्रामीण क्षेत्रो के विकास मे उचित हाथ नही बटा रहे हैं। बैंको के सामाजिक दायित्व के महत्व की चर्चा करते हुए समय-समय पर उनके राष्ट्रीयकरण की माग की जा रही थी। सरकार न 1968 के अन्त मे कानूनी तौर पर बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण लागू कर दिया है। आशा है बैंक अब भारतीय अर्थव्यवस्था मे पहले से अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करगे। मुद्रा और साख नियन्त्रण के क्षेत्र मे भी बैंकिंग अधि-नियम मे परिवर्तन ला कर रिजव बैंक के हाथो को मजबूत किया गया है। आशा है कुछ वर्षो मे रिजर्व बैंक मुद्रा बाजार पर पूर्ण नियन्त्रण रखने मे सफल हो सकेगा।

मौद्रिक नीति (Monetary Policy)

किसी भी अर्थ-व्यवस्था मे सरकार द्वारा उसके आर्थिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए चलन मे मुद्रा की मात्रा के प्रसार एव सकुचन की व्यवस्था को मौद्रिक नीति कहा जाता है। स्पष्टत: मौद्रिक नीति का सम्बन्ध किसी आर्थिक लक्ष्य से है। भारत एक विकासशील देश है और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से, विशेषकर आर्थिक नियोजन के प्रारम्भ से, इसका आर्थिक लक्ष्य, आर्थिक विकास एव अधिकतम सामाजिक कल्याण की व्यवस्था करना है। इसलिए भारतीय मौद्रिक नीति इस आर्थिक लक्ष्य को पूरा करने मे सहायक होनी चाहिए। मौद्रिक नीति सदैव इस बात को ध्यान मे रख कर बनाई जाती है कि विकास कार्यो मे बाधा न पडे। योजनाओ को पूरा करने के लिए उचित समय पर उचित मात्रा मे साख और मुद्रा उपलब्ध हो सके, यही हमारी मौद्रिक नीति का निर्देशक तत्व है। परन्तु साथ ही मौद्रिक नीति के निर्धारण मे कीमत स्तर के नियन्त्रण एव बाह्य मूल्य की स्थिरता पर भी ध्यान रखा जाता है। इस प्रकार मौद्रिक नीति मे जहा एक ओर विकास की गति को तीव्र करने के उद्देश्य से मौद्रिक प्रसार की व्यवस्था है वहा दूसरी ओर अत्यधिक मुद्रा प्रसार के दुष्परिणामो से बचने का प्रयत्न भी शामिल है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संकेत

1. भारत की वर्तमान नोट निर्गमन प्रणाली का वर्णन कीजिए। इसके लाभ तथा हानिया क्या है? (राजस्थान बी० काम, 1962)

[संकेत—प्रथम भाग मे भारत की वर्तमान न्यूनतम कोष नोट निर्गमन पद्धति का सविस्तार वर्णन कीजिए। दूसरे भाग मे इसके लाभ तथा हानिया बताइये।]

2. भारत की वर्तमान चलन पद्धति की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1966, 1967)

[संकेत—भारत की वर्तमान चलन पद्धति का वर्णन कीजिए।]

31

रुपए का अवमूल्यन
(Devaluation of Rupee)

"The case of devaluing when there is internal inflationary pressure and external deficit, is that this remedy will tend to correct both dis-equilibria The case against devaluing when there is internal inflationary pressure and external deficit is that even if the devaluation has a remedial effect on the external balance, it will increase the internal inflationary pressure."

R F. Harrod

1949 मे रुपये का अवमूल्यन
(Devaluation of Rupee in 1949)

युद्ध के बाद की मौद्रिक घटनाओ मे अवमूल्यन सबसे अधिक महत्व रखता है। अवमूल्यन का सूत्रपात इगलैंड ने किया। 18 सितम्बर 1949 को इगलैंड ने स्टर्लिंग का 30 5 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया। स्टर्लिंग के अवमूल्यन के कारण स्टर्लिंग क्षेत्र से घनिष्ट सम्बन्ध रखने वाले देशो मे भी अवमूल्यन की एक लहर सी आ गई और भारत वर्ष भी इस प्रभाव से बच नही सका। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहमति से भारत ने भी उसी समय रुपए का स्वर्ण मूल्य 0 268601 ग्राम से घटा कर 0 186621 ग्राम कर दिया और रुपए का 30.5 प्रतिशत अवमूल्यन हो गया।

अवमूल्यन के कारण (Causes of Devaluation)

यद्यपि स्टर्लिंग तथा रुपए आदि का अवमूल्यन एक आकस्मिक घटना थी फिर भी इसके कई महत्वपूर्ण कारण थे। युद्ध के बाद की आर्थिक परिस्थितियो ने अवमूल्यन करने को बाध्य कर दिया था। इन महत्वपूर्ण कारणो मे निम्नलिखित मुख्य है—

1 द्वितीय महायुद्ध काल मे नोटो की मात्रा में जो अप्रत्याशित वृद्धि हुई उसके कारण जो मुद्रा प्रसार की भयानक स्थिति सामने आई उससे सरकार सकते की हालत (embarrasing position) मे आ गई थी।

2. एक रुपए के नोट जारी किए जाय तथा अन्य नए नोट भी जारी किए जाय परन्तु उन्हे चादी मे परिवर्तनीय न रखा जाय बल्कि स्वर्ण पिंडो मे परिवर्तनीय बनाया जाय।

3. नए रुपयो की ढलाई कुछ समय के लिए बन्द कर दी जाय।

4. स्वर्णमान कोष तथा पत्र मुद्रा कोष को अलग न रखकर एक मे मिला दिया जाय।

5. मौद्रिक अधिकारी 21 रु० 3 आने 10 पाई प्रति तोला की दर से 1065 तोले या अधिक के स्वर्ण पिंडो का क्रय-विक्रय करने का दायित्व लेवे।

दूसरा प्रश्न जिस पर इस आयोग ने विचार किया वह मौद्रिक अधिकारी का था। आयोग ने इस बारे मे विचार किया कि मौद्रिक मान को सचालित करने का भार किसे सौपा जाय। इस सम्बन्ध जो व्यवस्था उस समय लागू थी वह उपयुक्त नही थी क्योकि नोट जारी करने का काय सरकार के हाथ मे था और साख नियन्त्रण बैंको के हाथ मे। आयोग का मत था कि किसी भी मौद्रिक व्यवस्था का सफल सचालन तभी हो सकता है जब मुद्रा और साख दोनो पर नियन्त्रण रखने का उत्तरदायित्व एक ही सस्था के ऊपर हो। इसलिए आयोग ने शीघ्र ही भारत मे एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की जिसका नाम रिजर्व बैंक ऑफ इडिया हो। इसी बैंक को स्वर्ण पिंड मान सचालित करने का अधिकार सौपा जाना चाहिए। नोट जारी करने का अधिकार भी इसी बैंक को प्राप्त होना चाहिए। नोट जारी करने के लिए आनुपातिक कोष प्रणाली अपनाने का सुझाव दिया गया।

तीसरा प्रश्न रुपए की विनिमय दर के सम्बन्ध मे था यद्यपि आयोग की नियुक्ति के समय रुपए की विनिमय दर 1 शि० 6 पे० थी परन्तु विनिमय दर के सम्बन्ध मे युद्धोत्तर काल से ही विवाद चल पडा था। कुछ लोग विनिमय दर 1 शि० 4 पे० रखने के पक्ष मे थे और कुछ लोग 1 शि० 6 पे०। आयोग ने विनिमय दर 1 शि० 6 पे० रखने का सिफारिश की और इसके समर्थन मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए—

1 वर्तमान विनिमय दर 1 शि० 6 पे० पर स्थिर हो चुकी है और इसमे परिवर्तन करन से नई विनिमय दर परिस्थितियो से सामजस्य लाने मे कठिनाई होगी।

2. प्रचलित विनिमय दर 1 शि० 6 पे० पर कीमतो और मजदूरी मे भी सामजस्य स्थापित हो चुका है। इस लिए इसे भग करना उचित नही होगा।

3. आयोग ने स्वीकार किया कि 1 शि० 6 पे० विनिमय दर होने से दीर्घकालिक प्रसविदो पर बुरा प्रभाव पडेगा परन्तु इससे अधिक नुकसान नहीं होगा क्योंकि

कीमतो की वृद्धि इसे कम कर देगी। आयोग ने यह मत व्यक्त किया कि यह कठिनाई किसी भी विनिमय दर को स्थाई बनाने से पैदा हो सकती है।

4 1 शि० 6 पे० के स्थान पर 1 शि० 4 पे० को विनिमय दर बनाने से भारतीय राजस्व पर बुरा प्रभाव पडेगा। सरकार की आय मे कमी हो जायगी जिसको पूरा करने के लिए कर आदि को बढाना होगा। यदि कर आदि को बढा दिया गया तो उसके परिणामस्वरूप व्यापार-व्यवसाय मे स्थिरता नही रह सकेगी और निश्चित आय-वर्ग पर बुरा प्रभाव पडेगा, उनका जीवन यापन-व्यय बढ जाएगा।

यद्यपि भारत सरकार द्वारा आयोग के बहुमत को स्वीकार किया गया और विनिमय दर 1 शि० 6 पे० रखी गई, परन्तु आयोग के सदस्य सर पुरुषोत्तम दास ठाकुर दास ने इसका कडा विरोध किया एव विनिमय दर 1 शि० 4 पे० रखने का आग्रह किया। यहा 1 शि० 4 पे० के पक्ष मे दिए गए तर्कों का उल्लेख करना भी आवश्यक है :

1. 1 शि० 4 पे० ही भारत के लिए उपयुक्त एव स्वाभाविक विनिमय दर है क्योंकि यह दर 1893 से 1917 तक बनी रही। युद्ध के प्रभाव वश ही यह दर कायम नही रह सकी। युद्ध के बाद के शात वातावरण मे उसे ही पुनः लागू करना उचित और स्वाभाविक है।

2 युद्ध के बाद स्वर्णमान अपनाने वाले सभी देशो ने युद्ध के पूर्व की या उससे भी कम विनिमय दर को अपनाया है इसलिए भारत को भी युद्ध के पूर्व की विनिमय दर ही अपनानी चाहिए।

3. 1 शि० 6 पे० विनिमय दर रखने से कीमतें गिरेगी और कीमतो तथा मजदूरी मे सामजस्य लाने मे काफी समय लगेगा।

4. विनिमयदर 1 शि० 4 पे० रहने पर दीर्घकालिक प्रसविदाओ पर भी प्रतिकूल प्रभाव नही पडेगा।

सर पुरुषोत्तम दास ठाकुरदास ने 1 शि० 6 पे० के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये—

1. 1 शि० 6 पे० कृत्रिम विनिमय दर है। यह स्वाभाविक विनिमय दर नही कही जा सकती क्योकि इसको मुद्रा सकुचन की नीति द्वारा बनाए रखा जा ा है।

2. 1 शि० 6 पे० पर भारतीय एव अन्तर्राष्ट्रीय कीमतो मे सामंजस्य होने मे अभी पर्याप्त समय लगेगा।

3. इस विनिमय दर से मजदूरी का भी सामजस्य स्थापित नही हो सका है। कीमतो के गिरने पर भी मजदूरी नही घटी है। यदि मजदूरी घटा कर सामजस्य लान का प्रयत्न किया गया तो पूँजीपति और मजदूरो मे सघर्ष पैदा हो जायेगा।

4. 1 शि० 6 पे० की दर दीर्घ कालिक प्रसंविदाओ के लिए हानिकर है क्योकि इसी ऋणी व्यक्तियो का बोझ बढ जायगा।

परन्तु, जैसाकि पहले बताया जा चुका है, बहुमत 1 शि० 6 पे० के पक्ष मे था इसलिए वही विनिमय दर अपनाई गई। सरकार ने आयोग की अन्य सिफारिशो को भी स्वीकार किया और उसे कार्य रूप देने के लिए एक ऐक्ट पास किया। सावरेन तथा अर्द्ध सावरेन विधिग्राह्य नही रहे। नोट, रुपया एव अठन्नी असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा के रूप मे प्रयोग की जाने लगी। सरकार को स्वर्ण पिंड बेचने-खरीदने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। परन्तु सरकार को यह अधिकार भी दिया गया कि *यह इगलैण्ड मे भुगतान करने के लिए जनता को स्टर्लिंग भी बेच सकती है।* इस प्रकार स्वर्ण पिंड मान तथा स्टर्लिंग विनिमय मान का मिला-जुला रूप अपनाया गया। केन्द्रीय बैंक की स्थापना सम्बन्धी सिफारिश को लागू नही किया जा सका।

इस एक्ट से लगभग ढाई वर्ष तक अर्थ-व्यवस्था मे सामान्य सुधार के लक्षण दिखाई देते रहे परन्तु 1929 की विश्व व्यापी मदी के कारण सामान्य कीमत स्तर गिरने लगा तथा व्यवसाय एव व्यापार मे अप्रत्याशित मन्दी छा गई। प्रारम्भ म मुद्रा सकुचन किया गया और ट्रेजरी बिलो की भारी बिक्री की गई। परन्तु यह सब बेकार रहा। भारतीय निर्यात को बडा धक्का लगा। भारत से पूँजी का पलायन होने लगा। 1931 मे जब ब्रिटन ने स्वर्णमान का त्याग कर दिया तो गवर्नर जनरल ने भी एक अध्यादेश जारी करके रुपए का स्वर्ण एव स्टर्लिंग दोनो से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया। वास्तव मे रुपए का सम्बन्ध पत्र मान पर आधारित स्टर्लिंग से स्थापित हो गया और उसका भविष्य भी उसी पर निर्भर हो गया। यही पत्र मुद्रा विनिमय मान 1931 से 1939 तक बना रहा। भारत स्टर्लिंग क्षेत्र का सदस्य बन गया और इसका सम्बन्ध सदस्य दशो से घनिष्ठ होता गया। इस अवधि मे भारत से बहुत बडी मात्रा मे स्वर्ण निर्यात होता रहा और रुपए के अवमूल्यन की माग की जाने लगी।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) हिल्टन यग कमीशन की मुख्य सिफारिशो की विवेचना कीजिए। इन सिफारिशो को सरकार ने कहा तक स्वीकार किया ?

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1963, 1965)
(गोरखपुर 1959)
(विक्रम बी० काम०, 1959)

अथवा

हिल्टन यंग कमीशन के मुख्य सुझावों का विवेचन कीजिए। क्या 1926 के बाद भारतीय चलन प्रणाली उसी आधार पर विकसित हुई ?

(राजस्थान बी० काम०, 1961)

[संकेत—प्रथम भाग में हिल्टन यंग कमीशन के मुख्य सुझावों का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए। दूसरे भाग में यह बताइये कि वैसे तो 1927 का एक्ट पारित कर सरकार ने कमीशन के सभी सुझावों को मान लिया परन्तु कमीशन द्वारा प्रस्तावित स्वर्ण पिंडमान के स्थान पर सरकार ने स्वर्ण पिंडमान तथा स्टर्लिंग विनिमय मान का मिलाजुला रूप अपनाया।]

(2) किन कारणों के आधार पर हिल्टन यंग कमीशन ने रुपये के 18 पेन्स के अनुपात की सिफारिश की ? (नागपुर बी० ए०, 1959)

[संकेत—हिल्टन यंग कमीशन द्वारा रुपये की 1 शि० 6 पे० की दर के पक्ष में दिए गये मुख्य तर्कों का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।]

भारतीय चलन का इतिहास (2)

(1939 के बाद)

(History of Indian Currency)

(After 1939)

"Among the various war-time developments in the sphere of Indian currency, the enormous expansion of currency overshadows all others."

D. K. Malhotra.

द्वितीय महायुद्ध का सामान्य प्रभाव अर्थव्यवस्था के लिए लाभदायक ही रहा। किसानो की हालत मे सुधार हुआ। उत्पादन, कीमत स्तर तथा विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला। परन्तु मुद्रा और विनिमय सम्बन्धी कई समस्याये भी सामने आई। इन समस्याओ मे अत्यधिक मुद्रा-प्रसार, स्टर्लिंग सम्पत्तियो का अत्यधिक सग्रह तथा विनिमय नियन्त्रण प्रमुख हैं।

युद्ध के प्रारम्भिक काल मे जनता का सरकार के स्थायित्व मे विश्वास कम हो जाने के कारण नोटो को रुपयो मे बदलने की माग बहुत बढ गई। लोग डाकखानो के सेविंग्स खाते से पैसे निकालने लगे और कैश सर्टिफिकेट भुनाने लगे। प्रथम नौ महीनो मे 43 करोड से अधिक रु० के नोट सिक्को मे बदले गए। कुछ समय तक सिक्के प्रीमियम देकर नोटो के बदले प्राप्त किए जाते रहे। रेजगारियो का अत्यन्त अभाव दिखाई देने लगा क्योंकि लाग उन्हे जमा (Hoard) करने लगे। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए सर्व प्रथम सरकार ने जून 1940 मे एक विज्ञप्ति द्वारा रिजर्व बैंक को नोटो के बदले सिक्के देने के दायित्व से मुक्त कर दिया। सिक्को की कमी को पूरा करने के लिए जुलाई 1940 मे एक अध्यादश द्वारा सरकार ने एक रुपये के नोट जारी करने का अधिकार प्राप्त किया। ये नोट असीमित विधिग्राह्य परन्तु अपरिवर्तनीय थे। इसी वर्ष कम चांदी के सिक्के, अठन्नी, और चवन्नी जारी की गई। सरकार ने प्रामाणिक सिक्कों को चलन से बाहर कर देना उचित समझा और फलस्वरूप 31 मई 1941 के बाद विक्टोरिया रुपया और अठन्नी विधिग्राह्य नही रही। अगले दो वर्षों म क्रमश; एडवर्ड VII तथा किंग जार्ज

V तथा VI के रुपये और अठन्नियां भी विधिग्राह्य मुद्रा के श्रेणी में नहीं रही। फरवरी 1944 से रिजर्व बैंक ने दो रुपये के नये नोट भी जारी करना प्रारम्भ कर दिया।

मुद्रा प्रसार (Inflation)

युद्धकालीन मौद्रिक प्रभावो मे मुद्रा प्रसार बहुत अधिक महत्व रखता है। सितम्बर 1939 मे चलन मे नोटो की मात्रा 182 13 करोड थी जो अक्टूबर 1945 मे बढकर 1159 85 करोड हो गई। इन आकडो की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 1939 से 1945 के बीच चलन मे नोटो की मात्रा मे 53 6 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई। इस अवधि मे रुपये के सिक्के और रेजगारी की खपत को भी यदि मुद्रा की मात्रा मे शामिल किया जाय तो कुल चलन की मात्रा और भी अधिक हो जाती है। यहा यह याद रखना आवश्यक है कि चलन मे मुद्रा की मात्रा मे तो बहुत अधिक वृद्धि हुई परन्तु मुद्रा के चलन वेग मे कमी आई क्योकि जमा (Hoarding) करने की इच्छा बढ गई थी।

इस प्रकार के मुद्रा प्रसार का परिणाम यह हुआ कि कीमतो मे बहुत अधिक वृद्धि हुई। 1939 मे जो निर्देशाक 100 था वह 1943 मे 349 तक पहुच गया। लोगो की वास्तविक आय में कमी हुई। वस्तुओ के उत्पादन मे मुद्रा के परिमाण की अपेक्षा कम वृद्धि हुई। मुद्रा स्फीति का निश्चित आय वाले वर्ग पर अत्यन्त हानिकारक प्रभाव पडा। तत्कालीन स्फीति की भयानक स्थिति का सकेत श्री डी० के० मल्होत्रा के निम्नलिखित उद्धरण से मिलता है—

"Among the various war-time developments in the sphere of Indian currency, the enormous expansion of currency overshadows all others by its spectacular character, its wide sweep and its direct impact on the daily life of the common man. Its actual effects have been fairly serious, but of greater moment perhaps was the potential threat that it at one time held of disrupting the entire future of Indian economy."[1]

मुद्रा स्फीति के कई कारण थे जिनमे सरकारी व्यय मे वृद्धि तथा अनुकूल व्यापार शेष प्रमुख हैं। अकेले सुरक्षा पर 1939 से 1945 के बीच कुल 3450 करोड रुपये व्यय किये गये। इसके लिए करो और जनता से लिए गये ऋणो मे वृद्धि की गई। सुरक्षा व्यय मे ब्रिटिश सरकार की ओर से जो व्यय किया गया उसमे स्फीति और गम्भीर हो गई क्योकि वह नोट जारी करके ही किया गया।

---

[1] D. K Malhotra . *History and Problems of Indian Currency*, pp. 122-3

अनुकूल व्यापार शेष के परिणाम स्वरूप जो स्टर्लिंग प्राप्त हुआ उसके आधार पर रिजर्व बैंक ने नोट जारी किए जिससे स्फीति और बढी।

युद्ध काल मे जो स्फीति प्रारम्भ हुई वह युद्ध के बाद भी निरन्तर बढती ही चली गई। मुद्रा परिमाण जो मार्च 1945 मे 1922 करोड रुपया था वह मार्च 1948 मे 2316 करोड हो गया। युद्धोत्तर काल म भी सरकार का व्यय देश के विभाजन, हैदराबाद तथा काश्मीर की समस्याओ तथा विकास के कार्यो के कारण बढता ही रहा। विनियोगो की मात्रा बढती चली गई, उपभोग की वस्तुओ की कीमते बढती गई क्योकि युद्ध के बाद मे उपभोग बहुत बढ गया। उत्पादन क्षमता मे उतनी वृद्धि नही हुई।

प्रारम्भ से ही भारत सरकार मुद्रा प्रसार को रोकने के लिए प्रयत्नशील थी। 1948 मे देश के प्रमुख अर्थशास्त्रियो से सरकार मुद्रा स्फीति रोकने के उपायो के बारे मे परामर्श किया। उस समय स्फीति को रोकने के लिए जो सुझाव दिए गये उनमे सरकारी आय को बढाने तथा व्यय कम करने का प्रयत्न, नोट-निर्गमन मे कमी, कीमतो पर नियन्त्रण, उत्पादन-विशेषकर कृषि उत्पादन, बढाने के उपाय तथा अन्न के आयात प्रमुख हैं। सरकार ने इन सुझावो को कार्यरूप देने का भी प्रयत्न किया। उसी अवधि मे जब भुगतान शेष प्रतिकूल होने लगा, और सुधार के सभी उपाय विफल रहे तो 1949 म रुपये का अवमूल्यन कर दिया गया। अवमूल्यन का अध्ययन अगले अध्याय मे विस्तार से किया गया है। सरकार ने खाद्य वस्तुओ की कीमते भी कम कर दी और कीमत नियन्त्रण को प्रभावशाली बनाने की चेष्टा की परन्तु कीमत स्तर बढता हो चला गया। 1947 मे निर्देशाक 362, 1950 मे 391 तथा 1951, 458 हो गया। इस कीमत वृद्धि का एक प्रमुख कारण कोरिया का युद्ध था।

अप्रैल 1951 के बाद कीमतो मे कमी होने लगी और दिसम्बर 1951 मे निर्देशाक 433 तथा अप्रैल 1952 मे 377 रह गया। इसका प्रमुख कारण कोरिया की शाति वार्ता थी। साथ ही रिजर्व बैंक ने बैंक दर बढा कर साख निर्माण पर भी नियन्त्रण किया और ऋण देने की नीति भी कठोर कर दी। इस अवधि मे उत्पादन मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई। इन सब के सम्मिलित प्रभाव वश कीमते गिरने लगी और मदी के लक्षण दिखने लगे। सरकार ने व्यापार की व्यवस्था को विश्र खलित होने से बचाने के लिए कई वस्तुओ से कन्ट्रोल हटा लिया तथा अन्य कदम उठाये। परन्तु यह स्थिति थोडे समय तक ही रही। निर्देशाक पुन 1952 के अन्तिम चरण से बढने लगे और 1954 मे निर्देशाक 402 हो गया। फिर कीमतो मे कुछ कमी हुई और निर्देशाक मई 1955 में 342 हो गया जिसका प्रमुख कारण कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई थी।

1955 के बाद कीमतो मे सामान्यतया बढने की ही प्रवृत्ति रही है। इस
वर्तमान स्फीति का प्रमुख कारण विकास की योजनाए और घाटे की अर्थव्यवस्था
(Deficit & Financing) है। प्रथम पचवर्षीय योजना मे 415 करोड, द्वितीय योजना
काल मे 948 करोड तथा तृतीय योजना काल मे लगभग 1100 करोड का हीनार्थ
प्रबन्धन किया गया। उसके बाद योजना अवकाश काल मे भी हीनार्थ प्रबन्धन बन्द
नही किया जा सका है। 1951 मे चलन मे मुद्रा और बैंक साख मिलकर 1824
करोड रुपया थी जो तृतीय योजना के अन्त मे 5168 करोड हो गई। इस अवधि
मे मुद्रा की अपेक्षा साख मुद्रा मे अधिक वृद्धि हुई। इन्ही कारणो से कीमतें
बढती रही।

विनिमय नियन्त्रण
(Exchange Control)

द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होते ही भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत विनिमय
नियन्त्रण लागू किया गया था, जो आज तक विद्यमान है। इस सम्बन्ध मे विदेशी
विनिमय भाग के विनिमय नियन्त्रण अध्याय मे विस्तार से उल्लेख किया जा
चुका है।

स्टर्लिग पावना
(Sterling Balances)

युद्ध प्रारम्भ होने के पहले भारत ब्रिटेन का ऋणी था परन्तु युद्ध काल मे
परिस्थितियो के परिवर्तित हो जाने के कारण ब्रिटेन भारत का ऋणी बन गया।
इसका कारण यह था कि भारत ने इगलैंड को युद्ध-व्यय सहन करने के लिए भारी
मात्रा मे माल आदि भेजा जिसका भुगतान उसी समय नही किया गया और वह
इगलैंड के ऊपर भारत का ऋण बन गया। इस ऋण को स्टर्लिग मे व्यक्त किया
जाता था, इसलिए भारत के लिए यह स्टर्लिग पावना कहलाया। 1939 से 1946
के बीच भारत ने अपने पुराने ऋणो का भुगतान करने के बाद 1658 करोड रुपये
के मूल्य का स्टर्लिग पावना एकत्र कर लिया था। बैंक आफ इगलैंड में भारत सर-
कार के नाम यह रकम स्टर्लिग प्रतिभूतियो तथा अन्य अल्पकालीन विनिमय पत्रो
के रूप में जमा होती रही। इन प्रतिभूतियो का आशय यह था कि इनका भुगतान
भारत को भविष्य में स्टर्लिग के रूप में किया जायगा। रिजर्व बैंक इन स्टर्लिग
पावनो को प्राप्त कर इनके आधार पर नोट भी जारी करता था। स्टर्लिग पावना
अर्जित होने के कारणो मे भारत सरकार द्वारा ब्रिटेन की ओर से किया गया युद्ध-
व्यय भारत को अन्य मित्र राष्ट्रो से निर्यात के बदले प्राप्त स्टर्लिग पावना, डालर
प्रतिभूतियो के बदले प्राप्त होने वाली स्टर्लिग आदि प्रमुख हैं।

2. भारतवर्ष को उस समय विदेशी विनिमय के अभाव का सामना करना पड रहा था। यहा यह याद रखना आवश्यक है कि द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होने के बाद हमारे देश मे पुनर्निर्माण कार्य प्रारम्भ करने का निश्चय किया गया था। औद्योगिक विकास के लिए विदेशो से पूजी-सामग्री मगाने की आवश्यकता थी और अमेरिका से भारत का व्यापार शेष विपक्ष मे होने के कारण भारत को डालर के अभाव का सामना करना पड रहा था।

3. अत्यधिक मात्रा मे खाद्य सामग्री का आयात करना देश के विभाजन का स्पष्ट परिणाम था। शरणार्थियो को पुन. बसाने और खाद्य सहायता देने के कारण हीनार्थ प्रबन्ध एक स्थायी साधन बन गया था, जिससे सरकार अत्यधिक परेशान थी।

4. भारत ने द्वितीय महायुद्ध काल मे स्टर्लिंग पावना की बहुत बडी मात्रा एकत्र कर ली थी।

5. भारत का निर्यात अधिकाशतया कच्चे माल के रूप मे होता था जिसका उसी पैमाने पर निर्यात करते रहने से औद्योगिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पडता।

6. भारत के आयातो को कम करना भी सम्भव नही था क्योकि आयातो मे औद्योगिक कच्चा माल, मशीन तथा खाद्य पदार्थ मुख्य मदे थी और इन्हे कम करने का देश के आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव पडता।

इन परिस्थितियो के प्रभाव वश भारत ने रुपए का अवमूल्यन किया। वास्तव मे अवमूल्यन करना इसलिए अनिवार्य हो गया क्योकि स्टर्लिंग का भी अवमूल्यन किया गया था। चू कि भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र से ही होता था इसलिए यदि रुपए का अवमूल्यन नही किया जाता तो भारत का निर्यात व्यापार बहुत कम हो जाता। परिस्थितियो से बाध्य होकर ही भारत ने अवमूल्यन किया यह बात तत्कालीन वित्त मन्त्री के निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट है—

" to act on conviction, not necessarily born of logic, but so to speak, by the compulsion of events"

भारत ने वास्तव मे अपने हितो की रक्षा तथा रुपया और स्टर्लिंग की दर बनाए रखने के उद्देश्य से अवमूल्यन किया था। इस बात का उल्लेख भारत सरकार की तत्कालीन घोषणा मे किया गया था—

"Over and above the pure economic factors of relative competitive position, current expectation that India could not be able to postpone devaluation in the face of the act on taken by other coun-

tries would have acted as a powerful psychological barrier to any transaction at the old rate of exchange, and trade might have been brought to a stand still. There was thus no alternative for India but to follow the other sterling area countries, and devalue the rupee as a defensive measure"

प्रभाव (Effects) .

अवमूल्यन के पश्चात अनेक वस्तुओं की कीमतो मे बढने की प्रवृत्ति दिखाई पडने लगी। भारत और अमेरिका के बीच के व्यापार मे शामिल वस्तुओ मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से व्याप्त थी। इस स्फीतिक समस्या को नियत्रण मे रखने के उद्देश्य से भारत सरकार ने कुछ कार्यवाही की और वनस्पती, तिलहन, लाख, तम्बाकू आदि पर निर्यात कर लगा कर इनके भावो को अधिक बढने से रोका। कपास तथा पटसन के निर्यात को उचित मूल्य पर उपलब्ध करने की व्यवस्था द्वारा इनके निर्यात को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न करने तथा अवमूल्यन को अधिक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से तत्कालीन वित्त मत्री डा० जॉन मथाई ने 5 अक्टूबर 1949 को एक अष्ट-सूत्री योजना प्रस्तुत की। इस योजना का सक्षिप्त प्रारूप निम्न प्रकार से था।

1 बचत की वृद्धि द्वारा विनियोगो को प्रोत्साहित किया जायगा तथा इसके लिए यदि आवश्यक हुआ तो ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंको का विस्तार किया जायगा।

2 खाद्य सामग्री तथा अन्य आवश्यक निर्मित वस्तुओ के खुदरा मूल्यों (retail prices) मे 10 प्रतिशत कमी की जायगी।

3. अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त करने के उद्देश्य से दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र मे निर्यात की जाने वाली वस्तुओ पर कर लगाया जायगा।

4 आवश्यक वस्तुओ के आयातो को नियमित एव नियन्त्रित करके विदेशी विनिमय के व्यय को कम करने का प्रयास किया जायगा।

5 सरकारी खर्च मे मितव्ययिता ला कर चालू वर्ष मे 40 करोड तथा अगले वर्ष मे 80 करोड की बचत की जायगी।

6 साख सुविधाओ को नियमित एव नियन्त्रित करके तथा कानून द्वारा सट्टे के कारण होने वाली कीमतो की वृद्धि को रोका जायगा।

7. युद्धकालीन लाभो पर लगाए गए करो के सम्बन्ध मे स्वेच्छा से समझौता करने की सुविधा दी जायगी।

8 जिन देशो की मुद्राओ का मूल्य रुपए की तुलना मे बढ गया है उन देशों से औद्योगिक सामग्री का आयात करते समय अपनी क्रय शक्ति का प्रयोग इस प्रकार किया जायगा कि उनका अधिक मूल्य न देना पडे।

इन उपायों का प्रभाव अच्छा पड़ा तथा रुपए का अवमूल्यन भारत के लिए हितकर सिद्ध हुआ। अर्थ व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर रुपए के अवमूल्यन का निम्नलिखित ढंग से प्रभाव पड़ा—

1 भुगतान सतुलन मे सुधार . जैसी आशा की गई थी रुपए के अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत के निर्यातो मे पर्याप्त वृद्धि हुई। 1949 म कुल निर्यात 425·8 करोड रुपए का था जो *1950 मे 540 करोड रुपए का हो गया। यही नही आयातो* मे भी कमी हुई क्योंकि 1949 मे आयात 628 3 करोड था और 1950 मे 500·5 करोड। इस प्रकार 1949 मे जो भुगतान शेष विपक्ष मे था वही 1950 मे पक्ष मे हो गया। यह स्मरण रखना होगा कि इस सुधार का सम्पूर्ण श्रेय अवमूल्यन को ही नही दिया जा सकता। इसके लिए आयात–निर्यात पर नियन्त्रण की नीति भी उत्तरदायी है।

2 औद्योगिक उत्पादन मे ह्रास अवमूल्यन के कारण उन देशो से आयातित *वस्तुओ की कीमतो मे वृद्धि हुई जिन्होने अवमूल्यन नही किया था। उदाहरण के* लिए पाकिस्तान ने अपने रुपए का अवमूल्यन नही किया था और परिणाम यह था कि भारत कपास और जूट का कच्चा माल नियमित रूप से नही पाता था। इसलिए इन उद्योगो को धक्का लगा। इसी प्रकार डालर क्षेत्रो से मगाया जाने वाला माल महगा पडता था और आर्थिक विकास एव औद्योगिक उत्पादन पर बुरा *प्रभाव पडता था।*

3 कीमत स्तर मे वृद्धि . युद्ध काल मे ही स्फीति का प्रकोप फैल गया था। फिर अवमूल्यन द्वारा निर्यात को बढा कर और आयात को कम कर भुगतान सतुलन को पक्ष मे किया जा सका परन्तु माग बढने और वस्तुओ की कमी तथा पाकिस्तान से, अवमूल्यन के कारण, व्यापारिक गतिरोध ने कीमतो को और बढने मे सहायता दी। जो अष्ट सूत्री योजना कीमतो को नियत्रित रखने के उद्देश्य से बनी थी उसका प्रभाव अल्पकालिक ही रहा।

4 विदेशी विनियोगो मे वृद्धि *अवमूल्यन के फलस्वरूप डालर के सदर्भ* मे प्रतिभूतिया सस्ती हो जाने के कारण विदेशी विनियोग, विशेषकर अमरीकी विनियोग, बढने लगा। यहा भी यह स्मरण रखना आवश्यक है कि विदेशी विनियोग मे वृद्धि का कारण केवल अवमूल्यन ही नही था। इसके अलावा अन्य राजनैतिक और आर्थिक कारण भी थे।

5 रहन सहन का स्तर अवमूल्यन का भारतीयो के रहन-सहन पर बुरा प्रभाव पडा क्योंकि खाद्य पदार्थों की कीमतो मे वृद्धि हुई, अन्य अनिवार्य वस्तुओ की कीमतों मे भी, आयातो के कम होने से वृद्धि हुई तथा कपडे की कीमतो मे अभूत पूर्व वृद्धि

हुई। कीमतों मे वृद्धि के साथ उनकी आय म वृद्धि न होने के कारण उनका जीवन दूभर हो गया।

6. स्टर्लिंग पावना की हानि जो स्टर्लिंग पावना डालर देशो से माल मगाने के लिये प्रयुक्त हुआ उस पर भारत को 30 5 प्रतिशत की हानि हुई।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि रुपए के अवमूल्यन से व्यापार शेष मे सुधार हुआ परन्तु वह अस्थायी था एव बहुत ही महगा था। अवमूल्यन के लाभो की अपेक्षा हानिया शायद अधिक थी। अवमूल्यन की नीति बहुत सफल नही रही।

रुपए के अवमूल्यन के सम्बन्ध म कुछ विचारको का यह मत था कि जिस अश मे रुपए का अवमूल्यन किया गया वह आवश्यक नही था। यदि अवमूल्यन उनसे कुछ कम अश म किया जाता तो अवमूल्यन अधिक और स्थाई रूप से सफल होता, क्योंकि भारत का व्यापार अमेरिका से बढने लगा था और अवमूल्यन के कारण डालर महगा पडने लगा। डालर अर्जित करने के लिए अवमूल्यन का कम अश मे होना ही उचित था। कुछ लोगो का यह भी मत था कि भारत को भी पाकिस्तान की भाति कुछ वर्षो तक अवमूल्यन नही करना चाहिए था। परन्तु भारत और पाकिस्तान को एक ही स्तर पर रखना उचित नही है क्योकि दोनो की परिस्थितिया भिन्न थी। कोरिया के युद्ध न स्फीतिक प्रवृत्तियो को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया। ऐसे समय म कइ लोगो ने रुपए के पुनर्मूल्यन की माग करना प्रारम्भ कर दिया। पुनर्मूल्यन की माग के समर्थक भूतपूर्व वित्तमत्री डा जॉन मथाई भी थे। परन्तु सरकार ने इस माग को देश हित मे वाछनीय न कह कर रद्द कर दिया। इस सम्बन्ध मे तत्कालीन वित्तमत्री डा० सी० डी० देशमुख ने ससद म निम्नलिखित बयान दिया :

"We are not satisfied that a revaluation of our currency is likely to be, in the present circumstances, in the interests of the country."

1966 मे रुपये का अवमूल्यन
(Devaluation of Rupee in 1966)

भारतीय रुपए का 6 जून 1966 को दूसरी बार अवमूल्यन किया गया। इस बार रुपय का स्वर्ण मूल्य 0·186621 ग्राम से कम करके 0.118516 ग्राम और 21 सेन्ट से कम करके 13 33 सेंट कर दिया गया है। इस प्रकार रुपय का 36.5 प्रतिशत अवमूल्यन हो गया है। विदेशी मुद्राओ (डालर और पौण्ड) का रुपए के सन्दर्भ म 57.5 प्रतिशत अधिमूल्यन हो गया है।

इस बार भी अवमूल्यन से उत्पन समस्याओ का सामना करने के लिए सरकार ने साथ ही साथ कुछ अन्य उपाय भी किए जिनमे निम्न उल्लेखनीय है—

1. निर्यात कर : अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत का निर्यात विदेशो मे सस्ता पडेगा और उन्हे (विदेनियो को) लाभ होगा। इसलिए ऐसी वस्तुओ पर, जिनकी माग पर विशेष प्रभाव पडने की आशा नही थी, सरकार ने निर्यात कर लगा दिया। इन वस्तुओं मे चाय, पटसन, कहुवा, कपास, अभ्रक, चमडा, कच्चा ऊन आदि उल्लेखनीय हैं।

1. निर्यात सवर्द्धन योजना की समाप्ति अवमूल्यन से पूर्व सरकार ने निर्यात उद्योगो को विशेष छूटें दे रखी थी। अवमूल्यन के बाद इन्हे समाप्त कर दिया गया तथा निर्यात कर मे छूट आदि देना बद कर दिया गया।

3 आयात कर मे छूट : सरकार ने अनेक वस्तुओ—जो औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक हैं, के आयात करो मे छूट देने का भी आश्वासन दिया। इसका उद्देश्य निर्यात के लिए वस्तुओ का उत्पादन बढाना था जिससे विदशी विनिमय की अधिक प्राप्ति हो सके। सरकार ने उत्पादन को बढाने के लिए अनावश्यक नियत्रणो को भी हटाने का विचार व्यक्त किया।

कारण (Causes) —

1. कीमत स्तर मे वृद्धि भारतीय रुपए के अवमूल्यन का प्रमुख कारण भारत मे कीमत स्तर मे निरन्तर होने वाली वृद्धि थी। विगत दशक मे कीमतो मे 80 प्रतिशत वृद्धि हो गई थी और कीमतो को कम करने के सरकार के सभी प्रयत्न असफल हो गए थे। अन्य देशो मे भी कीमत स्तर बढा था परन्तु भारत की अपेक्षा कम। भारतीय माल महगा होने के कारण विदेशो मे प्रतियोगिता नही कर पाता था और हमारा निर्यात बहुत कम हो गया था।

2 प्रतिकूल भुगतान शेष : भारत का भुगतान शेष लम्बे अर्से से विपक्ष मे था। 1951 मे भारत का व्यापार शेष 49 करोड रुपये से विपक्ष मे था जो 1966 मे 604 करोड रुपए हो गया था। भुगतान शेष की स्थिति मे सुधार करने के लिए आवश्यक था कि निर्यातो को बढाया जाय तथा आयातो को कम किया जाय। इस कार्य के लिए अवमूल्यन को उपयुक्त उपाय समझा गया।

3 निर्यात सम्वर्द्धन नीति की असफलता भारत सरकार ने निर्यातो को प्रोत्साहन देने के लिए निर्यातो को आर्थिक सहायता, निर्यातकों को कच्चा माल आयात करने मे सुविधा, निर्यात करो मे छूट आदि के द्वारा प्रयत्न किया परन्तु इसका परिणाम निराशा पूर्ण ही रहा। इसलिए निर्यात बढाने के लिए सरकार के पास अवमूल्यन के अलावा कोई अन्य विकल्प नही था।

4. विदेशी सहायता मे कमी भारत अपना अधिकाश विकास कार्य विदशी सहायता के आधार पर करता था। परन्तु भारतीय अर्थव्यवस्था की सतत अन्त

व्यस्तता एव दुर्बलता को देख कर विदेशी पूजी भी भारत मे आने में सकुचाने लगी। पाकिस्तान और भारत के युद्ध के बाद अमेरिकी सहायता और भी कम हो गई। विश्व बैंक, मुद्रा कोष एव अमेरिका आदि ने भारतीय रुपये के अवमूल्यन का सुझाव दिया और आश्वासन दिया कि अवमूल्यन से पैदा होने वाली कठिनाइयो को दूर करने के लिए वे उदार सहायता देगे। इसलिए भारत को रुपए का अवमूल्यन करना पडा।

आशायें
(Expectations)

रुपए का अवमूल्यन इस बार भी एक आकस्मिक घटना थी क्योंकि उसके पूर्व बार-बार सरकार की ओर से अवमूल्यन न करने की घोषणा की जा चुकी थी। वित्त मन्त्री ने अवमूल्यन की घोषणा करते हुए बताया की आर्थिक अवस्था अवमूल्यन की माग करती है और अवमूल्यन से निम्नलिखित लाभ होने की आशाए है —

1. निर्यात मे वृद्धि · अवमूल्यन से प्रमुख आशा निर्यात वृद्धि की थी क्योंकि इससे भारतीय वस्तुए विदेशो मे सस्ती पडेंगी और विदेशी बाजार म प्रतियोगिता कर सकेंगी। यहाँ निर्यात वृद्धि का तात्पर्य था कि निर्यातो मे 36.5 प्रतिशत से अधिक वृद्धि होगी क्योकि उससे कम वृद्धि होने पर वास्तविक निर्यात पहले से भी कम रहेगा। वास्तविक वृद्ध तभी हो सकती है जब निर्यातो मे इससे कही अधिक वृद्धि हो। सरकार की यह आशा थी कि वास्तविक निर्यात वृद्धि अवमूल्यन म सम्भव है।

2 पूंजी विनियोग मे वृद्धि : आयातो के महगा हो जाने के कारण उनका आयात बन्द हो जायेगा और वह क्षेत्र भारतीय विनियोजकों के लिये आकर्षक हो जायगा। भारतीय विनियोजक उन क्षेत्रो मे लाभपूर्ण विनियोग कर सकेंगे। विदेशी पूंजी को भी भारत मे विनियोग करने मे लाभ होगा। इस प्रकार आर्थिक विकास मे सहायता मिलेगी।

3. आयात प्रस्थापन · आयात महगा होने के कारण आयातित वस्तुओ की स्थानापन्न (substitute) वस्तुओ का आविष्कार किया जायगा और उनका उत्पादन किया जायगा। इससे बौद्धिक और तकनीकी विकास के साथ-साथ उत्पादन आय एव रोजगार मे वृद्धि होगी। साथ ही विदेशी विनिमय की भी बचत होगी।

4 भुगतान सतुलन मे सुधार . अवमूल्यन के कारण कई ऐसी आर्थिक गतिविधिया जन्म लेंगी जिनके फलस्वरूप भुगतान सतुलन मे सुधार होगा। **प्रथम,** अवमूल्यन के कारण भारत मे आने वाले विदेशी भ्रमणार्थियो की सख्या मे वृद्धि होगी और भारत की विदेशी मुद्रा की आय बढ़ेगी। **द्वितीय,** भारत के जो नागरिक विदेशो

मे खाता रखते हैं वे अधिक रुपया पाने के लिए विदेशी मुद्रा भारत लायेंगे। तृतीय, भारत से विदेश जाने वालो की सख्या कम होगी जिससे विदेशी विनिमय बचेगा। चतुर्थ, भारत मे अधिक विदेशी पूंजी आयेगी। पचम, विदेशी विनियोजक भारत से अर्जित लाभ को पुन भारत मे ही लगाने म रुचि लेंगे।

5. सरकार की आय मे वृद्धि : अवमूल्यन से सरकार की आय मे भी वृद्धि होने की आशा की गई थी (1) अवमूल्यन के साथ निर्यात सवर्द्धन योजना समाप्त हो जाने से सरकार को बचत होगी (2) जिन वस्तुओ पर निर्यात कर लगाया गया है उनसे आय प्राप्त होगी (3) विदेशी सहायता का मूल्य रुपए मे बढ जायगा।

6 विदेशी सहायता मे वृद्धि : अर्थ व्यवस्था के शिथिल हो जाने के कारण एव पाक-भारत युद्ध के कारण जो विदेशी सहायता कम हो गई थी वह पुन बढ़ जाने की आशा थी। बिना सहायता के चौथी योजना लागू होना सम्भव नही था।

7 अवाछनीय क्रियाओ का अन्त अवमूल्यन से यह आशा की गई थी कि विदेशी व्यापार की अनेक बुराइया—निर्यातो को बीजक मे कम बताना आयातो को बीजक मे अधिक दिखाना, आयात निर्यात लाइसेंसो की चोर बाजारी एव दुरुपयोग तथा तस्कर व्यापार आदि को समाप्त किया जा सकेगा। इसका कारण यह है कि इन सब अवाछनीय क्रियाओ से जो लाभ प्राप्त होता था वह समाप्त हो जायगा और लोगो को इन क्रियाओ मे किसी प्रकार का आकर्षण शेष नही रह जायगा।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर सरकार ने अवमूल्यन के औचित्य की व्याख्या की। वित्त मन्त्री के अवमूल्यन की घोषणा का अन्तिम अश इस सम्बन्ध मे उद्धृत करने योग्य है—

"To sum up, devaluation would provide a better corrective to the price rise and distortion of the past than the remedial measures we have pursued so far Even more important, it will facilitate a better allocation of our resources and strengthen our foreign exchange position on an enduring basis. With renewed determination and discipline on the part of all of us to hold inflationary pressures firmly in check, it would be a major ally in our march towards self reliance."

अवमूल्यन के विरुद्ध दिए गए तर्क

अवमूल्यन से जिन लाभो की आकाक्षा की गई थी उनकी वास्तविकता एव व्यावहारिकता के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे मतभेद है। सक्षेप मे यहा पर अवमूल्यन के विरुद्ध दिये गये तर्को का उल्लेख किया जायगा।

1. आयात निर्यात : अवमूल्यन का एक प्रमुख उद्देश्य निर्यातो को बढाना तथा आयातो को कम कराना होता है। भारत मे जब अवमूल्यन की नीति अपनाई

गई उस समय आयातों पर अनेक नियन्त्रण पहले से ही लगे हुए थे। सरकार ने अवमूल्यन द्वारा आयात कम करने की मिथ्या घोषणा की थी क्योंकि अवमूल्यन के साथ ही सरकार ने उदार आयात की नीति की घोषणा भी की थी जिससे उद्योगों को आवश्यक कच्चा माल प्राप्त हो सके और वे अपनी पूर्ण क्षमता (Full capacity) के अनुसार उत्पादन कर सकें।

जहा तक निर्यात-वृद्धि का प्रश्न है, अधिक निर्यात केवल कीमतो के कम हो जाने मात्र से सम्भव नही है। निर्यातो की वृद्धि के लिये पर्याप्त मात्रा मे अतिरिक्त माल का उत्पादन (Exportable surplus) होना आवश्यक है। दूसरी महत्वपूर्ण बात जो निर्यातो को बढाने के लिए आवश्यक है वह वस्तुओ का गुण (Quality) है। इसलिए वस्तुओं के गुण में सुधार करना आवश्यक है। यदि अवमूल्यन के कारण कीमत कम हो जाय और निर्यात मे कीमतो मे कमी के अनुपात से अधिक वृद्धि न हो तो निर्यातो की प्राप्ति पूर्ववत या उससे कम होगी। इसलिये निर्यातो को अधिक बढाने के लिए अवमूल्यन नही, उत्पादन-लागत (Cost of Production) कम करने की आवश्यकता है। जब तक निर्यात-योग्य आधिक्य (Exportable surplus) का उत्पादन कम लागत पर नही किया जाता, तब तक निर्यातो की वृद्धि की आशा करना केवल मृगतृष्णा है।

2. कीमतो मे वृद्धि : अवमूल्यन के पक्ष मे यह भी तर्क दिया गया था कि भारत मे पिछले दशक मे कीमतो मे भारी वृद्धि हुई जबकि अन्य प्रमुख देशो मे उतनी वृद्धि नही हुई है। भारत मे आन्तरिक कीमत स्तर बढने से रुपये के बाह्य मूल्य पर प्रतिकूल प्रभाव पडा है और निर्यातो को धक्का लगा है। कीमत नियन्त्रण के सभी प्रयत्न विफल रहे हैं इसलिये अवमूल्यन करना आवश्यक हो गया है। परन्तु भारत ही एक ऐसा देश नही था जहा कीमतें बढी थीं। सभी विकासशील देशो की कीमतो मे वृद्धि हुई थी और कई देशो मे तो भारत से भी अधिक वृद्धि हुई थी। भारत की कीमतो की तुलना विकसित देशो से नही करनी चाहिये।

3. विदेशी पूँजी : अवमूल्यन के पक्ष मे एक तर्क यह भी दिया जाता है कि इससे अधिक विदेशी पूँजी प्राप्त करने मे सहायता मिलेगी। यह सत्य है कि विदेशी विनियोक्ता की भारत मे रुपये के रूप मे अधिक पूँजी एकत्र होगी। परन्तु यह केवल एक दीर्घकालिक दृष्टिकोण है। विनियोक्ता अल्पकालीन प्रभावो को अधिक ध्यान मे रखेगा। पूँजी पर मिलने वाला लाभाश विनियोक्ता की मुद्रा मे अवमूल्यन के कारण कम हो जाता है और विनियोजित पूँजी यदि वापस ली जाय तो उस पर भी हानि होती है। यही विचार अवमूल्यन के समय 'कानफेडरेशन ऑफ ब्रिटिश इन्डस्ट्री' द्वारा निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त किया गया था—

"In the short run devaluation has damaging side effects for Britain, for it devalues the sterling worth of British industry's substantial investment stake in India and all permitted profits."[1]

जहा तक विदेशो से प्राप्त ऋणो का प्रश्न है, अवमूल्यन के कारण उनके ब्याज और मूलधन के भुगतान का भार बढ जाता है। कुछ लोगो का कहना है कि पुराने ऋणो के लिए यदि अधिक रुपये के भुगतान करने पडते हैं तो दूसरी ओर नए ऋणो से अधिक रुपए की प्राप्ति भी होती है। इसलिये एक की हानि दूसरे के लाभ से पूरी हो जाती है। परन्तु वास्तव मे भारत के पुराने ऋणो की मात्रा बहुत अधिक होने के कारण हानि की मात्रा बहुत अधिक होगी।

4 आयातो की मूल्य-वृद्धि : भारत को अपने विकास क्रम को चालू रखना आवश्यक है तथा इसके लिए लम्बे समय तक आयात करने होगे और उनकी मात्रा बढती जायगी। ऐसी परिस्थिति मे अवमूल्यन करने से आयातो का मूल्य बहुत बढ जायगा और भारत का आयात बिल बहुत बडा हो जाने की सम्भावना है।

5 अवमूल्यन विकसित अर्थव्यवस्था के लिए ही उपयुक्त : अवमूल्यन विकसित अर्थव्यवस्थाओ का प्रश्न है। विकासशील देशो की समस्या का समाधान अवमूल्यन के आधार पर नही किया जा सकता। विकासशील देशो की समस्या का समाधान उत्पादन एव उत्पादकता की वृद्धि, लागत मे कमी और अपने अप्रयुक्त साधनों के अनुकूलतम प्रयोग मे निहित है।

अवमूल्यन के प्रभाव
(Effects of Devaluation)

वास्तव मे अवमूल्यन से लाभान्वित होने के लिये भारत सरकार को दो दिशाओ म प्रयत्न करना आवश्यक था—(1) कीमत स्तर पर नियन्त्रण रखना तथा (2) निर्यात योग्य आधिक्य प्राप्त करना। यह चिन्ता का विषय है कि सरकार इन दोनों ही दिशाओ मे असफल रही है।

1. आयात निर्यात : अवमूल्यन के पश्चात् तुरन्त ही कीमत स्तर मे तेजी से वृद्धि प्रारम्भ हो गई। निरन्तर कीमतो के बढते रहने के कारण महगाई भत्ता तथा वेतन वृद्धि की माग भारतीय आर्थिक जीवन की एक अग बन गई है। इनमे (महगाई तथा वेतन आदि) वृद्धि होने से निर्यात वस्तुओ की लागत बढने लगी और इनका निर्यात अवमूल्यन के बाद बढने के स्थान पर कम हो गया। अवमूल्यन से यह आशा की गई थी कि भुगतान सतुलन मे स्थायी रूप से सुधार किया जा सकेगा तथा निर्यात बढने से विकास की गति तीव्र होगी और देश आत्म निर्भरता का लक्ष्य

[1] Quoted by Prof. B.N. Ganguli. *Devaluation of the Rupee*, p. 87

शीघ्रता से प्राप्त कर लेगा। परन्तु अवमूल्यन के बाद के आयात निर्यात के आकडे यह स्पष्ट कर देते है कि भारत को विदेशी व्यापार मे लाभ के स्थान पर हानि हुई है क्योकि आयातो के मूल्य मे वृद्धि तथा निर्यात मे कमी हुई है। जून 1966 से मई 1967 की अवधि म भारत के निर्यात व्यापार मे जून 1965 से मई 1966 की अवधि के निर्यात की अपेक्षा 206 मि० डालर की कमी हुई। इस गति से निर्यात मे कमी होना भारत के विदेशी व्यापार के इतिहास मे अभूतपूव घटना थी। इसका प्रमुख कारण यह था कि अवमूल्यन के बाद निर्यात बिल बढाने के लिये निर्यात की मात्रा मे 57·5 प्रतिशत से अधिक वृद्धि की आवश्यकता थी जो भारत के लिए प्राय: असम्भव था। भारत का निर्यात 1967–1968 मे काफी बढा परन्तु साथ ही आयात मे उससे भी अधिक वृद्धि हुई जिससे भुगतान शेष का असतुलन और अधिक बढ गया। (भारत का निर्यात 1966–67 मे 967 22 करोड रु० से बढकर 1967–68 में 1197 04 करोड और आयात 1966–67 मे 1607 89 करोड स बढकर 1967–68 मे 1950.47 करोड हो गया) अप्रेल 1968 से नवम्बर 1968 तक के निर्यात मे 1967 के अप्रैल से नवम्बर तक के निर्यात की अपेक्षा वृद्धि हुई है। परन्तु नियातो की वृद्धि को अवमूल्यन का ही परिणाम नही कहा जा सकता। भारत ने निर्यात बढाने के बहुमुखी प्रयत्न किये हैं।

2 **निर्यात सवर्द्धन** अवमूल्यन के पक्ष मे एक तर्क यह भी दिया गया था कि अवमूल्यन के पश्चात् निर्यात सवर्द्धन पर व्यय करने की आवश्यकता नही होगी और इस प्रकार सरकारी आय मे एक प्रकार से वृद्धि होगी परन्तु अवमूल्यन के बाद धीरे-धीरे निर्यात सवर्द्धन योजनाये पुन. लागू की जाने लगी। अगस्त 1966 म ही निर्यात सम्वर्द्धन योजना अपने सुधरे हुए रूप मे पुन सामने आ गई। इसलिय यह आशा कि बिना नियात सम्वर्द्धन पर खर्च किए ही निर्यातो को बढाया जा सकेगा, पूरी नही हा सकी है।

3 **मूल्यो मे वृद्धि** अवमूल्यन के लाभो को प्राप्त करने के लिए कीमत स्तर पर नियन्त्रण रखना आवश्यक था परन्तु अवमूल्यन के बाद कीमत स्तर मे लगातार वृद्धि होती रही ह और मजदूरी-कीमत की वृद्धि का चक्र चलता रहा है। यही स्थिति यदि बनी रही तो पुन अवमूल्यन का सहारा लना पड सकता है।

4 **योजना व्यय मे वृद्धि तथा बजट घाटा** आयातो के मूल्यो मे 57 5 प्रतिशत वृद्धि हो जाने के कारण भारतीय योजनाओ के व्यय मे वृद्धि हो गई। यही नही सरकार का वार्षिक व्यय भी बढ गया है।

5 **विदेशी पुस्तको आदि की कठिनाई** अवमूल्यन के कारण विदशी पुस्तकें भारतीयो के लिए महंगी पडने लगी क्योकि उनके लिए 57 5 प्रतिशत अधिक मूल्य देना पडता है।

6 विदेशी ऋण-भार मे वृद्धि • जैसा पहले कहा जा चुका है कि विदेशी ऋणो का भार अवमूल्यन के कारण बढ गया है क्योकि ब्याज और मूलधन के रूप मे पहले से अब अधिक रकम देनी पड रही है।

भारत को दूसरे अवमूल्यन से बचाने के लिए प्रयत्न करना ही अब व्यावहारिक है क्योकि जून 1966 का अवमूल्यन अब भूतकाल की बात है। इसके लिए अर्थशास्त्री उसी समय से हीनार्थ प्रबन्धन को बन्द करने का सुझाव दे रहे हैं परन्तु सरकारी घोषणाओ के बावजूद भी हीनार्थ प्रबन्धन बन्द नही हो सका है। इसी प्रकार कीमत वृद्धि को रोकने के लिए सरकारी व्यय मे कमी करना आवश्यक है जो दुर्भाग्य से प्रतिवर्ष बढता चला जा रहा है। मूल्यो और साख व्यवस्था पर पूर्ण नियन्त्रण के अभाव मे भारतीय विदेशी व्यापार की समस्या का समाधान सम्भव नही है। दूसरी तरफ उत्पादन लागत को कम करने एव उत्पादन तथा उत्पादकता को बढाने की आवश्यकता है। भारत को निर्यात के लिए नये क्षेत्र खोजना भी आवश्यक है। केवल परम्परागत निर्यातो के आधार पर आयात निर्यात की खाई नही भरी जा सकती। नई वस्तुओ के लिए विदेशी बाजार बनाना आवश्यक है। आयातो की प्राथमिकता बडी सूझ बूझ के साथ निर्धारित की जानी चाहिये और जहा तक सम्भव हो आयातो का स्थापन्नन किया जाना चाहिये।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

1 क्या मुद्रा अवमूल्यन किसी देश के भुगतान असतुलन को दूर करने का सही उपाय है? अपने उत्तर को भारतीय मुद्रा के 1966 के अवमूल्यन के सन्दर्भ मे समझाइये।

(राजस्थान टी०डी०सी फाइनल, 1969)

[सकेत — विस्तारपूर्वक समझाइये कि मुद्रा अवमूल्यन से किस प्रकार निर्यात प्रोत्साहित और आयात हतोत्साहित होते हैं। साथ ही अन्य दृष्टियो से विदेशी विनिमय की बचत होती है। परिणामत भुगतान असतुलन ठीक हो जाता है। भारतीय रुपये के 1966 के अवमूल्यन से उदाहरण तथा आकडे देते हुए इसे सिद्ध कीजिये। इस मत के विरुद्ध मे भी तर्क दीजिये।]

2. मुद्रा अवमूल्यन के कारणो का विश्लेषण कीजिये और उसके भारतीय अर्थव्यवस्था पर हुए प्रभावो का परीक्षण कीजिये।

(राजस्थान टी०डी०सी० फाइनल, 1968)

[सकेत—प्रथम भाग मे मुद्रा अवमूल्यन का सक्षेप मे अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके उद्देश्यो का सविस्तार विवेचन कीजिये। दूसरे भाग मे 1966 के भारतीय

रुपये के अवमूल्यन के भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर हुए प्रभावों का आंकड़े देते हुए वर्णन कीजिये ।]

3. सितम्बर 1949 मे किन कारणो से भारतीय रुपये का अवमूल्यन हुआ ? इसका क्या आर्थिक प्रभाव पडा, समझाइये ।

(राजस्थान टी०डी०सी० फाइनल, 1963)

[संकेत—प्रथम भाग मे द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप मुद्रा स्फीति, विदेशी विनिमय का अभाव, खाद्यान्नो के आयात इत्यादि कारणो का विवेचन कीजिये जिससे भारत सरकार को 1949 मे रुपये के अवमूल्यन के लिए बाध्य होना पडा । दूसरे भाग मे आकडो के प्रमाण देते हुए अवमूल्यन के अर्थ-व्यवस्था पर पडे प्रभावो का वर्णन कीजिये ।]

4 *भारतीय रुपये के सन् 1966 के अवमूल्यन के कारणो की पूर्ण व्याख्या* कीजिये । इसके प्रमुख अपेक्षित लाभ क्या थे ?

(आगरा बी०काम०, 1967)

[संकेत—प्रथम भाग मे 1966 के अवमूल्यन के मुख्य कारणो का विवेचन कीजिये । दूसरे भाग मे इससे जिन लाभो के प्राप्ति की आशा की गई थी उनका वर्णन कीजिये और यह भी बताइये कि वे कहा तक प्राप्त हुए ।]

भाग ६
Part Six

"The low proportion of bank deposits to national income and of demand deposits to money supply in India are primary indicators of the fact that the message of commercial banking is yet to reach a majority of people. Cost inflation and profit squeeze have again impaired the manoeuvrability of commercial banks in reaching out to new areas and new people and serving them through novel ways. The measures of social control over banks will be devoid of any meaning and purpose unless the banking reform is carried out to its logical conclusion by finding out a remedial action for the chronic problems besetting the progress of the nation's banking industry."

भारतीय बैंक-व्यवस्था
(Indian Banking System)

भारतीय मुद्रा बाजार
(The Indian Money Market)

"A fully coordinated system of credit possessing different types of complementary institutions can never exist without its indispensable concomitant, a well developed and reasonably planned money market The development of one leads to the other and vice versa The money market is the groundwork of the country s national finance whose main flexibility depends on a fine division of labour and capacity for adjustment to changing conditions of society"

B R Rao

साख वाणिज्य का जीवन रक्त है। एक समन्वित साख बाजार के अभाव म समाज की बचत तथा साहस प्रवृत्ति का अपव्यय होता है। एक सगठित साख बाजार उधार देय कोषो के विनियोजन को सुरक्षा प्रदान करता ह तथा जटिल उत्पादन के लिए धन प्राप्त करने की सुविधा उपलब्ध करता है। जी० एन० हाम० (G N Halm) के श०ो मे 'साख बाजार वह बाजार है जहा दावो (claims) का व्यापार होता है। उधार देय कोषो की पूर्ति का प्रतिनिधित्व दावों के क्रय द्वारा होता है तथा उधार देय कोषो की माग दावो के विक्रय का स्वरूप ग्रहण करती है।'[1] इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि साख बाजार का मुख्य उद्देश्य उधार देय कोषो की माग तथा पूर्ति का सम्बन्ध स्थापित करना है। साख बाजार को दो भागो मे बाटा जा सकता है—(1) मुद्रा बाजार तथा (2) पूंजी बाजार।

मुद्रा बाजार
(Money Market)

एक सुविकसित मुद्रा बाजार प्रभावी मौद्रिक नीति का आधार है। प्रो० बी० रामचन्द्र राव के शब्दो मे "मुद्रा बाजार' वह स्थान है जहा समाज की चल

[1] A credit market is "a market in which claims are traded, the supply of loanable funds is represented by purchase of claims while the demand for loanable funds takes the form of sales of claims"
—G N. Halm Moretary Theory, p 351

पूँजी, उस समय तक के लिए जब उसकी आवश्यकता हो, रोजगार पाने के लिए आकर्षित होती है।"[1] दूसरे शब्दों मे "मुद्रा बाजार वह केन्द्र है जहाँ मुख्यत अल्पकालीन प्रकृति की मौद्रिक परिसम्पत्तियो मे व्यवहार होता है। यह ऋणी लोगो की अल्पकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति करता है तथा ऋण दाताओ को तरल या नकद कोष उपलब्ध करता है। यह वह स्थान है जहाँ अल्पकालीन विनियोग कोष वित्तीय तथा अन्य सस्थाओ तथा व्यक्तियो द्वारा ऋणी व्यक्तियो तथा सस्थाओ या स्वय सरकार को दिए जाते हैं।"[2] सरल शब्दो मे मुद्रा बाजार वह स्थान है जहाँ अल्पकालीन मुद्रा का क्रय विक्रय होना है।

नेडलर, हेलर तथा शिपमैन के अनुसार मुद्रा बाजार "वह केन्द्र है जहाँ अल्पकालीन पूँजी की माग तथा पूर्ति का समायोजन होता है। मुद्रा बाजार का शब्दानुसार अर्थ किसी वास्तविक स्थान का सकेत नही करता है। यह शब्द उस सम्पूर्ण व्यवस्था का सूचक है जिसके द्वारा अल्पकालीन कोषो का विनियोजन तथा उन्हे उधार दिया जाता है तथा जिसके माध्यम से देश के अधिकतर वित्तीय सौदे तय किये जाते है। मुद्रा बाजार एक समाशोधन केन्द्र है जहाँ राष्ट्रीय तथा अन्त र्राष्ट्रीय वित्तीय सौदे होते हैं, यह वह स्थान है जहाँ राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्रो की उधार देय पूँजी रखी जाती है तथा अल्पकालीन कोष शीघ्रतापूर्वक उधार लिए तथा दिए जाते है।

"यद्यपि सामान्यत मुद्रा बाजार केवल अल्पकालीन कोषो के उधार लेन देन से सम्बन्धित होता है परन्तु इसका पूँजी तथा वस्तु बाजारो जैसे अन्य बाजारो से भी घनिष्ट सम्बन्ध होता है जो इस पर वित्तीय सुविधा के लिए आश्रित होते है। विस्तृत अर्थ मे मुद्रा बाजार शब्द मे सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाओ की वित्त व्यवस्था सम्बन्धी सुविधाओं का समावेश होता है। कहीं भी कोई महत्वपूर्ण सौदा जिसमे अल्पकालीन या दीर्घकालीन उधार देय कोषो का हस्तान्तरण होता है,

---

[1] "Money market is the place to which the floating capital of the community gravitates to find employment till the time when it is needed" —B.R. Rau, *Present Day Banking in India*, p 2

[2] Money market is "the centre for dealings mainly of short term character in monetary assets, it meets the short term requirements of borrowers and provides liquidity or cash to the lenders. It is the place where the short term surplus investible funds at the disposal of financial and other institutions and individuals are bid by borrowers again comprising institutions and individuals and also the government itself '

—*Reserve Bank : Functions and Working*, p. 21-22.

राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार के एक भाग मे ही सम्पन्न होता है । सकुचित अर्थों मे, जिसमे इसका सामान्यत. प्रयोग होता है, मुद्रा बाजार मे लगभग प्रमापित साख से सम्बन्धित व्यवहार जैसे अविलम्ब ऋण (call loan) तथा वाणिज्य पत्र, स्वीकृतिया तथा कोषागार विपत्र जैसे साख पत्र जिनमे ऋणदाता तथा ऋणी के व्यक्तिगत सम्बन्धो का बहुत कम महत्व होता है, सम्मिलित होते है । सामान्य समयो मे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र का मुद्रा बाजार ससार के सभी देशो से अल्पकालीन कोष आकर्षित करता है तथा उसको ससार के विभिन्न देशो के उधार लेने वालो मे पुनवितरण करता है । इन कोषो का तरल विनियोजन अमेरिका मे स्वीकृति बाजार, वाणिज्यिक पत्र बाजार, कोषागार-विपत्र बाजार तथा अविलम्ब मुद्रा बाजार जैसे सगठित बाजारो द्वारा होता है ।'[1]

[1] "A money market may be defined as centre where the demand for and supply of short term funds meet In the literal sense there is actually no such place as a money market Rather, the term connotes the entire machinery for the investment and borrowing of short term funds and the medium through which a large part of the financial transactions of a country are handled A money market, such as New York market, is a clearing centre for numerous financial commercial transactions, both national and international a place where the loanable funds of the nation and other nations are held and where short term funds can be quickly borrowed and lent

While the money market normally is concerned only with borrowing and lending of short term funds, it is closely related to a number of other markets, such as the capital and commodity markets which rely on it for financial accommodation Broadly concerned, the term includes all the facilities employed in financing economic activity of all types Any major transaction, wherever consummated, involving the transfer of loanable funds, long term as well as short term, may be said to have taken place in a part of a nation wide or international money market In the norrower sense in which the term is generally used, however a money market embraces only dealings in more or less standardised type of credit, for example call loans and credit instruments (such as commercial paper, acceptances and treasury bills) in which personal relation between lender and borrower are of negligible importance During normal times money market of international scope attracts short term funds from all over the world and redistributes them among borrowers in many countries These funds require liquid investments

Continued

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण के आधार पर यही कहा जा सकता है कि मुद्रा बाजार वह बाजार है जहाँ अल्पकालीन पूँजी का क्रय विक्रय किया जाता है। मुद्रा के क्रेता ऋणी, व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हैं जिन्हे उत्पादक कार्यों के लिए धन की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर मुद्रा के विक्रेता जैसे जीवन बीमा निगम, औद्योगिक निगम व्यापारिक बैंक तथा ऋणदाता होते हैं जो अपने कोषो का विभिन्न क्षेत्रो मे विनियोजन करते हैं। जिस प्रकार वस्तु बाजार मे वस्तु की माग तथा पूर्ति द्वारा वस्तु का मूल्य निश्चित होता है उसी प्रकार मुद्रा बाजार म मुद्रा की माग तथा पूर्ति की स्थितियो द्वारा मुद्रा का मूल्य (अर्थात् ब्याज-दर) निर्धारित होता है।

विस्तृत अर्थों मे मुद्रा बाजार मे पूँजी बाजार उसके एक अग के रूप मे सम्मिलित रहता है परन्तु सकुचित अर्थ म मुद्रा बाजार म पूँजी बाजार को सम्मिलित नही किया जाता। मुद्रा बाजार मे अल्पकाल के लिए ऋण लिए तथा दिये जाते हैं परन्तु पूँजी बाजार मे दीर्घकालीन पूँजी का क्रय-विक्रय होता है। मुद्रा बाजार तथा पूँजी बाजार के इस भेद का यह अर्थ नही है कि दोनो बाजार एक दूसरे से पूर्णत अलग है बल्कि ये एक दूसरे से घनिष्ट रूप म सम्बन्धित हैं तथा एक की प्रवृत्तियाँ दूसरे को प्रभावित करती है। एक बाजार मे कार्य करने वाले पक्ष दूसरे बाजार मे स्वतन्त्रतापूर्वक आते-जाते है।

मुद्रा बाजार का महत्व
(Importance of Money Market)

किसी देश की अर्थव्यवस्था मे मुद्रा बाजार का बडा महत्वपूर्ण स्थान है। व्यापार, वाणिज्य तथा उद्योग का विकास एक सुसगठित मुद्रा बाजार के ऊपर निर्भर हैं। इगलैंड, अमेरिका तथा अन्य पाश्चात्य देशो की औद्योगिक प्रगति बहुत कुछ वहाँ के सुसगठित मुद्रा तथा पूँजी बाजारो के कारण हुई है। आधुनिक औद्योगिक सगठन बहुत जटिल है और उसके लिए विकसित मुद्रा बाजारो की बडी आवश्यकता है। मुद्रा बाजार ऐसे लोगो से जिनके पास धन है परन्तु व्यापारिक कार्यों मे नही प्रयोग कर सकते, ऐसे लोगो के पास धन पहुचाने मे सहायता करते हैं जिनके पास व्यापारिक योग्यता तथा कुशलता है परन्तु धन का अभाव है। इस

which in the United States are provided by organised market such as the acceptance market the commercial paper market, the treasury bill market and the call money market"

—Nadler, Heller and Shipman . *The Money Market and its Institutions*, 1955, p.p. 3 4.

प्रकार ऋणी तथा ऋणदाता के बीच मुद्रा बाजार के माध्यम से ही सम्बन्ध स्थापित होता है।

मुद्रा बाजार केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति के सफल कार्यान्वन मे सहायता करता है। सगठित मुद्रा बाजार के विभिन्न अगो मे सहयोग तथा सामजस्य न हो तो मौद्रिक नीति की सफलता की आशा नही की जा सकती। मुद्रा बाजार मे व्यापारिक बैंक अपने अत्यधिक कोषो का अल्पावधि के लिए विनियोजन कर लाभ कमाते हैं और आवश्यकता पडने पर सस्ती ब्याज की दर पर शीघ्र ऋण प्राप्त करते है। मुद्रा बाजार के माध्यम से व्यापारिक बैंक अपनी परिसम्पत्तियो मे पर्याप्त आवश्यक तरलता रखने मे सफल हो जाता है और जमाकर्ताओ की माग पर सुगमता तथा शीघ्रता से भुगतान कर देता है। बरगेस (Burgess) के अनुसार 'देश के लिए मुद्रा बाजार का महत्व केवल उसके आकार मे नही है, वह वास्तव मे उसकी तरलता तथा कुछ घटो की सूचना पर देश के किसी भाग को नकदी पहुँचाने की योग्यता मे है। व्यक्ति के लिए जो महत्व बैंक-खाते का है, वही महत्व देश की साख व्यवस्था मे मुद्रा बाजार का है।"[1]

मुद्रा बाजार के माध्यम से सरकार अपनी वित्तीय आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए ऋण प्राप्त करती है। मुद्रा बाजार के ही माध्यम से मुद्रा की माग तथा पूर्ति मे सतुलन स्थापित किया जा सकता है और देश की मुद्रा इकाई के मूल्य म स्थिरता लाई जा सकती है। मुद्रा बाजार के सगठन से बचत कर्ताओ को बचत करने की प्रेरणा मिलती है और उन्हे यह विश्वास रहता है कि वे अपनी बचतो का सुरक्षित तथा लाभदायक विनियोजन कर सकेंगे। इस प्रकार मुद्रा बाजार देश की आर्थिक प्रगति का सूचक है और देश की अर्थव्यवस्था मे उसका महत्वपूर्ण स्थान है।

भारतीय मुद्रा बाजार
(Indian Money Market)

भारतीय मुद्रा बाजार के अंग (Constituents of Indian Money Market) भारतीय मुद्रा बाजार का एक महत्वपूर्ण लक्षण उसकी द्विशाखिता (Dichotomy) है। उसमे एक है सगठित या आधुनिक भाग (Organised or Modern Sector) तथा दूसरा है असगठित या स्वदेशी भाग (Unorganised

[1] "The importance of money market for the nation does not lie solely in its size It lies rather in its liquidity, in its capacity for furnishing cash to any part of the country at a few hours notice. What a bank balance is to the individual, the money market is to the country's credit system"

—W.R. Burgess : *The Reserve Banks and the Money Market*, p. 144

or Indigenous Sector) इन दोनो बाजारो मे ब्याज दर के ढाचे भिन्न हैं। मुद्रा बाजार के सगठित या आधुनिक भाग के अतर्गत रिजर्व बैंक, स्टट बैंक आफ इन्डिया, विदेशी विनिमय बैंक तथा भारतीय व्यापारिक बैंक आते है। इनके अतिरिक्त अर्ध-सरकारी सस्थायें तथा बडी बडी सयुक्त स्कध कम्पनिया मुद्रा बाजार की प्रक्रियाओ मे भाग लेती है। इसके अतिरिक्त दलाल (Brokers) होते हैं जैसे अविलम्ब ऋण (Call loan) के दलाल, (General Financial and Stock Brokers) भारतीय मुद्रा बाजार का केन्द्र 'अतर बैंक अविलम्ब मुद्रा बाजार' (Inter bank Call Money Market) है। यद्यपि इस बाजार मे प्रयुक्त राशि की मात्रा बैंको के जमा साधनो की तुलना मे अधिक नही है परन्तु यह मुद्रा बाजार का सबस शीघ्र प्रभावित होने वाला भाग है। यद्यपि भारत मे बिलो तथा स्वीकृति बाजारो का अभाव है परन्तु फिर भी भारतीय मुद्रा बाजार "कार्यों के सगठित सम्बन्धो तथा विशेषोपयोजन की दृष्टि से अपेक्षत सुविकसित है।"[1]

मुद्रा बाजार के असगठित या स्वदेशी भाग मे साहूकार, महाजन मारवाडी, सराफ आदि सम्मिलित किए जाते हैं। इस बाजार मे अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन वित्त म तथा वित्त के उद्देश्यो म भी स्पष्ट भेद नही होता। मुद्रा बाजार के दोनो भागो का कार्य क्षेत्र अलग अलग है और उनमे सहयोग तथा सामजस्य का अभाव है। यद्यपि भारतीय मुद्रा बाजार का ढाँचा शिथिल है किन्तु वह बिल्कुल असमन्वित नही है। स्वदशी बैंको को स्टेट बैंक आफ इन्डिया तथा अन्य व्यापारिक बैंको से पुन बट्टा की सुविधाय प्राप्त है। सहकारी बैंको की स्थिति मुद्रा बाजार के सगठित तथा असगठित भागो के मध्य मे है परन्तु यह बैंक स्टेट बैंक के राष्ट्रीयकरण के बाद व्यापारिक बैंक व्यवस्था के निकट सम्पर्क मे लाई जा रही है।

भारतीय मुद्रा बाजार के सगठित भाग पर तो रिजर्व बैंक का लगभग पूर्ण नियत्रण है परन्तु असगठित भाग पर रिजर्व बैंक का पूर्ण नियत्रण नही है। स्वदेशी बैंको पर रिजर्व बैंक के नियत्रण के सभी प्रयत्न असफल रहे है।

भारतीय मुद्रा बाजार मे क्रियाशील सस्थाओ का विस्तृत वर्णन सम्बन्धित अध्यायो मे किया गया है।

भारतीय मुद्रा बाजार की विशेषताये (Characteristics of Indian Money Market भारतीय मुद्रा बाजार के अध्ययन से उसकी निम्न विशेषतायें स्पष्ट होती है —

[1] Monthly Review of the Federal Reserve Bank of New york, *July 1957.*

(1) **द्विशाखिता—सगठित तथा असंगठित भागो में विभाजित** (Dichotomy—Devided into Organised and Unorganised Sectors) जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतीय मुद्रा-बाजार का मुख्य लक्षण उसी द्विशाखिता (Dichotomy) है। भारतीय मुद्रा बाजार सगठित तथा असगठित दो भागो मे विभाजित है। इन दोनो भागो मे पूर्ण सम्पर्क तथा सहयोग का अभाव है।[1] इसी कारण इन दोनो भागो मे प्रचलित व्याज दरो मे बडा अन्तर होता है।

व्यापारिक बिलो (Commercial Bills) अथवा कोषागार विपत्रो का भी वास्तविक अर्थो मे बाजार नही है। इसके साथ साथ कुछ अन्य दोषो के होते हुए भी भारतीय मुद्रा बाजार "कार्यो के विशिष्टीकरण तथा सगठित सम्बन्धो की दृष्टि से अपेक्षाकृत पर्याप्त विकसित है।"[2]

(2) **अतर-बैंक अविलम्ब मुद्रा बाजार का महत्वपूर्ण स्थान** (The Inter-bank Call Money Market is the core of the Indian Money Market): जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है भारतीय मुद्रा बाजार मे अन्तर बैंक अविलम्ब मुद्रा बाजार का केन्द्रीय स्थान है। यद्यपि इस बाजार मे प्रयुक्त राशि की मात्रा अधिक नही है फिर भी मुद्रा बाजार का यह सबसे अधिक सवेदनशील भाग (most sensitive sector of the money market) है।

(3) **असगठित भाग पर रिजर्व बैंक के नियत्रण का अभाव** (Absence of Reserve Bank's control over the unorganised sector) : मुद्रा बाजार के असगठित या स्वदेशी भाग पर रिजर्व बैंक का कोई नियन्त्रण नही है और उसमे कार्यशील स्वदेशी बैंकर पूर्णत स्वतन्त्र है। स्वदेशी बैंकरो को नियन्त्रण मे लाने की रिजर्व बैंक की सभी योजनायें उनकी रूढिवादिता तथा हठधर्मी के कारण असफल रही है।

(4) **विकसित बिल बाजार का अभाव** : (Lack of a well developed Bill Market) : भारतीय मुद्रा बाजार मे एक विकसित बिल बाजार का सर्वथा

---

1. *"The outstanding characteristic of Indian money market is its dichotomy, it comprises organised and unorganised markets with a* divergence in the structure of interest rates The organised and unorganised sectors are not wholly unconnected with each other, but there is no complete integration of the two in a single system."

2. 'Indian Money Market is comparatively well-developed in terms of organised relationships and specialisation of functions."

—Monthly Review of the *Federal Reserve Bank of New York*, July, 1957.

अभाव है। निम्नलिखित बाधाओं के कारण भारत मे सगठित बिल बाजार विकसित नही हो पाया है :

(i) देश के विभिन्न भागों म बिलो के आकार प्रकार मे विभिन्नता।
(ii) व्यापारियो द्वारा बैंको से नकद साख के माध्यम से ऋण लेने का अधिक प्रचलन।
(iii) बैंको द्वारा सरकारी प्रतिभूतियो मे अधिक विनियोग।
(iv) कृषि उपज की भडार सुविधाओं का अभाव तथा सावधि बिलों पर ऊचा मुद्राक कर (Stamp duty) आदि।

(5) चलन के प्रवाह की मौसमी प्रकृति (Seasonal character of movements of Currency) : चलन के प्रवाह की मौसमी प्रवृत्ति हमारी अर्थव्यवस्था की प्रकृति तथा उसम नकद के अधिक लेन देनो के कारण है। हमारी अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान होने के कारण फसल कटने तथा व्यापारियो द्वारा उनका क्रय-विक्रय होने के समय मुद्रा की अधिक आवश्यकता होती है। नवम्बर से अप्रेल मई का यह काल व्यस्त काल (Busy Season) कहलाता है। फिर नई फसल की आशा मे व्यापारी माल बेच देते हैं और मुद्रा वापिस बैंको के पास आ जाती है। जून से अक्तूबर तक का समय शिथिल काल (Slack Season) कहलाता है। इस प्रकार व्यस्त काल मे बैंकों से व्यापारियो तथा शिथिल काल मे व्यापारियो से बैंको के पास मुद्रा का प्रवाह रहता है। योजना काल मे अर्थव्यवस्था मे बडे पैमाने पर विनियोजन के कारण चलन की माग मे मौसमी परिवर्तन कुछ कम हो गये हैं।

(6) विशिष्ट वित्तीय सस्थाओं जैसे बट्टा गृहों तथा स्वीकृति गृहों का अभाव (Lack of specialised financial institutions like Discount Houses and Acceptance Houses) भारत मे एक विकसित बिल बाजार के अभाव के कारण इगलैंड के बट्टा गृहो (Discount Houses) तथा अमेरिका के स्वीकृति गृहो जैसी विशिष्ट वित्तीय सस्थाओ का विकास नहीं हो पाया है। इसके अतिरिक्त उन देशो का जैसी विक्रय वित्त कम्पनियां (Sales Finance Companies), साख-सघ (Credit Unions) तथा क्रयविक्रय वित्त कम्पनियो (Hire-Purchase Finance Companies) का भारत मे विकास नही हो पाया है।

(7) अर्द्ध सरकारी सगठनों, बडी बडी सयुक्त पूंजी कम्पनियो तथा दलालो का होना (Participation of semi government organisations, big joint stock companies and brokers). भारतीय मुद्रा बाजार के क्रिया कलापो मे अर्द्ध सरकारी सगठन तथा बडी बडी सयुक्त पूँजी कम्पनिया भी ऋणदाताओ के रूप म भाग लेती हैं। उनके द्वारा दिए गये ऋण गृह मुद्रा (House Money)

कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के वित्तीय मध्यस्थ जैसे अविलम्ब ऋण दलाल (Call Loan Brokers) सामान्य वित्त तथा स्कंध दलाल (General Finance and Stock Brokers) भी मुद्रा बाजार मे क्रियाशील रहते है।

भारतीय मुद्रा बाजार की आधुनिक प्रवृत्तिया

(Changing Pattern of the Indian Money Market)

पिछले वर्षो के आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत वडे पैमाने पर हुए विनियोजन के कारण भारतीय मुद्रा बाजार के सगठन मे कई परिवर्तन हुए हैं उनमे से मुख्य निम्नलिखित हैं —

(1) **मुद्रा बाजार के एकीकरण की प्रवृत्ति** (Tendency towards integration of the Money Market) . पिछले वर्षो म जनता के पास मुद्रा की पूर्ति मे अत्यधिक वृद्धि हुई है। 1951–52 मे जनता के पास मुद्रा की मात्रा केवल 1,848 करोड रुपये थी जो 1967–68 मे बढकर 5,350 करोड रुपये हो गई जबकि कुल मुद्रा से जमा मुद्रा के अनुपात म कम वृद्धि हुई है यह निम्न तालिका से स्पष्ट है :

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	जनता के पास चलन	जमा मुद्रा	जमा मुद्रा का कुल चलन से अनुपात
1951–52	1 286	563	43 5
1964–65	2,769	1,311	47 3
1966–67	3 197	1 752	54 5
1967–68	3,376	1 976	58 5
1968–69	3,680	2,084	56 9

जमा मुद्रा का कुल चलन से अनुपात जा 1951–52 मे 43 5 था 1967–68 मे बढ कर 58 5 हो गया। इस प्रकार कुल चलन मे जमा मुद्रा का प्रतिशत बढ रहा है। यह प्रवृत्ति मुद्रा बाजार के एकीकरण (Integration) की द्योतक है।

(2) **मुद्रा बाजार के मौद्रिक भाग का बढता महत्व** (Growing Importance of monetised sector of the Money Market) : आज से 40 वर्ष पहले केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (Central Banking Enquiry Committee) के अनुसार देश के कुल आन्तरिक व्यापार के 90 प्रतिशत भाग की वित्त व्यवस्था मुद्रा बाजार के असगठित भाग (Unorganised Sector) द्वारा होती थी परन्तु अब यह प्रतिशत घटकर 50 ही रह गया है। अब अर्थव्यवस्था में मौद्रिक भाग का महत्त्व बढ रहा है। इसका प्रमाण मुद्रा पूर्ति के अन्तर्गत चलन वृद्धि की तुलना मे जमा मुद्रा मे अधिक तीव्र गति से हुई वृद्धि है जो निम्न तालिका से प्रकट है :

जनता के पास मुद्रा पूर्ति में परिवर्तन
(Variations in Money Supply with the Public)

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष के अंतिम शुक्रवार को	चलन मे परिवर्तन	जमा मुद्रा मे परिवर्तन	जनता के पास मुद्रा पूर्ति मे परिवर्तन
1951–52	+ 82	+ 27	+109
1955–56	+194	+ 68	+262
1960–61	+167	+ 32	+199
1961–62	+103	+ 74	+177
1962–63	+178	+ 86	+264
1963–64	+226	+216	+442
1964–65	+164	+165	+328
1965–66	+265	+184	+449
1966–67	+163	+257	+420
1967–68	+179	+223	+403
1968–69	+304	+109	+413

(3) देश के साख-यन्त्र पर रिजर्व बैंक का बढ़ता नियन्त्रण (Growing Control of the Reserve Bank on the Credit machinery) : पिछले वर्षों मे रिजर्व बैंक के अधिकारो मे वृद्धि तथा अनुसूचित बैंको की धन के लिए रिजर्व बैंक पर बढती निर्भरता के कारण देश की साख प्रणाली पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण बढ गया है।

भारतीय मुद्रा बाजार के दोष
(Defects of Indian Money Market)

भारतीय मुद्रा बाजार के सगठन तथा कार्य प्रणाली मे निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं :

(1) विभिन्न भागों में पर्याप्त सम्बन्ध का अभाव (Inadequate connection between the component parts) : भारतीय मुद्रा बाजार दो भागो मे बटा हुआ है—सगठित तथा असगठित । दोनो भागो मे कार्य करने वाली विभिन्न सस्थाओ मे पर्याप्त सहयोग तथा सम्बन्ध का अभाव है । सरकार से विशेष सुविधायें प्राप्त इम्पीरियल बैंक को व्यापारिक बैंक सदा प्रतियोगी के रूप मे देखते रहे और स्टेट बैंक के प्रति उनके दृष्टिकोण मे कोई सुधार नही हुआ है । वे विनिमय बैंको को भी प्रतिस्पर्धी के रूप मे देखते हैं । स्वदेशी बैंकर स्वय असगठित हैं और इसीलिए बम्बई मे मुल्तानी, मारवाड़ी तथा गुजराती बाजार अलग-अलग है । स्वदेशी

बैंकरो तथा महाजनो मे भी अधिक सम्पर्क नही है और वे सामान्यत स्टेट बैंक मे खाते नही रखते। सहकारी बैंको का स्वदेशी बैंकरो तथा महाजनो से कोई सम्बन्ध नही है। इस प्रकार मुद्रा बाजार के सगठित तथा असगठित भागो मे ही प्रतियोगिता नही होती, बल्कि दोनो भागो के सदस्यो मे भी आपस मे प्रतियोगिता होती है। यह अपव्ययी प्रतिस्पर्धा भारतीय मुद्रा बाजार का मुख्य दोष है।

(2) **मुद्रा बाजार मे ब्याज दरो की भिन्नता** (Different Morey Rates) भारतीय मुद्रा बाजार के असगठित होने तथा उसके विभिन्न अगो मे पर्याप्त सम्बन्ध के अभाव के कारण ब्याज दरो मे बडी भिन्नता रहती है। न्यूयार्क तथा लंदन मुद्रा बाजारो मे विभिन्न ब्याज दरें घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है और वे दरें बैंक-दर पर निर्भर रहती है। परन्तु भारत मे बैंक-दर, अविलम्ब मुद्रा दर, निक्षेप दर, बाजार दर इत्यादि म बडी विभिन्नता रहती है। लगभग 40 वर्ष पहल भारतीय मुद्रा बाजार मे ब्याज दरो की विभिन्नता के सम्बन्ध म केन्द्रीय बैंकिग जाच समिति (Central Banking Enquiry Committee) का कथन आज भी लागू होता है "मुद्रा बाजार मे एक साथ $\frac{3}{4}$ प्रतिशत अविलम्ब दर, 3 प्रतिशत हुडी दर, 4 प्रतिशत बैंक दर, $6\frac{3}{4}$ प्रतिशत छोटे व्यापारियो के लिए बाजार दर तथा छोटे व्यापारियो की हुडियो पर 10 प्रतिशत कलकत्ता बाजार दर प्रचलित होना विभिन्न बाजारो के बीच पूँजी की अति मद गति को सूचित करता है।"[1]

(3) **मुख्य केन्द्रो पर ब्याज दरो मे भिन्नता** (Disparity in Rates at Principal Centres) भारतीय मुद्रा बाजार का तीसरा दोष यह है कि बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास के प्रमुख केन्द्रो पर भी ब्याज दरो मे विभिन्नता रहती है जिसका वस्तुओ के प्रवाह (Movement of goods) पर प्रभाव पडता है और प्रतिभूतियो की कीमतो मे उच्चावचन होने लगते हैं। रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक द्वारा सस्ती दर पर धन स्थानान्तरण की सुविधायें (Remittance facilities) दिए जाने के बावजूद ब्याज दरो की भिन्नता समाप्त नही हुई है। दिसम्बर 1968 म बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास मे अविलम्ब मुद्रा ब्याज दर क्रमश 3.25, 4 06 तथा 3.45 प्रतिशत तथा बाजार बिल दर क्रमश. 15, 13 50 तथा 21 00 प्रतिशत थी।

[1] "The fact that a call rate of $\frac{3}{4}$ per cent, a hundi rate of 3 per-cent, a bank rate of 4 per cent, a Bombay Bazar rate for bills of small traders of $6\frac{3}{4}$ per cent and a Calcutta Bazar rate for bills of Small traders of 10 per cent can exist simultaneously indicates an extra ordinary sluggishness in the movement of credit between the various markets"

—Report of the Central Banking Enquiry Committee, 1929.

याचना राशि तथा बाजार बिल दरो मे पिछले कुछ वर्षो मे विभिन्नता निम्न तालिका से स्पष्ट है :

भारतीय मुद्रा बाजार मे ब्याज दरें

वर्ष	स्टेट बैंक को छोड़कर अन्य अनुसूचित बैंको द्वारा याचना राशि दर			बाजार बिल दर		
	बम्बई	कलकत्ता	मद्रास	बम्बई	कलकत्ता	मद्रास
1955–66	2 75	3 16	2 93	$10\frac{1}{8}$	$10\frac{1}{2}$ 11	12
1960–61	4·26	4·30	3 74	9 00-12 00	9 50-13 00	12 00-13 92
1965–66	6·26	6 81	6 06	12 00-15 00	15 00	17 40-19 80
1966–67	5 16	5·51	4 57	15 00	15 00	19·80
1967–68	4·95	4 80	4 09	15 00	15 00 13 50	19 80-21 50
1968–69	3 75	4 05	4 06	15·00	13 50	21 60-21·00

पिछले कुछ वर्षों मे बैंको के निक्षेपो पर ब्याज दर मे उनके बीच इस सम्बन्ध म हुए समझौते के कारण समानता आ गई थी परन्तु अब वह समझौता भी रिजर्व बैंक ने समाप्त कर दिया है।

(4) **विशिष्ट वित्त सस्थाओं का अभाव** (Lack of Specialised Institutions) . भारत मे बट्टा गृह (Discount Houses) स्वीकृति गृह (Acceptance Houses) आदि विशिष्ट वित्त सस्थाओ का अभाव है। स्वत त्रा प्राप्ति के पहले तक यहा कोई औद्योगिक बैंक भी नही थे जिससे उद्योगो को पर्याप्त यात्रा मे वित्त सहायता नही प्राप्त होती थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तो औद्योगिक वित्त निगमो की स्थापना हुई है और वे सफलतापूर्वक कार्य भी कर रहे है परन्तु देश की आवश्यकतानुसार उनके द्वारा दी जान वाली सहायता पर्याप्त नही है। विशिष्ट सस्थाओ का अभाव भारतीय उद्योग तथा वाणिज्य के विकास मे एक प्रमुख बाधा रही है।

(5) **मुद्रा की मौसमी कमी** (Seasonal Monetary Stringency) : हमारी अर्थ व्यवस्था की विशिष्ट प्रकृति के कारण व्यस्तकाल (नवम्बर से अप्रैल-मई) मे जब फसलो की कटाई तथा बिक्री इत्यादि होती है अल्पकालीन मुद्रा की माग बढ जाती है और कोषो का अभाव अनुभव होने लगता है। परिणाम स्वरूप ब्याज दरे बढ जाती हैं। रिजर्व बैंक द्वारा कृषि बिलो के बट्टा की सुगम शर्तो के कारण मुद्रा की मौसमी कमी की दृष्टि से कुछ सुधार तो हुआ है परन्तु यह कमी पूरी तरह से दूर नही हो पायी है।

(6) **सगठित बिल बाजार का अभाव** (Lack of Organised Bill Market) : किसी देश के साख सगठन के सफलतापूर्वक कार्य करन तथा मुद्रा

बाजार मे व्यस्त काल की मौद्रिक कमी की लोचहीनता को दूर करने के लिए एक सुसगठित तथा विकसित बिल बाजार की आवश्यकता होती है। भारत मे एक सुसगठित बिल बाजार का विकास नही हो पाया है। इसके विकास मे मुख्य बाधायें—नक्द साख का अधिक प्रचलन, बिलो के आकार-प्रकार मे विभिन्नता, बैंको द्वारा सरकारी प्रतिभूतियो मे विनियोग आदि—रही हैं। [भारत मे सगठित बिल बाजार न होने के कारणो का विस्तृत विवेचन इसी अध्याय मे आगे 'बिल बाजार' के अन्तर्गत किया गया है।] रिजर्व बैंक द्वारा 1952 मे बिल बाजार योजना' (Bill Market Scheme) के चालू होने से इस दिशा मे कुछ प्रगति हुई है।

(7) अपर्याप्त बैंकिग सुविधायें (Inadequate Banking Facilities) : देश के आकार तथा आवश्यकताओ को देखते हुए देश मे बैंकिंग सुविधायें अपर्याप्त हैं और उनका विस्तार उतनी तीव्र गति से नही हुआ है जितना होना चाहिए। अमेरिका मे 3,737 व्यक्तियो पर एक बैंक है परन्तु भारत मे 1,30,000 व्यक्तियो पर एक ही बैंक है। इसके साथ साथ भारत के ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिग सुविधाओ का अधिक विस्तार नहीं हो पाया है। यद्यपि स्टट बैंक ने पिछले वर्षो मे ग्रामीण तथा अर्द्ध नगरीय केन्द्रो मे काफी शाखायें खोली हैं और अन्य बैंको ने भी इस दिशा मे प्रयत्न किए हैं परन्तु स्थिति सतोषजनक नही है। भारत मे बैंको का विकास भी असतुलित ढग से हुआ है। उसे ठीक करने के लिए रिजर्व बैंक अब अधिक सचेत तथा क्रियाशील है।

65 वर्षो के अपने जीवनकाल मे भी सहकारी आन्दोलन ग्रामीण क्षेत्रो मे साहूकार-महाजन का स्थान नही ले सका ह जो अब भी कृषि वित्त व्यवस्था मे महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

भारतीय मुद्रा बाजार मे सुधार के उपाय
(Suggestions for improvement in the Indian Money Market)

भारतीय मुद्रा बाजार के सगठन तथा प्रक्रियाओ मे सुधार के लिए समय-समय पर अनेक सुझाव दिए गये हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद एक सुसगठित तथा विकसित मुद्रा बाजार की आवश्यकता का अनुभव किया गया और इस दिशा में कई महत्वपूर्ण प्रयत्न किए गये। रिजर्व बैंक तथा इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण, विशिष्ट वित्त सस्थाओ की स्थापना, भारतीय बैंकिग नियमन अधिनियम मे समय समय पर परिवर्तन तथा सशोधन, रिजर्व बैंक के अधिकारो मे निरन्तर वृद्धि तथा बैंको का सामाजिक नियत्रण इत्यादि इस दिशा मे किए गये महत्वपूर्ण प्रयास हैं।

भारतीय मुद्रा बाजार के दोषो को दूर करने के लिए तथा उसे अधिक सुदृढ आधार पर खडा करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं :

(1) देशी बैंकरो पर नियत्रण (Regulation and Control of Indigenous Bankers) : मुद्रा बाजार के असगठित भाग पर रिजर्व बैंक का नियत्रण होना चाहिए। स्वदशी बैंकरो को मुद्रा बाजार के सगठित भाग से जोडकर मुद्रा बाजार मे एकीकरण लाया जाना चाहिए। 1937 से लेकर आजतक स्वदेशी बैंकरो को रिजर्व बैंक के नियन्त्रण मे लाने के सभी प्रयत्न निष्फल रहे हैं। 1954 मे श्राफ समिति (The Shroff Committee on Finance for the Private Sector) की सिफारिशो पर भी कोई ध्यान नही दिया गया। समय की माग है कि स्वदेशी बैंकर कुछ समूहो मे मिलकर बैंकिंग कम्पनिया बनायें। उनके द्वारा प्रयुक्त हुडियो को बिलो मे परिवर्तित किया जाय। यदि रिजर्व बैंक स्वदेशी बैंकरो को व्यापारिक बैंको से पुन बट्टा की सुविधायें सस्ती दर पर उपलब्ध कराने का प्रयत्न करे तो मुद्रा बाजार के असगठित भाग मे प्रचलित ऊँची ब्याज की दरो को भी घटाया जा सकता है।

(2) सुसगठित बिल बाजार का विकास (Development of a well organised Bill Market) : विकसित मुद्रा बाजार मे एक सुसगठित बिल बाजार बडा आवश्यक है। 1952 मे रिजर्व बैंक ने 'बिल बाजार योजना' प्रारम्भ कर इस दिशा में उपयुक्त कदम उठाया। उसके बाद उसमे समय समय पर सशोधन कर उसे और अधिक लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया गया है। परन्तु फिर भी एक सुसगठित बिल बाजार का विकास नही हो पाया है। इस दिशा मे और अधिक प्रयत्न करने की आवश्कता है।

(3) हुडियो का प्रमापीकरण (Standardisation of Hundies) : भारत के विभिन्न क्षेत्रो मे प्रचलित हुडियो मे एकरूपता का अभाव है। विभिन्न भाषाओ तथा विधियो मे लिखी जाने के कारण उनके प्रयोग मे बडी असुविधा होती है। हुडियो एक अखिल भारतीय बाजार के निर्माण तथा विस्तार के लिए एकरूपता लायी जानी चाहिए और उनका प्रमापीकरण (Standardisation) होना चाहिए। इससे बैंको को उनका बट्टा करने मे सुविधा होगी।

(4) प्रेषण सुविधाओ का विस्तार (Expansion of Remittance Facilities) देश के विभिन्न भागो मे धन की माग और पूर्ति मे समायोजन स्थापित करने के लिए धन का शीघ्र तथा मितव्ययी स्थानान्तरण बडा आवश्यक है। रिजर्व बैंक तथा स्टट बैंक द्वारा व्यापारिक बैंकों को दी जाने वाली प्रेषण सुविधाओं मे और सुधार होना चाहिए और यह सुविधा स्वदेशी बैंकर्स को भी उपलब्ध होनी चाहिए।

(5) अनुज्ञापित भडार गृहो का निर्माण (Contruction of Licenced Warehouses) : भारत मे पर्याप्त मात्रा मे भडार गृहो की सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं

जिनमे माल जमाकर कृषक तथा व्यापारी उसकी रसीद के आधार पर साख सुविधाये प्राप्त कर सके। ग्रामीण क्षेत्रो मे तो इस दिशा मे स्थिति बडी शोचनीय है। यद्यपि भारत सरकार तथा उसके द्वारा स्थापित भडार गृह निगमो (Warehousing Corporations) द्वारा भडार गृहो का निर्माण हो रहा है परन्तु देश की आवश्यकताओ का देखते हुए इस दिशा और अधिक सक्रिय रूप से प्रयत्न की आवश्यकता है।

(6) **विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना तथा प्रोत्साहन** (Establishment and encouragement to Specialised Institutions) : स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उद्योगों की दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन पूंजी की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के औद्योगिक वित्त निगमो की स्थापना की गई है। देश के बढते औद्योगीकरण की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उनके पूँजी साधनो मे वृद्धि की जानी चाहिए। अन्य क्षेत्रो मे भी विशिष्ट संस्थाओ (Specialised Institutions) की स्थापना होनी चाहिए जिसस मुद्रा बाजार मे क्रिया कलाप सुविधापूर्वक हो सकें।

(7) **समाशोधन गृहो की स्थापना** (Establishment of Clearing Hou es) : देश के विभिन्न कस्बो मे समाशोधन–गृहो की स्थापना होनी चाहिए जिससे बैंक अपने पारस्परिक दायित्व खाते म प्रविष्टियो द्वारा ही साफ कर सकें। समाशोधन गृहों की कार्य प्रणाली को और अधिक वैज्ञानिक बनाकर उसमे सुधार किया जाना चाहिए।

(8) **बैंकिंग का तीव्रगति से बहुमुखी विकास** (Speedy Multisided Development of Banking) यद्यपि पिछले दशक मे भारतीय बैंक व्यवस्था ने पर्याप्त प्रगति की है परन्तु देश के ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग सुविधाओ के विस्तार तथा ग्रामीण बचतो के शोषण की समस्या अब भी बनी हुई है। देश के सभी क्षेत्रो मे बैंकिंग का सतुलित तथा बहुमुखी विकास तीव्र गति से होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक हो तो देश की बैंकिंग व्यवस्था के पुनर्गठन के प्रश्न पर विचार किया जा सकता है। आशा है इस दिशा मे श्री आर० जी० सरैया की अध्यक्षता मे नियुक्त बैंकिंग आयोग महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखेगा।

भारतीय बैंकिंग नियमन अधिनियम, 1949 मे समय समय पर सशोधन कर, रिजर्व बैंक के अधिकारो मे वृद्धि तथा बैंको का सामाजिक नियत्रण कर सुधार के प्रयत्न किए गये है। आशा है कि आगे इस दिशा मे और सुधार होगा।

भारत मे बिल-बाजार
(Bill Market in India)

किसी भी देश के मुद्रा बाजार को विकसित होने के लिए एक सुसगठित बिल बाजार की अति आवश्यकता है। देश की साख व्यवस्था को सफलतापूर्वक कार्य

करने मे बिल बाजार बडी सहायता पहुँचाता है । (A well organised bill market is an indispensable adjunct of an efficient money market and is essential for the smooth working of the credit system) देश के आर्थिक विकास के लिए पूँजी के विनियोग मे बिल बाजार महत्वपूर्ण योगदान करते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मुद्रा बजारो मे घनिष्ट सम्पर्क स्थापित करते हैं। बिल बाजार का महत्व निम्न वाक्यो मे स्पष्ट किया गया है :

"The bill market which depends upon the existence of dealers who are always ready to buy and sell bills, provides a medium by means of which additional credit from the central bank is obtained in times of monetary strain, and is returned when the stringency is over It facilitates a freer flow of funds and establishes close relationships between the money markets of the world. It is in adition, a valuable source of employment of foreign exchange reserves of a country."

पहले हमे बिल बाजार की कार्य प्रणाली को समझ लेना चाहिए। जब कोई व्यापारी किसी दूसरे को माल बेचता है तो वह शीघ्र से शीघ्र भुगतान प्राप्त करना चाहता है और क्रेता भुगतान के लिए कुछ समय चाहता है क्योंकि क्रेता के पास माल पहुचने मे भी कुछ समय लग जाता है। विदेशी व्यापार मे क्रेता-विक्रेता बहुत दूर होते हैं। इस समस्या के समाधान के लिए विक्रेता क्रेता पर एक बिल लिखता है जिसे क्रेता का बैंक स्वीकार कर लेता है। इस बिल को बेच कर विक्रेता भुगतान पहले ही प्राप्त कर लेता है और क्रेता को तुरन्त भुगतान नही करना पडता है और भुगतान के लिए कुछ समय मिल जाता है। बिल बाजार कृषको को फसलो के स्थानान्तरण के लिए अल्पकालीन ऋण ही नहीं प्राप्त कराता बल्कि बैंको को अल्पकालीन विनियोगो का अवसर प्रदान करता है।

दुर्भाग्य से भारत मे 1952 तक इस प्रकार के बिल बाजार का विकास नही हो पाया।

भारत मे सुसगठित बिल बाजार के अभाव के कारण
(Causes of lack of a well organised Bill Market in India)

भारत मे 1952 तक बिल बाजार के विकास मे निम्नलिखित मुख्य बाधाए रही है :

(1) नकद साख द्वारा ऋण का अधिक प्रचलन (*Popularity of borrowing through Cash Credits*) : भारत मे अधिकतर व्यापारी बिलो का बट्टा कराकर ऋण प्राप्त करने के बजाय नकद साख द्वारा ऋण लेना अधिक पसन्द करते

है। नकद साख प्रणाली की व्यापारिक क्षेत्रों में लोकप्रियता बिलों के प्रचलन में प्रमुख बाधा रही है।

(2) **बैंकों द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों में अधिक विनियोग** (Large investments in Government Securities by Commercial Banks) : भारतीय बैंक अपनी सम्पत्तियों में तरलता (Liquidity) के लिए अपने धन का अधिकतर भाग सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजित करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर उनकी धरोहर पर उन्हें रिजर्व बैंक से तत्काल ऋण मिल जाता है। अत भारतीय बैंक बिलों का बट्टा कर उसमें अधिक धन विनियोजित नहीं करते और बिलों के प्रचलन को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता।

(3) **नकद लेन देन की आदत** (Cash transaction habit) - व्यापारियों में नकद लेन देन की आदत होने के कारण साख सौदों की मात्रा बहुत कम और उसमें भी बिल बहुत ही कम लिखे जाते हैं।

(4) **विशिष्ट संस्थाओं की कमी** (Absence of Specialised Institutions) बिलों के प्रचलन को प्रोत्साहन देने वाली विशिष्ट संस्थाओं जैसे स्वीकृति-गृहों (Acceptance Houses), बट्टा-गृहों (Discount Houses) आदि का भारत में अभाव है। विदेशों में स्वीकृति गृहों द्वारा स्वीकृत बिलों को बिना किसी कठिनाई के बाजार में खरीदा बेचा जा सकता है।

(5) **हुंडियों के आकार-प्रकार में एकरूपता का अभाव** (Lack of uniformity in hundies) . विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित हुंडियों के स्वरूप तथा लेखन विधि में बड़ी भिन्नता है जिससे एक अखिल भारतीय बाजार का विकास नहीं हो सका है।

(6) **व्यापारिक तथा अनुग्रह बिल में भेद कठिन** (Distinction between genuine Trade Bill and Accommodation Bill difficult) : बैंकों के पास बट्टा करने के लिए आने वाले बिलों में यह भेद करना बड़ा कठिन है कि कौन वास्तविक व्यापारिक बिल है और कौन अनुग्रह। अत वे बिलों में विनियोजित करने में सकोच करते है।

(7) **बिलों पर ऊंचा मुद्रांक कर** (Heavy Stamp Duty on Bills) : भारत में सावधि विनिमय बिलों पर मुद्रांक कर की दर बहुत ऊंची है। अनुमानतः यह दर $\frac{1}{5}$ प्रतिशत से 4 प्रतिशत तक है। इस कारण भी बिलों का प्रचलन कम है।

(8) **बिलों के पुन बट्टा की कठिनाई** (Difficulty in Rediscounting of Bills) : रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद भी बैंकों को बिलों का पुन. बट्टा करने

की कठिनाई रही। रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों को स्वीकृत प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देता था। अतः बैंक बिलों का पुन बट्टा करवाने को प्रोत्साहित नहीं होते थे।

सुसंगठित बिल बाजार के निर्माण के लिए सुझाव
(Suggestions for developing an organised Bill Market in India)

भारत में सुसंगठित बिल बाजार के अभाव को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जाते रहे हैं :

(1) विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना (Establishment of Specialised Institutions) : निगम गृहों (Issue Houses), स्वीकृति गृहों (Acceptance Houses) आदि विशिष्ट संस्थाओं की स्थापना होनी चाहिए जिससे बिलों की विपणनीयता बढ़ सके और उनका प्रचलन तथा बट्टा अधिक मात्रा में हो।

(2) हुंडियों का प्रमापीकरण (Standardisation of Hundies) : भारत में हुंडियों के आकार प्रकार तथा लेखन विधि की भिन्नता को समाप्त कर उनका प्रमापीकरण का सुझाव केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने दिया था। हुंडियों को एक ही नाप तथा विधि से लिखा जाना चाहिए।

(3) बिलों पर मुद्रांक कर में कमी (Reduction in Stamp Duty on Bills) : बिलों का प्रचलन बढ़ाने के लिए इन पर मुद्रांक कर में पर्याप्त कमी की जानी चाहिए जिससे बैंक आसानी से उनका क्रय-विक्रय कर सकें।

(4) भंडार गृहों की स्थापना (Establishment of Licenced warehouses) : भंडार गृहों के अभाव को दूर करने के लिए बड़े पैमाने पर अनुज्ञापित भंडार गृहों के निर्माण का कार्यक्रम चलाया जाना चाहिए जिससे कि उनकी जमा रसीद पर साख प्राप्त की जा सके। ग्रामीण क्षेत्रों में इस प्रकार के भंडार गृहों की विशेष आवश्यकता है।

(5) केन्द्रीय बैंक की सक्रियता (Active Interest of the Central Bank) : बिल बाजार के विकास तथा संगठन में रिजर्व बैंक का पर्याप्त सक्रिय सहयोग प्राप्त होना चाहिए। रिजर्व बैंक की बिल बाजार योजना उसके प्रयत्नों से दिन प्रतिदिन लोकप्रिय होती जा रही है।

रिजर्व बैंक की बिल बाजार योजना
(Reserve Bank's Bill Market Scheme)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत ने 1951 में जब प्रथम पंचवर्षीय योजना आरम्भ कर नियोजित आर्थिक विकास (Planned Economic Development) का सूत्रपात किया तो भारतीय मुद्रा बाजार के सुसंगठित करने की आवश्यकता का

बडी तीव्रता से अनुभव किया गया। भारत मे बिल बाजार के अभाव को दूर करने के लिए रिजर्व बैंक ने नवम्बर 1951 को एक नई बिल बाजार योजना (Bill Market Scheme) की घोषणा की। इससे पहले अनुसूचित बैंक व्यस्त काल की मुद्रा-आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक से स्वीकृत तथा सरकारी प्रतिभूतियो के आधार पर ऋण प्राप्त किया करते थे। नवम्बर 1951 मे जब साख के अत्यधिक विस्तार को रोकने के लिए रिजर्व बैंक ने बैंक दर को 3 प्रतिशत से बढा कर $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत किया तो साथ मे यह भी घोषणा की कि वह अनुसूचित बैंको की व्यस्तकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अब सरकारी प्रतिभूतिया नही खरीदेगा परन्तु सरकारी तथा अन्य स्वीकृत प्रतिभूतियो के आधार पर अग्रिम देता रहेगा। इस प्रकार मौसमी साख विस्तार का केन्द्रीय बैंक द्वारा गुणात्मक नियन्त्रण (Qualitative Control) सम्भव हो सकेगा और मुद्रा बाजार मे पर्याप्त लोच आ जायेगी। इसी उद्देश्य से बम्बई और कलकत्ता के बैंकरो से परामर्श के पश्चात रिजर्व बैंक ने 16 जनवरी 1952 को अपनी बिल बाजार योजना को कार्य रूप दिया। प्रारम्भ मे योजना प्रयोग स्तर पर शुरु की गई और बाद मे उसे विस्तृत किया गया।

बिल बाजार योजना की मुख्य विशेषतायें (Salient features of the Bill Market Scheme) रिजर्व बैंक द्वारा प्रारम्भ की गई बिल बाजार योजना की मुख्य विशेषताए निम्नलिखित थी

(1) इस योजना के अन्तर्गत अनुसूचित बैंको को सावधि प्रतिज्ञा-पत्रो तथा अन्तर्देशीय बिलो के आधार पर रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट की धारा 17 (4) (स) के अनुसार ऋण देने की व्यवस्था की गई। प्रयोग के रूप मे प्रारम्भ मे यह सुविधा 10 करोड या उससे अधिक निक्षेप वाले अनुसूचित बैंको तक ही सीमित रखी गई। इस योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत किए गए बिलो का व्यापारिक बिल (Trade Bill) होना आवश्यक था और उन पर दो हस्ताक्षर आवश्यक थे जिनमे एक किसी अनुसूचित बैंक का हो।

(2) इस योजना के अन्तर्गत दिये जाने वाले ऋणो पर बैंक दर ($3\frac{1}{2}$ *प्रतिशत) से आधा प्रतिशत कम (3 प्रतिशत) ब्याज लेने की व्यवस्था थी।* यह बिलो के आधार पर ऋण प्राप्त करने को प्रोत्साहित करने हेतु किया गया था।

(3) व्यापारिक सावधि बिलो को प्रोत्साहन देने हेतु माग बिलो (Demand Bills) को सावधि बिलो (Usance Bills) मे परिवर्तित कराने के मुद्राक कर (Stamp Duty) का आधा भाग रिजर्व बैंक स्वय वहन करेगा।

(4) योजना के अन्तर्गत बैंको को दिये जाने वाले ऋण की न्यूनतम सीमा 25 लाख तथा प्रत्येक बिल की सीमा 1 लाख रुपये निर्धारित की गई थी।

योजना मे संशोधन (Further amendments in the Scheme) : बैंक प्रतिनिधियों के सुझाव तथा प्राप्त अनुभव के आधार पर जून 1953 मे योजना के अन्तर्गत सुविधायें उन बैंकों को भी दी जाने लगी जिनके निक्षेप 5 करोड या इससे अधिक थे। 1954 मे निजी क्षेत्र के वित्त पर नियुक्त श्राफ समिति ने अन्य सुझावों के साथ यह सुझाव भी दिया था कि योजना 1 करोड या उससे अधिक निक्षेप वाले बैंकों पर भी लागू की जाय। जुलाई 1954 मे रिजर्व बैंक ने बिना किसी निक्षेप सीमा के सभी लाइसेंस प्राप्त अनुसूचित बैंकों पर योजना को लागू कर दिया। इसके अतिरिक्त योजना के अन्तर्गत बैंकों द्वारा लिये जाने वाले ऋणों की न्यूनतम राशि को 25 लाख से घटाकर 10 लाख तथा एक बिल की राशि को 1 लाख रुपये से घटा कर 50 हजार रुपये कर दिया गया। 22 फरवरी 1957 से ऋण की न्यूनतम राशि को घटाकर 5 लाख रुपये कर दिया गया। अक्तूबर 1958 मे विदेशी बिलो को भी योजना मे सम्मिलित कर लिया गया। निर्यात वित्त अध्ययन दल, 1960 (Study Group on Export Finance, 1960) के सुझाव पर रिजर्व बैंक एक्ट की धारा 17 मे संशोधन कर निर्यात बिलो की परिपक्वता अवधि 180 दिन कर दी गई। मार्च 1963 मे 'निर्यात बिल साख योजना (Export Bills Credit Scheme) प्रारम्भ की गई जिसके अन्तर्गत निर्यात बिलो की घोषणा तथा केवल प्रतिज्ञा पत्र लिख देने मात्र से रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त हो जाता है।

योजना की प्रगति (Progress of the Scheme) : बिल बाजार योजना के अन्तर्गत दिये गये ऋणों की राशि 1951–52 मे 29 करोड रुपये थी जो 1955-56 मे बढकर 229 करोड रुपये हो गई थी। अत 1 मार्च 1956 के बाद से बैंक दर से आधा प्रतिशत की छूट को घटाकर $\frac{1}{4}$ प्रतिशत कर दिया गया और मुद्रांक कर सम्बन्धी छूट समाप्त कर दी गई। 21 नवम्बर 1956 को $\frac{1}{4}$ प्रतिशत ब्याज दर की छूट को बिल्कुल समाप्त कर ऋण पर ब्याज दर बैंक दर के बराबर कर दी गई।

गत वर्षों मे इस योजना के अन्तर्गत दिये गये ऋणों की राशि मे महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है जो अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से स्पष्ट है :

रिजर्व बैंक द्वारा अनुसूचित बैंको को दिए गये ऋण
(धारा 17 [4] [स] के अन्तर्गत)

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	राशि
1951–52	29
1955–56	229
1960–61	255
1961–62	285
1962–63	326
1963–64	254
1964–65	275
1965–66	223
1966–67	418
1967–68	368
1968–69	1354

उपर्युक्त तालिका से प्रकट है कि इस योजना के अन्तर्गत किए गये ऋणो की राशि जो 1951–52 मे केवल 29 करोड रुपये थी, 1968–69 मे बढकर 1354 करोड रुपये के रिकार्ड बिन्दु तक पहु च गई।

बिल बाजार योजना की सफलता के सम्बन्ध मे श्री एस० जी० पनन्दीकर (S. G Panandikar) ने लिखा है :

"The scheme appears to have become a permanent feature of the credit system of the country and to have given greater elasticity and autonomy to the money market It has added considerable flexibility to the operations of the Reserve Bank as lender of the last resort and has helped the Reserve Bank to ensure that the advances made under it are for bonafide trade purpose and for short periods It has obviated the need for large purchases and sales of securities by the Reserve Bank in order to adjust money supply to seasonal conditions."

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संकेत

(1) मुद्रा बाजार से आप क्या समझते हैं ? भारतीय मुद्रा बाजार के अगो का वर्णन कीजिए।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल, 1964; 1966)

[संकेत—प्रथम भाग मे मुद्रा बाजार की विभिन्न परिभाषाए देते हुए उसका अर्थ तथा महत्व स्पष्ट कीजिए। दूसरे भाग मे भारतीय मुद्रा बाजार के

सगठित तथा असगठित भाग मे क्रियाशील विभिन्न बैंको तथा वित्तीय संस्थाओं का वर्णन कीजिए।]

(2) भारतीय मुद्रा बाजार के कौन से दोष है ? उन्हे कैसे दूर किया जा सकता है ?

(राजस्थान, बी० काम, 1961)
(आगरा, 1968)

[सकेत – प्रथम भाग मे भारतीय मुद्रा बाजार के मुख्य दोषो का विवेचन कीजिए और बताइये कि भारत मे न्यूयाक तथा लदन जैसे सगठित मुद्रा बाजार का अभाव है। दूसरे भाग मे मुद्रा बाजार के दोषो को दूर करने के लिए विभिन्न समितियो तथा विद्वानो ने जो सुझाव दिए है उनका वरणन कीजिए।]

(3) भारतीय मुद्रा बाजार की विशेषताओ का वर्णन करें और इसके दोषो पर दृष्टिपात करें।

(आगरा बी० ए०,1960)

[सकेत—प्रथम भाग मे भारतीय मुद्रा बाजार की मुख्य विशेषताओ जैसे द्विशाखिता (Dichotomy), बिल बाजार का अभाव, चलन के प्रवाह की मौसमी प्रकृति इत्यादि का वर्णन कीजिए। फिर भारतीय मुद्रा बाजार की आधुनिक प्रवृत्तियो का आकडो सहित विवेचन कीजिए। दूसरे भाग मे मुद्रा बाजार के मुख्य दोषो का उल्लेख कीजिए।]

(4) भारत मे बिल बाजार के अभाव के क्या कारण हैं ? उन्ह दूर करने के उपाय बताइये।

(गोरखपुर बी० काम०, 1959)

अथवा

भारत मे बिल बाजार के न होने के क्या कारण है ? जनवरी 1952 से इस सम्बन्ध मे क्या किया गया है ?

(आगरा बी० काम०, 1962)

[सकेत—प्रथम भाग मे भारत मे सुसगठित बिल बाजार के अभाव के मुख्य कारणो की विवेचना कीजिए। दूसरे भाग मे पहले प्रश्न के उत्तर मे तो उन कारणो को दूर करने के उपाय बताइये और सक्षेप मे रिजर्व बैंक की बिल बाजार योजना का वरणन कीजिए। दूसरे प्रश्न के उत्तर मे बिल बाजार योजना तथा उसकी प्रगति का विस्तार पूवक वर्णन कीजिए।]

33

रिजर्व बैंक आफ इन्डिया

(Reserve Bank of India)

"Central Banking in a planned economy can hardly be confined to the regulation of the overall supply of credit or to a somewhat negative regulation of the flow of bank credit It would have to take on a direct and active role, firstly, in creating or helping to create the machinery needed for financing developmental activities all over the country and secondly, in ensuring that the finance available flows in the directions needed"

First Five Year Plan.

भारत मे बहुत पहले से एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। 1935 के पहले इस ओर जितने भी प्रयत्न किए गये वे सभी असफल रहे। सबसे पहले 1993 ई० मे जनरल बैंक आफ बगाल एन्ड बिहार (General Bank of Bangal and Bihar) नाम का केन्द्रीय बैंक बनाने का सुझाव दिया दिया था। 1913 मे चैम्बरलेन आयोग के सदस्य के नाते लार्ड कीन्स ने केन्द्रीय बैंक की स्थापना का प्रश्न फिर उठाया। 1920 मे स्वर्णमान की पुर्नस्थापना के लिए ब्रुसेल्स मे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन (International Economic Conference) हुआ और उसम यह प्रस्ताव पास किया गया कि "जिन देशो मे केन्द्रीय बैंक नही है वहा शीघ्र ही एक केन्द्रीय बैंक स्थापित किया जाय।" भारत सरकार ने स्वर्णमान की योजना को सफल बनाने तथा देश मे केन्द्रीय बैंक के अभाव को दूर करने के लिए 1920 म तीनो—बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास–प्रेसीडेन्सी बैंको को मिलाकर 'इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया' की स्थापना की परन्तु उसे नोट-निर्गमन का अधिकार नही दिया गया। केन्द्रीय बैंक के रूप मे इम्पीरियल बैंक का कार्य सतोपजनक नही था और देश की मुद्रा तथा साख व्यवस्था पर दोहरा नियन्त्रण (सरकार व इम्पीरियल बैंक का) रहता था, जिसमे देश मे एक अलग केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। 1926 म भारतीय मुद्रा तथा वित्त पर शाही आयोग (हिल्टन यग कमीशन) ने भी यह अनुभव किया कि जब किसी देश मे मुद्रा व साख पर दो पृथक सस्थाओ का नियन्त्रण रहता है तो मुद्रा व्यवस्था म

दोष आना स्वाभाविक ही है क्योंकि वे दोनो संस्थायें भिन्न नीतियां अपना सकती है। अतः कमीशन ने उक्त दोष दूर करने के लिए एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की सिफारिश की। इन सुझावो को क्रियान्वित करने हेतु जनवरी 1927 मे सर बेसिल ब्लेकेट (Sir Basil Blackett) ने भारतीय विधान सभा मे एक बिल प्रस्तुत किया जो कुछ वैधानिक कठिनाइयो के कारण वापिस ले लिया गया। 1931 मे केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति ने केन्द्रीय बैंक की स्थापना पर जोर दिया। 1933 में भारतीय संवैधानिक सुधारो पर श्वेत पत्र प्रकाशित होने पर यह प्रश्न फिर उठा। श्वेत पत्र के प्राक्कथन के 32 वे अनुच्छेद के अनुसार केन्द्र मे ब्रिटेन द्वारा सत्ता का हस्तान्तरण तभी किया जायगा जबकि राजनीतिक प्रभावो से मुक्त एक केन्द्रीय बैंक स्थापित किया जाय। अतः केन्द्रीय विधान सभा मे 8 सितम्बर 1933 को एक रिजर्व बैंक आफ इन्डिया बिल प्रस्तुत किया गया जिस पर 6 मार्च 1934 को गर्वनर जनरल ने अपने हस्ताक्षर कर दिए। इस प्रकार रिजर्व बैंक आफ इन्डिया की स्थापना हुई और बैंक ने 1 अप्रेल 1935 से विधिवत अपना काय प्रारम्भ किया।

भारत मे रिजर्व बैंक की स्थापना के कारण
(Causes of the Establishment of Reserve Bank of India)

भारत मे रिजर्व बैंक की स्थापना कई कारणों से की गई थी जिनमे मुख्य निम्नलिखित थे—

1 देश मे मुद्रा तथा साख का समुचित प्रबध (Proper Management of Money and Credit)—केन्द्रीय बैंक के कार्यों को इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया ने अधिक संतोषपूर्ण ढग से पूर्ण नही किया था। साथ-साथ मुद्रा व्यवस्था पर सरकार तथा इम्पीरियल बैंक का दोहरा नियत्रण था। हिल्टन यग कमीशन ने व्यवस्था के इस दोष की ओर ध्यान आकर्षित किया था। केन्द्रीय बैंक की स्थापना से यह दोष दूर हो सकता था तथा देश मे मुद्रा तथा साख का समुचित प्रबध हो सकता था।

2. रुपये के आतरिक तथा वाह्य मूल्य मे स्थिरता (Stability in the internal and external value of the Rupee) : किसी भी देश की मुद्रा व्यवस्था मे जनता का विश्वास उत्पन्न करने के लिए मुद्रा के आतरिक तथा वाह्य मूल्यो मे स्थिरता अति आवश्यक है अतः भारतीय मुद्रा मे आतरिक तथा बाह्य स्थिरता लाने के लिए रिजर्व बैंक की स्थापना की गई।

3. बैंकिग का विकास (Banking development) · देश मे बैंकिंग व्यवस्था का सर्वांगीण विकास करना रिजर्व बैंक की स्थापना का एक मुख्य उद्देश्य था।

बैंकिग व्यवस्था के दोषो को दूर कर उसे शक्तिशाली बनाने मे केन्द्रीय बैंक का उत्तरदायित्व बडा महत्वपूर्ण होता है।

4. कृषि साख व्यवस्था (Providing agricultural credit) : एक कृषि प्रधान देश होने के कारण कृषि के विकास मे साख सुविधाओ का अभाव एक मुख्य बाधा थी। अत कृषि साख की समुचित व्यवस्था करने के लिए रिजर्व बैंक को उत्तरदायित्व सौपा गया।

5. सार्वजनिक ऋणो की व्यवस्था (Management of Public Debt) सरकार की वित्त व्यवस्था में सार्वजनिक ऋणो का महत्वपूर्ण स्थान है। सावजनिक ऋणो को प्राप्त करना, उनकी भुगतान व्यवस्था करना तथा उनका लेखा जोखा रखना सरकारी बैंक का मुख्य काय है। यद्यपि यह कार्य इम्पीरियल बैंक करता था परन्तु वह इन्ह समुचित ढग से नही कर पाया था। अत. रिजर्व बैंक की स्थापना की गई।

6 मुद्रा बाजार का सगठन (Organisat on of Money Market) रिजर्व बैंक की स्थापना का उद्देश्य यह भी था कि भारतीय मुद्रा बाजार को सुसगठित किया जाय तथा उसके दोषो को दूर किया जाय।

7 कोषो का केन्द्रीयकरण (Centralisation of Reserves) विभिन्न व्यापारिक बैंको के कोषो को इकट्ठा कर उनका बैंको की सहायता के लिए उपयोग भी रिजर्व बैंक की स्थापना का उद्देश्य था। केन्द्रीय बैंक के रूप मे इन कोषो की सहायता से बैंकिग व्यवस्था पर नियत्रण तथा नियमन किया जा सकता था।

8 अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्पर्क (International Monetary Relations) ससार के ग्रन्य देशो तथा उनके केन्द्रीय बैंको स मौद्रिक सम्पक स्थापित करना भी रिजर्व बैंक का उद्देश्य था।

उपर्युक्त कारणो से भारत मे रिजर्व बैंक की स्थापना की गई और 1 अप्रेल 1935 स इसने विधिवत कार्य करना प्रारम्भ किया।

इम्पीरियल बैंक को ही देश का केन्द्रीय बैंक क्यो नहीं बनाया गया ?
(Why was Imperial Bank of India not made the Central Bank of the Country ?)

केन्द्रीय बैंक के रूप म रिजर्व बैंक की स्थापना के समय कुछ लोग इम्पीरियल बैंक को ही केन्द्रीय बैंक के रूप मे परिवर्तित करन क समर्थक थे। हिल्टन यग कमीशन के सदस्य सर्व श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास तथा एस० के० मुरजन इम्पीरियल बैंक को ही केन्द्रीय बैंक बनाने के पक्ष म थे परन्तु कुछ कारणोवश इम्पीरियल बैंक

को केन्द्रीय बैंक नहीं बनाया गया (विस्तृत अध्ययन के लिए 'स्टेट बैंक आफ इन्डिया' अध्याय देखिए)

अंशधारी बैंक के रूप में स्थापना (Establishment as a Shareholder's Bank) : रिजर्व बैंक आफ इन्डिया की स्थापना से पहले काफी विवाद का विषय रहा कि यह बैंक अंशधारियों का बैंक हो या सरकारी बैंक हो। अंशधारियों के बैंक के पक्ष में जो मुख्य तर्क दिए गये वे निम्नलिखित हैं—

1 **राजनैतिक प्रभावों से मुक्त शुद्ध आर्थिक सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने वाला बैंक** केन्द्रीय बैंक देश के आर्थिक हितों को ध्यान में रखता है। अत. यह आवश्यक है कि वह राजनैतिक पक्षपात तथा भेद भाव से मुक्त होकर शुद्ध आर्थिक सिद्धान्तों के आधार पर स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कार्य कर सके। यह तभी हो सकता है जब वह अंशधारियों का बैंक हो।

2 **प्रमुख देशों के केन्द्रीय बैंक अंशधारियों के बैंक :** 1934 तक संसार के प्रमुख देशों के केन्द्रीय बैंकों का संगठन अंशधारियों के बैंक के रूप में हुआ था। अत भारत में भी रिजर्व बैंक अंशधारियों का बैंक होना चाहिए।

3. **सभी हितों का प्रतिनिधित्व तथा उनकी रक्षा** सभी व्यापारिक, औद्योगिक तथा अन्य हितों का प्रतिनिधित्व अंशधारी व्यवस्था में ही हो सकता है तथा उन सभी के सहयोग से जो नीतियां निर्धारित होंगी वे वास्तव में उपयुक्त होंगी। कार्य क्षमता की दृष्टि से भी केन्द्रीय बैंक को अंशधारियों का बैंक होना चाहिए।

4 **जनमत अंशधारी बैंक के पक्ष में** अंग्रेजों के शासन काल में भारत सरकार की मुद्रा नीति राष्ट्र के हितों के विरुद्ध होती थी। अत जनमत केन्द्रीय बैंक को सरकारी बैंक बनाने के विरुद्ध था।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर 1934 में जब रिजर्व बैंक की स्थापना हुई तो उसका संगठन अंशधारी बैंक के रूप में ही किया गया। रिजर्व बैंक की अधिकृत पूँजी 5 करोड़ रुपये थी जो 100-100 रुपये के 5 लाख अंशों में विभाजित थी। आरम्भ में केवल 2,20,000 रुपए के अंशों को छोड़कर शेष सभी पूँजी निजी अंशधारियों के हाथों में थी। 1934 के एक्ट के अनुसार बैंक का संचालन एक केन्द्रीय संचालक मंडल द्वारा होता था जिसमें 16 सदस्य होते थे जिसमें गवर्नर तथा 2 डिप्टी गवर्नरों तथा 5 अन्य सदस्यों की नियुक्ति गवर्नर जनरल द्वारा तथा शेष 8 संचालक अंशधारियों द्वारा चुने जाते थे। केन्द्रीय संचालक मंडल की जब प्रथम बार स्थापना हुई तो सोलहों नियुक्तियां गवर्नर जनरल ने की। दो-दो संचालक प्रति वर्ष अवकाश ग्रहण करते और उनका स्थान अंशधारियों द्वारा निर्वाचित संचालक लेते। इस प्रकार अंशधारियों द्वारा निर्वाचित संचालक पांच वर्ष बाद पूरे हुए। तब तक

उनके स्थान पर गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्तिया होती रही। इस प्रकार बैंक की रूपरेखा निश्चित करने मे ब्रिटिश हितो का अधिक ध्यान रक्खा गया था।

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Reserve Bank)

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न बैंक की स्थापना के समय से ही उठाया जाता रहा है परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इसके पक्ष मे जनमत और भी प्रबल हो गया। विभिन्न राजनैतिक तथा आर्थिक परिवर्तनो के फलस्वरूप रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक समझा गया। राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे मुख्य तर्क तथा कारण निम्न थे—

1. *राजनैतिक स्वतन्त्रता तथा नियोजन का प्रारम्भ* (Political freedom and planning era) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तथा आर्थिक विकास के नियोजन की आवश्यकता के संदर्भ मे रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक समझा गया। ब्रिटिश शासन काल मे सरकारी की राष्ट्र विरोधी नीतियो के कारण अशधारी व्यवस्था का औचित्य स्वीकार किया जा सकता था परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के संदर्भ मे रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण उपयुक्त समझा गया।

2. *अन्य देशो के केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of* major Central banks) : ससार के विभिन्न देशो मे केन्द्रीय बैंको के राष्ट्रीयकरण ने भी भारतीय जनमत पर प्रभाव डाला। 1945 मे कामन वेल्थ बैंक आफ आस्ट्रेलिया तथा बैंक आफ फ्रान्स तथा 1946 मे बैंक आफ इगलैंड का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। राष्ट्रीयकरण के समर्थको का तर्क था कि जब स्वस्थ प्रजातत्रीय परम्परा वाले तथा निजी साहस को पर्याप्त महत्व देने वाले देशो मे भी केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है तो भारत मे केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण क्यो नही हो।

3 आर्थिक तथा मौद्रिक नीतियों मे सामन्जस्य (Coordination of economic and monetary policies) : रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण से सरकार की आर्थिक नीतियो तथा केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीतियो मे अधिक सामन्जस्य स्थापित किया जा सकेगा जो कि आर्थिक विकास की तीव्र गति के लिए एक अति आवश्यक तत्व है। राष्ट्रीयकरण द्वारा इन दोनो नीतियो मे होने वाले टकराव की आशका समाप्त हो गई।

4. *राष्ट्रीय तथा सामाजिक हितो की सुरक्षा (Protection of national* and social intrest) . एक सरकारी सस्था के रूप मे ही रिजर्व बैंक सामाजिक

तथा राष्ट्रीय हितो की रक्षा कर सकेगा, नही तो यह डर सदा बना रहता कि जान या अनजान मे बैंक का निजी स्वामित्व ऐसी नीतियो का अवलम्बन करता जो किसी वर्ग विशेष के दृष्टिकोण की प्रतिनिधि होती और राष्ट्रीय हितो के लिए हानिकर सिद्ध होती।

5. बैंकिंग व्यवस्था पर समुचित नियन्त्रण (Proper Control over banking system) : देश की बैंकिंग व्यवस्था पर समुचित नियन्त्रण तथा नियमन के अधिकारो का प्रयोग करने के लिए राष्ट्रीय स्वामित्व वाला केन्द्रीय बैंक ही अधिक उपयुक्त होगा, नही तो वैधानिक अधिकारो के दुरुपयोग का भय बना रहेगा।

6 लाभ का सामाजिक हित मे प्रयोग (Use of profits for the benefit of country) सार्वजनिक कोषो के प्रयोग तथा मौद्रिक व्यवस्था के प्रबन्ध से प्राप्त आय का प्रयोग राष्ट्रीय हितो के लिए होना चाहिए न कि निजी अंशधारियो को लाभांश बाटने के लिए। इसलिए बैंक का राष्ट्रीयकरण आवश्यक था।

इस प्रकार रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे अनेक महत्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत किए गये। राष्ट्रीयकरण के विरोधी तत्वो ने इसके विरुद्ध भी तर्क रखे- (1) राष्ट्रीयकरण से राजनैतिक हस्तक्षेप का भय रहेगा (2) कार्य क्षमता मे कमी होगी (3) व्यापारिक तथा बैंकिंग परम्पराओ की अवहेलना होगी। वास्तव म रिजर्व बैंक अंशधारियो का बैंक होते हुए भी व्यवहार मे सरकारी बैंक था क्योकि गवर्नर, डिप्टी गवर्नर्स तथा सचालको की नियुक्ति सरकार करती थी। रिजर्व बैंक तथा सरकार मे सदा सहयोग रहा और उनकी नीतियो मे कभी टकराव उपस्थित नहीं हुआ। अंशधारियो का बैंक होते हुए भी राष्ट्रीय हितो की अवहेलना कर निजी अंशधारियो के स्वार्थों की पूर्ति नहीं की गई। जब बैंक आफ इगलैंड तथा बैंक आफ फ्रान्स अंशधारी बैंक थे तो वे अंशधारियो को 12% लाभांश देते थे जबकि रिजर्व बैंक ने प्रारम्भ मे केवल $3\frac{1}{2}$ % तथा बाद मे 4 % ही लाभांश दिया। रिजर्व बैंक के अंशधारी स्वामित्व काल मे अंशधारियो को $2\frac{1}{2}$ करोड रुपये से कुछ अधिक लाभांश मिला जबकि राज्य कोष को 80 करोड रुपयो का लाभ हुआ। शायद राष्ट्रीयकरण का मुख्य कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रारम्भ काल म राष्ट्रीयकरण की नीति के प्रति सरकार का अति उत्साह था। राष्ट्रीयकरण से एक विशेषज्ञ संस्था के स्वतन्त्र विचारो तथा निर्णयो का लाभ हमने खो दिया। बैंक आफ इगलैंड तथा कामनवेल्थ बैंक आफ आस्ट्रेलिया के राष्ट्रीयकरण के बाद भी उनके विचारो की स्वतन्त्रता तथा स्वायत्तता की वैधानिक रूप मे रक्षा की गई परन्तु रिजर्व बैंक के सम्बन्ध मे ऐसा नही हुआ।

राष्ट्रीय करण के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियो के बावजूद सरकार ने रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया। भारतीय विधान सभा मे 1948 मे रिजर्व बैंक

(सार्वजनिक स्वामित्व हस्तान्तरण) अधिनियम [Reserve Bank (Transfer to Public Ownership) Act] पारित किया गया और 1 जनवरी 1949 से रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। प्रत्येक 100 रुपये ग्रश पर 118 रुपय 10 ग्राने की दर से मुग्रावजा दिया गया जो 3% ब्याज दर के दीर्घकालीन प्रतिभा-पत्रों के रूप म था।

रिजर्व बैंक का वर्तमान सगठन
(Present Organisation of Reserve Bank)

1 पूंजी (Capital) रिजर्व बैंक की अधिकृत पूंजी 5 करोड रुपये है जो 100–100 रुपय के 5 लाख ग्रशो मे विभाजित है। राष्ट्रीयकरण स पहल 2,20 000 रुपये के ग्रशो को छोडकर शेष सभी ग्रश निजी ग्रशधारियों के पास थे। राष्ट्रीयकरण के पश्चात् सभी ग्र श केन्द्रीय सरकार के पास है।

2 प्रबध (Management) बैंक का प्रबध एक केन्द्रीय सचालक मडल (Central Board of Directors) द्वारा किया जाता है जिसकी सदस्य सख्या 20 होती है। इसम एक गवनर तथा चार डिप्टी गवनर केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते है। चार सचालक चारो स्थानीय मडलो से मनोनीत किए जाते है तथा दस सचालक और एक सरकारी अधिकारी भारत सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। दस सचालकों मे प्राय व्यापार, उद्योग वित्त तथा सहकारिता विशेषज्ञ होते है और सरकारी अधिकारी भारत सरकार का वित्त सचिव होता है। गवनर तथा डिप्टी गवनरो का कायकाल 5 वप का होता है और उनकी पुर्ननियुक्ति हो सकती है। स्थानीय मडलो से मनोनीत सदस्य स्थानीय मडल की सदस्यता काल म ही केन्द्रीय सचालक मडल के सदस्य रह सकते हैं। शेष दस सचालकों का कायकाल चार वप का होता है। सरकारी कमचारी सरकार द्वारा निर्धारित समय के लिए सचालक बना रह सकता है परन्तु उसे मतदान का अधिकार नही होता।

गवनर सचालक मडल का अध्यक्ष तथा बैंक का प्रधान कार्यकर्त्ता होता है। केन्द्रीय सचालक मडल के निर्देशन के अधीन बैंक की समस्त शक्ति गवनर मे निहित होती हैं। चार उप गवनर, जिनम प्रत्येक की देखरख मे बैंक के विभिन्न विभागो का काय होता है, बैंक के काय को ठीक प्रकार चलाने म गवनर की सहायता करते है। गवनर तथा डिप्टी गवनर बैंक के पूर्णकालिक अधिकारी (Full time officers) होते है और उन्ह निर्धारित वेतन दिया जाता है। शेष सचालक केवल ग्रशकालिक होत हैं और उन्ह बैठकों मे भाग लेने के लिए यात्रा व्यय तथा भत्ता ही दिए जाते है।

केन्द्रीय सचाल मडलक के अतिरिक्त चार स्थानीय मडल (Local Boards) की भी व्यवस्था है जो दिल्ली, कलकत्ता, बम्बइ और मद्रास मे है। इनम 5–5

सदस्य होते है और जो भारत सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते है। यह मुख्यत क्षेत्रीय तथा आर्थिक हितो का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्थानीय मडल के सदस्य अपने मे से एक अध्यक्ष चुन लेते हैं। इन सदस्यो का कार्यकाल 4 वर्ष का होता है और वे पुनर्नियुक्त किए जा सकते हैं। स्थानीय मडल केन्द्रीय मडल द्वारा सौपे हुए कार्यों को चलाने तथा उनकी देखरेख करने का उत्तरदायी है।

रिजर्व बैंक के कार्य
(Functions of the Reserve Bank)

रिजर्व बैंक वे सभी कार्य करता है जिनका उल्लेख केन्द्रीय बैंक के कार्यों के अतर्गत किया गया है। रिजर्व बैंक का मुख्य कार्य 'मौद्रिक स्थायित्व की प्राप्ति के लिए नोट निर्गमन को नियन्त्रित करना तथा कोषो को रखना है और देश के हित मे मुद्रा तथा साख व्यवस्था का सचालन करना है।"[1] एक विकासशील देश होने के नाते भारत मे रिजर्व बैंक को कृषि साख, औद्योगिक वित्त इत्यादि के क्षेत्रो मे कुछ विशिष्ट उत्तरदायित्व सौंपा गया है। रिजर्व के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं :

1 **नोट निर्गमन का एकाधिकार (Monopoly of note issue)** देश की मुद्रा तथा साख व्यवस्था पर पूर्ण तथा व्यापक नियत्रण करने के लिए रिजर्व बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार दिया गया है। नोट निर्गमन के लिए रिजव बैंक के दो विभाग है–निर्गमन विभाग तथा बैंकिग विभाग। रिजर्व बैंक अधिनियम को धारा 44 के अनुसार रिजर्व बैंक 2, 5, 10, 50, 100, 500, 1000, 5000 तथा 10 000 रुपय के नोट निर्गमित कर सकता है परन्तु बैंक ने 2, 5, 10, 100 1000 तथा 10,000 रुपय के नोट ही निर्गमित किए हैं। 1000 तथा 10,000 रुपये के नोट 1946 मे चलन से वापिस ले लिए गये थे परन्तु 1954 मे उन्हे फिर निर्गमित किया गया। रुपये के सिक्के एव रेजगारिया (सहायक सिक्के) भारत सरकार जारी करती है। एक रुपये के नोट भारत सरकार के वित्त मत्रालय द्वारा जारी किए जाते हैं और उन्हे एक रुपये के सिक्को की श्रेणी मे रक्खा जाता है। रिजर्व बैंक अपने नोटो को सिक्को मे और सिक्को को नोटो मे बदलने का भी कार्य करता है।

रिजर्व बैंक अधिनियम, 1934 की धारा 33 के अनुसार 'निर्गमन विभाग की सम्पत्तिया, जिनके आधार पर नोट निर्गमित किए जाते हैं, स्वर्ण के सिक्को तथा पाट, विदेशी प्रतिभूतियो, रुपये के सिक्को, भारत सरकार की रुपया प्रतिभूतियो तथा

---

[1] The main function of the Reserve Bank of India is "to regulate the issue of the bank notes and keeping of reserves with a view to securing monetary stability in India and generally to operate the currency and credit system of the country to its advantage"
—Preamble . *Reserve Bank of India Act*, 1934.

बैंक द्वारा क्रय के लिए स्वीकृत विनिमय बिलो तथा प्रोमजरी नोटो के रूप मे रक्खी जानी चाहिए।" 1935 से अक्तूबर 1956 तक रिजर्व बैंक "ग्रानुपातिक कोप प्रणाली" (Proportional Reserve System) के आधार पर नोट निर्गमित करता था। इस प्रणाली के अन्तर्गत कुल निर्गमित नोटो का 40 प्रतिशत स्वर्ण, स्वर्ण सिक्को तथा विदेशी प्रतिभूतियो के रूप मे रखना अनिवार्य था जिसमे 40 करोड रुपये का स्वर्ण रखना आवश्यक था। परन्तु पचवर्षीय योजनाओ की वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit financing) करना पडा तथा नोट निर्गमन के पीछे 40 प्रतिशत कोष रखना कठिन हो गया। 5 अक्तूबर 1956 को कुल 1431 करोड रुपये के नोट चलन मे थे जबकि कोष मे केवल 40 02 करोड रुपये का स्वर्ण तथा 587 करोड रुपये का विदेशी विनिमय शेष रह गया था। इस प्रकार कुल कोष नोटो की मात्रा का केवल 43·80 प्रतिशत रह गया था। अतः 6 अक्तूबर 1956 से रिजर्व बैंक ग्राफ इण्डिया अधिनियम मे सशोधन कर ग्रानुपातिक कोप प्रणाली के स्थान पर "न्यूनतम कोष प्रणाली" (Minimum Reserve System) अपनायी गई। इस सशोधन के अनुसार निर्गमित नोटो के पीछे 515 करोड रुपये का न्यूनतम कोप रक्खा जाना था जिसमे 115 करोड रुपये का न्यूनतम स्वर्ण रखना आवश्यक था और शेष विदेशी प्रतिभूतियो म। साथ साथ स्वर्ण कोप का पुनर्मूल्यन किया गया और जो स्वर्ण पहले 8 47512 ग्रेन प्रति रुपया या 21 24 रुपये प्रति तोला की दर से आका जाता था अब अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोप द्वारा स्वीकृत 2·88 ग्रेन प्रति रुपया या 62 50 रुपये प्रति तोला की दर से आका जाने लगा। इस प्रकार 40 02 करोड रुपये के स्वर्ण का मूल्य बढकर 117 76 करोड रुपये हो गया।

विदेशी विनिमय सकट के कारण इतना कोप बनाये रखना भी सम्भव नही रह सका। 25 अक्तूबर 1957 को विदेशी विनिमय कोपो की मात्रा घटकर केवल 312 करोड रुपये रह गई। अत रिजर्व बैंक अधिनियम मे '31 अक्तूबर 1957 को द्वितीय सशोधन कर निर्गमित नोटो के पीछे रक्खी जाने वाले कोषो की मात्रा घटाकर 200 करोड रुपये कर दी गई। अब इस सशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक

---

[1] नोटो को सिक्को तथा सिक्को को नोटो मे बदलने की उक्त क्रिया के आधार पर कुछ लेखको ने यह निष्कर्ष निकाला है कि रिजर्व बैंक के नोट परिवर्तनीय पत्र मुद्रा (Convertible Paper Money) हैं। परन्तु यह दृष्टिकोण भ्रामक है। परिवर्तनीय पत्र मुद्रा तो वह मुद्रा है जिसके बदले मे पूर्णकाय धातु मुद्रा (Full bodied metallic Coins) प्राप्त की जा सके। अतः यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि रिजर्व बैंक द्वारा निर्गमित नोट 'अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा' (Inconvertible Paper Money) ही हैं।

को 200 करोड रुपये का न्यूनतम कोस रखना अनिवार्य है जिसमे 115 करोड रुपये का स्वर्ण तथा शेष की विदेशी प्रतिभूतिया होनी चाहिये। विदेशी प्रतिभूतियों की कोई न्यूनतम सीमा निर्धारित नही की गई है। अधिनियम मे यह भी व्यवस्था है कि भारत सरकार की पूर्वाज्ञा प्राप्त कर रिजर्व बैंक विदेशी प्रतिभूतियो को पूर्णतया समाप्त कर सकता है और इस प्रकार केवल 115 करोड रुपये के स्वर्ण के आधार नोट निर्गमित किए जा सकते है।

मार्च 1969 मे रिजर्व बैंक द्वारा निर्गमित नोटो की राशि 3453·50 करोड रुपये थी।

(2) **सरकारी बैंक के रूप मे कार्य करना** (Banker to the Government):—रिजर्व बैंक केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के बैंक तथा वित्तीय सलाहकार के रूप मे भी कार्य करता है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की ओर से रुपया जमा करना, उनकी ओर से भुगतान करना, उनकी विनिमय मुद्रा हस्तान्तरण तथा अन्य बैंकिंग प्रक्रियाओ को करना तथा उनके सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करना रिजर्व का मुख्य कार्य है। इस प्रकार रिजर्व बैंक सरकार के एजेन्ट के रूप मे वे सभी कार्य करता है जो एक बैंक अपने ग्राहको के लिए करता है। जहा रिजर्व बैंक की शाखायें नही है वहा स्टेट बैंक आफ इन्डिया रिजर्व बैंक के प्रतिनिधि के रूप मे यह सब कार्य करता है।

सरकारो के साधारण बैंकिग कार्यो के लिए रिजर्व बैंक को कोई कमीशन नही दिया जाता। इन कार्यो के करने के बदले रिजव बैंक सरकारी खातो म जमा रकम पर कोई ब्याज नही देता। रिजव बैंक का सरकारी ऋण विभाग (Public Debt Department) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के सावजनिक ऋणो का प्रबन्ध करता है। बैंक सरकारो की ओर से सरकारी प्रतिभूतिया जारी करता है, उनका धन एकत्रित करता है, उन पर ब्याज अदा करता है, उनकी अवधि पूर्ण होने पर उनका मूल धन वापिस करता है तथा तत्सम्बन्धी हिसाब किताब रखता है। रिजर्व बैंक सरकार के 3 मास के कोषागार विपत्र (Treasury Bills) भी बेचता है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो की अल्पकालीन वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक अस्थायी ऋण (Ways and Means Advances) भी देता है। यह ऋण अधिक से अधिक 90 दिनो के लिए दिए जा सकते हैं और इन पर बैंक दर से एक प्रतिशत कम ब्याज लिया जाता है। उपर्युक्त सार्वजनिक ऋणो को व्यवस्था के लिए रिजर्व बैंक को 2000 रुपया प्रति करोड प्रतिवर्ष की दर से कमीशन मिलता है।

रिजर्व बैंक सरकार की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओ की पूर्ति करता है जिससे सरकारी खाते मे आयात किए गये माल का भुगतान किया जा सके। इस-

लिए लन्दन मे भारतीय हाई कमीशन जो विदेशो मे भारत का मुख्य क्रेता तथा वित्तीय सस्था है, को पर्याप्त सहायता देता है।

इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक सरकार के मुख्य सलाहकार का कार्य करना है और नये ऋणो के निर्गमन, पुरानों का परिवर्तन, कोषो का विनियोजन, कृषि साख, सहकारिता, बैंकिग तथा साख, कानून आदि विषयो पर सरकार को सलाह देना है।

(3) **बैंको के बैंक के रूप मे कार्य करना** (Banker's Bank) :—रिजर्व बैंक वित्तीय तन्त्र का शीर्ष होने के नाते बैंको के बैंक के रूप मे कार्य करता है। रिजर्व बैंक को भारतीय बैंकिग अधिनियम के अन्तर्गत बैंक का नियन्त्रण तथा नियमन करने के लिए व्यापक अधिकार दिए गये है। रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंको (Scheduled Banks) से सीधे सम्पर्क मे आता है। अनुसूचित बैंक वे बैंक है जिनकी प्रदत्त पूँजी तथा सचित कोष कम से कम 5 लाख रुपये हैं, वह कम्पनी या कारपोरेशन की भाति पजीयत है और उसके कार्य जमाकर्त्ताओ के हितो के विरुद्ध नही हैं। ऐसे बैंको का नाम रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट 134 की द्वितीय अनुसूची (Second Schedule) मे सम्मिलित कर लिया जाता है। इन अनुसूचित बैंको को विधान की धारा 42 के अनुसार अपने काल देयो (Time liabilities) का 2% तथा माग देयो (Demand Liabilites) का 5% रिजर्व बैंक के पास जमा करना पडता था। 1956 के सशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंको के इन कोषो की मात्रा को कालदेयो के सम्बन्ध 2% से 8% तक माग दयो क सम्बन्ध मे 5% से 20% तक परिवर्तित करने का अधिकार दिया गया। सितम्बर 1962 के सशोधन के अनुसार काल तथा माग देयो के इस भेद को समाप्त कर अनुसूचित बैंको को उनके कुल देयो (Total liabilities) का 3% रिजर्व बैंक के पास जमा कराना अनिवार्य कर दिया गया। रिजर्व बैंक इस सीमा को बढाकर 15% तक कर सकता है। इसके साथ-साथ अनुसूचित बैंको को भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक के पास प्रति सप्ताह बैंक की प्रक्रियाओ के सम्बन्ध मे एक विवरण भेजना पडता है। उक्त दायित्वो की पूर्ति न करने पर बैंक पर जुर्माना किया जा सकता है तथा उसके विरुद्ध अन्य कार्यवाही की जा सकती है।

उपर्युक्त दायित्वों के प्रतिफल स्वरूप अनुसूचित बैंको को रिजर्व बैंक से कुछ सुविधायें प्राप्त हो जाती है। (i) रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंको द्वारा बट्टा किए हुए विनिमय पत्रो का पुन: बट्टा करता है। रिजर्व बैंक प्रथम श्रेणी के ऐसे व्यावसायिक विनिमय पत्रो का क्रय-विक्रय तथा बट्टा करता है जिनकी अवधि 90 दिन से अधिक की न हो तथा यदि वे कृषि विनिमय पत्र है तो उनकी अवधि 15 मास से अधिक न हो। (ii) स्वीकृत प्रतिभूतियो के आधार पर रिजर्व बैंक अनुसूचित तथा राज्य सह-

कारी बैंकों को 90 दिनों की अवधि तक के लिए ऋण देता है तथा (iii) अनुसूचित बैंको की मुद्रा का सस्ती दर पर स्थानान्तरण करता है। इस प्रकार आपत्ति काल में अन्तिम ऋण दाता (Lender of last resort) के रूप मे कार्य करता है और बैंको को कठिनाई के समय ऋण सुविधा देकर उनकी सहायता करता है।

बैंकिंग नियमन अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को बैंको पर यथेष्ठ नियन्त्रण रखने के लिए विभिन्न प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं:—

(अ) लाइसेंस (Licence) :—धारा 22 के अनुसार प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को रिजर्व बैंक से लाइसेन्स प्राप्त करना अनिवार्य है। लाइसेन्स देते समय रिजर्व बैंक यह देखता है कि बैंक की आर्थिक स्थिति ऐसी है कि वह अपने जमा देय धन का पूर्ण भुगतान कर सकता है और उसके कार्य जमाकर्त्ताओं के हितों के प्रतिकूल नही हैं।

(ब) शाखा विस्तार (Branch expansion):—अधिनियम की धारा 23 के अनुसार बैंको द्वारा नवीन शाखायें खोलने तथा शाखाओं के स्थान परिवर्तन के लिए रिजर्व बैंक की अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य है।

(स) निरीक्षण (Inspection):—अधिनियम की धारा 35 के अनुसार रिजर्व बैंक किसी भी समय निरीक्षण कर सकता है और अधिनियम की विभिन्न धाराओं के सम्बन्ध मे उसकी स्थिति की जाच कर सकता है। धारा 36(1)(d)(v) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक यदि, आवश्यक हो तो बैंको के प्रबन्ध मे भी परिवर्तन कर सकता है।

(द) विलयन तथा अवसायन (Amalgamation and Liquidation) — अधिनियम की धारा 44 A के अनुसार विलयन से पहले रिजर्व बैंक की आज्ञा लेना अनिवार्य है। विलयन के सम्बन्ध मे रिजर्व बैंक की नीति ऐसे विलयन को प्रोत्साहन देना है जिनमे जमाकर्त्ताओं के हित सुरक्षित हो तथा उस क्षेत्र मे उन बैंको के विलयन से बैंक व्यवस्था अधिक सुदृढ होती हो। जिन बैंको की स्थिति अधिक बिगड जाती है उनके अवसायन के लिए रिजर्व बैंक को अधिकार प्राप्त है।

(य) बैंकिंग विकास (Banking Development):—अक्तूबर 1950 से रिजर्व बैंक ने बैंकिंग विकास विभाग खोलकर देश मे बैंकिंग सुविधाओं के विकास तथा विस्तार मे अधिक सहायता देना प्रारम्भ किया है।

इस प्रकार अब रिजर्व बैंक अनुसूचित तथा गैर अनुसूचित बैंको पर पर्याप्त नियन्त्रण तथा नियमन करता है।

(4) विनिमय स्थायित्व की स्थापना (Maintenance of Exchange Stability):—रिजर्व बैंक भारतीय रुपये के विनिमय मूल्य मे स्थिरता बनाये रखने

का प्रयत्न करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु रिजर्व बैंक के पास विदेशी विनिमय के पर्याप्त कोष रहते हैं तथा विनिमय नियन्त्रण की एक उत्तम व्यवस्था का सगठन करता है।

(5) समाशोधन गृहो का प्रबन्ध (Management of Clearing Houses):—बैंको का बैंक तथा आपत्तिकाल मे अन्तिम ऋणदाता के रूप मे रिजर्व बैंक समाशोधन गृहो का प्रबन्ध भी करता है। जिन स्थानो पर रिजर्व बैंक की शाखाये नही है वहा स्टेट बैंक तथा उसके सहायक बैंक इनका प्रबन्ध करते हैं।

(6) आर्थिक सांख्यिकी का प्रकाशन (Publication of Economic Statistics) —देश की अर्थ व्यवस्था मे विभिन्न आर्थिक, वित्तीय तथा मौद्रिक विषयो से सम्बन्धित साख्यकी का सग्रह तथा प्रकाशन रिजर्व बैंक का महत्वपूर्ण कार्य है।

(7) साख नियन्त्रण (Credit Control).—रिजर्व बैंक देश की मुद्रा व्यवस्था के साथ-साख व्यवस्था पर नियन्त्रण तथा नियमन रखता है जिससे देश की आर्थिक नीतिया सफल हो सके। आगे हम इसी विषय की विस्तार से व्याख्या करेंगे।

साख-नियन्त्रण तथा नियमन
(Regulation and Control of Credit)

मुद्रा निर्गमन के साथ-साथ देश की साख व्यवस्था को नियन्त्रित तथा नियमित करन का उत्तरदायित्व केन्द्रीय बैंक के रूप मे रिजर्व बैंक का है। डा० डी० काक (Dr De Kock) के शब्दो मे – "साख नियन्त्रण ऐसा कार्य है जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंकिंग नीति के महत्वपूर्ण पक्ष आ जाते है तथा व्यवहारिक रूप मे इससे सभी अन्य कार्य जुडे हुए हैं और एक सम्मिलित उद्देश्य की प्राप्ति कराते है।"[1] साख नियन्त्रण के कार्य द्वारा केन्द्रीय बैंक देश की मौद्रिक नीति के तीन उद्देश्यो—आन्तरिक कीमत तल मे स्थायित्व, विनिमय दर मे स्थायित्व तथा ऊँची आय और रोजगार के स्तर पर आर्थिक स्थायित्व की प्राप्ति का प्रयत्न करता है।

रिजर्व बैंक के साख-नियन्त्रण तथा नियमन के अधिकारो का आधार रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट 1934 तथा बैंकिंग नियमन एक्ट 1949 हैं। रिजर्व बैंक द्वारा साख नियन्त्रण के निम्नलिखित अस्त्र प्रयोग मे लाये गये हैं

(1) बैंक दर नीति (Bank Rate Policy)

(2) खुले बाजार की क्रियाये (Open Market Operations)

---

[1] "Credit control is the function which embraces the most important questions of central banking policy and the one through which practically, all other functions are united and made to serve a common purpose" —De Kock

(3) परिवर्तनशील कोषानुपात (Variable Reserve Ratios)
(4) प्रवृत्य साख नियन्त्रण (Selective Credit Controls)
(5) नैतिक अनुनय (Moral Suasion)

(1) बैंक दर नीति
(Bank Rate Policy)

बैंक दर नीति की परिभाषा है—'विस्तृत दृष्टिकोण से, उन शर्तों तथा दशाओं मे परिवर्तन करना जिनके अन्तर्गत बाजार चुनी हुई अल्पकालीन परिसम्पत्तियो का बट्टा कराकर या रक्षित अग्रिम द्वारा केन्द्रीय बैंक से अल्पकालीन सहायता ले सके।"[1] अतः बट्टा नीति साख की लागत तथा प्राप्यता दोनो को प्रभावित करती है। (Discount policy seeks to affect both the cost and the availability of Credit) रिजर्व बैंक बैंक दर मे परिवर्तन कर साख की मात्रा तथा उसकी लागत पर प्रभाव डालकर साख का नियन्त्रण तथा नियमन करता है। बैंक दर द्वारा साख नियन्त्रण की सप्रभाविकता इस बात पर निर्भर करता है कि देश के व्यापारिक बैंक तथा अन्य वित्तीय सस्थायें ऋण लेने के लिए किस सीमा तक केन्द्रीय बैंक पर निर्भर करते हैं।

रिजर्व बैंक की 1935 में स्थापना से लेकर नवम्बर 1951 तक बैंक दर 3 प्रतिशत बनी रही। उसमे कोई परिवर्तन नही हुआ। बाद मे हुए परिवर्तनो तथा उसके कारणों और प्रभावों का विवेचन इस प्रकार है.

प्रथम परिवर्तन (28 नवम्बर 1935)· रिजर्व बैंक की स्थापना के 8 महीने बाद बैंक की बैंक दर $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत से घटाकर 3 प्रतिशत कर दी गई। इसका प्रभाव यह हुआ कि इम्पीरियल बैंक की दर मे भी कमी हो गई परन्तु बाजार दर दिसम्बर 1935 मे 1 प्रतिशत से बढ गई।

द्वितीय परिवर्तन (15 नवम्बर 1951) : मे अत्यधिक साख विस्तार तथा भुगतान शेष के असतुलन की कठिनाई पर विजय पाने के लिए 15 नवम्बर 1951 को रिजर्व बैंक ने बैंक दर 3 प्रतिशत से $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दी। कोरियाई युद्ध के कारण देश के कीमत-तल मे लगातार वृद्धि हो रही थी। अनेक दशो ने साख प्रसार

---

[1] The Bank Rate Policy may be defined as "the varying of the terms and of the conditions, in the broadest sense, under which the market may have temporary access to the central bank through *discounts* of selected short term assets or through secured *advances*"
— *The Reserve Bank of India, Functions and Working*, 1959, p. 28.

को नियन्त्रित करने के लिए बैंक दर मे वृद्धि कर दी थी। बैंक दर की इस वृद्धि के साथ रिजर्व बैंक ने यह घोषणा भी की कि वह ग्रागामी व्यस्त काल मे बैंको की मौसमी ग्रावश्यकताग्रो की पूर्ति के लिए प्रतिभूतिया नही खरीदेगा परन्तु उनकी धरोहर पर ऋण देता रहेगा।

बैंक दर मे वृद्धि के फलस्वरूप सभी ब्याज दरो मे वृद्धि हो गई ग्रौर पिछले चार वर्ष का साख विस्तार नियन्त्रित किया जा सका। ऋण लेना महगा हो जाने के कारण 1950–51 के व्यस्त काल मे ग्रग्रिमो मे जो 182 करोड की वृद्धि हुई थी, 1951–52 मे वह वृद्धि केवल 62 करोड रुपये की हुई।

तृतीय परिवर्तन (1 फरवरी 1957) : बैंक दर मे तीसरा परिवर्तन उस समय किया गया जब साख-विस्तार तथा भुगतान शेष के ग्रसतुलन की गम्भीर स्थिति से निपटने के लिए सावधि बिलो पर मुद्रा के कर मे वृद्धि होने पर धारा 17 (4) (स) के ग्रन्तर्गत बिलों तथा स्वीकृत प्रतिभूतियो की धरोहर पर ऋणो की ब्याज दर 1 फरवरी 1957 को बढाकर 4 प्रतिशत कर दी गई। 3 माह तक बैंक दर ग्रौर कटौती दर मे ग्रन्तर रहा। 15 मई 1957 से यह ग्रन्तर तब समाप्त हो गया जब बिलो पर ग्रग्रिम-दर भी $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत से बढाकर 4 प्रतिशत कर दी गई। फलस्वरूप ग्रन्य बाजार दरो मे तदनुरूप परिवर्तन हुग्रा।

कोटा स्लेब दर व्यवस्था (Quota-cum-Slab Rate System) : रिजर्व बैंक ने 1 ग्रक्तूबर 1960 से एक बैंक दर के बजाय 3 दरें ग्रपनायी। निश्चित ग्रभ्यश तक तो ऋण बैंक दर ग्रौर उससे ग्रधिक ऋण लेने पर दण्ड स्वरूप ग्रधिक ब्याज लिया जाता था। 2 जुलाई 1962 को तीन से चार तथा 31 ग्रक्तूबर 1962 से फिर तीन दरें ग्रपनायी गई। 3 जनवरी 1963 को इस व्यवस्था में फिर परि-किया गया।

चतुर्थ परिवर्तन (2 जनवरी 1963) रिजर्व बैंक ने 2 जनवरी 1963 से बैंक दर 4 प्रतिशत से बढाकर $4\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दी। स्लेब दर पद्धति मे परिवर्तनो को ग्रौपचारिक रूप देने के लिए वृद्धि की गई। चीनी ग्राक्रमण तथा साख विस्तार ग्रौर मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करने के लिए बैंक दर मे वृद्धि ग्रावश्यक हो गई थी।

पचम परिवर्तन (25 सितम्बर 1964) : 1964–65 के व्यस्तकाल मे साख विस्तार को ग्रौर नियन्त्रित करने के लिए बैंक दर को $4\frac{1}{2}$ प्रतिशत से बढाकर 5 प्रतिशत कर दिया गया। साथ ही ऋण देने की 'कोटा-स्लेब प्रणाली (Quota-cum-Slab Rate System) के स्थान पर एक नई प्रणाली (Differential System of Interest Rates) ग्रपनायी गई जिसके ग्रन्तर्गत ऋणो पर ब्याज दर

बैंक की शुद्ध तरलता स्थिति (Net Liquidity Ratio) से सम्बन्धित कर दी गई। शुद्ध तरल स्थिति को 'बैंको के काल तथा माग दायित्वो से तरल परिसम्पत्तियो के अनुपात' के रूप मे परिभाषित किया गया। 28 प्रतिशत या इससे अधिक शुद्ध तरलता अनुपात तक तो बैंक दर पर और फिर प्रति 1 प्रतिशत तरलता अनुपात की कमी पर कुल ऋण राशि पर $\frac{1}{2}$ प्रतिशत अधिक ब्याज दर ली जाने लगी।

छठा परिवर्तन (17 फरवरी 1965) : साख सकुचन के विभिन्न कदम उठाने के बावजूद कीमत तल तथा विदेशी विनिमय समस्या बनी ही रही। इसी दिशा मे फिर 17 फरवरी 1965 को बैंक दर मे पूरे एक प्रतिशत की वृद्धि कर उसे 6 प्रतिशत कर दिया गया और शुद्ध तरलता अनुपात को 28 प्रतिशत से बढा कर 30 प्रतिशत कर दिया गया। इस प्रकार साख की लागत मे और वृद्धि कर दी गई।

सप्तम परिवर्तन (2 मार्च 1968) · मार्च 1968 मे रिजर्व बैंक की बैंक दर नीति मे एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। 1967 मे उद्योगो मे मन्दी की प्रवृत्तिया दिखाई देने लगी। 1967–68 के व्यस्त काल मे कृषि उत्पादन मे वृद्धि के कारण कृषिजन्य पदार्थों की कीमतें गिरने लगीं। साख का विस्तार अनुमान से कम हुआ। उद्योगो मे मन्दी की प्रवृत्तिया (Recessionary Trends) चालू रही। फलत. साख उदार नीति (Credit Liberalisation Policy) के अनुरूप आर्थिक उत्तेजना को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से (In order to provide more positive stimulus towards economic recovery) बैंक दर को 6 प्रतिशत से घटाकर 5 प्रतिशत कर दिया गया।

इससे पहले वित्त-मन्त्री ने अर्थ व्यवस्था को पुनर्जीवित करने तथा पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन देने के लिए 1968–69 के बजट मे बहुत सी प्रशुल्क छूटो (Fiscal incentives) की घोषणा की थी। उसी के फौरन बाद आर्थिक सुधार की सामान्य नीति के अनुसार तथा कृषि उत्पादन मे वृद्धि के कारण रिजर्व बैंक ने मौद्रिक क्षेत्र मे साख को सस्ता करने के लिए बैंक दर को 6 प्रतिशत से घटाकर 5 प्रतिशत कर दिया। बैंक दर मे कमी का मुख्य उद्देश्य अर्थव्यवस्था मे अधिक क्रय शक्ति डालना था। इस प्रकार यह कमी रिजर्व बैंक की महगी मुद्रा नीति से सस्ती मुद्रा नीति का प्रारम्भ है। (The significant cut in bank rate no doubt marks a sharp reversal of dear money policy whose virtues the Reserve Bank has sung *adnauseum* even in the face of deep resentment among industrial circles) अत रिजर्व बैंक की यह नई मौद्रिक नीति भारत सरकार द्वारा अर्थ-व्यवस्था को पुनरोत्तेजित करने के लिए अपनायी गई क्रान्तिकारी प्रशुल्क नीति के

साथ साथ चलती है। इसके पहले देश मे प्रशुल्क तथा मौद्रिक नीतियो का इतना सुन्दर तथा सामयिक समिश्रण कभी नही देखा गया (Never in the past had the country witnessed such a harmonious and timely union of fiscal and monetary policies)

बैंक दर मे कमी का औद्योगिक तथा वित्तीय क्षेत्रो मे बडा स्वागत हुआ। बैंक दर मे कमी को "welcome shot in the arms for industry" की सज्ञा दी गई।

(2) खुले बाजार की क्रियायें
(Open Market Operations)

रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट की धारा 17 (8) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो और स्वायत्त सस्थाओ के द्वारा निगमित किसी भी अवधि की प्रतिभूतियो के क्रय-विक्रय का अधिकार प्राप्त है। धारा 17 (2) (अ) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अल्पकालीन विनिमय पत्रो के क्रय विक्रय का भी अधिकार है। इस प्रकार प्रतिभूतियो के क्रय विक्रय द्वारा रिजर्व बैंक या तो बैंक दर की प्रभाविकता को बढाने या स्वतन्त्र रूप से साख के नियमन का कार्य करता है। प्रारम्भ से ही रिजर्व बैंक खुले बाजार की क्रियायें करता रहा है।

खुले बाजार की क्रियाओ की प्रभाविकता तथा सफलता तीन बातो पर निर्भर करती है. (1) रिजर्व बैंक के साधन (2) उन परिसम्पत्तियो की किस्म तथा मात्रा जिनका रिजर्व बैंक क्रय विक्रय कर सकता है तथा (3) मुद्रा बाजार का सगठन जिसमे यह क्रियाय होती हैं। यद्यपि भारत मे न्यूयार्क तथा लन्दन जैसे विकसित मुद्रा बाजार नही है परन्तु फिर भी बम्बइ का मुद्रा बाजार पर्याप्त विकसित हैं। अमेरिका या इगलैंड की तरह भारत मे खुले बाजार की क्रियाये मुख्य रूप से कोषागार-विपत्रो मे सीमित नही हैं। भारत मे खुले बाजार की क्रियायें मुख्यत. सरकारी बाण्डो मे होती हैं। भारत मे अनुसूचित बैंको को अपने कुल दायित्वो का 25 प्रतिशत तरल परिसम्पत्तियो के रूप मे रखना होता है और इसलिए अनुसूचित बैंक तरल परिसम्पत्तियो का अधिकाश भाग सरकारी प्रतिभूतियो के रूप मे रखते हैं। व्यस्त काल मे वे बैंक उन प्रतिभूतियो को बेचकर (या उनकी धरोहर पर ऋण प्राप्त कर) उद्योग तथा वाणिज्य की साख-आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। खुले बाजार की क्रियायें साख की सामान्य स्थिति तथा बैंको की आवश्यकताओ से ही प्रेरित नही होती बल्कि सरकार की ऋण आवश्यकताओ से भी प्रभावित होती हैं। सरकारी बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक का यह कर्त्तव्य है कि परम प्रतिभूति बाजार (Gilt Edged Market) म सरकार द्वारा ऋण लेन तथा भुगतान क लिए अनुकूल स्थिति पैदा करे। दूसरी ओर सरकार की ऋण प्रक्रियायें इस प्रकार आयो-

जित हो कि जहा तक सम्भव हो, वे मुद्रा तथा पूँजी बाजारो की सामान्य स्थिरः के अनुरूप हो।

द्वितीय महायुद्ध के पहले रिजर्व बैंक की खुले बाजार की क्रियायें बहुत क थी। युद्धोपरान्त खुले बाजार की क्रियाओं की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि हुई। 1948 49 तथा 1950-51 मे रिजर्व बैंक द्वारा प्रतिभूतियो का क्रय विशेष रूप से अधि था। बैंक की सापेक्षिक रूप से स्वतन्त्र क्रय की इस नीति मे नवम्बर 1951 संशोधन किया गया। यह संशोधित नीति पाच वर्षों तक चलती रही। नवम्ब 1956 से मुद्रा बाजार मे कोषो के अभाव को दूर करने के लिए सरकारी ऋण पत्र के क्रय की नीति अपनायी गई। ऋण पत्रों के क्रय-विक्रय के अतिरिक्त बैंक अन्तरर क्रियायं (Switch Operations) [अर्थात् एक प्रकार के ऋण पत्रो को बेचक दूसरो को खरीदना] भी करता है। जून जुलाई 1957 से बैंक ने फिर प्रतिभूतियं को अधिक मात्रा मे बेचना प्रारम्भ कर दिया। 1960 म साख की कमी को दू करने के लिए बैंक ने अधिक मात्रा मे प्रतिभूतियो को खरीदा।

(3) परिवर्तनशील कोषानुपात
(Variable Reserve Ratios)

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट की धारा 42 (1) के अनुसार अनुसूचि बैंको को रिजर्व बैंक के पास अपने माग दायित्वो (Demand Liabilities) का 5 प्रतिशत तथा काल दायित्वों का 2 प्रतिशत नकद के रूप मे जमा करना अनिवार्य था।[1] 1956 मे एक्ट के संशोधन द्वारा रिजर्व बैंक को माँग दायित्वो की प्रतिशत सीमा को 5 से 20 के बीच तथा काल दायित्वो की प्रतिशत सीमा को 2 से 8 प्रतिशत के बीच परिवर्तित करने का अधिकार प्राप्त हो गया।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया द्वारा परिवर्तनशील कोषानुपात की रीति का प्रयोग सर्वप्रथम 11 मार्च 1960 को किया गया जब कोषानुपात के अतिरिक्त माग तथा काल दायित्वो मे वृद्धि का 25 प्रतिशत अतिरिक्त नकद कोष रिजर्व बैंक के पास रखना अनिवार्य हो गया। 6 मई 1960 से इस प्रतिशत को बढ़ाकर 50 कर दिया

---

[1]. बैंकिंग नियमन अधिनियम 1949 की धारा 18 के अनुसार गैर अनुसूचित बैंको को भी अपने पास या रिजर्व बैंक के पास अथवा दोनों के पास अपने काल दायित्वो का 2 प्रतिशत तथा माग दायित्वो का 5 प्रतिशत नकद के रूप मे रखना आवश्यक था। सितम्बर 1962 के संशोधन के अनुसार गैर-अनुसूचित बैंको को रिजर्व बैंक के पास या अपने पास अपने कुल माग तथा काल दायित्वों का 3 प्रतिशत नकद रूप म रखना पड़ता है।

गया। अतिरिक्त नकद कोषो पर ब्याज देने की भी व्यवस्था की गई। 11 नवम्बर 1960 से अशत तथा 13 जनवरी 1961 से पूर्णत: अतिरिक्त जमा सम्बन्धी व्यवस्था समाप्त कर दी गई।

सितम्बर 1962 के सशोधन द्वारा अनुसूचित बैंको को रिजर्व बैंक के पास अपनी कुल जमाम्रो का 3 प्रतिशत अनिवाय रूप से जमा करना पडता है तथा रिजर्व बैंक आवश्यकतानुसार इसको बढाकर 15 प्रतिशत तक कर सकता है। इस प्रकार अब माग तथा काल दायित्वो का भेद समाप्त कर दिया गया है।

(4) प्रवृत्य साख नियन्त्रण
(Selective Credit Controls)

विशिष्ट उद्देश्यो अथवा आर्थिक क्रिया-क्षेत्रो को दी जाने वाली साख का नियमन प्रवृत्य या गुणात्मक साख नियन्त्रण कहलाता है। इसका उद्देश्य आवश्यक तथा विशेष रूप से वाछित क्रियाम्रो को प्रोत्साहन देना और अपेक्षत. अनावश्यक तथा कम वाछित क्रियाम्रो को हतोत्साहित करना होता है। परिमाणात्मक साख नियन्त्रण रीतियो की परिसीमाम्रों के कारण और विशेषकर अर्थव्यवस्था की विशिष्ट प्रकृति के कारण भारत मे प्रवृत्य साख नियन्त्रण की रीतियो का महत्व बढ गया है।

बैंकिंग नियमन अधिनियम की धारा 21, 35 (अ) तथा 36 (1) (अ) के अनुसार रिजर्व बैंक को बैंको द्वारा दिए गये ऋणो का नियन्त्रण करने का अधिकार है। धारा 36 (1) (अ) के अनुसार "रिजर्व बैंक सामान्य रूप से बैंकिंग कम्पनियो को या किसी बैंकिंग कम्पनी को किसी विशिष्ट सौदे या किसी श्रेणी के सौदो के बारे मे सचेत कर सकता है या उसे रोक सकता है, तथा किसी बैंकिंग कम्पनी को सामान्य रूप से परामर्श दे सकता है।"

उपर्युक्त वैधानिक व्यवस्थाओं के अनुसार रिजर्व बैंक ने प्रवृत्य साख नियन्त्रणो का प्रयोग आवश्यक वस्तुओ के सट्टे तथा स्टाक दबाकर रखने के कार्यों के लिए बैंक-साख के उपयोग को रोकने के लिए किया है। द्वितीय पचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से मौद्रिक अधिकारियो के समक्ष मुख्य समस्या मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करने की रही है। रिजर्व बैंक ने प्रवृत्य साख नियन्त्रणो का प्रयोग सबसे पहले 1956 मे प्रारम्भ किया। देश मे प्रवृत्य साख नियन्त्रणो का उपयोग मुख्य रूप से कृषि जन्य पदार्थों की कीमतो को नियन्त्रित करने के लिए ही किया गया। (The primary objective of Selective Controls has been to prevent speculative hoarding of comodities like foodgrains and essential raw materials so as to prevent or control inflationary pressures in these areas) द्वितीय योजना काल मे कीमतो में लगातार वृद्धि हो रही थी। निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र को बैंक साख की

वृद्धि, मुद्रा स्फीति का प्रधान कारण थी। इसीलिए 17 मई 1956 को रिजर्व बैंक ने एक आदेश पत्र द्वारा वस्तुओं की जमानत पर अत्यधिक ऋण देने की मनाही कर दी, विशेषकर धान तथा चावल पर किसी ग्राहक को 50 000 रुपये से अधिक का ऋण देने से मना किया गया था। बैंकों को धान तथा चावल पर दिए गये ऋणों का सीमान्तर 10 प्रतिशत बढ़ाने तथा उन पर दिए गये कुल ऋणों को पिछले वर्ष के उसी समय की तुलना में 125 प्रतिशत की सीमा तक घटाने का आदेश दिया गया। सितम्बर 1956 में यह नियन्त्रण गेहूँ चना दालों कपास, कपडा तथा सूत पर भी लागू किए गये। नवम्बर 1956 में धान तथा चावल के सम्बन्ध में नियन्त्रण समाप्त कर फिर 9 फरवरी 1957 को पुनः लागू कर दिए गये। इसी प्रकार जून 1957 सितम्बर 1958, फरवरी 1959 दिसम्बर 1959, फरवरी 1962, जुलाई, अगस्त दिसम्बर 1964 मई 65 अप्रैल 1966 जनवरी 1967 में विभिन्न प्रकार के ऋण सम्बन्धी नियन्त्रण लगाये गये।

हर्ष का विषय है कि रिजर्व बैंक ने लोचदार ढंग से इन रीतियों का प्रयोग किया है। इनका समग्र प्रभाव सुधारक की अपेक्षा निवारक अधिक रहा है। (The overall effect of various directives has been more preventive than curative) इन रीतियों के प्रयोग के सम्बन्ध में मुख्य सीमाएं इनकी सुप्रभाविकता को कम कर देती हैं। एक तो बहुत से बैंकों पर निर्देशों को लागू करना कठिन है। (Difficulty in Implementation and Enforcement) और दूसरे अन्य स्रोतों (स्वदेशी बैंकरों) से अग्रिम प्राप्त हो जाने से प्रवृत्य साख नियन्त्रण प्रभावी नहीं रहते भारत में प्रवृत्य साख नियन्त्रण के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष सर्वथा सत्य है

"Selective credit controls have played only a negative part in the sense that th y are appl d with the sole intention of curb ng exce sive advances to particular sectors of the economy Recent experiments in advanced countries suggest that they can be used for making credit more purpose oriented

(5) नैतिक अनुनय
(Moral Suasion)

साख नियन्त्रण के अन्य साधनों के अतिरिक्त रिजर्व बैंक नैतिक अनुनय (Moral Suasion) की रीति का भी प्रयोग करता है। रिजर्व बैंक द्वारा इस रीति का प्रयोग बैंकरों के बीच अधिक मधुर तथा सहकारी वातावरण बनाने के लिए किया गया जिससे मित्रता पूर्ण ढंग से नियन्त्रण के उपाय लागू किए जा सकें। समय समय पर रिजर्व बैंक के गवर्नर तथा अन्य अधिकारी मुख्य बैंकरों से मिलकर नीतियों का स्पष्टीकरण करते हैं और उनके सहयोग की आशा करते हैं। सितम्बर 1949

मे भारतीय रुपये के अवमूल्यन के पश्चात रिजर्व बैंक के गवर्नर ने प्रमुख बैंकों की सभा कर उनसे सट्टे के लिए अग्रिम न देने का अनुरोध किया। जून 1957 मे व्यापारिक बैंको से कृषि जन्य पदार्थों पर अग्रिम की मात्रा को घटाने का अनुरोध किया गया। इसी प्रकार जून तथा दिसम्बर 1959 तथा मई 1960 मे निर्देश दिए गये। समय-समय पर रिजर्व बैंक बैंको की ऋण तथा अन्य नीतियो को अपनी मौद्रिक नीति के अनुरूप बनाता रहता है।

रिजर्व बैंक का विकासात्मक दायित्व
(Developmental Role of Reserve Bank)

केन्द्रीय बैंक के रूप मे मुद्रा तथा साख व्यवस्था के सचालन, सरकारी बैंक तथा बैंको के बैंक के सामान्य परम्परागत कार्य करने के अतिरिक्त रिजर्व बैंक पर देश के आर्थिक विकास के क्षेत्र मे कुछ महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व सौंपे गये हैं। प्रतिबन्धात्मक कार्य (Restrictive Role) के साथ रिजर्व बैंक का (Promotional Role) या विकासात्मक (Developmental Role) भी है। इस सन्दर्भ मे रिजर्व बैंक कृषि वित्त व्यवस्था तथा औद्योगिक वित्त व्यवस्था के क्षेत्र मे विशेष दायित्व रखता है।

रिजर्व बैंक तथा ग्राम्य वित्त
(Reserve Bank and Rural Credit)

भारत की अर्थव्यवस्था का आधार कृषि होने के कारण इस क्षेत्र के लिए वित्त सुविधाये जुटाने मे रिजर्व बैंक का विशेष उत्तरदायित्व है। अप्रेल 1935 मे बैंक की स्थापना के साथ ही एक कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) की स्थापना की गई थी जिसके निम्नलिखित उद्देश्य थे :

(अ) कृषि साख से सम्बन्धित सभी समस्याओ के अध्ययन के लिए विशेषज्ञ कर्मचारी रखना तथा केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारो, राज्य सहकारी बैंको तथा अन्य बैंकिंग सस्थाओ को परामर्श देने के लिए उपलब्ध रहना।

(ब) कृषि साख के सम्बन्ध मे बैंक की क्रियाओ तथा राज्य सहकारी बैंको, अन्य बैंको अथवा कृषि वित्त व्यवस्था म सलग्न सस्थाओ के सम्बन्धो मे समन्वय स्थापित करना।

ग्रामीण बैंकिंग जाच समिति 1950 तथा ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति 1954 ने ग्रामीण वित्त व्यवस्था की जाच कर उसम सुधार के लिए सुझाव दिए। सर्वेक्षण समिति द्वारा बताई गई ग्रामीण साख की समग्र योजना (Integrated Scheme of Rural Credit) मे रिजर्व बैंक पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाने का उत्तरदायित्व सौंपा गया।

रिजर्व बैंक द्वारा सहायता (Assistance provided by the Bank):—

अधिनियम के अनुसार रिजर्व बैंक को कृपको को प्रत्यक्ष रूप से साख देने का अधिकार नहीं है, वह सहकारी ग्रान्दोलन को वित्त सहायता राज्य सहकारी बैंको के माध्यम से ही देता है। अनुसूचित बैंको की तरह राज्य सहकारी बैंको को रिजर्व बैंक अग्रिम तथा पुन बट्टा की सुविधायें देता है। राज्य सहकारी बैंको को रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा 17 (2) (अ), (ब) तथा (सस) के अन्तर्गत पुन बट्टा के रूप मे सहायता, धारा 17 (4) (स) के अन्तर्गत स्वीकृत बिलो की जमानत पर ऋण तथा धारा 17 (4) के अन्तर्गत सरकारी तथा न्यास प्रतिभूतियो की जमानत पर अग्रिम द्वारा वित्तीय सहायता देता है। रिजर्व बैंक यह सहायता बैंक दर से 2 प्रतिशत कम पर प्रदान करता है। रिजर्व बैंक की यह वित्तीय सहायता अधिकतर अल्पकालीन होती है परन्तु फरवरी 1955 से रिजर्व बैंक मध्यमकालीन सहायता भी देता है। अप्रत्यक्ष रूप से रिजर्व बैंक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको के ऋण-पत्र खरीदकर दीर्घकालीन सहायता भी देता है।

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति, 1954 (All India Rural Credit Survey Committee, 1954) : ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति, 1954 के सुझाव पर दीर्घकालीन ग्रामीण साख की पूर्ति हेतु दो कोषो की स्थापना की गई :—

(1) **राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष (National Agricultural Credit [Long Term Operations] Fund):—**इस कोष की स्थापना 3 फरवरी 1956 को हुई थी। इस कोष मे सरकार ने प्रारम्भ मे 10 करोड रुपया जमा के रूप म दिया और अगले पाच वर्षों मे रिजर्व बैंक द्वारा प्रतिवर्ष 5 करोड रुपया जमा करने की व्यवस्था थी। इस कोष का उद्देश्य (1) राज्य सरकारो को 20 वर्ष की अवधि के लिए ऋण तथा अग्रिम देना है जिससे वे सहकारी साख संस्थाओ की अश पूंजी खरीद सके, (2) राज्य सहकारी बैंको को 15 माह से 5 वर्ष की अवधि के मध्यकालीन ऋण देना, (3) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको को अधिक से अधिक 20 वर्षों की अवधि के लिए ऋण देना तथा (4) रिजर्व बैंक द्वारा केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण-पत्र खरीदना है।

मार्च 1968 के अन्त तक इस कोष मे 131 करोड रुपये जमा थे। जून 1968 तक रिजर्व बैंक ने राज्य सरकारो को 31.69 करोड रुपये तथा राज्य सहकारी बैंको को 16 47 करोड रुपये की राशि इस कोष से ऋण के रूप मे दी थी।

(2) **राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष [National Agricultural Credit (Stabilisation) Fund] :** इस कोष की स्थापना 30 जून 1956 को हुई थी। स्थिरीकरण कोष का प्रयोग राज्य सहकारी बैंको को मध्यकालीन ऋण

तथा अग्रिम प्रदान करने के लिए किया जाता है जिससे वे वर्षा की कमी, अकाल तथा अन्य प्राकृतिक विपत्तियो के कारण आवश्यकता पडने पर अपनी अल्पकालीन साख को मध्यकालीन साख मे परिवर्तित कर सकें। जून 1956 से अगले पाँच वर्षो मे प्रतिवर्ष 1 करोड रुपया रिजर्व बैंक द्वारा जमा की जाने की व्यवस्था की गई थी। जून 1968 तक इस कोष मे 33 करोड रुपये की राशि जमा थी। 1966–67 मे 4.68 तथा 1967–68 मे 6.43 करोड रुपये के ऋण राज्य सहकारी बैंको को दिये गये थे।

इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक दीर्घकालीन साख की पूर्ति के लिए केन्द्रीय भूमि बधक बैंको के ऋण पत्र खरीदता है।

रिजर्व बैंक ने 1963 मे स्थापित कृषि पुनर्वित्त निगम (Agricultural Refinance Corporation) के अश खरीदकर अल्प, मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋणो की बहुमुखी व्यवस्था करने मे सहायता दी है। अपनी स्थापना से मार्च 1968 तक निगम ने पुनर्वित्त की 75 83 करोड रुपये वाली 95 योजनाए स्वीकृत की और वास्तव मे 62 20 करोड रुपये स्वीकृत किए।

रिजर्व बैंक सहकारी बैंको का निरीक्षण तथा सहकारी कर्मचारियो को प्रशिक्षित करता है।

रिजर्व बैंक द्वारा राज्य सहकारी बैंको को दिये गये ऋणो का विवरण निम्न तालिका मे प्रस्तुत है -

रिजर्व बैंक तथा सहकारी साख

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	ऋण (Advance)	ऋण-शेष (Outstanding
1950–51	5 37	3.39
1955–56	23.00	12 33
1960–61	147.11	89 41
1965–66	293 44	161 72
1966 67	330.94	170.68
1967–68	453.96	196 73
1968–69	484.68	244 18

10 करोड की अधिकृत पूँजी वाले प्रस्तावित उर्वरक साख तथा गारन्टी निगम (Fertiliser Credit Guarantee Corporation) की स्थापना मे 60 प्रतिशत पूँजी खरीद कर रिजर्व बैंक महत्वपूर्ण योगदान करेगा।

रिजर्व बैंक तथा औद्योगिक वित्त
(Reserve Bank and Industrial Finance)

एक विकासशील अर्थव्यवस्था मे औद्योगिक वित्त व्यवस्था का विकास करने की परम आवश्यकता है। देश मे बढते हुए औद्योगीकरण तथा आन्तरिक पूँजी बाजार मे पर्याप्त सुविधाओ के अभाव के कारण उद्योगो को मध्य तथा दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने वाली सस्थाओ की स्थापना अनिवार्य है। इसी उद्देश्य से **औद्योगिक वित्त निगम** की 1948 मे स्थापना की गई। औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना के समय उसकी 5 करोड रुपये की निर्गमित पूजी का 20 प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक ने जुटायी थी परन्तु 1 अगस्त 1964 से सभी अश रिजर्व बैंक द्वारा उसकी सहायक के रूप मे स्थापित औद्योगिक विकास बैंक को हस्तान्तरि कर दिये गये हैं। औद्योगिक वित्त निगम की वित्तीय स्थिति को सुदृढ बनाने के लिए रिजर्व बैंक तथा भारत सरकार ने निगम मे अपन अशो पर लाभाश न लेना स्वीकार किया। यह लाभाश तब तक एक रक्षित कोष मे जमा होता रहगा जब तक कोष राशि 50 लाख रुपये न हो जाय। इसके अतिरिक्त, 1953 मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट मे हुए एक सशोधन द्वारा रिजर्व बैंक निगम को अल्प तथा मध्यकालीन ऋण तथा अग्रिम देने का अधिकार रखता है। वित्त निगम द्वारा रिजर्व बैंक से लिए गये ऋणो की राशि 1963-64 मे 1 24 करोड रुपये थी 1968-69 मे बढ कर 8 6 करोड रुपये हो गई।

मध्यम तथा लघु उद्योगो की मध्यम तथा दीर्घकालीन पूंजी की आवश्यकता-पूर्ति के लिए 1951 मे **राज्य वित्त निगम** अधिनियम पारित किया गया। 18 राज्यो मे स्थापित राज्य वित निगमो की पूजी का 10 से 20 प्रतिशत तक रिजर्व बैंक ने जुटायी है और बैंक के पास 2 43 करोड रुपये के इन सस्थाओ के अश हैं। रिजर्व बैंक द्वारा इन राज्य वित निगमो को भी ऋण देने की व्यवस्था है।

राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घकालीन) कोष [National Industrial Credit (Long Term Operations) Fund] : रिजर्व बैंक ने राज्य वित्त निगमो के विकास के लिए 1 जुलाई 1964 से एक राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घकालीन) कोष का प्रारम्भ किया गया है। इस कोष मे प्रारम्भ मे 10 करोड तथा आगे और राशि रिजर्व बैंक द्वारा जमा की जानी थी। 30 जून 1968 तक इस कोष मे 55 करोड रुपये की राशि जमा थी। इस कोष के मुख्य उद्देश्य हैं—(1) औद्योगिक विकास बैंक को औद्योगिक वित्त निगम या राज्य वित्त निगमो या अन्य वित्तीय सस्थाओ के अश या ऋण-पत्र खरीदने के लिए ऋण देना। (2) औद्योगिक विकास बैंक के अन्य कार्यो के लिए ऋण देना तथा (3) औद्योगिक विकास बैंक द्वारा निर्गमित बाडस तथा ऋण-पत्र खरीदना।

साख गारन्टी योजना (Credit Guarantee Scheme) लघु उद्योगों को दी जाने वाली वित्त सहायता को प्रोत्साहित करने के लिए 1 जुलाई 1960 से भारत सरकार ने एक साख गारन्टी योजना प्रारम्भ की है। इस योजना के अन्तर्गत लघु उद्योगों को दिये जाने वाले ऋणों से ऋणदाता संस्थाओं को होने वाली हानि को उनमे तथा भारत सरकार मे बाटने की व्यवस्था है। जुलाई 1960 से मार्च 1968 तक 70,197 प्रार्थनायें प्राप्त हुई जिनकी राशि 306 करोड रुपये थी। इनमे से 63,065 प्रार्थना पत्रों पर 260.6 करोड रुपये की गारन्टिया दी गई।

इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने अपनी सहायक के रूप मे औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank of India) की स्थापना की है जिसने 1 जुलाई 1964 मे कार्य करना प्रारम्भ किया। औद्योगिक विकास बैंक की कुल पूंजी रिजर्व बैंक द्वारा जुटाई गई है और उसका प्रबन्ध रिजर्व बैंक के संचालक मंडल द्वारा ही होता है।

औद्योगिक साख के क्षेत्र मे उपर्युक्त सहायता के अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने यूनिट ट्रस्ट ग्राफ इण्डिया की पूंजी मे भी योगदान किया है। यूनिट ट्रस्ट अपनी नीति निर्धारण मे रिजर्व बैंक के निर्देशों का पालन करता है।

रिजर्व बैंक की आलोचना
(Criticism of the Reserve Bank)

यद्यपि रिजर्व बैंक ने देश के मुद्रा बाजार तथा बैंकिंग संगठन को सुदृढ बनाने मे महत्वपूर्ण कार्य किया है परन्तु निम्नलिखित असफलताओं के आधार पर उसकी आलोचना की जाती है :

(1) **मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने मे असफल** (Failure to control Inflation) द्वितीय योजना के प्रारम्भ से देश मे अत्यधिक मुद्रा स्फीति के लक्षण प्रकट होने लगे। कुछ अपवादों को छोडकर तब से कीमत-तल मे लगातार वृद्धि हो रही है। देश के सामने प्रमुख समस्या मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करने की है। देश ने Growth without inflation के स्थान पर Inflation without growth को प्राप्त किया है। मुद्रा पूर्ति की तुलना मे उत्पादन मे संतोषजनक वृद्धि नहीं हुई है। इस दिशा मे रिजर्व बैंक को विशेष सफलता नहीं मिली है।

(2) **मुद्रा बाजार के असंगठित भाग पर नियन्त्रण मे असफल** (Failure to have control over unorganised sector of the Money Market) · मुद्रा बाजार की द्विशाखिता दूर करने तथा स्वदेशी बैंकरों को देश के संगठित बैंकिंग प्रवाह के अन्तर्गत लाने मे रिजर्व बैंक के सभी प्रयत्न असफल रहे हैं।

(3) रुपये के बाह्य मूल्य मे स्थिरता बनाये रखने मे असफल (Failure to maintain the external value of the Rupee) : रुपये के बाह्य मूल्य म स्थिरता, भुगतान शेष तथा विदेशी विनिमय की समस्याओ का समाधान अब भी नही निकल पाया है । 1966 का अवमूल्यन हमारी आर्थिक तथा मौद्रिक नीतियो की असफलता का प्रमाण है ।

(4) बैंको को फेल होने से रोकने मे असफल (Unsuccessfull in preventing failure of Banks) : 1960 म पलाई सेन्ट्रल बैंक तथा लक्ष्मी बैंक के फल हो जाने से देश के बैंकिंग सगठन तथा रिजर्व बैंक की प्रतिष्ठा को एक मनोवैज्ञानिक आघात लगा । पलाई बैंक की वित्तीय स्थिति की जानकारी होते हुए भी रिजर्व बैंक न कोई कठोर कदम नही उठाया जो उसकी उदासीनता का परिचायक है । अब रिजर्व बैंक इस दिशा म अधिक सचेत है ।

(5) ब्याज दरो की विभिन्नता दूर करने मे असफल (Failure to bring uniformity of Interest Rates in the Money Market) : भारतीय मुद्रा बाजार म ब्याज दरो की विभिन्नता दूर करने म रिजर्व बैंक को कोई सफलता नही मिली ।

(6) कृषि-वित्त समस्या (Problem of Agricultural Finance) : कृषि वित्त की समस्या के आकार तथा जटिलताओ के कारण जो कुछ भी इस क्षेत्र म हुआ है, बहुत कम है । व्यापारिक बैंको द्वारा ग्रामीण क्षेत्रो म शाखाओ का विस्तार तथा कृषि वित्त व्यवस्था करने म उनकी प्रगति बडी धीमी है ।

उपर्युक्त आलोचनाओ के साथ बिल बाजार का अभाव, साख नियन्त्रण नीतियो, लाइसेन्स नीति, सूचनाओ तथा आकडो के प्रकाशन के सम्बन्ध म रिजर्व बैंक की आलोचना की जाती रही है ।

रिजर्व बैंक की सफलतायें
(Achievements of the Reserve Bank)

कुछ क्षेत्रो म रिजर्व बैंक की विफलताओ के बावजूद रिजर्व बैंक ने देश की आर्थिक तथा वित्त व्यवस्था सम्बन्धी महत्वपूर्ण सेवायें की हैं । रिजर्व बैंक ने निम्नलिखित क्षेत्रो म सराहनीय कार्य किया है :

[1] मुद्रा व्यवस्था का कुशल सचालन (Efficient Management of the currency system) रिजर्व बैंक ने देश की मुद्रा व्यवस्था का सफलतापूर्वक कुशल सचालन तथा प्रबन्ध किया है । देश के योजनात्मक विकास की आवश्यकतानुसार सरकार की अर्थ नीति के अनुरूप मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि की है । मुद्रा की माँग के अनुसार उसकी पूर्ति मे समायोजन कर मुद्रा व्यवस्था मे लोच लाने का श्रेय रिजर्व बैंक को है ।

(2) साख के नियन्त्रण तथा नियमन मे सफलता (Successful Control and Regulation of Credit) : देश की आवश्यकतानुसार साख के सृजन तथा उसके वितरण का नियन्त्रण तथा नियमन कर रिजर्व बैंक ने महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की है। अर्थव्यवस्था की विशिष्ट प्रकृति को दृष्टिगत रखते हुए प्रवृत्य साख नियन्त्रण रीतियो का लोचपूर्ण ढग से प्रयोग किया है। इस प्रकार उत्पादन वृद्धि तथा तीव्र गति से आर्थिक विकास को रिजर्व बैंक ने प्रोत्साहन दिया है।

(3) बैंकिंग विकास तथा नियमन (Development and Regulation of Banking) : देश की बैंक व्यवस्था का नियमन तथा बैंकिंग सेवाओ के विकास और विस्तार मे रिजर्व बैंक ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। बैंकिंग विकास विभाग (Department of Banking Development) के द्वारा रिजर्व बैंक ने ग्रामीण तथा अर्द्ध-नगरीय क्षेत्रो मे बैंको की शाखाओ का विस्तार कर वहा बैंकिंग सुविधायें उपलब्ध कराने मे सहायता की है। बैंकिंग प्रक्रियाओ के विभाग (Department of Banking Operations) के द्वारा रिजर्व बैंक ने बैंकिंग नियमन अधिनियम तथा रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारो का प्रयोग कर बैंकिंग व्यवस्था का नियन्त्रण तथा नियमन किया है।

(4) कृषि वित्त तथा औद्योगिक वित्त क्षेत्रो मे सहायता (Assistance in the field of Agricultural and Industrial Finance) : जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है रिजर्व बैंक ने कृषि-वित्त तथा औद्योगिक वित्त सुविधाओ के विकास मे पर्याप्त योगदान देकर देश की आर्थिक प्रगति मे सहायता की है।

(5) सार्वजनिक ऋण प्रबन्ध (Management of Public Debt) : रिजर्व बैंक ने समय समय पर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के लिए ऋण प्राप्त किया है तथा उनका भुगतान किया है।

(6) समाशोधन तथा प्रेषण सुविधायें (Clearing and Remittance facilities) : रिजर्व बैंक ने देश के विभिन्न नगरो मे समाशोधन सुविधाओ तथा बैंको के कोषो के स्थानान्तरण की सुविधाओ का विस्तार कर देश की बैंक व्यवस्था की बडी सेवा की है। इस प्रकार पूजी की गतिशीलता बढाने मे रिजर्व बैंक ने सहायता की है।

उपसंहार (Conclusion) : रिजर्व बैंक की असफलताओ तथा सफलताओ के विवेचन से स्पष्ट है कि कुछ अपवादो को छोडकर रिजर्व बैंक ने देश की बैंक तथा वित्त व्यवस्था की अभूतपूर्व सेवा की है। श्री सिद मित्र (Sid Mittra) के शब्दो मे :

"......considering the functional limitations and the institutional framework within which the Reserve Bank had to function—as a versatile and percipient institution, the Bank protected the economy as best as feasible against disturbance of the even tenor of progress through judicious, skilful and pliant employment of the specially devised techniques of monetary management."[1]

फिर भी आज आवश्यकता इस बात की है कि रिजर्व बैंक अपने अधिकारों का पर्याप्त मात्रा मे देश हित मे प्रयोग करे। बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण व्यवस्था द्वारा रिजर्व बैंक को अब और भी विस्तृत अधिकार प्राप्त हो गये हैं। यह अवश्य है कि रिजर्व बैंक के कार्यों तथा दायित्वो का बोझ अब इतना अधिक बढ गया है कि कुछ लोगो ने भारत मे अमेरिका की फेडरल रिजर्व व्यवस्था की तरह कोई विकेन्द्रित केन्द्रीय बैंक व्यवस्था अपनाने का सुझाव दिया है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

1. रिजर्व बैंक के एक केन्द्रीय बैंक के रूप मे कार्य की समीक्षा कीजिये। सुधार के लिए सुझाव दीजिए।

(राजस्थान टी०डी०सी फाइनल, 1969)
(विक्रम बी०ए०, 1961

[सकेत—प्रथम भाग मे रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों (साख नियमन तथा नियन्त्रण के सहित) का विवेचन कीजिए। दूसरे भाग मे उसके केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों को और निपुणता तथा सफलतापूर्वक करने के सम्बन्ध मे अपने सुझाव दीजिये।]

2. भारत के योजनाबद्ध आर्थिक विकास के काल मे रिजर्व बैंक के कार्यों का सक्षिप्त मूल्याकन कीजिये।

(राजस्थान टी०डी०सी० फाइनल, 1967)

[सकेत—1951 मे योजनाबद्ध आर्थिक विकास के प्रारम्भ से अब तक रिजर्व के कार्यों (साख नियमन तथा नियन्त्रण सहित) का विवेचन कीजिए तथा साथ-साथ उनकी सफलता का मूल्याकन भी करिये।]

3. भारत मे रिजर्व बैंक द्वारा प्रयुक्त मुद्रा एव साख नियन्त्रण के विभिन्न तरीकों का विवरण दीजिये।

(राजस्थान टी०डी०सी० फाइनल, 1965)

[1]. Sid Mittra : *A New Horizon in Central Banking*, 1967, p 247.

अथवा

इस देश की बैंक व्यवस्था मे रिजर्व बैंक क्या भूमिका निभाता है ? देश मे मुद्रा तथा साख का नियन्त्रण वह किस प्रकार करता है।

(राजस्थान बी०काम०, 1961)

[संकेत—रिजर्व बैंक के केन्द्रीय बैंक के रूप मे केवल दो कार्यों का विवेचन कीजिये—मुद्रा निर्गमन का एकाधिकार तथा साख का नियन्त्रण। साख नियन्त्रण के कार्य के अन्तर्गत रिजर्व बैंक द्वारा प्रयुक्त पाच रीतियो—बैंक दर नीति, खुले बाजार की क्रियाये, परिवर्तनशील कोषानुपात, प्रवृत्य साख नियन्त्रण तथा नैतिक अनुनय का रिजर्व बैंक के सन्दर्भ मे विवरण दीजिये।]

4 व्यापारिक बैंको का नियन्त्रण तथा नियमन करने मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।

(राजस्थान टी०डी०सी० फाइनल, 1968)

[संकेत—बैंकिंग नियमन अधिनियम 1949 तथा रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट 1934 के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को व्यापारिक बैंको का नियन्त्रण तथा नियमन सम्बन्धी जो अधिकार प्राप्त है उनका विवरण दीजिये। लाइसेंस, प्रबन्ध, पूंजी, तरल कोष शाखा-विस्तार, निरीक्षण, अवसायन तथा विलयन इत्यादि सम्बन्धी रिजर्व बैंक के अधिकारो का वर्णन कीजिय। संक्षेप म यह भी बताइये कि इसमे रिजर्व बैंक कहा तक सफल हुआ है।]

———

34

स्टेट बैंक ग्राफ इन्डिया
(State Bank of India)

"The establishment of the State Bank of India has marked a significant step in the field of integrated rural credit."

स्टेट बैंक ग्राफ इण्डिया की स्थापना स्टेट बैंक ग्राफ इण्डिया अधिनियम 1955 के अन्तर्गत हुई और इसने 1 जुलाई 1955 से अपना कार्य प्रारम्भ किया। इम्पीरियल बैंक ग्राफ इण्डिया के राष्ट्रीयकरण के बाद यह स्टेट बैंक के नवीन रूप मे कार्य कर रहा है। व्यापारिक बैंक के रूप मे यह वे सभी कार्य करता है जो इम्पीरियल बैंक किया करता था। इसके अतिरिक्त देश के ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार का विशेष उत्तरदायित्व इस बैंक को सौंपा गया है। अतः इस बैंक का विस्तृत अध्ययन करने से पहले इम्पीरियल बैंक के सम्बन्ध मे संक्षिप्त विवरण प्राप्त करना आवश्यक होगा।

इम्पीरियल बैंक ग्राफ इण्डिया (Imperial Bank of India) : इम्पीरियल बैंक ग्राफ इन्डिया का निर्माण बम्बई, बंगाल तथा मद्रास प्रेसीडेन्सी बैंको को मिलाकर इम्पीरियल बैंक ग्राफ इन्डिया अधिनियम 1920 के अन्तर्गत हुआ था। इम्पीरियल बैंक की अधिकृत पूँजी 11.25 करोड रुपये निश्चित की गई थी जिसमें से आधी परिदत्त पूँजी थी और शेष आधी अंशधारियो के रक्षित दायित्व के रूप मे। यह पूजी 500 रुपये के 2 25 लाख अंशो म विभाजित थी। अधिनियम के अन्तर्गत बैंक का प्रबन्ध एक केन्द्रीय सचालक मण्डल (Central Board of Directors) के आधीन था जिसमे 16 सचालक थे जो गवर्नर कहलाते थे। बैंक की नीति निर्धारण का उत्तरदायित्व इसी मण्डल पर था। क्षेत्रीय स्वार्थों की सुरक्षा हेतु केन्द्रीय सचालक मण्डल के आधीन बम्बई, कलकत्ता और मद्रास मे अंशधारियो द्वारा निर्वाचित तीन स्थानीय बोर्डो (Local Boards) का गठन किया गया था।

इम्पीरियल बैंक ग्राफ इन्डिया सरकारी बैंक तथा बैंको के बैंक के रूप मे केन्द्रीय बैंकिंग कार्य किया करता था। 1935 मे रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व यह कार्य इम्पीरियल बैंक ने व्यापक रूप से किए परन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद

इसमे काफी कमी हो गई। इसके अतिरिक्त व्यापारिक बैंक के रूप मे भी साधारण बैंकिंग कार्य यह बैंक करता था।

इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक न बनाने के कारण :

1935 मे रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की एक केन्द्रीय बैंक के रूप मे स्थापना हुई। गत 14 वर्षों से केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों को करने वाले इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक नहीं बनाया गया जिसके निम्नलिखित कारण थे—

1. केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों की जटिलता तथा स्वस्थ व नवीन परम्परायें कायम करने की आवश्यकता : केन्द्रीय बैंकिंग एक जटिल तथा कठिन विषय है। इसके अपने सिद्धान्त तथा विशेषतायें है। अत. इन कार्यों को करने के लिए एक स्वतन्त्र तथा नवीन सस्था होनी चाहिये जो स्वस्थ परम्पराओ का निर्माण कर सके और फिर इम्पीरियल बैंक का इतिहास कोई बहुत सुन्दर इतिहास नही था।

2. व्यापारिक कार्य समाप्त करने पड़ते : इम्पीरियल बैंक एक व्यापारिक बैंक था जिसकी शाखायें देश भर मे फैली हुई थी। केन्द्रीय बैंकिंग सिद्धान्तो के अनुसार केन्द्रीय बैंक की कार्य प्रणाली पूर्णतया सुरक्षित होनी चाहिए और उसे किसी प्रकार का जोखिम वाला व्यापार नही करना चाहिए। बैंकों के बैंक के रूप म कार्य करने के लिए केन्द्रीय बैंक को अन्य व्यापारिक बैंको मे प्रतिस्पर्धा नहीं करनी चाहिये। यदि इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक बना दिया गया होता तो इसे अपने व्यापारिक कार्य समाप्त करने पडते जिससे देश की बैंकिंग व्यवस्था को हानि पहुचने की आशका थी। इण्डिया आफिस के वित्तीय सचिव श्री किश ने हिल्टन यग कमीशन के समक्ष अपनी गवाही म इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक न बनाने का सुझाव दिया था।[1]

3. देश के बैंको का इम्पीरियल बैंक मे अविश्वास : इम्पीरियल बैंक देश के अन्य बैंको से प्रतिस्पर्धा तथा भेदभाव किया करता था। अतः भारतीय बैंको का इम्पीरियल बैंक मे कोई विश्वास नही था। इम्पीरियल बैंक एक व्यापारिक बैंक होते हुए भी एक विशेष स्थिति मे था। अतः अन्य बैंक उससे घृणा तथा द्वेष रखते थे। ऐसी परिस्थिति मे इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक के रूप मे अन्य बैंको का सहयोग मिलना बडा कठिन था और उसकी सफलता संदिग्ध थी।

(4) इम्पीरियल बैंक के सचालक मडल का विरोध . इम्पीरियल बैंक का संचालक मडल इस बैंक के साधारण व्यापारिक बैंकिंग कार्यों को छोडने के पक्ष मे नहीं था।

---

[1]. The holder of ultimate reserves of the country should not itself be the channel through which credit was given to individuals & firms"—Mr. Kisch, Financial Secretary at the India Office See Minutes of Evidence of the commission, Vol V, p 132.

(5) चलन व्यवस्था बैंक के स्वार्थों से नियंत्रित होती : यह भी संदेह प्रकट किया गया था कि चलन का प्रबन्ध भी इम्पीरियल बैंक के पास रहता तो वह उसके स्वार्थों से नियन्ति होती न कि देश हित से।

वास्तव मे इम्पीरियल बैंक एक विदेशी स्वार्थों की रक्षा करने वाला बैंक था और भारतीय बैंको से वह भेदपूर्ण नीति अपनाता था। इन्ही सब कारणो से इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक के रूप मे परिवर्तित करना उपयुक्त नही समझा गया।

इम्पीरियल बैंक की कार्यप्रणाली मे दोष :

भारतीय बैंकिंग व्यवस्था मे इम्पीरियल बैंक का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। 1935 के अप्रेल मे रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद भी रिजर्व बैंक के अभिकर्त्ता के रूप मे इसकी विशेष स्थिति बनी रही। देश का सबसे बडा व्यापारिक बैंक होते हुए भी इसकी कार्य प्रणाली मे निम्नलिखित दोष थे :

(1) विदेशी प्रभुत्व (Foreign domination) · इम्पीरियल बैंक की अधिकाश पूँजी विदेशियो के हाथ मे थी तथा इसका प्रबन्ध व सचालन योरोपियनो के द्वारा होता था। बैंक के अधिकाश उच्चाधिकारी विदेशी थे। विदेशी प्रबधक भारत विरोधी भावनायें रखते थे। यह बैंक उच्च पदो पर भारतीयो की नियुक्ति नही करता था जिस कारण भारतीयो को उन्नति के अवसर उपलब्ध नही हो पाते थे। केन्द्रीय जाच समिति के समक्ष बैंक के प्रबध गवर्नर ने अपनी गवाही मे कहा था कि बैंक भारतीयकरण की नीति अपना रहा है, परन्तु इस ओर विशेष प्रगति न हो सकी।

(2) भेदपूर्ण नीति (Discriminatory policy) : बैंक पर विदेशी प्रभुत्व होने के कारण ऋण देने मे जातीय तथा राजनैतिक भेदभाव की नीति अपनाता था। विदेशी व्यापारियों को उनकी आर्थिक सामर्थ्य से अधिक ऋण रियायती दर दिया करता था और भारतीय व्यापारी अपना सम्पत्तिओ के अनुरूप ऋण नही प्राप्त कर पाते थे। भारतीय बैंको की अपेक्षा विदेशी विनिमय बैंको के प्रति यह बैंक अधिक उदारता की नीति अपनाता था।

(3) अमितव्ययी प्रबंध (Top heavy Management) : इम्पीरियल बैंक का कोई एक केन्द्रीय कार्यालय नही था और बम्बई, कलकत्ता और मद्रास म तीन मुख्य कार्यालय थे जिससे प्रबध व्यय बहुत अधिक होता था। केवल एक केन्द्रीय कार्यालय स्थापित करके इसमे काफी बचत की जा सकती थी।

(4) बिल बाजार के विकास मे बाधा : बैंक के विरुद्ध यह आरोप भी लगाया गया कि इसने भारतीय मुद्रा बाजार एव बिल बाजार के विकास मे पर्याप्त सहयोग नही दिया क्योंकि इसकी अधिकाश साख नक्द के रूप मे होती थी।

(5) **दोषपूर्ण शाखा-विस्तार नीति :** अधिकतर इम्पीरियल बैंक ने अपनी शाखायें ऐसे स्थानो पर खोली जहा पहले से ही अन्य बैंको की शाखायें थी। इसका परिणाम यह हुआ कि देश मे बैंकिंग सुविधाओ का विस्तार होने के स्थान पर भारतीय बैंको से प्रतियोगिता बढी और उन्हे हानि पहुँची।

(6) **ग्रामीण क्षेत्रों की कीमत पर वित्तीय केन्द्रो को सहायता** बैंक पर यह भी आरोप था कि यह अपनी शाखाओ का प्रयोग ग्रामीण क्षेत्रो से निक्षेप प्राप्त कर कुछ नगरो के व्यापार की वित्त व्यवस्था करता है।

उपरोक्त कारणो से इम्पीरियल बैंक का विरोध बढता गया और इसके राष्ट्रीयकरण की माग जोर पकडती गई।

इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Imperial Bank of India)

इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया के राष्ट्रीयकरण की माग स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् और भी तीव्र हो गई। 1948 मे भारतीय धारा सभा (Indian Constituent Assembly [Legislative]) मे रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के समय तत्कालीन वित्त मत्री ने इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की माग को सिद्धान्त रूप मे स्वीकार किया, क्योकि यह बैंक एक विशेष अधिनियम के अन्तरगत कार्य कर रहा है। परन्तु बैंक की शाखाये पाकिस्तान, श्रीलका तथा बर्मा मे होने के कारण राष्ट्रीयकरण से उत्पन्न विभिन्न तकनीकी प्रश्नो की जाच आवश्यक है और बाद मे ही क्रियात्मक पग उठाया जा सकता है। इस निर्णय का इम्पीरियल बैंक के सचालक मडल तथा अशधारियो ने यह कह कर विरोध किया कि एक विशेष अधिनियम की आवश्यकता बैंक की कार्यप्रणाली के सिद्धातो के निर्माण तथा सामान्य सुरक्षा की दृष्टि से हुई। सरकारी काम-काज के सम्बन्ध मे बैंक का कहना था कि रिजर्व बैंक से नवीनतम समझौते के अनुसार कम पारिश्रमिक पर बैंक यह कार्य कर रहा है और इसमे उसे लाभ के स्थान पर हानि उठानी पड रही है। अतः यदि इस आधार पर बैंक का राष्ट्रीयकरण किया जा रहा है तो बैंक सरकारी काम-काज छोडने को तैयार है और सामान्य बैंकिंग कानून के अतगत कार्य करने को उद्यत है। यह भी कहा गया कि जनता की बैंक द्वारा की गई सेवायें इतनी कुशल हैं और व्यय की दृष्टि से बैंक की कार्यविधि इतनी मितव्ययी है कि सरकारी काम-काज छोड देने से भी बैंक की स्थिति मे कोई विशेष अन्तर नही आयगा। 1949 मे भारत सरकार ने इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का विचार स्थगित कर दिया।

1949 मे ग्रामीण बैंकिंग जाच समिति (Rural Banking Enquiry Committee) के सामने भी इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न उठाया

गया। समिति ने इम्पीरियल बैंक पर अधिकाधिक नियंत्रण रखने तथा इसके विशेष अधिकारों को कम करने के सम्बन्ध में सुझाव दिया तथा ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार हेतु आगामी पाँच वर्षों में कम से कम 274 शाखायें खोलने का प्रस्ताव किया। परन्तु इस काल में, बैंक केवल 114 शाखायें ही खोल सका क्योंकि अंशधारियों का बैंक होने के कारण पिछड़े क्षेत्रों में जहाँ शाखायें खोलने से हानि की अधिक सम्भावना थी, बैंक बैंकिंग सुविधायें प्रदान करने में असफल रहा।

अगस्त 1951 में श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की नियुक्ति हुई। इस समिति ने इम्पीरियल बैंक की शाखा विस्तार पर असंतोष व्यक्त किया और देश में ग्रामीण साख की समुचित व्यवस्था करने हेतु इम्पीरियल बैंक तथा देशी राज्यों में स्थापित अन्य दस बैंकों (1) The State Bank of Saurastra (2) The Bank of Patiala, (3) The Bank of Bikaner (4) The Bank of Jaipur (5) The Bank of Rajasthan (6) Bank of Indore (7) The Bank of Baroda (8) The Bank of Mysore (9) The Hyderabad State Bank (10) Travancore Bank को मिलाकर एक शक्तिशाली बैंक की स्थापना करनी चाहिए जो ग्रामीण क्षेत्रों में शाखायें खोलकर बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार करे और कृषि साख की सस्ती व्यवस्था करे। समिति के शब्दों में :—

The object was "the creation of one strong, integrated, State sponsored, State partnered commercial banking institution with an effective machinery of branches spread over the whole country, which, by further expansion can be put in a position to take over cash work from non-banking treasuries and sub-treasuries, provide vastly extended remittance facilities for co-operative banks and other banks, thus stimulating the further establishment of such banks."

इस नये बैंक का नाम स्टेट बैंक आफ इन्डिया रखने का सुझाव इस समिति ने दिया था।

स्टेट बैंक आफ इन्डिया
(State Bank of India)

भारत सरकार ने ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और 16 अप्रैल 1955 को सरकार ने लोक सभा में स्टेट बैंक आफ इन्डिया बिल प्रस्तुत किया जो संसद द्वारा पारित कर दिया गया। बिल को प्रस्तुत करते समय वित्त मंत्री ने बताया था कि "सरकार का इरादा व्यक्तिगत वाणिज्य

तथा व्यवसाय मे अनुचित हस्तक्षेप करने का नही है। इसी कारण इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का यह अर्थ नही होता कि सभी व्यापारिक बैंको को सरकारी अधिकार मे ले लिया जायगा। इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का उद्देश्य उन सब शिकायतो को, जो कि लम्बे काल से भारतीयो को इसके विरुद्ध थी, दूर करना तथा ग्रामीण साख की समुचित व्यवस्था करना है।"

स्टेट बैंक का संगठन (Organisation of the State Bank) :

स्टेट बैंक ग्राफ इन्डिया एक्ट, 1955 के अतर्गत स्टेट बैंक ग्राफ इन्डिया ने 1 जुलाई 1955 से विधिवत कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

स्टेट बैंक की अधिकृत पूंजी 20 करोड रुपये निर्धारित की गई जो 100-100 रुपयो के 20 लाख अशो से विभाजित है। बैंक की दत्त पुजी 5.62 करोड रु. है जिसे सरकार की पुर्वानुमति मे 12.5 करोड रु. तक बढाया जा सकता है। योजनानुसार इम्पीरियल बैंक के अश रिजर्व बैंक को हस्तान्तरित कर दिये गये और अशधारिग्रो को निम्न दर से मुग्रावजा दिया गया :

पूर्णदत्त अश (500 रु०) = 1765 रुपये 10 ग्रान

ग्रशत दत्त ग्रश (125 रु.) = 431 रुपये 12 ग्राने 4 पाई

यह मुग्रावजा 10,000 रुपये प्रति व्यक्ति तक तो नकद म देने की व्यवस्था की गई ग्रौर शेष के लिए 1965 मे 3 5% सरकारी ऋण पत्र दिए गये। इम्पीरियल बैंक के ग्रशधारिग्रो को मुग्रावजे के बदले स्टेट बैंक के 100 रुपये दत्तपूजी के ग्रश को 350 रुपये की बाजार दर खरीदने की सुविधा भी प्रदान की गई। स्टेट बैंक ग्रधिनियम की धारा 5(2) के ग्रनुसार स्टेट बैंक की निर्गमित पूंजी का कम से कम 55% रिजर्व बैंक के पास रहेगा परन्तु वास्तव म निर्गमित पूंजी का लगभग 92% रिजर्व बैंक क पास ह।

ग्रधिनियम मे यह भी निश्चित किया गया कि स्टेट बैंक मे कोई भी व्यक्ति स्वय या ग्रन्य व्यक्तियो के साथ मिलकर 200 से ग्रधिक ग्र श नही खरीद सकता परन्तु यह सीमा रिजर्व बैंक या किसी निगम, बीमा कम्पनी, स्वायत्त सस्था तथा निजी या धार्मिक ट्रस्ट पर लागू नही होती। मताधिकार के सम्बध मे स्टेट बैंक की व्यवस्था ग्रत्यन्त प्रजातांत्रिक है क्योंकि किसी भी व्यक्ति या सस्था (रिजर्व बैंक को छोडकर), चाहे उसके पास कितने भी ग्रश क्यो न हो, 1 प्रतिशत से ग्रधिक मत देने का ग्रधिकार नही होगा।

प्रबंध (Management) —

स्टेट बैंक ग्राफ इन्डिया एक्ट 1955 के ग्रन्तर्गत बैंक के केन्द्रीय मडल (Central Board of Directors) की सदस्य सख्या 20 है,

थी जिसमे निजी अंशधारियो को 6 सचालक नियुक्त करने (या चुनने) का अधिकार था। प्रारम्भ मे सरकार का कुछ ऐसा अनुमान था कि निजी अंशधारियो के पास अशो की काफी अधिक मात्रा रहेगी परन्तु निजी अंशधारियो के पास केवल 8 प्रतिशत अंश रहे। अत: 1 दिसम्बर 1964 को स्टेट बैंक एक्ट 1965 मे सशोधन कर केन्द्रीय सचालक मडल इस प्रकार गठित किया गया :

(1) एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष की सचालक मडल की सिफारिश पर सरकार द्वारा,

(2) अधिक से अधिक दो प्रबध सचालक (Managing Directors) सरकार के अनुमोदन पर सचालक मण्डल द्वारा,

(3) प्रत्येक स्थानीय मडल (Local Board) का सभापति सचालक मडल का पदेन (ex-officio) सदस्य, (इनकी सख्या 7 है)

(4) दो सचालको की नियुक्ति (या चुनाव) निजी अशधारियो द्वारा, (यदि उनके पास कुल निगमित पू जी का 20 प्रतिशत से कम भाग है)

(5) कम से कम 2 और अधिक से अधिक 6 सचालक रिजर्व बैंक की सलाह से भारत सरकार द्वारा। ये सचालक सहकारिता, वाणिज्य, व्यापार, उद्योग, बैंकिंग तथा वित्त विशेषज्ञ होगे।

स्टेट बैंक का केन्द्रीय कार्यालय (Central office) बम्बई मे स्थित है। इसके अतिरिक्त सात स्थानीय मडल (Local Boards) कलकत्ता कानपुर, बम्बई, अहमदाबाद, नई दिल्ली, मद्रास तथा हैदराबाद मे है। स्टेट बैंक का अध्यक्ष प्रत्येक स्थानीय मडल का पदेन अध्यक्ष होता है। स्टेट बैंक के वर्तमान अध्यक्ष श्री वी० टी० दहेजिया है।

स्टेट बैंक के कार्य (Functions of the State Bank) :

स्टेट बैंक आफ इन्डिया व्यापारिक बैंक के रूप मे उन सभी कार्यो को करता है जो इम्पीरियल बैंक करता था। इस प्रकार देश के उद्योग, व्यापार आदि को जो सेवाये इम्पीरियल बैंक उपलब्ध करता था वे सभी सेवाये स्टेट बैंक भी उपलब्ध करता है। इस दिशा मे स्टेट बैंक आफ इन्डिया एक्ट मे उन सभी नियमो का समावेश हुआ है जो इंपीरियल बैंक आफ इन्डिया एक्ट मे उल्लिखित थे।

स्टेट बैंक आफ इन्डिया एक्ट मे उन सभी कार्यो की सूची दी गई है जिन्हे स्टेट बैंक कर सकता है। इसके अनुसार स्टेट बैंक के कार्य निम्न लिखित हैं—

(1) **रिजर्व बैंक के एजेन्ट के रूप मे कार्य (Functions as a agent of the Reserve Bank) :** स्टेट बैंक, उन सभी स्थानो पर जहा रिजर्व बैंक की शाखायें

नहीं है, उसके एक मात्र एजेन्ट के रूप मे कार्य करता है। उन स्थानो पर यह सरकार की ओर से रुपया वसूल करता है, जमा करता है तथा हस्तान्तरित करता है।

(2) **व्यापारिक बैंक के रूप मे कार्य** (Functions as a Commercial Bank) : स्टेट बैंक देश के अन्य व्यापारिक बैंको की तरह निम्नलिखित कार्य करता है—

(i) निम्नलिखित प्रतिभूतियो की जमानत पर ऋण, अग्रिम, नकद साख तथा अधिविकर्ष देना—

(क) ऐसे स्टाक, निधिया या प्रतिभूतिया जिनमे कोई ट्रस्टी अपने ट्रस्ट की रकम विनियोजित कर सकता हो;

(ख) जिला बोर्ड, नगर पालिका या अन्य स्थानीय निकायो द्वारा विधानानुसार जारी किए गये ऋण पत्र या अन्य प्रतिभूतिया,

(ग) सयुक्त स्कध कम्पनियो के ऋण पत्र, (केन्द्रीय बोर्ड के तत्सम्बन्धी निर्देशो को ध्यान मे रखकर),

(घ) विधान द्वारा स्थापित प्रमडलो के अश तथा ऋण पत्र (केन्द्रीय बोर्ड के निर्देशो के अनुसार);

(ङ) माल या माल सम्बधी अधिकार पत्र, जो स्टेट बैंक को जमानत के रूप मे दिए गये हो,

(च) माल जो स्टेट बैंक के नाम अधिकृत (Hypothecate) किए गये हों,

(छ) स्वीकृत विनिमय पत्र तथा प्रतिज्ञा-पत्र तथा दो या इससे अधिक व्यक्तियो या फर्मों (जिनमे साझेदारी का सम्बध न हो) के सयुक्त तथा व्यक्तिगत प्रतिज्ञापत्र,

(ज) सयुक्त स्कध कम्पनियो के पूर्ण दत्त अश या अचल सम्पत्ति अथवा तत्सम्बधी अधिकार पत्र,

(ii) दिए गये ऋण, अग्रिम या साख के प्रति जमानत के रूप मे प्राप्त ऋण-पत्र, प्रतिज्ञा-पत्र, अश, माल या माल के अधिकार पत्र आदि को उस समय बेचना और उनकी रकम वसूल करना, जब लिए हुए ऋण यथा समय वापिस न किए जाँय।

(iii) विनिमय पत्र एव अन्य परक्राम्य विलेखो को लिखना, सकारना, बट्टा करना तथा क्रय-विक्रय करना।

(iv) ऊपर (i) मे (क) से (ङ) तक की प्रतिभूतियो मे अपने कोषो को विनियोजित करना एव उन विनियोगो को नकद मे परिवर्तित करना।

(v) ड्राफ्ट, टेलीग्राफिक ट्रान्सफर एव अन्य राशि स्थानान्तरण-पत्र (remittances) को अपनी शाखाओ पर जारी करना या उन्हे खरीदना या आज्ञानुसार देय लेटर आफ क्रेडिट जारी करना ।

(vi) सोने-चांदी का क्रय-विक्रय करना ।

(vii) जमा स्वीकार करना तथा नकद खाते रखना ।

(viii) सुरक्षा के निमित्त सभी प्रकार के बान्ड, अधिकार-पत्र अश तथा बहुमूल्य वस्तुओ को रखना ।

(ix) ऋण की अदायगी के रूप म प्राप्त हुई चल या अचल सम्पत्ति को बेचना या उनकी राशि वसूल करना ।

(x) विधान के अन्तर्गत पजीयत किसी सहकारी बैंक के अभिकर्त्ता के रूप म कार्य करना ।

(xi) ऊपर (iv) के अनुसार जिन अशो, ऋणपत्रो तथा प्रतिभूतियो मे बैंक को अपने कोष विनियोजित करने का अधिकार है, उनका अभिगोपन (underwriting) करना ।

(xii) कमीशन लेकर अभिकर्त्ता का कार्य करना या क्षति पूर्ति (Indemnity) गारटी या जमानतदारी (Surety ship) की सविदायें करना ।

(xiii) प्रन्यासी (Executor), ट्रस्टी तथा निस्तारक (Liquidator) के रूप म कार्य करना ।

(xiv) विदेशो म भुगतान होने वाले विनिमय पत्र तथा लेटर आफ क्रेडिट लिखना ।

(xv) कृषि-कार्यों के निमित्त या विदेशो म भुगतान होने वाले बिलो का जो पद्रह मास से अधिक अवधि के न हो, अथवा अन्य बिलो को, जो छः मास से अधिक के न हो, खरीदना ।

(xvi) अपने व्यवसाय के निमित्त उधार लेना और इस उधार के लिए जमानत मे अपनी सम्पत्ति रहन रखना ।

(xvii) भारत म पजीयत किसी कम्पनी या सहकारी समिति को समापन से बचाने के लिए या समापन की सुविधा देने के लिए उसकी सम्पत्ति की जमानत पर ऋण, अग्रिम या नकद साख आदि देना ।

(xviii) रिजव बैंक की स्वीकृति से किसी अन्य बैंक को स्थापित करके उसे अपनी सहायक सस्था क रूप मे चलाना, अथवा किसी बैंक के अशो का क्रय विक्रय करना अथवा केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुमोदित किसी वित्तीय सस्था के अशो एव ऋण पत्रो का क्रय-विक्रय करना ।

(xix) ऐसे अन्य व्यवसायो को करना जिसके लिए रिजर्व बैंक से सलाह कर या केन्द्रीय बोर्ड के सुझाव पर केन्द्रीय सरकार अधिकृत करे।

स्टेट बैंक अन्य व्यापारिक बैंको की भाँति मुद्रा के लेन-देन मे मध्यस्थ का कार्य करता है, साख का सृजन करता है तथा अन्य विविध एव एजेन्सी के कार्य करता है। इसके अतिरिक्त देश मे बैंकिंग सुविधाओ के प्रसार तथा ग्रामीण क्षेत्रो मे कृषि-साख की व्यवस्था के सम्बन्ध मे इसका विशेष उत्तरदायित्व है।

स्टेट बैंक की शाखा प्रगति
(Branch Expansion of State Bank)

स्टेट बैंक आफ इण्डिया की स्थापना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग सुविधाओ का विस्तार करना है। इसीलिए स्टेट बैंक आफ इण्डिया अधिनियम के अन्तर्गत ही स्टेट बैंक पर यह वैधानिक दायित्व सौपा गया था कि अपनी स्थापना के प्रथम पाच वर्षो मे स्टेट बैंक 400 नई शाखाये खोलेगा जिनमे से अधिकतर ग्रामीण क्षेत्रो मे होगी। जुलाई 1955 से जून 1960 तक की अवधि मे 400 नई शाखाय खोलने के इस लक्ष्य की पूर्ति स्टेट बैंक ने एक माह पहले ही कर ली, जब 1 जून 1960 को कैराना (मुजफ्फर नगर) उत्तर प्रदेश मे स्टेट बैंक की 400 वीं शाखा का उद्घाटन श्री मोरारजी देसाई ने किया। वास्तव मे 30 जून 1960 तक 416 शाखायें खोली गयी।

स्थापना के प्रथम दो वर्षो मे शाखा विस्तार की गति अत्यन्त धीमी रही परन्तु धीरे धीरे उसमे वृद्धि हुई जो निम्न तालिका से स्पष्ट है—

स्टेट बैंक की शाखा प्रगति
(जुलाई 1955 से जून 1960 तक)

वर्ष	शाखाये
1955 (जुलाई से दिसम्बर तक)	20
1956	46
1957	91
1958	105
1959	97
1960 (जून तक)	41
योग	400

प्रारम्भिक काल मे शाखाओ का विस्तार अधिक तीव्र गति से इसलिए नही किया जा सका क्योंकि उपयुक्त भवनो तथा प्रशिक्षित कर्मचारियो की कठिनाई थी।

विस्तार क्षेत्र · 1955–60 के शाखा विस्तार कार्यक्रम की सफलता इस बात मे थी कि 400 शाखाओं मे से 286 अर्थात् 71 प्रतिशत शाखायें ग्रामीण क्षेत्रो मे खोली गयी। 286 मे मे 64 ऐसे स्थानो पर शाखायें खोली गयी जहा पहल कोई बैंक नही था तथा 40 ऐसे स्थानो पर खोली गयी जिनके 20 मील के क्षेत्र मे कोई बैंक नही था।

अनुकूलन एवं विकास कोष (Integration and Development Fund) : स्टेट बैंक ग्राफ इण्डिया अधिनियम के अन्तर्गत स्टेट बैंक द्वारा खोली जाने वाली नयी शाखाओं मे होने वाली हानि की पूर्ति करने के लिए एक अनुकूलन एव विकास कोष की स्थापना की व्यवस्था की गई है। इस कोष मे स्टेट बैंक के 55 प्रतिशत अ शो (जो रिजर्व बैंक के पास हैं) पर रिजर्व बैंक को मिलने वाला लाभाश जमा होगा। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक तथा केन्द्रीय सरकार समय-समय पर रकम डालते रहगे। इस कोष की राशि से स्टेट बैंक को नई शाखाओ पर होने वाली हानि की पूर्ति की जाती है।

कर्वे उप-समिति : जून 1960 तक 400 शाखाओ का लक्ष्य प्राप्त कर लेने के बाद भावी विकास के लिए सिफारिशें करने के लिए स्वर्गीय प्रो० डी० जी० कर्वे (Prof. D. G. Karve) की अध्यक्षता मे केन्द्रीय बोर्ड उप-समिति (Central Board Sub-Committee) की नियुक्ति हुई जिसने मई 1961 मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट में आगामी पाच वर्षो मे 300 शाखायें खोलने का सुझाव दिया गया।

द्वितीय शाखा विस्तार योजना : शाखा विस्तार की द्वितीय योजना के अनुसार 30 जून 1965 तक स्टेट बैंक की 145 तथा सहायक बैंको की 155 शाखायें खोलने का लक्ष्य रक्खा गया। बाद मे इसे परिवर्तित कर स्टेट बैंक की 151 तथा सहायक बैंको को 221 शाखायें खोलने का लक्ष्य बनाया गया। 30 जून 1965 तक स्टेट बैंक की 114 तथा सहायक बैंको की 190 शाखायें खोली गयीं।

तृतीय शाखा विस्तार योजना तृतीय शाखा विस्तार योजना के अन्तर्गत 31 दिसम्बर 1968 तक 319 शाखायें खोलने का लक्ष्य रक्खा गया था जिसे प्राप्त कर लिया गया। वास्तव मे 325 शाखायें खोली गयी।

अन्तिम उपलब्ध आकडो के अनुसार 31 दिसम्बर 1968 को स्टेट बैंक की शाखाओ की सख्या 1557 तथा सहायक बैंको की शाखाओ की सख्या 837 (कुल मिलाकर 2394 शाखायें) हो गयी।

स्टेट बैंक तथा ग्रामीण साख
(State Bank and Rural Credit)

ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति, 1954 के सुझाव पर जब स्टेट बैंक की स्थापना हुई थी तो उसके पीछे मुख्य उद्देश्य यही था कि बैंक ग्रामीण साख सुविधाओ

के विस्तार मे विशेष रूप से सहायक होगा। इसीलिए सहकारी सस्थाओ की आवश्यकताओ के प्रति बैंक अधिक सचेत है। 1958 से बैंक ने सहकारी सस्थाओ को विशेष सुविधायें देना प्रारम्भ किया है। ग्रामीण साख के क्षेत्र मे स्टेट बैंक निम्न लिखित सुविधाये प्रदान करता है -

(1) सामान्य सहायता (General financial assistance and Remittance facilities) *स्टेट बैंक सहकारी बैंको को सरकारी प्रतिभूतियो तथा* माल की धरोहर पर अग्रिम देने की सुविधा प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त राज्य सहकारी बैंको को धन प्रेषण (Remittance) की भी सुविधा देता है। स्टट बैंक द्वारा 1958 म राज्य सहकारी बैंको को लगभग 84 करोड रुपये की राशि एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रेषित की जाती थी जो राशि अब बढकर 700 करोड रुपय हो गई है।

(2) क्रय विक्रय तथा विधायन साख (Credit for Cooperative Marketing and Processing) स्टेट बैंक गैर साख सहकारी सस्थाओ जैसे सहकारी विपणन तथा विधायन समितियो, औद्योगिक तथा उपभोक्ता सहकारी समितियो को भी ऋण देने का व्यवस्था करता है।

(3) भूमिबन्धक बैंको को सहायता (Financial Assistance to Land Mortgage Banks) *स्टेट बैंक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको को उनके द्वारा निर्गमित* ऋण पत्र खरीदकर तथा ऋण-पत्रो की धरोहर पर उनको ऋण देकर उनकी सहायता करता है। इसके अतिरिक्त स्टेट बैंक भूमि बन्धक बैंको को ऋण पत्र निर्गमित होने तक ऋण प्रक्रियाओ को चालू रखने के लिए अन्तरिम सहायता प्रदान करता है। 1966 मे स्टेट बैंक के पास भूमि बन्धक बैंको के लगभग 9 करोड रुपये के ऋण पत्र *थे जो राशि 1968 के अन्त मे बढकर 19 6 करोड रुपये हो गई। 1968 मे* स्टेट बैंक न भूमि बन्धक बैंको को 6·8 करोड रुपये की अन्तरिम सहायता दी।

(4) गोदामो के विकास के लिए सहायता (Support to Warehousing Movement) कृषि व्यवस्था मे मालगोदामो के विकास म भी स्टेट बैंक ने महत्वपूर्ण योगदान किया है। केन्द्रीय माल गोदाम निगम (Central Warehousing *Corporation) मे स्टेट बैंक ने 1 करोड रुपये के अश खरीद रखे हैं। माल गोदामो* की रसीदो के आधार पर स्टट बैंक ऋण देता है। 1968 मे इन ऋणो की स्वीकृत राशि 6 करोड रुपये थी।

इसके अतिरिक्त कृषको को प्रत्यक्ष वित्त के क्षेत्र म स्टेट बैंक महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है। स्टेट बैंक ने सकर बीजो के उत्पादन के लिए सहायता दी है। *केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के* अनुरोध पर बैंक कृषि विकास के *एकीकृत कार्यक्रमो* को वित्त सहायता देन के प्रश्न पर विचार कर रहा है।

स्टेट बैंक द्वारा लघु उद्योगों को वित्त
(Financing of Small Scale Industries by State Bank)

स्टेट बैंक लघु उद्योगो को भी वित्त सहायता देता है। लघु उद्योगो को एकीकृत वित्तीय सहायता (Coordinated Finance) देने के उद्देश्य से स्टेट बैंक ने **अप्रैल 1956 मे एक निदेशक योजना** (Pilot Scheme) प्रारम्भ की थी। जिसके अन्तर्गत स्टेट बैंक की 9 शाखाओ पर लघु उद्योगो को वित्त सहायता देने की व्यवस्था की गई। 1957 मे इस सुविधा को 36 तथा 1958 मे 53 शाखाओ पर दी जाने लगी। लघु उद्योगो को ऋण देने सम्बन्धी इस प्रयोग की सफलता के फलस्वरूप 1 जनवरी 1959 से इस निदेशक योजना को सभी शाखाओ पर लागू कर किया गया। 1960 से इस योजना मे सहायक बैंको ने भी भाग लेना प्रारम्भ कर दिया तथा ऋण देने की प्रणाली को अधिक सरल बनाया गया। इस योजना के अन्तर्गत लघु उद्योगो को उनकी कार्यशील पूंजी की आवश्यकता पूर्ति के लिए कच्चे माल अथवा निर्मित माल की धरोहर पर ऋण दिया जाता है। इस योजना के अन्तर्गत स्टेट बैंक द्वारा दी गई वित्त सहायता जो 30 जून 1968 को 124 34 करोड रुपये थी, 30 दिसम्बर 1968 को बढकर 149·76 करोड हो गई।

रिजर्व बैंक की साख गारन्टी योजना (Reserve Bank's Credit Guarantee Scheme)·—रिजर्व बैंक द्वारा लघु उद्योगो को दिए जाने वाले ऋणो की गारन्टी करने के लिए एक योजना बनाई गई। स्टेट बैंक ने लघु उद्योगो को दिए जाने वाले अग्रिमो को इस योजना के अन्तर्गत लाने का निर्णय किया। प्रारम्भ मे यह 1 जुलाई 1960 से 22 चुने हुए जिलो मे प्रयोग के स्तर पर शुरू हुई और फिर जून 1961 मे इसे 52 और जिलो मे लागू किया गया। 1 जनवरी 1963 से इसे स्टेट बैंक के कार्यों का अग बना लिया गया।

साख गारन्टी योजना का मुख्य लक्ष्य व्यापारिक बैंको द्वारा लघु उद्योगो को दी जाने वाली वित्तीय सहायता का विस्तार करना है। इस योजना के अन्तर्गत अधिकतम स्वीकृत राशि पर $\frac{1}{4}$ प्रतिशत गारन्टी चार्ज (Guarantee Charge) लिया जाता है।

लघु उद्योगों को सहायता की कुछ नवीन योजनायें

स्टेट बैंक लघु उद्योगो को सहायता की प्रकृति तथा क्षेत्र का विस्तार करने को निरन्तर उत्सुक है। निम्नलिखित योजनायें इसका प्रमाण है :

पंजाब की Qualified Entrepreneurs Scheme.—पजाब सरकार की प्रार्थना पर स्टेट बैंक ने पजाब मे लघु उद्योगो के विकास के लिए एक नई योजना आरम्भ की है जिसके अन्तर्गत निर्माण, विधायन या माल के भण्डार से सम्बन्धित

योजना वाले साहसियो को 2 लाख रुपये तक ऋण प्राप्त हो सकेंगे। केवल उनके पास अनुभव, तकनीकी ज्ञान तथा प्रामाणिकता होनी चाहिए। ऋण के लिए कोई जमानत देने की आवश्यकता नही होगी।

फुटकर व्यापारियो तथा ट्रक चालको को सहायता की योजना प्रस्तावित : मई 1969 म स्टेट बैंक के अध्यक्ष श्री आर० के० तलवार की एक घोषणा के अनुसार स्टेट बैंक शीघ्र ही छोटे नगरो के फुटकर दुकानदारो तथा ट्रक चालको (Truck Operators) को 50 हजार रुपये तक की राशि के ऋण देगा।

लघु उद्योगो को अल्प तथा मध्यकालीन वित्त सहायता के अतिरिक्त स्टेट बैंक लघु औद्योगिक इकाइयो को कई प्रकार से सहायता देता है जैसे कच्चे माल के आयात के लिए लाइसेन्स दिलवाना, अन्य विशिष्ट सस्थाओ जैसे राज्य वित्तीय निगमो, राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम तथा राज्यो के लघु उद्योग निगमो से सहायता लेने मे परामर्श।

स्टेट बैंक की प्रगति
(Progress of State Bank)

स्टेट बैंक ने जुलाई 1955 मे अपनी स्थापना से अब तक लगातार प्रगति के नये कीर्तिमान स्थापित किए है। देश के बैंकिंग सगठन मे स्टेट बैंक का बडा महत्वपूर्ण स्थान है। स्टेट बैंक की नवीनतम प्रगति निम्न तालिका से ज्ञात होती है

स्टेट बैंक तथा उसके सहायक बैंको की स्थिति

(28 मार्च 1969)

(करोड रुपयो मे)

	स्टट बैंक समूह			सभी अनुसूचित बैंक
	स्टेट बैंक	सहायक बैंक	योग	
कायालय सख्या	1,557 (31 12 68)	837 (31 12 68)	2,394	
निक्षेप	950 4	268 1	1,218 5	4,329 0
ऋण तथा अग्रिम	801 2	221 8	1,023 0	3,369 7
विनियोग	294 3	64 8	359 1	1 067 1

स्टेट बैंक की उपर्युक्त स्थिति तथा सतोषजनक प्रगति के आधार पर कहा जा सकता है कि ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग सुविधाओ के विकास तथा देश की आर्थिक उन्नति मे यह महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संकेत

(1) देश की अधिकोषण प्रणाली में स्टेट बैंक आफ इण्डिया के स्थान की विवेचना कीजिए। देश के ग्रामीण साख विकास में इसका क्या योगदान होगा ?

(राजस्थान टी०डी०सी० फाइनल, 1964)

[संकेत : प्रथम भाग में व्यापारिक बैंकों में सबसे बड़े बैंक होने के नाते स्टेट बैंक आफ इण्डिया के महत्व तथा प्रगति का वर्णन कीजिए। दूसरे भाग में ग्रामीण साख के क्षेत्र में उसके विशेष योगदान तथा उसमें प्राप्त सफलता की व्याख्या कीजिए।]

(2) स्टेट बैंक आफ इण्डिया के कार्यों की विवेचना कीजिए।

(आगरा बी० काम०, 1962)

[संकेत : स्टेट बैंक आफ इण्डिया के मुख्य कार्यों का विवेचन कीजिए। स्टेट बैंक के ग्रामीण साख तथा लघु उद्योग वित्त के क्षेत्र में विशेष उत्तरदायित्व की व्याख्या कीजिए।]

(3) स्टेट बैंक आफ इण्डिया के ग्रामीण वित्त एवं लघु उद्योग वित्त सम्बन्धी कार्यों का विवेचन कीजिए।

(राजस्थान टी० डी० सी० फाइनल)

[संकेत : स्टेट बैंक की ग्रामीण साख तथा लघु उद्योग वित्त के क्षेत्र में की जाने वाली सेवाओं का वर्णन कीजिए।]

35

कृषि-वित्त
(Agricultural Finance)

"Indigenous banking is at the cross roads It has to choose between the challenge of change or the threat of elimination It must recognise that the background against which it has to work in future has charged beyond recognition."

भारत जैसे कृषि प्रधान देश की अर्थव्यवस्था मे कृषि के महत्व के सम्बन्ध मे जितना कहा जाय कम है। कृषि का विकास देश की पचवर्षीय योजनाओ का मुख्य लक्ष्य रहा है। भारतीय कृषि के पिछड़ेपन के कई कारण हैं परन्तु उनमे एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि भारत मे अन्य विकसित कृषि प्रधान देशो की तरह सगठित वित्तीय सस्थाओ का अभाव रहा है और कृषको को कृषि प्रक्रियाओ को करने के लिए पर्याप्त साख प्राप्त नही हो पाती।

कृषको की साख आवश्यकतायें (Credit needs of the Agriculturists)

कृषको की साख आवश्यकतायें कई प्रकार की हो सकती है। उद्देश्य की दृष्टि से उनकी साख आवश्यकताओ को कृषि, गैर-कृषि, उपभोग, पुराने ऋण इत्यादि वर्गो मे बाटा जा सकता है। कृषि सम्बन्धी साख आवश्यकताओ को अवधि की दृष्टि से तीन भागो मे बाटा जाता है—(1) अल्पकालीन आवश्यकतायें (2) मध्यकालीन आवश्यकतायें तथा (3) दीर्घकालीन आवश्यकतायें।

अल्पकालीन साख (Short term credit) : वह साख है जो कृषको की चालू आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ली जाती है। यह साख बीज-खाद खरीदन, लगान अदा करने तथा कृषि प्रक्रियाओ (Agricultural Operations) के व्यय चलाने के लिए आवश्यक होती है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति ने 15 मास तक के लिए दिए जाने वाले ऋणो को अल्पकालीन ऋण माना है।

मध्यकालीन ऋण (Medium term Credit) : मध्यकालीन ऋणो की आवश्यकता पशु तथा कृषि उपकरण खरीदने तथा भूमि मे सुधार के लिए होती है। यह ऋण 15 मास से 5 वर्ष तक की अवधि के लिए दिए जाते हैं।

दीर्घकालीन ऋण (Long term Credit) : दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता भूमि क्रय करने, महगे कृषि यन्त्र खरीदने तथा भूमि पर दीर्घकालीन सुधार जैसे सिचाई व्यवस्था, चकबदी इत्यादि करने या पुराने ऋणों को अदा करने के लिए प्राप्त किए जाते हैं। यह ऋण 15–20 वर्षों के लिए दिए जाते हैं।

कृषि-वित्त के स्रोत (Sources of Agricultural Finance) :

देश मे कृषकों को वित्त सुविधायें विभिन्न स्रोतो से प्राप्त होती हैं। कृषि वित्त के मुख्य स्रोत है—(1) साहूकार-महाजन (2) स्वदेशी बैंकर (3) सहकारी साख सस्थायें (4) स्टेट बैंक सहित व्यापारिक बैंक (5) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया तथा (6) राज्य इत्यादि। 1954 मे ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति (Rural Credit Survey Committee) ने कृषि वित्त मे विभिन्न स्रोतो के योगदान के अनुमान इस प्रकार लगाये थे :

(प्रतिशत)

	1951–52	1961–62
व्यावसायिक साहूकार	44·8	13·2
कृषक साहूकार	24 9	36 0
सम्बन्धी	14 2	8 8
व्यापारी तथा कमीशन एजेन्ट्स	5 5	8 8
राज्य	3 3	2 6
सहकारी सस्थायें	3·1	15 5
जमींदार	1·5	0 6
व्यापारिक बैंक	0 9	0 9
अन्य सस्थाये	1·8	13·9
	100 0	100·0

पिछले 15 वर्षों मे उपर्युक्त स्थिति मे बडा परिवर्तन हो गया है। सहकारी सस्थाओ द्वारा कृषि वित्त मे योगदान 3 1 प्रतिशत से बढकर 15 5 प्रतिशत हो गया है। भारत सरकार के खाद्य-मन्त्रालय की 66–67 की रिपोर्ट के अनुसार कृषि वित्त मे सहकारी सस्थाओ का योगदान 1966–67 मे बढकर 40 प्रतिशत हो गया है।

इस अध्याय मे हम साहूकारो तथा स्वदेशी बैंकरो का विस्तृत विवेचन करेंगे।

साहूकार–महाजन
(Money Lender)

कृषि वित्त व्यवस्था में साहूकार का बडा महत्वपूर्ण स्थान है। साहूकार या महाजन वह व्यक्ति है जो समय-समय पर अपने ग्राहको को बिना जमानत के ऋण प्रदान

करते हैं। साहूकार दो प्रकार के होते हैं। एक तो पेशेवर साहूकार (Professional Money Lenders) जो लेन-देन के साथ अनाज के क्रय-विक्रय का व्यापार भी करते हैं। दूसरे गैर-पेशेवर साहूकार (Non-professional Money Lenders) जो सम्पन्न कृषको, व्यापारियो, वकीलो, पेन्शन पाने वालो आदि के वर्ग मे आते है।

पेशेवर साहूकार या तो कहे वादे के द्वारा या व्यक्तिगत जमानत पर अल्पकालीन ऋण देते हैं तथा भूमि, मकान तथा आभूषण का रेहन (Mortgage) रखकर दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते है। ऋण वस्तु या नकद दोनो रूपो मे दिए जाते हैं। परिवर्तित आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियो के कारण साहूकार तथा ऋणियो क सम्बन्ध ठीक नही है। ऋणी भुगतान से बचने के लिए कानूनी व्यवस्थाओ की आड लेना चाहते हैं और साहूकार विभिन्न प्रकार की अवाछनीय क्रियाये करते है। फेरी वाले साहूकार (Itinerant Money Lenders) जैसे उत्तर प्रदेश मे रोहिल्ला आदि निर्धन कारखाना श्रमिको, अल्प वेतन भोगी क्लर्कों जैसे लोगो को रुपया उधार देते हैं। ऋण का भुगतान न होने पर वे न्यायालय मे न जाकर धमकी या हिंसा का प्रयोग करते हैं। गैर-पेशेवर साहूकार पेशेवर साहूकारो की तुलना मे अधिक बेईमान होते है।

साहूकार काम पर लगे तथा बेकार, भूमि स्वामी कृषक तथा कृषि-श्रमिको सभी को ऋण प्रदान करते हैं। वे उत्पादक तथा अनुत्पादक सभी प्रकार के कार्यो के लिए ऋण देते हैं। कृषक अपनी पारिवारिक तथा कृषि आवश्यकताओ के लिए, व्यापारी व्यापार के लिए, वेतन भोगी कर्मचारी इलाज तथा बच्चो की शिक्षा के लिए तथा अन्य व्यक्ति सामाजिक समारोहो तथा मुकदमेबाजी आदि के लिए साहूकारो से रुपया उधार लेते है।

व्यापार की कार्य प्रणाली तथा ब्याज दर (Working method of Business and Rate of Interest) साहूकार-महाजनो की कार्य प्रणाली बडी सरल तथा लोचदार होती है। ऋणी की उस तक पहुच (Access) बडी आसान होती है। ऋणी की आर्थिक स्थिति तथा चरित्र को उसे पूर्ण जानकारी होती है और उसके द्वारा दिए गय ऋण की रकम डूबने की कोई सम्भावना नही होती। उनका हिसाब किताब रखने का ढग भी बहुत सरल होता है। साहूकारो द्वारा दिए गये ऋणो पर ब्याज की दर बहुत ऊँची होती है। यदि जमानत अच्छी है तो ब्याज की दर 12 प्रतिशत स 37 प्रतिशत तक होती है। कभी कभी यह 50 प्रतिशत या इससे भी अधिक होती है।

साहूकारो के दोषपूर्ण कार्य (Objectionable Practices of Money Lenders) : यद्यपि साहूकारो की कार्य प्रणाली अत्यन्त सरल तथा लोचदार है परन्तु उनकी अवांछनीय कार्यवाहियो की सदा से ही आलोचना होती रही है। उनके

सम्बन्ध मे लोग विभिन्न विचार रखते हैं । "Some condemn them altogether as unscrupulous usurers, land grabbers and fomentors of factions and law suits, others commend them as the friends of peasants, the traditional guardians of their property and ever present helpers in times of need." कुछ तो उनकी दोषपूर्ण कार्यवाहियो तथा ऋणियो के शोषणकर्ता होने के कारण उनको 'भारतीय शाइलाक' (Indian Shylock) कहते हैं । उनकी कुछ दोषपूर्ण कार्यवाहिया निम्नलिखित है

(1) साहूकार ऋण देते समय जितना ऋण देते है उससे अधिक राशि का प्रतिज्ञा पत्र भरवा लेते है । कभी-कभी खाली कागज पर हस्ताक्षर करा लेते है या अंगूठा लगवा लेते हैं और बाद मे मनमानी रकम भर लेते हैं ।

(2) ऋण की रमक मे से ब्याज की रकम अग्रिम काट लेते हैं ।

(3) बही खातो मे ऋणी का खाता खोलते समय भेंट स्वरूप कुछ रकम लेते है जिसे 'गिरह खुलाई' कहते हैं । इसके अतिरिक्त कई अनधिकृत कटौतिया जैसे धर्मादा इत्यादि काट लेते हैं ।

(4) हिसाब-किताब मे कई प्रकार की गडबड करते है । किस्त का भुगतान करने पर न तो रसीद देते हैं और न ऋणियो को उनका हिसाब भेजते है ।

(5) कभी-कभी ऋण देते समय ऋणी की दुर्बल स्थिति का लाभ उठाकर उसकी फसल को खरीदने का समझौता कर लिया जाता है जिससे कृषक को काफी हानि होती है ।

(6) साहूकार द्वारा ली गई ब्याज की दर बहुत ऊँची होती है और इस प्रकार ऋणियो का अधिकतम शोषण होता है । जिन परिस्थितियो मे साहूकार ऋण देता है उनमे ब्याज दर का अधिक होना कुछ तो स्वाभाविक ही है परन्तु फिर भी ब्याज दर बहुत ऊँची होती है ।

(7) कही-कही ऋणियो से बेगार भी ली जाती है ।

साहूकारो के कार्यों पर नियन्त्रण (Regulation of Money Lender's activities) : साहूकारो के दोषपूर्ण तथा अवाछनीय कार्यवाहियो का नियमन करने के लिए समय समय पर विभिन्न नियम तथा अधिनियम बनाये जाते रहे हैं । 1918 मे (Usurious Loan Act) द्वारा सभी राज्यों मे अधिक ब्याज वाले ऋणो की जांच तथा ब्याज कम करने की व्यवस्था की गई । विभिन्न राज्यो मे पारित नियमो द्वारा साहूकारो द्वारा हिसाब-किताब रखना आवश्यक कर दिया गया है । पजाब, बिहार, आसाम, उत्तर-प्रदेश आदि मे ब्याज की अधिकतम सीमा निश्चित की गई है । विभिन्न राज्यो मे ऋणो को तय करने के सम्बन्ध मे नियम (Debt Conciliation Acts) पारित किए गय । पजाब बगाल, उत्तर प्रदेश आदि प्रान्तो मे ऋण सम्बन्धी मामलो मे कृषक की सम्पत्ति को बेचने से रोकने के लिए नियम बनाये गये ।

साहूकारो की क्रियाओ को नियन्त्रित करने के लिए विभिन्न प्रकार के नियम तो बनाये गये हैं परन्तु उनका पालन न होने के कारण साहूकारो की दोषपूर्ण कार्य-वाहिया रोकने मे कोई विशेष सफलता नही मिली है।

स्वदेशी बैंकर
(Indigenous Bankers)

देश के आन्तरिक व्यापार की वित्त व्यवस्था करने मे स्वदेशी बैंकर्स का महत्व-पूर्ण स्थान है। वे अप्रत्यक्ष रूप से कृषि वित्त व्यवस्था म योगदान करते है।

परिभाषा (Definition) : स्वदेशी बैंकर्स की ठीक परिभाषा करना बडा कठिन है क्योकि इन्हें साहूकार महाजन से पृथक करना कठिन होता है। स्वदेशी बैंकर्स से हमारा तात्पर्य ऐसे व्यक्तियो से है जो जमा राशि प्राप्त करते हैं, हुँडियो का लेन-देन करते हैं तथा धन उधार देते हैं। केन्द्रीय बैंकिंग जाच समिति (Central Banking Euquiry Committee) 1929 के अनुसार "इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया, विनिमय बैंक, व्यापारिक बैंक तथा सहकारी समितियो को छोडकर जो फर्म हुँडियो का व्यवहार करती हो, जनता से जमा प्राप्त करती हो तथा ऋण देती हो, स्वदेशी बैंकर्स कहलाती हैं।"[1]

डा० एल० सी० जैन (Dr L C Jain) के अनुसार "स्वदेशी बैंकर कोई भी व्यक्ति या व्यक्तिगत फर्म है जो ऋण देने के साथ ही जमा स्वीकार करती है या हुडियो मे व्यवहार करती है या दोनो कार्य करती है।"[2] सक्षेप मे, स्वदेशी बैंकर उन लोगो को कहते हैं जो हुडियो का व्यावसाय करते हो, निक्षेप स्वीकार करते हो एव रुपया उधार देते हो। साधारणतया स्वदेशी बैंकर बैंकिंग तथा व्यापार दोनो ही कार्य करते हैं और बैंकिग तथा अन्य व्यापार मे लगी उनकी पूँजी मे कोई भेद नही होता।

देश के विभिन्न भागो मे इनके भिन्न भिन्न नाम हैं। बगाल मे इन्हे सेठ व बनिया, उत्तर प्रदेश तया पजाब मे साहूकार, महाजन व खत्री, बम्बई मे सर्राफ व मारवाडी तथा मद्रास से चेट्टी कहा जाता है। स्वदेशी बैंकिंग व्यवसाय एक पारि-

---

[1] "All bankers other than the Imperial Bank of India, Exchange Banks, the Joint Stock Banks and Cooperative Societies and the expression includes any individual or private firm receiving deposits and dealing in Hundies or lending money"

—*Central Banking Enquiry Committee, 1929*

[2] "Any individual or private firm which in addition to making loans, either receives deposits or deals in Hundies or both"

—Dr. L C Jain : *Indigenous Banking in India,*

वारिक व्यवसाय है। यह लोग अपने लेखे जनता को नहीं दिखाते, इनके लेन-देन के ढंग गुप्त रहते हैं और इनकी ब्याज की दर बहुत ऊँची होती है।

स्वदेशी बैंकर तथा साहूकार मे भेद (Difference between Indigenous Bankers and the Money Lenders) स्वदेशी बैंकरो तथा साहूकारो म कुछ महत्वपूर्ण भेद इस प्रकार हैं

(1) स्वदेशी बैंकर ऋण देने के अतिरिक्त निक्षेप प्राप्त करते है और हुँडियो मे व्यवहार करते हैं जबकि साहूकार केवल ऋण ही देते हैं।

(2) स्वदेशी बैंकर अधिकतर व्यापार तथा उद्योगो की वित्त व्यवस्था करते हैं जबकि साहूकार अधिकतर कृषि कार्यों तथा उपभोग के लिए ऋण देते हैं।

(3) स्वदेशी बैंकर साहूकार की तुलना मे कम ब्याज की दर लेता है।

(4) स्वदशी बैंकर मुख्यत बैंकिंग कार्य करता हैं परन्तु साहूकार लेन देन के कार्य के साथ व्यापार भी करता है और व्यापार उसका मुख्य धन्धा होता है।

(5) स्वदेशी बैंकर अपने स्वय के कोषो के अतिरिक्त निक्षेपो से भी ऋण देते हैं जब कि साहूकार अपन निजी धन से ही ऋण देते है।

स्वदेशी बैंकर्स के कार्य (**Functions of Indigenous Bankers**). स्वदेशी बैंकर सगठित बैंकिंग प्रणाली तथा राशि उधार लेने वालो के उस वर्ग के बीच एक अनिवार्य कडी का काम करते हैं जिस वग तक सगठित बैंक किन्ही कारणो स प्रत्यक्ष रूप मे नही पहुँच पाते। स्वदेशी बैंकस के मुख्य कार्य निम्नलिखित है

(1) **जनता से निक्षेप स्वीकार करना** (Accepting of Deposits) स्वदेशी बैंकर जनता से निक्षेप प्राप्त करत है। इन निक्षपा पर व सहकारी सस्थाओ तथा आधुनिक बैंको से अधिक ब्याज देते हैं। निक्षेप की राशि तथा अवधि के अनुसार वे 3 से 9 प्रतिशत तक ब्याज देने है। निक्षेप खाता पेटा पद्धति के अन्तगत प्राप्त किए जाते है।

(2) **ऋण देना** (Lending of Money) स्वदेशी बैंकर मुख्यत व्यापार, उद्योग आदि के कार्यों के लिए ऋण देते हैं। कभी-कभी ये उपभोग के कार्यो के लिए भी ऋण दते हैं। अच्छी जमानत के ऋण पर 6 से 18 प्रतिशत तथा अपर्याप्त जमानत के ऋण पर 18 से 39 प्रतिशत और कभी कभी 50 प्रतिशत तक ब्याज लेते हैं। वे व्यापारियो तथा लघु उद्योगपतियो से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं और कृषि जन्य तथा औद्योगिक पदार्थों को ग्रामीण क्षेत्रो से बाजारो तथा मण्डियो म लाने मे सहायता करते हैं।

(3) **हुडियो मे व्यवहार करना** (Dealing in Hundies) हुडियो म लन-देन करना स्वदेशी बैंकस का महत्वपूर्ण काय है। व विभिन्न प्रकार की हुडिया जारी करते

हैं तथा उनका क्रय विक्रय करते है। इसके अतिरिक्त वे व्यापारियो की हुडियो का बट्टा भी करते हैं। मुल्तानी बैंकर बडे पैमाने पर हुँडियो का व्यवहार करते हैं।

(4) अन्य व्यापार (Other Businesses) स्वदेशी बैंकर उक्त बैंकिंग कार्यो के अतिरिक्त कुछ गैर बैंकिंग काय भी करते हैं। बैंकिंग तथा गैर बैंकिंग कार्य साथ-साथ चलते हैं। स्वदेशी बैंकर व्यापार या दूकानदारी करते हैं तथा व्यापारिक फर्मो के एजेन्ट के रूप मे कार्य करते है।

स्वदेशी बैंकरो के दोष
(Defects of Indigenous Banking)

यद्यपि स्वदशी बैंकरो का कृषि, आन्तरिक व्यापार तथा उद्योगो की वित्त-व्यवस्था करने मे महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु इनकी काय प्रणाली तथा सगठन म अनक दोष हैं जिनम मुख्य निम्नलिखित है—

(1) बैंकिंग व्यापार के साथ अन्य व्यापार (Banking business combined with other businesses) स्वदशी बैंकर बैंकिंग व्यापार के साथ साथ व्यापार या दूकानदारी या सट्टा जैसे गैर-बैंकिंग काय भी करते है जिनका हिसाब किताब अलग नही रखा जाता। स्वस्थ बैंकिंग सिद्धान्तो के अनुसार बैंको को व्यापार नही करना चाहिये।

(2) धोखेबाजी तथा अनुचित व्यवहार (Dishonesty) स्वदेशी बैंकर हिसाब किताब के मामले मे धोखाधडी तथा अनुचित व्यवहार करते हैं। ग्राहको की अज्ञानता का लाभ उठाकर वे कई प्रकार से उनका शोषण करते है।

(3) ऊची ब्याज दर (High Rate of Interest) • स्वदेशी बैंकरो द्वारा ऋणो पर ली जाने वाली ब्याज की दर बहुत ऊची होती हैं।

(4) कार्यशील पूंजी का अभाव (Inadequacy of Working Capital) स्वदेशी बैंकरो के पास पूँजी साधन अपर्याप्त होते है क्योकि अधिकतर वे अपने निजी साधनो पर निभर रहते हैं और अन्य बाह्य साधनो से पूँजी नही प्राप्त करते।

(5) कार्यविधियो मे भिन्नता (Diversity in working) स्वदेशी बैंकरो की कायविधियो मे बडा भिन्नता पाई जाती है जिसस इनक बैंकिंग कार्यो की जाच तथा अकेक्षण मे बडी कठिनाई आती है।

स्वदेशी बैंकरो मे सुधार के सुझाव
(Suggestions for Improvement)

स्वदेशी बैंकरों के सगठन तथा कार्यप्रणाली म सुधार करने की बडी आवश्यकता है। इस दिशा म निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकत हैं—

(1) रिजर्व बैंक का नियन्त्रण (Control of Reserve Bank) : स्वदेशी बैंकरो को मुद्रा बाजार के संगठित भाग के अन्तर्गत लाने तथा उनकी स्थिति मे सुधार लाने के लिए उन पर रिजर्व बैंक का नियन्त्रण होना चाहिए। रिजर्व बैंक द्वारा उन पर पूँजी, निक्षेप तथा कार्यविधि के सम्बन्ध मे प्रतिबन्ध लगाये जाने चाहिये। बिना रिजर्व बैंक के लाइसेंस के कोई भी स्वदेशी बैंकर बैंकिंग व्यवसाय न कर सके। इसके बदले मे रिजर्व बैंक को उन्हे पुनः बट्टा (Re discount) की सुविधा देनी चाहिये।

(2) अन्य कार्य समाप्त करें (Shedding of non-banking business): स्वदेशी बैंकरो को बैंकिंग कार्य के साथ व्यापार तथा सट्टा जैसे गैर-बैंकिंग कार्यो को समाप्त करना चाहिये।

(3) ब्याज दर नियन्त्रित की जाय (Rate of Interest should be Controlled) स्वदेशी बैंकरो द्वारा ऋणो पर ली जाने वाली ब्याज की ऊची दर को कम किया जाना चाहिये। संगठित स्वदेशी बैंकरो को रिजर्व बैंक या व्यापारिक बैंको द्वारा रियायती दर पर पुन- बट्टा की सुविधायें मिलने पर ब्याज दरो मे कमी आ सकती है।

(4) हुडियो को बिलो के समकक्ष माना जाय (Hundies may be transformed into Bills) : रिजर्व बैंक द्वारा हुडियो को भी असीमित परक्राम्यता (Negotiability) प्रदान करने के लिए उनको बिलो की तरह अत्यधिक तरल सम्पत्ति माना जाय। हुडियो को बिलो मे परिवर्तित करने की सुविधा उपलब्ध की जाय। स्वदेशी बैंकरो को कवल व्यापारिक बिलो (Trade Bills) मे ही व्यवहार करने तथा हुडियो को प्रमापित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। श्राफ समिति ने इस दिशा मे बडे उपयोगी सुझाव दिये थे।

(5) स्वदेशी बैंकरों को स्वय मिलकर बैंकिग कम्पनिया बनानी चाहिये या व्यापारिक बैंकों से मिल जाना चाहिये (Should, in appropriate groups, either form banking companies or merge with existing banks) : स्वदेशी बैंकरो को स्वय मिलकर बैंकिंग कम्पनियो के रूप मे संगठित हो जाना चाहिये या व्यापारिक बैंको में मिल जाना चाहिये। देना, सिन्डीकेट, आंध्र तथा कनारा बैंक इस दिशा मे अनुकरणीय उदाहरण हैं।

(6) आधुनिक संगठन तथा कार्यपद्धति अपनायें (Should adopt modern organisation and working methods) : समय की माग है कि स्वदेशी बैंकर आधुनिक संगठन तथा पद्धतिया अपनायें।

उपर्युक्त सुझावो के अतिरिक्त 1954 मे श्राफ समिति ने उनकी कार्य-प्रणाली, संगठन तथा आर्थिक स्थिति के सुधार के लिए विस्तार से सिफारिशें की थी। उन सिफारिशो को क्रियान्वित किया जाय।

रिजर्व बैंक तथा स्वदेशी बैंकर
(Reserve Bank and Indigenous Bankers)

रिजर्व बैंक ने स्वदेशी बैंकरो को सगठित क्षेत्र के अन्तर्गत लाने तथा उन पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए कई बार प्रयत्न किये हैं, परन्तु इस दिशा मे उसके प्रयत्न सफल नही हुए हैं। सर्वप्रथम रिजर्व बैंक ने 1937 मे स्वदेशी बैंकरो से सम्बन्ध स्थापित करने की एक योजना प्रस्तुत की जिसमे स्वदेशी बैंकरो को (1) गैर-बैंकिंग कार्य समाप्त करने (2) हिसाब-किताब ठीक प्रकार से बनाने तथा (3) अपने व्यापार के नियमन तथा निरीक्षण का रिजर्व बैंक का अधिकार स्वीकार करने की व्यवस्था थी। इन शर्तों की पूर्ति पर रिजर्व बैंक से उन्हे पुन: बट्टा, पुनर्वित्त, प्रेषण (Remittance) तथा प्रतिभूतियो के आधार पर अग्रिम इत्यादि की सुविधायें प्राप्त होती थीं। परन्तु स्वदेशी बैंकरों को यह प्रस्ताव मान्य नहीं थे। 1941 मे बम्बई श्राफ सघ की प्रार्थना पर यह प्रश्न फिर उठा। इस बार रिजर्व बैंक ने अन्य व्यापार समाप्त करने की शर्त न रखकर प्रारम्भ मे उन्हे बैंकिंग व्यवसाय से पृथक करने तथा निश्चित अवधि के बाद समाप्त करने का प्रस्ताव रखा। यह भी स्वदेशी बैंकरो को अमान्य रहा। 1946 मे बैंकिंग कम्पनी बिल सम्बन्धी प्रवर समिति ने इन समस्या के सभी पक्षो पर विचार किया। समिति ने स्वदेशी बैंकरो के प्रत्यक्ष एकीकरण की प्रक्रिया मे कई वैधानिक कठिनाइया बताई। 1950 तथा 1951 मे फिर इस प्रश्न पर पुनर्विचार हुआ परन्तु कोई सफलता नही मिली।

श्राफ समिति के सुझाव (Shroff Committee's Recommendations): निजी क्षेत्र के लिए वित्त समस्या का अध्ययन करने के लिए श्राफ समिति (The Shroff Committee on Finance for the Private Sector) ने 1954 मे स्वदेशी बैंकरो को रिजर्व बैंक से सम्बद्ध करने के लिए अनेक सुझाव दिए—

(1) रिजर्व बैंक को सक्रिय होकर इस प्रश्न पर ध्यान देना चाहिए तथा शर्राफो से विचार विमर्श करना चाहिए।

(2) जब तक स्वदेशी बैंकर रिजर्व बैंक से सम्बद्ध न हो जाय तब तक जो शर्राफ दर्शनी हुडियो मे व्यवसाय करते हैं, वे 90 दिनों की मुद्दती हुडियो में व्यवसाय करने के प्रश्न पर विचार करें। हुडियो के प्रचलन को प्रोत्साहित करने के लिए भारत सरकार को इन पर मुद्रांक कर मे कमी करनी चाहिए।

(3) रिजर्व बैंक स्वदेशी बैंकरो के सावधि बिलो को अनुसूचित बैंकों के माध्यम से पुन: बट्टा करे। रिजर्व बैंक को अनुसूचित बैंकों को स्वदेशी बैंकरो के अनुमोदित बिलों के आधार पर अग्रिम देना चाहिये।

(4) शर्राफो को अपने खाते राष्ट्रभाषा या अग्रेजी मे ठीक प्रकार से बनाने चाहिए। शर्राफो को एक अखिल भारतीय सघ बनाना चाहिये जिसका विधान रिजर्व बैंक से स्वीकृत कराया जाय।

(5) चूंकि शर्राफ अधिकतर व्यापार तथा उद्योग की वित्त व्यवस्था करते हैं इसलिए उन पर ऋण कानून लागू नही होने चाहिये।

दुख का विषय है कि श्राफ समिति के उपर्युक्त रचनात्मक सुझावो पर कोई कार्यवाही नही की गई। 1961 मे फिर अखिल भारतीय श्राफ सम्मेलन ने रिजर्व बैंक से प्रत्यक्ष सम्बद्ध रखने का प्रस्ताव किया परन्तु कुछ व्यावहारिक कठिनाइयो के कारण प्रत्यक्ष एकीकरण कठिन लगा। रिजर्व बैंक श्राफ समिति के कथनानुसार बिल बाजार योजना के अन्तर्गत आंशिक एकीकरण के लिए तैयार था परन्तु शर्राफ संघ की ओर से ढील के कारण इसमे कुछ भी प्रगति न हो सकी।

स्वदेशी बैंकरो का भविष्य (Future of Indigenous Bankers) : स्वदेशी बैंकर परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार अपने को परिवर्तित करने मे असमर्थ है। व्यापारिक तथा सहकारी बैंको के भौगोलिक तथा कार्यात्मक क्षेत्र मे लगातार विस्तार होने के कारण स्वदेशी बैंकरो के व्यापार मे काफी कमी हो गई है। ऊंची ब्याज दर, परिवर्तन की योग्यता तथा इच्छा के अभाव तथा सार्वजनिक दृष्टि मे उनकी अच्छी कल्पना न होने के कारण भावी वर्षो मे अपने अस्तित्व के लिए स्वदेशी बैंकरो को काफी प्रयत्न करना होगा। यह विचार कि भविष्य मे स्वदेशी बैंकर समाप्त हो जायेगे पूर्णतया अतिरंजित है। आधुनिक व्यापारिक बैंको तथा सहकारी बैंको के विस्तार के बावजूद अर्थव्यवस्था मे स्वदेशी बैंकरो का स्थान बना रहेगा। छोटे-छोटे ऋणियो की बढती मागो की पूर्ति संगठित संस्थायें नही कर सकेंगी और यह कार्य स्वदेशी बैंकरो को ही सम्पन्न करना होगा। यदि स्वदेशी बैंकर समय का रुख पहचान कर अपने मे आवश्यक सुधार कर सकें तो उनका भविष्य निश्चित ही उज्वल है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके संकेत

1. भारतीय बैंकिंग व्यवस्था मे स्वदेशी बैंकरो का क्या महत्व है? देश के लिए उन्हे अधिक उपयोगी बनाने के लिए क्या उपाय किये जाने चाहिये।

(विक्रम बी०काम०, 1959)

[संकेत—प्रथम भाग मे स्वदेशी बैंकरो द्वारा व्यापार तथा उद्योग को दी जाने वाली वित्त सुविधा की चर्चा करते हुए भारतीय बैंकिंग व्यवस्था मे उनके महत्व का विवेचन कीजिये। दूसरे भाग मे उनमे सुधार के सुझाव दीजिये। इस सन्दर्भ मे श्राफ समिति की सिफारिशो का उल्लेख कीजिये।]

2. स्वदेशी बैंकरो तथा उनकी कार्य प्रणाली पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये। उनके दोषो को दूर करने के लिए आप क्या सुझाव दे सकते हैं?

(राजपूताना, 1958)

[संकेत—प्रथम भाग मे स्वदेशी बैंकरो की परिभाषा, कार्यप्रणाली तथा महत्व की विवेचना कीजिये। दूसरे भाग मे उनके दोषो को दूर करने के सुझाव दीजिये। इस सन्दर्भ मे श्राफ समिति की सिफारिशो का विवेचन कीजिये।]

सहकारी तथा भूमि बंधक बैंक
(Cooperative and Lan dMortgage Banks)

"If co operation fails, there will fail the best hope for rural India."

Royal Commission on Agriculture (1927)

सहकारी बैंको की परिभाषा (Definition of Co-operative Banks) "सहकारी बैंक इस प्रकार की एजेन्सी है जो छोटे आदमियो से उन्ही की शर्तो पर व्यवहार करती है। बिना धनिको के सरक्षण के उनके पास जो जमानत होती है उसे वे स्वीकार कर लेती है। यह एजेन्सी दान बाटन या राज्य कोषो से छोटे साधनो के व्यक्तिप्रो को सहायता देने के लिए नही वरन् भौतिक सहायना के साथ नैतिक विकास तथा चरित्र शक्ति की वृद्धि के लिए है।"[1] डिवाइन के शब्दो मे "सहकारी बैंक एक पारस्परिक सस्था है जो श्रमिक वर्ग के द्वारा ही निर्मित तथा नियन्त्रित होती है तथा जहा बचत को प्रोत्साहित किया जाता है और ब्याज तथा भुगतान की सरल शर्तो पर छोटे ऋण स्वीकार किए जाते हैं।"[2] सहकारी बैंक की एक उपयुक्त परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है जिसमे सहकारी साख के सभी तत्वो का समावेश हो — "यह असीमित सदस्यता तथा सामूहिक स्वामित्व साधनो वाला व्यक्तियो का एक ऐच्छिक सगठन है जिसका निर्माण प्रजातन्त्रीय आधार पर छोटे उत्पादको तथा

---

[1] "Co operative banking is an agency which is in a position to deal with small man on his own terms, accepting the security he has and without drawing on the protection of the rich That agency must not be a channel for pouring charity or subsidising the small man out of the public funds, instead the material help must be backed by moral improvement and a strengthening of the fibre"
—Henry Wolff, *Co operation in India.*

[2] "Co-operative bank is a mutual Society formed composed and governed by working people themselves by encouraging regul› saving and granting small loans on easy terms of interest कोई repayment"—Devine.

श्रमिकों द्वारा किया जाता है, जिसमे सदस्यो की बचतो को जमा कर ब्याज तथा भुगतान की सरल शर्तों पर साख दी जाती हैं, अत्यधिक धन सचित कोष मे रख लिया जाता है या उसे जमाकर्ताओं, ऋणियो तथा अशधारियो मे बाट दिया जाता है। बाह्य स्रोतो से सदस्यो के लिए ऋण प्राप्त करते समय सदस्यो के सामूहिक उत्तरदायित्व का प्रयोग किया जाता है।"[1] इन परिभाषाओं से सहकारी बैंको के दो आवश्यक तत्व प्रकट होते है—एक तो इनका निर्माण सहकारिता के सिद्धान्तो के आधार पर हो और दूसरे इनका उद्देश्य साख की सुविधाये प्रदान करना हो।

सहकारी साख आन्दोलन का प्रारम्भ (The origin of the Co-operative Credit movement) · भारत मे सहकारिता को प्रारम्भ करने का विचार सर्व प्रथम सर हेनरी स्टार्क ने किया। यह वास्तव म बेलिजयम मे लियोन से (Leon Say) इटली मे लिओने वालेमबर्ग (Leonne Wollemberg) तथा फ्रास मे प्रो० टेनविरे (Prof Tanviray) द्वारा किए गये प्रारम्भिक प्रयत्नो का प्रभाव ही था। 1892 मे मद्रास सरकार ने सर फ्रेडरिक निकलसन को मद्रास मे भूमि तथा कृषि बैंको की सम्भावनाओं का पता लगाने के लिए नियुक्त किया और अध्ययन करने योरोप भेजा तथा 1895 मे अपनी रिपोर्ट[2] मे उन्होने रेफीसन समितियो की स्थापना का सुझाव दिया। उसी समय उत्तर प्रदेश म ड्यूपर्न (H Duperne) ने पीपुल्स बैंक स्थापित करने का प्रयत्न किया। लार्ड कर्जन ने एक समिति नियुक्त की। 1901 के अकाल कमीशन ने भी पारस्परिक साख समितियो (Mutual Credit Associations) के निर्माण का सुझाव दिया। 1901 मे सर एडवार्ड लो की की अध्यक्षता मे एक समिति ने विचार किया और इसी क सुझाव पर 1904 मे सहकारी साख समिति अधिनियम पारित किया गया जिसका उद्देश्य कृषको, कारीगरो तथा थोडे साधनो के व्यक्तियो मे मितव्ययिता, स्वालम्बन तथा सहकारिता को प्रोत्साहन देना था। इस अधिनियम मे गैर साख समितिया तथा केन्द्रीय बैंक बनाने की व्यवस्था नही थी अत 1912 मे एक व्यापक अधिनियम पास कर इन दोषों को

1. "It is a voluntary association of individuals with unrestricted membership and collectively owned resources formed by small producers or wage earners, conducted on a democratic basis by accumulating the savings of the members and granting them credit on easy terms of interest and repayment, surplus being placed to reserve or distributed between depositors, borrowers and shareholders, the association also using the joint responsibility of its member as a security for loans obtained for its members from outside sources"—N Barou : *Co operative Banking*

2. Report regarding the Possibility of Introducing Land and Agricultural Banks into the Madras Presidency.

दूर किया । 1915 मे मैक्लागन समिति (Maclagan Committee on Co-operation) ने सहकारी समितियों के पुनर्गठन का सुझाव दिया । 1919 के मान्टेग्यू-चेलम्स्फोर्ड सुधारो के अतर्गत सहकारिता प्रान्तीय सरकारो के प्रधीन कर दी गयी । अत: प्रान्तो मे अलग-अलग अधिनियम बनाये गये । 1929 के बाद की मदी मे सहकारिता आन्दोलन को ठेस लगी परन्तु कुछ समय बाद मूल्यो मे वृद्धि से आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला । 1939-45 के द्वितीय महायुद्ध काल मे मूल्य वृद्धि तथा राशनिंग इत्यादि के कारण सहकारिता का विकास हुआ । 1946 मे सहकारी नियोजन समिति (सरैय्या समिति) नियुक्त हुई जिसने प्राथमिक साख समितियों को बहुउद्देश्यीय समितियो के रूप मे पुनर्गठित करने का सुझाव दिया । 1951 मे रिजर्व बैंक ने श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता मे एक ग्रामीण जाच सर्वेक्षण समिति नियुक्त की जिसने 1955 मे प्रकाशित अपनी रिपोर्ट मे ग्रामीण साख की एकीकृत योजना (Integrated Scheme of Rural Credit) प्रस्तुत की । इसी के सुझावो पर आन्दोलन आगे बढा । पचवर्षीय योजनाओ मे सहकारिता को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया ।

सहकारी बैंकों का संगठन
(Organisation of Co-operative Banking)

भारत मे सहकारी साख का सगठन सघीय (Federal) आधार पर हुआ है । इसे स्तूपाकार व्यवस्था (Pyramidical Structure) भी कहते हैं । इस आधार पर सहकारी बैंकों को तीन वर्गों मे बाटा जा सकता है .—

(1) प्राथमिक सहकारी साख समितिया (Primary Co operative Credit Societies)

(2) केन्द्रीय सहकारी बैंक अथवा बैंकिंग यूनियन (Central Co-operative Banks or Banking Unions)

(3) राज्य सहकारी बैंक या शीर्ष बैंक (State Cooperative Bank or Apex Bank)

(1) प्राथमिक सहकारी साख समितियां
(Primary Co-operative Credit Societies)

इन समितियो को दो भागो मे बाटा जा सकता है : प्राथमिक कृषि साख समितियाँ जो कृषि कार्यो के लिए साख व्यवस्था करती है और जिनका कार्यक्षेत्र बहुधा ग्राम होता है । दूसरी ओर, गैर कृषि साख समितिया हैं जो मिल मजदूरो, वेतन भोगियो तथा नगरीय वर्गों के लिए कार्य करती है और इनका कार्यक्षेत्र कोई नगर या कस्बा होता है ।

(अ) सगठन : किसी ग्राम अथवा क्षेत्र के कम से कम दस व्यक्ति मिल कर प्राथमिक साख समिति का निर्माण कर सकते हैं। इन समितियो का सहकारी समितियो के रजिस्ट्रार (Registrar of Cooperative Societies) से पजीयन कराना पडता है। रजिस्ट्रार समिति का पजीयन तभी करता है जब वह सदस्यो या अशधारियो के हितो की समानता तथा सहकारिता के सिद्धातो मे उनकी निष्ठा से आश्वस्त हो जाता है। ऐसी समिति का कार्यक्षेत्र सीमित ही होता है जिससे सदस्य एक दूसरे को जान सकें, उनके कार्यकलापो पर दृष्टि रख सकें, किसी व्यक्ति विशेष के प्रभुत्व को रोक सकें और सुविधापूर्वक निरीक्षण हो सके। अधिकतर कृषि साख समितियो का गठन रेफीसन प्रणाली पर किया जाता है। जिसमे सदस्यो का दायित्व असीमित होना है जिससे वे सहयोगी सदस्यो का चयन करने तथा उन्हे ऋण देने मे सतर्क रह और भुगतान समय पर कराने मे कठोर रह। गैर-कृषि साख समितियो का गठन बहुधा सीमित दायित्व के आधार पर किया जाता है।

(ब) पूँजी (Capital resources) प्राथमिक समितियो की चालू पूँजी (Working capital) चार साधनो से प्राप्त होती है—(क) अशो द्वारा (ख) सचित कोष (ग) जमा तथा ऋण (घ) शुल्क।

(क) **अशो द्वारा** सभी समितिया अश जारी नही करती। जहा अश जारी किए जाते है उनका मूल्य बहुत कम रक्खा जाता है तथा लाभाश तथा एक सदस्य द्वारा खरीदे गये अशो की अधिकतम सख्या सीमित कर दी जाती है। प्रत्येक सदस्य को चाहे उसके पास कितने भी अश क्यो न हो एक ही मत देने का अधिकार होता है। 'एक व्यक्ति-एक मत' का प्रजातन्त्रीय सिद्धात अपनाया जाता है जिससे पूँजी की शक्ति से कुछ साधन सम्पन्न व्यक्ति समिति पर अपना प्रभुत्व न स्थापित कर लें।

(ख) **सचित कोष** (Reserve Fund) प्रत्येक समिति को अधिनियम के अनुसार अपने लाभ का अधिकाश भाग सचित कोष मे हस्तातरित करना पडता है। रेफीसन प्रणाली मे तो पूरा लाभ सचित कोष मे जमा होता रहता है और लाभ तभी बाटा जा सकता है जब कि सचित कोष की रकम अश पूँजी के बराबर हो जाय और रजिस्ट्रार से लाभ बाटने की आज्ञा ले ली जाय। जो समितिया अश जारी नही करती वे पूरा लाभ सचित कोष मे हस्तान्तरित कर देती है। कुछ समितिया सचित कोष का उपयोग सदस्यो को ऋण देने के लिए करती हैं और कुछ उसे केन्द्रीय बैंको मे जमा कर देती हैं।

(ग) **जमा तथा ऋण** (Deposits and loans) इन समितियो की चालू पूँजी का अधिकाश भाग केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा सरकार से ऋण लेकर प्राप्त होता है। समितियो को प्राय अपनी सम्पूर्ण चालू पूँजी के दुगने से लेकर चार गुने तक ऋण मिल सकता है। 1958 से मेहता समिति की सिफारिश के कारण अश

पूँजी की आधी रकम राज्य सरकार देती है। समितिया सदस्यो तथा गैर सदस्यो से जमा भी प्राप्त करती हैं परन्तु इस दिशा म उन्हे अधिक सफलता प्राप्त नही हुई है।

(घ) प्रवेश शुल्क (Entrance fees) कुछ समितिया सदस्यो से प्रवेश शुल्क भी लेती हैं परन्तु इसका उनकी आय स्रोतो म कोई महत्वपूर्ण स्थान नही है।

(स) प्रबन्ध (Management) समिति का प्रबन्ध करने के लिए एक प्रबन्ध समिति का प्रतिवर्ष निर्वाचन साधारण सभा द्वारा होता है जिसमे अध्यक्ष तथा सचिव को मिलाकर 4 से 9 सदस्य तक होते है। प्रबन्ध समिति का मत्री जो वहुधा अवैतनिक होता है, समिति के दिन प्रतिदिन के कार्यो क लिए उत्तरदायी होता है। इसके अतिरिक्त सभी सदस्यो की साधारण सभा होती है जो नीति निर्धारण का कार्य करती है। इसकी बैठक वष मे प्राय एक बार होती है।

(द) ऋण नीति (Lending Policy) प्राथमिक समितिया अपने सदस्यो को ही ऋण देती हैं। ऋण की मात्रा सदस्य की व्यक्तिगत सम्पत्ति क एक निश्चित अनुपात (सामान्यत आधा) तक ही दी जा सकती है और इस सीमा मे भी ऋण देते समय ऋण लेने के उद्देश्य तथा उनकी भुगतान सामर्थ्य को ध्यान मे रक्खा जाता है। ऋण उत्पादक तथा कभी कभी अनुत्पादक कार्यो के लिए दिए जाते हैं परन्तु सट्टेबाजी तथा अपव्यय के लिए नही दिए जा सकते। ऋण सामान्यत बीज, खाद तथा बैल आदि खरीदने, लगान अदा करने भूमि को सुधारने तथा पुराने ऋणो का भुगतान करने के लिए दिए जाते है। ऋण व्यक्तिगत जमानत पर दिए जाते हैं। कुछ राज्यो मे भूमि को धरोहर के रूप मे रक्खा जाता है और कुछ अन्य राज्यो मे व्यक्तिगत जमानत के अतिरिक्त दो अन्य व्यक्तियो की जमानत मागी जाती है। विभिन्न राज्यो मे ऋण पर ली जाने वाली ब्याज की दर 8 से 12 प्रतिशत के बीच है

प्राथमिक साख समितियो की ऋण नीति सम्बन्धी नियम राज्य के सहकारिता विभाग द्वारा बनाये जाते हैं जिनका पालन करना समितियो के लिए आवश्यक होता है।

(य) प्रगति (Progress) प्राथमिक साख समितियो की सख्या म पिछले कुछ वर्षो से कमी हुई है क्योकि सगठन के सुदृढ करने के लिए कमजोर तथा अवांछित समितियो को समाप्त किया गया। इन समितियो के प्रगति के आकडे इस प्रकार हैं .

भारत में प्राथमिक कृषि साख समितियों की प्रगति

मदें	1950–51	1966–67
1. संख्या (लाखों में)	1 15	1 79
2. सदस्य (करोड़ों में)	0 52	2 67
3 दत्त पूँजी	8 40	128 61
4 कोष	8 86	36 88
5. निक्षेप	4 48	39 09
6 ऋण शेष (Outstanding)	29 13	477 46
7 बाकी (Loans overdue)	6 38	160 14
8. (Percentage of overdues to outstanding)	21 90	34 00

प्राथमिक कृषि साख समितियों द्वारा 1766–67 वर्ष में 365 2 करोड़ रुपये के ऋण दिए गए जो पिछले वर्ष से 8 प्रतिशत अधिक थे। इन समितियों की कुल कार्यशील पूँजी 1966–67 के अंत में 625 20 करोड़ रुपये थी।

(2) केन्द्रीय सहकारी बैंक
(Central Co-operative Bank)

प्रत्येक जिले में प्राय एक केन्द्रीय सहकारी बैंक होता है जो उस क्षेत्र की प्राथमिक साख समितियों को आर्थिक सहायता पहुँचाने का कार्य करता है। केन्द्रीय सहकारी बैंक दो प्रकार के होते हैं एक तो व जिनमे केवल प्राथमिक समितियाँ ही सदस्य होती है। ये 'बैंकिंग यूनियन' कहलाती हैं। दूसरी वे जहा प्राथमिक समितियों के अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति भी सदस्य होते हैं। भारत मे अधिकतर ऐसे ही मिश्रित सदस्यता वाले बैंक है। कुछ केन्द्रीय बैंक अपने कार्य क्षेत्र म शाखायें भी खोलते है। नगरो या कस्बो म स्थित होने के कारण ये बैंक व्यापारिक बैंको के कार्यों को भी करते हैं परन्तु कम मात्रा म। मुख्य रूप से केन्द्रीय बैंक प्राथमिक साख समितियों को ऋण देता है और उनकी अतिरिक्त कार्यशील पूँजी अपने यहा जमा रखता है। केन्द्रीय बैंक जनता से निक्षेप भी स्वीकार करता है। कुछ राज्यों म अर्ध सरकारी सस्थाओं जैसे नगर पालिकायें, जिला परिषद, विश्वविद्यालय इत्यादि के अतिरिक्त कोष अपने यहा जमा करता है। केन्द्रीय बैंक प्राथमिक समितियों के कार्यों की देख रेख रखता है और उनका निरीक्षण तथा नियमन करता है। अत केन्द्रीय बैंक प्राथमिक साख समिति तथा शीर्ष बैंक के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी है।

(अ) पूँजी (Capital resources)—केन्द्रीय बैंक के मनिय पूँजी के साधन चार हैं · (1) अंश (2) संचित कोष (3) समितियों तथा जनता के निक्षेप और (4) ऋण। वार्षिक लाभ का कम से कम एक चौथाई संचित कोष मे जमा

होता रहता है। जमा तीन प्रकार के खातो द्वारा प्राप्त होती है—चालू खाता, बचत खाता सावधि जमा खाता। जमा के रूप मे प्राप्त रकम कार्यशील पूँजी का लगभग 40 6 प्रतिशत होती है। अपने वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु स्टेट बैंक आफ इण्डिया तथा अन्य व्यापारिक बैंको अधिकाशत राज्य सहकारी बैंको से ऋण प्राप्त करते है। राज्य सहकारी बैंको से उन्हे इनकी अंश पूँजी तथा सचित कोषो के दस गुने तक ऋण मिल सकते है।

(ब) प्रबन्ध (Management)—इन बैंको का प्रबन्ध एक सचालक मडल द्वारा होता है जिसके सदस्य प्राथमिक समितियो के प्रतिनिधि तथा प्रभावशाली और व्यापारिक योग्यता के व्यक्ति होते है। वे समय-समय पर अपनी बैठको मे नीति सम्बन्धी निर्णय तथा दिशा सकेत करते है। इन बैंको के सभी कर्मचारी वैतनिक होते है।

(स) ऋण-नीति (Lending policy)—केन्द्रीय बैंक मुख्य रूप से सदस्य समितियो को ऋण देते है। समितियो को प्राय 6 से 8 प्रतिशत ब्याज पर ऋण दिया जाता है। प्रत्येक समिति की ऋण लेने की अधिकतम सीमा के भीतर ही ऋण दिया जाता है। यह ऋण एक वर्ष मे तीन वर्ष के लिए होते हैं।

(द) प्रगति (Progress)—द्वितीय पचवर्षीय योजना काल से ही केन्द्रीय बैंक व्यवस्था को सुदृढ आधार पर खडा करने के लिए बैंको का एकीकरण कर प्रत्येक जिले मे एक मजबूत केन्द्रीय बैंक के निर्माण की योजना को कार्यान्वित किया गया है। इसीलिए उनकी सख्या घट रही है परन्तु उनका सगठन अधिक सुदृढ होता जा रहा है। केन्द्रीय बैंको की प्रगति के कुछ आकडे इस प्रकार हैं—

भारत मे केन्द्रीय सहकारी बैंको की प्रगति

(करोड रुपयो मे)

मद	1951-52	1966-67
1 सख्या	505	346
2 सदस्य (लाखो मे)		
समितियाँ		2·54
व्यक्ति		99·
3. दत्त पूँजी	4 04	85 99
4. कोष	4 79	20 64
5 निक्षेप	37 79	259 32
6. ऋण शेष (Outstandings)	34 14	499 35
7. बाकी (Loans over due)	2 96	124 17
8. प्रतिशत (Percentage of overdues to outstandings)	8 67	24 9

केन्द्रीय बैंको ने 1966-67 वर्ष मे 625 4 करोड रुपये के ऋण दिए तथा इनकी कार्यशील पूँजी 638,3 करोड रुपये थी। इनकी कार्यशील पूँजी म निक्षेपो

का प्रतिशत 40 6 है और यह गुजरात मे उच्चतम है। एक करोड या इससे अधिक जमा वाली बैंको की कुल संख्या 70 है।

(3) राज्य सहकारी बैंक या शीर्ष बैंक
(State Co-operative Bank or Apex Bank)

सहकारी साख व्यवस्था मे राज्य सहकारी बैंक सर्वोच्च सस्था है जो राज्य के समस्त सहकारी बैंको के संगठनो का नियन्त्रण तथा नियमन करती है। अत इसको शीर्ष बैंक (Apex Bank) भी कहते हैं। यह बैंक दो प्रकार के हैं। एक तो ऐसे जिनमे केन्द्रीय बैंक ही सदस्य है, इन्हे शुद्ध बैंक (Pure Banks) कहा जाता है। पजाब, पश्चिमी बगाल, आन्ध्र एव मैसूर राज्यो मे इसी प्रकार के शुद्ध बैंक हैं। दूसरे प्रकार के वे बैंक हैं जहा केन्द्रीय बैंको के अतिरिक्त व्यक्ति भी सदस्य बन सकते है। अन्य राज्यो मे दूसरी श्रेणी के बैंक है। देश के प्रत्येक राज्य म एक राज्य सहकारी बैंक स्थापित है। इनकी सख्या 25 है। कुछ राज्यो मे यह बैंक उन स्थानो पर शाखायें भी खोलते है जहा केन्द्रीय बैंक नही है। केन्द्रीय बैंको को ऋण देने के अतिरिक्त वे व्यक्तियो को भी ऋण देते है और व्यापारिक बैंकिंग कार्य भी करते है। कुछ राज्यो में इन बैंको ने सहकारी उपभोक्ता भडारों तथा औद्योगिक व विपणन समितियो के गठन मे भी योग दिया है।

(अ) पूँजी साधन (Capital resources)—राज्य सहकारी बैंक अपनी पूँजी अश तथा सचित कोष, केन्द्रीय बैंको तथा व्यक्ति के निक्षेपो तथा व्यापारिक बैंको, स्टेट बैंक तथा रिजव बैंक से ऋण लेकर प्राप्त करती है। इसक अतिरिक्त आवश्यकता पडने पर राज्य सरकार से भी ऋण प्राप्त कर सकते हैं। रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा 19 (2) (अ) 17 (2) ब तथा 4 (स) के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के ऋण रिजर्व बैंक राज्य सहकारी बैंको को देता है।

(ब) प्रबन्ध (Management)—राज्य सहकारी बैंको का प्रबन्ध एक सचालक मडल (Board of Directors) द्वारा होता है जिसमे केन्द्रीय बैंको के प्रतिनिधि तथा बैंकिंग का ज्ञान रखने वाले अन्य व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। इन बैंको का कार्य व्यापारिक सिद्धान्तो के आधार पर होता है। कुछ राज्यो मे सहकारिता विभाग का रजिस्ट्रार सचालक मडल का सदस्य होता है।

(स) ऋण-नीति (Lending Policy)—राज्य सहकारी बैंक सरकारी प्रतिभतियो तथा कृषि विनिमय पत्रो की धरोहर पर ऋण देते है। ऋण प्रायः अल्पकाल के लिए ही दिए जाते है परन्तु आवश्यकता पडने पर मध्यकाल के लिए भी दिए जाते हैं। इनके द्वारा दिए गये ऋणो की ब्याज की दर 4 से 6 प्रतिशत होती है।

(द) प्रगति (Progress)—राज्य सहकारी बैंको की कुल संख्या 25 है जिनमे 13,167 बैंक तथा समितियां और 8290 व्यक्ति सदस्य है। राज्य सहकारी बैंको की वर्तमान स्थिति तथा प्रगति निम्न तालिका से विदित होती है—

भारत मे राज्य सहकारी बैंको की प्रगति

मदें	1950–51	1966–67
1. संख्या		25
2. सदस्य		
(अ) बैंक		13,167
(ब) व्यक्ति		8,290
3 दत्त पूंजी	1 58	31 16
4. संचित काप	2 22	10 24
5. निक्षेप	22 08	147 38
6. ऋण शेष (Outstanding)	17 90	315 16
7 बाकी (Loans over due)	2 15	16.92
8 प्रतिशत (Percentage of overdues to outstanding)	12 01	5.20

तालिका से स्पष्ट है कि राज्य बैंको की ऋण शेष लगभग 18 गुना हो गये हैं। राज्य सहकारी बैंको मे महाराष्ट्र सहकारी बैंक सबसे बडा है जिसकी कार्यशील पूँजी 91 90 करोड रुपये तथा ऋण शेष 75 31 करोड रुपये है।

सहकारी साख आन्दोलन के दोष
(Defects in the Co-operative Credit Movement)

भारत म सहकारी आन्दोलन को 64 वर्ष बीत गये हैं और यह इतिहास एक सीमित साख आन्दोलन का इतिहास ही है फिर भी अपने इस सीमित उद्देश्य—ग्रामीण ऋणग्रस्तता तथा साख की समस्या का पूर्ण रूप से समाधान करने म यह असफल रहा है विभिन्न कमीशनो तथा समितियो ने सहकारी आन्दोलन के दोष बताये हैं जिनमे कुछ मुख्य इस प्रकार हैं—

(1) **सहकारी साख अपर्याप्त है** (Co-operative Credit inadequate) ग्रामीण जाच सर्वेक्षण समिति (1951-54) के ये शब्द आज भी उतने ही सही हैं "The agricultural credit that is supplied, falls short of the right quantity, is not of the right type, does not serve the right purpose, and by the criterion of need (not overlooking the crieterion of creditworthiness) often fails to go to the right people" इसी कारण कृषक को अन्त मे साहूकार महाजन की शरण मे ही जाना पडता है जिसमे बचाना

ही सहकारिता का उद्देश्य है। कुल कृषि साख का आज भी केवल 40 प्रतिशत सहकारी संस्थाओं द्वारा दिया जाता है।

(2) अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप (Excessive official control)—ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति इस कथन से सहमत थी कि "Co operation in this country is like a plant held in position with both hands by the government since its roots refuse to enter the soil" भारत में सहकारी आन्दोलन सरकारी आन्दोलन के रूप में रहा है हालांकि सरकार की नीति गैर सरकारी लोगों को बढ़ावा देने की है।

(3) सहकारिता के सिद्धान्तों से अनभिज्ञता (Lack of understanding of cooperative principles)—समितियों के अधिकांश सदस्य सहकारिता के सिद्धान्तों तथा ग्रामीण साख के आवश्यक तत्वों से अनभिज्ञ है। वे यह नहीं समझते कि समिति की शक्ति सदस्यों का ईमानदारी, पारस्परिक विश्वास और सहयोग पर निर्भर करती है। इसका मुख्य कारण कृषकों का अशिक्षित होना है।

(4) कुशल तथा प्रभावपूर्ण निरीक्षण का अभाव (Lack of effective and efficient supervision and inspection)—बहुत सी प्रबन्ध समितियां अकुशल है दलगत भावना से कार्य करती है और साधारण सभायें उन पर ठीक प्रकार से नियन्त्रण नहीं रखती। बिना सोचे समझे सदस्य बना लिए जाते है और ऋण बिना सतर्कता से स्वीकृत कर दिए जाते है। समितियों की व्यवस्था का ठीक प्रकार से निरीक्षण नहीं होता।

(5) अवांछित तत्वों का प्रभुत्व (Control of undesirable elements)—कभी-कभी समितियों पर कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों का प्रभुत्व हो जाता है जिससे साधनहीन लोगों के हितों की कीमत पर कुछ प्रभावशाली लोग लाभ उठाते हैं। राजनीतिज्ञ सहकारी समितियों पर अधिकार कर लेते है और अपने लोगों को अधिकाधिक ऋण दिलाते है। इन अवांछित तत्वों के कारण सहकारी संस्थाओं में धन के दुरुपयोग, जालसाजी, गबन इत्यादि काफी बढ़ गये है।

(6) समितियों की ब्याज दर ऊँची है (Societies rates of interest are high)—प्राथमिक साख समितियों द्वारा दिए गये ऋणों पर 8 से 12 प्रतिशत ब्याज लिया जाता है जो अधिक है। कुछ तो साख व्यवस्था के संघीय संगठन के कारण ऐसा है परन्तु फिर भी इसमें कमी की गुंजाइश है।

(7) सहकारी संस्थायें ग्रामीण बचतों को आकर्षित करने में असफल रही हैं (They have failed to attract rural savings)—सहकारी आन्दोलन आत्म

सहायता तथा स्वालम्बन के ऊपर आधारित है परन्तु अपनी कार्यशील पूँजी जुटाने के लिए सहकारी सस्थाये अधिक माता म राज्य सहकारी बैंक, रिजर्व बैंक तथा सरकार से ऋण लेती हैं। ग्रामीण क्षेत्रो में मितव्ययिता को प्रोत्साहित कर जमा आकर्षित करने मे प्राथमिक समितिया असफल रही है। उनकी कुल कार्यशील पूँजी म निक्षेपों का प्रतिशत कम ही है।

(8) ओवरड्यूज का ऊचा प्रतिशत (High perecentage of overdues)— प्राथमिक साख समितियो म ऋण शेषो का प्रतिशत ऊचा है और यह साख सगठन की बहुत बडी कमजोरी है। इसके मुख्य कारण आवश्यकता से अधिक साख, ऋण देते समय उद्देश्य की जाच न करना, ऋणी की देय क्षमता का ध्यान न रख कर ऋण-स्वीकृति ऋण उपयोग पर देख रेख न होना और ऋण वसूली म अनावश्यक ढील देना है।

(9) दोषपूर्ण अकेक्षण (Defective audit)—समितियो का अकेक्षण होना अनिवार्य हाते हुए भी अनेक समितियों का अकेक्षण हाता ही नही या उसमे सावधानी नही बरती जाती। खातो इत्यादि मे जो दोष बताये जाते हैं उन्हे वर्षों तक ठीक नही किया जाता।

1946 म सहकारिता नियोजन समिति ने आन्दोलन की सीमित प्रगति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा था – The causes are "the laissez faire policy of the state, the illiteracy of the people and the fact that the movement did not, especially in its initial stages, take the life of the individual as a whole Amongst the other causes, are the small size of the primary unit and undue reliance on honorary services for even day-to-day work with resultant inefficiency in management" ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति 1951-54 के शब्दो मे its main causes may be found in "the functional structural and administrative defects, dearth of suitable personnel, lack of training, a background of illiteracy, the grave and chronic deficiency in roads, storage and other vital economic requirements"

सहकारी साख आन्दोलन मे सुधार के उपाय
(Suggestions for Improvement in the Co operative Credit Movement)

सहकारिता आन्दोलन को अधिक उपयोगी बनाने तथा उसकी स्थिति सुधारने के लिए समय-समय पर विभिन्न कमीशनो तथा समितियो ने सुझाव दिए है। उनके अनुसार निम्नलिखित दिशाओं मे सुधार किया जाना चाहिए —

(1) सरकारी हस्तक्षेप कम होना चाहिए (Official control should be lessened) सरकार के सहकारी विभागो का कार्य केवल शिक्षा, देख रेख तथा अंकेक्षण के नियन्त्रण तक ही सीमित होना चाहिए और समितियो को उनकी आतरिक कार्य प्रणाली, ऋण तथा जमाओ के लिए स्वय उत्तरदायी बनाना चाहिए। इससे सदस्यो म उत्तरदायित्व की भावना का उदय होगा।

(2) प्राथमिक समितियां कवल अल्प तथा मध्यकालीन ऋण दें (Primary Credit Societies should finance only short term and intermediate credit needs) प्राथमिक समितियो को अल्प, मध्य तथा दीर्घकालीन ऋणों में भेद करना चाहिए और केवल अल्प तथा मध्यकालीन ऋण देना चाहिए क्योंकि उनको अल्प या मध्यकाल क लिए धन मिलता है।

(3) अधिक कार्यकुशल तथा पर्याप्त प्रशिक्षण की व्यवस्था हो (Efficient and adequate training) सहकारी विभाग क अधिकारियो, कर्मचारियो तथा सहकारी कार्यकर्ताओ का प्रशिक्षण व्यवस्था म सुधार किया जाय तथा सहकारिता के व्यवहार सम्बन्धी योग्यता विकसित की जाय जिनसे सस्थाए ठीक ढग से चल सकें।

(4) सहकारिता की शिक्षा का प्रचार हो (Expansion of co operative education) सहकारिता के सिद्धान्त तथा शिक्षा का प्रसार किया जाय जिससे सदस्यो म ग्रामीण साख क आवश्यक तत्वो का ज्ञान हो और उनम सहकारिता की भावना पैदा हो। परन्तु इस दिशा म वास्तविक उन्नति तो तभी हो सकेगी जब जनता शिक्षित होगी।

(5) प्राथमिक साख समितियो को बहु उद्देश्यीय समितियां मे परिवर्तित कर देना चाहिए (Primary credit societies should be converted into or associated with multi purpose societies) सहकारिता नियोजन समिति 1946 न सुझाव दिया था कि प्राथमिक साख समितियो को बहु-उद्देश्यीय समितियो म परिवर्तित कर दना चाहिए या उन्हे बहु उद्देश्यीय समितियो से सम्बन्धित कर दना चाहिए जिसस आर्थिक स्थिति म सुधार हो तथा सदस्यो को सुविधा हो।

(6) अंकेक्षण तथा निरीक्षण मे सुधार हो (Improvement in audit supervision and inspection) प्राथमिक साख समितियो का निरीक्षण तथा अंकेक्षण अधिक सगठित तथा सावधानी पूर्वक किया जाय।

सहकारी आन्दोलन की सफलतायें
(Acheivements of Co operative Movement)

सहकारी सस्थाओ की सहायता से निर्धनो तथा कृषकों की स्थितियो मे सुधार हुआ है। मोल्टन (Moulton) के शब्दो मे :

"Where ever the credit unions have been properly established and encouraged, they have regenerated and accelerated agriculture, commerce and industry or any other department of human activity to which their principles have been applied. They have stamped out usury and raised millions of human souls from the depths of despair to lives of hopefulness and service. They have supplanted shiftliness by industry, improvidence by sobriety, selffishness by neighbourliness, individual effort by concerted action — in fact they have proved to be one of the most potent moral, educational and social forces in the history of civilisation and in the enrichment of the life of the common people"

यद्यपि पूर्ण रूप से इस दिशा मे भारत मे सफलता नही मिली हैं फिर भी अर्थ-व्यवस्था पर सहकारी आन्दोलन ने प्रभाव डाला है। कुछ सीमा तक उसकी सफलताएं निम्नलिखित हैं :

(1) आन्दोलन ने सभी दिशाओ मे ब्याज की दरो को कम किया है।

(2) साख की सुविधाये देकर कृषि का सुधार करने मे कृषको की सहायता की है।

(3) आत्म सहायता तथा स्वावलम्बन से उनमे आत्मविश्वास बढा है। सहयोग तथा उत्तरदायित्व की भावना का विकास हुआ है। वित्तीय मामलो को चलाने की योग्यता बढी है।

(4) कुछ सीमा तक बचत तथा विनियोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया है।

(5) साहूकार महाजन पर कृषको की निर्भरता कुछ कम हुई है।

सहकारिता के महत्व को पजाब प्रातीय समिति ने इन शब्दो मे प्रकट किया था :

"A scheme of Government of joint stock bank finance might reduce the rates of interest, but only co operation can teach the peasent to borrow at the right time, and in the right amounts and for right ends, and to repay on right dates, and only co-operation can teach him to save so that he may not have to borrow at all'.

कुछ क्षेत्रो मे सहकारिता आन्दोलन ने महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है परन्तु सहकारी क्षेत्रो मे व्याप्त अव्यवस्था, धन का दुरुपयोग, ऋणो की बाकी इत्यादि के

आधार पर यह सभी स्वीकार करते हैं कि सहकारी संस्थायें अपने मूलभूत उद्देश्य में असफल रही है। सहकारी साख के सीमित क्षेत्र में भी इसकी उपलब्धियां बहुत गौरवपूर्ण नहीं रही है।

कृषि वित्त तथा रिजर्व बैंक
(Agricultural Finance and Reserve Bank)

कृषि वित्त व्यवस्था को सुदृढ बनाने में रिजर्व बैंक का महत्वपूर्ण योगदान है। इसका विस्तृत विवेचन 'रिजर्व बैंक आफ इन्डिया' अध्याय में किया गया है।

भूमि-बन्धक बैंक
(Land Mortgage Banks)

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि सहकारी बैंक कृषकों की दीर्घकालीन साख की आवश्यकताओं जैसे भूमि खरीदना, कीमती कृषि यन्त्र खरीदना, भूमि सुधार आदि की पूर्ति नहीं करती क्योंकि उनके साधन अल्पकालीन होते हैं। व्यापारिक बैंक तथा स्वदेशी बैंकर भी दीर्घकालीन साख प्रदान नहीं कर सकते क्योंकि वे भी दीर्घकालीन ऋणों में अपनी पूँजी अटकाना नहीं चाहते। कृषकों की दीर्घकालीन साख की आवश्यकता की पूर्ति विशिष्ट संस्थाओं (Special Institutions) द्वारा ही हो सकती है। यह संस्थायें भूमि बन्धक बैंक कहलाते है और वे कृषकों का भूमि का बन्धक रखकर दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते है।

भूमि बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks) वे संस्थायें हैं जो कृषकों की भूमि का बन्धक रखकर उन्हे दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते है।[1] भूमि बन्धक बैंक तीन प्रकार के हो सकते हैं : (1) सहकारी भूमि-बन्धक बैंक (The Co-operative Type): ये शुद्ध सहकारी आधार पर गठित किए जाते है। (2) मिश्रित पूँजी वाले भूमि बन्धक बैंक (The Commercial Type) (3) अर्ध-सहकारी भूमि बन्धक बैंक (The Quasi-Cooperative) यह पहले दो प्रकार के बैंकों का मिश्रण होता है। भारत में इसी प्रकार के बैंकों की स्थापना हुई है।

भूमि-बन्धक बैंकों का संगठन (Organisation of Land Mortgage Bank): भारत में भूमि बन्धक बैंकों का संगठन द्वि स्तरीय है। प्रत्येक राज्य में तो एक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक (Central Land Mortgage Bank) है जो प्राथमिक भूमि बन्धक बैंकों के संघ के रूप में कार्य करता है। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों

---

[1] "Land Mortgage Banks are the associations of borrowers and non-borrowers created for the purpose of granting loans to members to enable them to redeem their past debts, for enabling them to make long term improvement in land."

की पूँजी सरकार प्राथमिक भूमि बन्धक बैंक, सहकारी बैंक तथा कृषको द्वारा जुटायी जाती है। दूसरी ओर महत्वपूर्ण कृषि क्षेत्रो मे प्राथमिक भूमि बन्धक बैंको की स्थापना की गई है। प्राथमिक भूमि बैंको की पूँजी सदस्यो द्वारा जुटायी जाती है।

भूमि बन्धक बैंको के साधन (Resources of Land Mortgage Banks):

भूमि बन्धक बैंक अपनी कार्यशील पूँजी अशो तथा ऋण-पत्रो को बेचकर, जमाओ तथा व्यक्तियो, समितियो और बैंको से ऋण लेकर प्राप्त करती हैं। उनके अधिकाश पूँजी साधन राज्य सरकारो द्वारा गारन्टी किए गये ऋण-पत्र (Debentures) बेचकर प्राप्त की जाती है। ऋण-पत्र केवल केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको द्वारा ही जारी किए जाते हैं।

भूमि बन्धक बैंक 20 वर्ष तक की अधिकतम अवधि के लिए ऋण देते हैं। पुराने ऋणो को अदा करने तथा भूमि मे सुधार और भूमि खरीदने के लिए भूमि का बन्धक रखकर कुछ राज्यो मे तो बन्धक भूमि की कीमत का 50 प्रतिशत तक तथा कुछ अन्य राज्यो मे भूमि पर देय लगान का 30 गुना तक ऋण दिए जाते है। ऋण स्वीकृत करने के पहले प्रार्थी के भूमि स्वामित्व, उसकी भुगतान योग्यता तथा ऋण की आवश्यकता आदि बातो का विचार किया जाता है। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक प्राथमिक बैंको से 6 50 प्रतिशत तथा प्राथमिक बैंक सदस्यो से 7.50 प्रतिशत ब्याज लेते हैं।

भूमि बन्धक बैंको की प्रगति तथा वर्तमान स्थिति (Progress and Present postition of Land Mortgage Banks): भूमि बन्धक बैंको ने दीर्घकालीन साख सहायता देने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भूमि बन्धक बैंको की प्रगति तथा वर्तमान स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट है:

भूमि बन्धक बैंकों की स्थिति

(लाख रुपयो मे)

	केन्द्रीय		प्राथमिक	
	1950-51	1966-67	1950-51	1966-67
1. सख्या	5	19	287	707
2. सदस्य	9848	7 73 लाख	2.15 लाख	21.57 लाख
3. प्रदत्त पूँजी	21	1,890	53	1,414
4. स्वीकृत ऋण		5,885		4 084
5. ऋण शेष	598	20,737	626	15,467

उपर्युक्त आकड़ो से स्पष्ट है कि देश मे कृषि सम्बन्धी दीर्घकालीन ऋणो को देने मे पर्याप्त प्रगति हुई है। परन्तु दुःख का विषय है कि आन्ध्र-प्रदेश, मैसूर,

मद्रास, महाराष्ट्र, पंजाब इत्यादि कुछ राज्यों को छोड़कर अन्य राज्यों में इनकी प्रक्रिया यें सीमित है और उनकी प्रगति सन्तोषजनक नहीं है।

कृषि पुनर्वित्त निगम
(Agricultural Refinance Corporation)

देश की अर्थ-व्यवस्था म कृषि क महत्व को स्वीकार कर कृषि कार्यों के लिए वित्त सुविधायें सहकारी तथा भूमि बन्धक बैंको द्वारा दी जाती है। व्यापारिक बैंको द्वारा कृषि कार्यों के लिए वित्त व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। अत कृषि वित्त व्यवस्था के संगठन म कमियो को दूर किए बिना कृषि-क्रान्ति का आना असम्भव था अत कृषि वित्त की सरचना म कमियो (Gaps) को पूरा करने के लिए एक अखिल भारतीय निगम की आवश्यकता थी। इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु कृषि पुनर्वित्त निगम (Agricultural Refinance Corporation) की स्थापना की गई।

कृषि पुनर्वित्त निगम की स्थापना कृषि पुनर्वित्त निगम अधिनियम, 1963 के अन्तर्गत हुई। 1 जुलाई 1963 से विधिवत निगम ने कार्य करना प्रारम्भ किया।

निगम के उद्देश्य तथा कार्य (Objects and Functions) · कृषि पुनर्वित्त निगम का उद्देश्य पुनर्वित्त व्यवस्था द्वारा कृषि विकास तथा अन्य कार्यों जैसे कृषि, पशु-पालन डेरी फार्मिंग, मुर्गी पालन इत्यादि के लिए मध्यम तथा दीर्घकालीन साख की व्यवस्था करना है। निगम उन्ही कृषि विकास परियोजनाओं की पुनर्वित्त व्यवस्था करेगा जिनकी वित्त व्यवस्था केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक या राज्य सहकारी बैंक पर्याप्त रूप से नहीं कर सकते।

निगम से निम्नलिखित योजनाओ के लिए सहायता प्राप्त की जा सकती है :

(i) भूमि को तोडने तथा तैयार करने के लिए जिससे सिंचाई सुविधाओ का पूर्ण प्रयोग किया जा सके।

(ii) काजू, नारियल, कालीमिर्च आदि विशेष फसलो की वित्त व्यवस्था के लिए।

(iii) यात्रिक कृषि के विकास नलकूपो तथा पम्पिंग सेटो द्वारा विद्युत शक्ति के प्रयोग आदि के लिए।

इसके अतिरिक्त स्वीकृत सस्थाओ द्वारा विदेशो से पूँजीगत माल के आयात सम्बन्धी विलम्बित भुगतान की गारन्टी भी कर सकता है।

अधिनियम के अन्तर्गत निगम द्वारा जिन सस्थाओ को पुनर्वित्त सुविधा उपलब्ध होगी व है (1) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक (2) राज्य सहकारी बैंक (3) अनुसूचित बैंक तथा (4) सहकारी सस्थाय। निगम पुनर्वित्त या अन्य रूप म अनु-

मोदित संस्थाओं को ऋण तथा अग्रिम दे सकता है तथा उनके ऋण-पत्र खरीद सकता है।

निगम के पूँजी-साधन (Capital Resources of the Corporation). निगम की अधिकृत पूँजी 25 करोड़ रुपये की है जो 10-10 हजार रुपये के 25,000 अंशों में विभाजित है। निगम की निर्गमित पूँजी 5 करोड़ रुपये की है क्योंकि प्रारम्भ में निगम ने 10-10 हजार रुपये के 5,000 अंश ही निर्गमित किए। निगम की 5 करोड़ रुपये की निर्गमित पूँजी निम्नलिखित संस्थाओं द्वारा जुटायी गई है

(करोड़ रुपयों में)

संस्था	अंशों की संख्या	राशि
1 रिजर्व बैंक आफ इण्डिया	2,954	2 95
2 केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक तथा राज्य सहकारी बैंक	1,356	1 36
3. अनुसूचित बैंक, जीवन बीमा निगम, बीमा तथा विनियोग कम्पनियां आदि	690	69
योग	5 000	5 00

केन्द्रीय सरकार ने निगम के अंशों पर मूलधन के भुगतान तथा 4½ प्रतिशत वार्षिक लाभांश की गारन्टी दी है। भारत सरकार ने निगम को 5 करोड़ का बिना ब्याज का एक ऋण दिया है जिसका भुगतान 15 वर्ष बाद आरम्भ होगा। निगम को जमा प्राप्त करके तथा बाण्ड और ऋण पत्र निर्गमित कर अपने साधनों का विस्तार करने का अधिकार है। निगम द्वारा ऋण लेने की अधिकतम सीमा प्रदत्त पूँजी तथा कोषों के 20 गुने तक सीमित है।

निगम का प्रबन्ध (Management of the Corporation) निगम का प्रबन्ध एक संचालक मण्डल (Board of Directors) द्वारा होता है जिसमें प्रबन्ध संचालक (Managing Director) सहित 9 सदस्य होते हैं। कृषि साख से सम्बन्धित रिजर्व बैंक के उप-गवर्नर संचालक मण्डल के अध्यक्ष होते हैं। अन्य संचालक भारत सरकार रिजर्व बैंक, केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक, राज्य सहकारी बैंक, अनुसूचित बैंक, जीवन बीमा निगम तथा बीमा और विनियोजक कम्पनियों द्वारा नियुक्त किए जाते हैं।

कृषि पुनर्वित निगम की प्रगति (Working of the Corporation): निगम ने 30 जून 1968 तक अपने कार्यकाल में 75 83 करोड़ रुपए व्यय वाली 95 योजनाओं पर 62·20 करोड़ रुपये की सहायता प्रदान की है जिसका विवरण अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका में दिया गया है।

कृषि पुनर्वित्त निगम की प्रक्रियायें

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	सहायता प्राप्त परियोजनाओ की सख्या	परियोजनाओ पर कुल व्यय	निगम द्वारा सहायता
1964-65	5	20·62	16·94
1965-66	26	15 47	12 29
1966-67	13	11 83	9 58
1967-68	61	34 83	29 00

उपर्युक्त आकडो से स्पष्ट है कि निगम ने कृषि वित्त व्यवस्था को सुधारने तथा उसमे अभावो की पूर्ति मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। राज्य सरकारो की सामान्य कृषि नीति क अनुरूप निगम ने भी लघु सिचाई योजनाओ को अधिक महत्व देने की नीति अपनाई है। पिछले वर्ष निगम ने जो सहायता दी उसम अधिकतर नलकूप पम्पिग सेट तथा सिचाई नालियो के निर्माण की लघु सिचाई परियोजनायें थी। निगम अब दीर्घकालीन भूमि विकास परियोजनाओ के स्थान पर शीघ्र फलित होने वाली योजनाओ को महत्व दे रहा है।

व्यापारिक बैंको द्वारा कृषि वित्त को प्रोत्साहन देने हेतु निगम ने अपनी पुनर्वित्त स्वीकृति की नीतियो तथा नियमो मे काफी ढील दी है। फरवरी 1968 मे निगम ने चाय तथा काफी बागानो के विकास के लिए व्यापारिक बैंको को पुनर्वित ऋण देने की एक योजना प्रारम्भ की है। इसके अतिरिक्त निगम ने अनुसूचित बैंको तथा राज्य सहकारी बैंको द्वारा कृषि पदार्थो के आधुनिक भण्डार गृहो के निर्माण के लिए पुनर्वित्त ऋण देना स्वीकार कर लिया है।

निगम की सहायता को प्रभावी बनाने के लिए पुनर्वित्त सहायता की वैधानिक विधियो को सरल बनाया जाना चाहिए।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

1. कृषि वित्त मे सहकारी साख के स्थान का वर्णन कीजिये। उन्नति के लिये सुझाव दीजिये।

(राजस्थान टी०डी०सी० फाइनल, 1968)

[सकेत—प्रथम भाग मे भारत की कृषि वित्त व्यवस्था मे सहकारी साख के सापेक्षिक महत्व का वर्णन कीजिये तथा सहकारी बैंको द्वारा दी गई सहायता का आकडो सहित विवेचन कीजिये। दूसरे भाग म सहकारी साख व्यवस्था मे सुधार के उपाय बताइये।]

2. भारतीय सहकारी बैंको के सगठन एव कार्य प्रणाली के सम्बन्ध मे एक सक्षिप्त ग्रालोचनात्मक निबन्ध लिखिये ।

(राजस्थान टी०डी०सी० फाइनल, 1965)

[*सकेत—प्रथम भाग मे भारतीय सहकारी बैंको के स्तूपाकार सगठन तथा* उनकी कार्यप्रणाली व प्रगति का ग्राकडो सहित विवेचन कीजिये । दूसरे भाग मे उनके सगठन तथा कार्यप्रणाली के मुख्य दोषो की व्याख्या कीजिये ।]

3 सहकारी बैंक कहा तक ग्रपने उद्देश्यो मे सफलीभूत हुए हैं तथा उनकी सहायता के लिये रिजर्व बैंक ग्राफ इडिया क्या कर सकता है ?

(राजस्थान टी०डी०सी फाइनल, 1964)

[सकेत—प्रथम भाग मे सहकारी बैंको के उद्देश्य बताते हुए उनकी प्राप्ति मे सफलता का मूल्याकन कीजिये । सफलता तथा ग्रसफलता दोनो पक्षो का विवेचन कीजिये । दूसरे भाग मे कृषि वित्त व्यवस्था मे रिजर्व बैंक के योगदान का वर्णन कीजिये ।]

37

औद्योगिक वित्त
(Industrial Finance)

"During the post independence peroid concerted efforts have been made at the government level to remove the bottlenecks in the path of ecoromic progress The establishment of special financial institutions was one such step aimed at removing the financial bottlenecks and easing the flow of firance to the needy sectors of the economy."

उद्योगो को दो प्रकार की वित्त आवश्यकता होती है। एक तो स्थिर पूजी की आवश्यकता जैसे भूमि, भवन, यन्त्र इत्यादि खरीदने के लिये। दूसरे कार्यशील पूँजी जैसे कच्चा माल खरीदने, माल की बिक्री के खर्चे, मजदूरी तथा अन्य दिन-प्रतिदिन के खर्चो के लिए। स्थिर तथा कार्यशील पूँजी का अनुपात प्रत्येक उद्योग मे भिन्न-भिन्न रहता है।

औद्योगिक वित्त के स्रोत
(Sources of Industrial Finance)

भारत मे औद्योगिक सस्थानो को निम्नलिखित स्रोतो से वित्त सुविधाये प्राप्त होती है (1) जनता (2) प्रबन्ध अभिकर्त्ता (3) व्यापारिक बैंक-बीमा कम्पनियो तथा विनियोजक प्रन्यास (4) देशी बैंकर (5) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें (6) विदशी पूँजी तथा (7) विशिष्ट वित्तीय सस्थायें।

जनता औद्योगिक कम्पनियो के अश तथा ऋण पत्र खरीदकर उनमे विनियोजन करती है। जनता द्वारा विनियोजन उनकी बचाने की योग्यता तथा इच्छा और विनियोजन की सुविधाओ पर निर्भर करती है। भारत मे उद्योगो को वित्त सहायता पहुँचाने मे प्रबन्ध अभिकर्ताओ का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वे केवल औद्योगिक कम्पनियो के अश और ऋण पत्र ही नही खरीदते वरन् कम्पनियो को आवश्यकता पडने पर ऋण भी देते है। कुछ उद्योगो मे इस प्रणाली को समाप्त कर दिया गया है परन्तु फिर भी औद्योगिक वित्त के साधन के रूप मे इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

भारत मे व्यापारिक बैंको द्वारा उद्योगो को केवल अल्पकालीन ऋण दिये जाते हैं क्योकि भारतीय बैंको का दृष्टिकोण अधिक परम्परावादी है और सम्पत्ति के

मूल्यांकन के साधनो का अभाव है। भारत मे उद्योगो को व्यापारिक बैंको से बहुत अपर्याप्त वित्त सहायता प्राप्त हुई है। यद्यपि व्यापारिक बैंको द्वारा पर्याप्त वित्त सहायता न दिये जाने के कई कारण हैं फिर भी इस दिशा मे व्यापारिक बैंको ने कुछ नवीन करने का साहस नही दिखाया। इसी कारण भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक को विशिष्ट वित्त सस्थाओ का सगठन खडा करना पडा।

विशिष्ट वित्त सस्थायें
(Special Financial Institutions)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद औद्योगीकरण के विकास को वित्त व्यवस्था करने के लिए कुछ विशिष्ट वित्त सस्थाओ की स्थापना की गई है जिनका वर्णन यहा दिया जा रहा है।

(1) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम
(Industrial Finance Corporation of India)

औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम, 1948 के अन्तगत स्थापित इस निगम की स्थापना 1 जुलाई 1948 मे हुई जिसका प्रमुख उद्देश्य सार्वजनिक सीमित दायित्व वाली कम्पनियो तथा सहकारी समितियो को माल के निमाण व विधायन (Processing) हेतु खनन अथवा विद्युत अथवा अन्य किसी प्रकार की शक्ति उत्पन्न करने व वितरित करने वाली व्यावसायिक इकाइयो को ऋण देना है।

निगम की पूँजी (Capital of the Corporation) इस निगम की अधिकृत पूँजी 10 करोड रुपया है जो पाच पाच हजार रुपये के 20,000 अशो मे विभक्त है। निगम की 30 जून, 1968 तक, प्रदत्त पूँजी 8 346 करोड रुपये थी। इसमे से 5 करोड रुपये के अशो पर भारत सरकार द्वारा न्यूनतम $2\frac{1}{4}\%$ वार्षिक लाभाश की प्रत्याभूति दी गई है, शेष पर न्यूनतम लाभाश प्रत्याभूति (Guarantee) की दर 4% है।

पूँजी पर विभिन्न सस्थाओ का स्वामित्व है। रिजर्व बैंक तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा विनियोजित पूजी औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना पर विकास बैंक द्वारा ले ली गई। आगे सारिणी मे निगम का पूजी पर विभिन्न सस्थानो का अधिकार प्रदर्शित किया गया है—

[1] 'It is expedient to establish an I F C for the purpose of making medium and long term credit more readily available to industrial concerns in India, particularly in circumstances where normal banking *accommodation is inappropriate or recourse to capital* issue methods is impracticable"

—Preamble Industrial Finance Corporation of India Act

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम : पूंजी-स्वामित्व

अशदाता	पूँजी स्वामित्व (% मे)	लिये गये अशो की सख्या
1. औद्योगिक विकास बैंक	50	8 346
2. अनुसूचित बैंक	20	3,405
3 बीमा कम्पनिया	22	3,586
4 सहकारी बैंक	8	1,355
योग	100	16,692

निगम का प्रबन्ध (Management of the Corporation) : पहले निगम का प्रबन्ध करने के लिए 12 सदस्यीय सचालक मण्डल होता था जिसका अध्यक्ष भारत सरकार द्वारा अवैतनिक पदाधिकारी होता था। कालान्तर मे, सुचेता कृपलानी समिति (1952) के प्रतिवेदन की सस्तुति (recommendation) पर वैतनिक अध्यक्ष की नियुक्ति की जाने लगी तथा सचालको की सख्या भी बढ कर 13 हो गई। इन 13 सचालको मे से औद्योगिक विकास बैंक द्वारा 4, केन्द्रीय सरकार द्वारा 2, अनुसूचित बैंको द्वारा 2, सहकारी बैंको द्वारा 2 तथा अन्य वित्तीय सस्थाओ द्वारा 2 सचालक नियुक्त किये जाते हैं। अध्यक्ष की नियुक्ति, निगम के परामर्श से, भारत सरकार करती है।

उपर्युक्त सचालक मण्डल के अतिरिक्त दैनिक कार्य-कलापो के सचालन के लिए निगम मे एक 5 सदस्यीय केन्द्रीय समिति (Central Committee) है। इसके अलावा 5 अन्य परामशदात्री समितिया भी है जिनमे 41 सदस्य है। इन समितियो का काय इन्जीनियरिंग, वस्त्र, रसायन, चीनी व अन्य उद्योगो को ऋण देने से पूर्व उचित परामर्श देना है।

निगम के कार्य (Functions) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम के प्रमुख कार्यों का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

(i) प्रत्याभूति (Guarantee) प्रदान करना : 21 दिसम्बर, 1957 से निगम का औद्योगिक सस्थाओ द्वारा विदेशो से पूँजीगत माल आयात करने के स्थगित भुगतान की गारन्टी करने का अधिकार प्राप्त हुआ था। इस प्रावधान के पश्चात् भारतीय उद्योगो द्वारा अब विदेशो से मशीने, यन्त्र तथा अन्य उपकरण आयात करने मे कठिनाई नही होती।

विदेशी आयातो के भुगतान की गारन्टी देने मे पूर्व निगम योजना की लागत, राष्ट्रीय महत्त्व, लाभार्जन क्षमता, उपयुक्त अनुज्ञापत्र (Licence) की प्राप्ति, आयातित माल पर बधक की स्थिति आदि तत्वो पर विचार करता है।

आयातित माल के भुगतान के अतिरिक्त विदेशी वित्तीय संस्थानो से प्राप्त मुद्रा ऋणो की भी निगम गारन्टी प्रदान करता है । 30 जून 1968 तक निगम ने 29 54 करोड रु० के 6 प्रार्थना पत्रो पर 23 47 करोड रुपये के विदेशी ऋण की गारन्टी की है।

(ii) अभिगोपन (Underwriting) : निगम ने सर्वप्रथम 1957–58 मे औद्योगिक साख व विनियोग निगम (ICICI) तथा जीवन बीमा निगम (LIC) के साझे मे 1.6 करोड रुपये के ऋण पत्रो का अभिगोपन किया । तब से आज तक निगम इस कार्य को निरन्तर करता रहा है । 30 जून, 1968 तक 22 91 करोड रुपये के दायित्व का अभिगोपन किया गया जिसमे से 9.70 करोड रु० के सामान्य अशो, 6 18 करोड रुपये के पूर्वाधिकार अशो व 7 03 करोड रुपये के ऋण पत्रों का अभिगोपन किया गया था । 30 जून, 1968 के अन्त तक निगम ने अभिगोपन-क्रिया मे 17.39 करोड रुपया निर्गमित किया है ।

(iii) ऋण देना : औद्योगिक निगम उद्योगो को मध्य कालीन तथा दीर्घकालीन ऋण देता है । ऋण स्वीकृति से पूर्व प्रार्थी सस्था की आर्थिक स्थिति, योजना (जिसके लिए ऋण मागा जा रहा है) की उपयुक्तता, प्रबन्ध-व्यवस्था की कुशलता, लाभ-अर्जन की शक्ति तथा भुगतान की सम्भावनाओ आदि पर विचार किया जाता है ।[1]

निगम द्वारा अधिकतम 1 करोड रुपये के ऋण दिये जाते हैं । यदि किसी सस्थान को इससे अधिक का ऋण स्वीकार किया जाता है तो केन्द्रीय सरकार पूर्वानुमति आवश्यक होती है । इसी प्रकार निगम 10 लाख रुपये से कम के ऋण भी नही देता । 10 लाख रुपये से कम के ऋण सम्बन्धित राज्य के वित्त निगम द्वारा दिये जाते हैं । ये ऋण नई मशीन अथवा भूमि क्रय करने, सस्था का विस्तार करने तथा

---

[1]. "The principal factors that are taken into account are the relative industrial and national priority of the project in the economy of the country, sources and availability of raw materials whether imported or indigenous, the technical, financial and economic viability of the project, the market for the products to be manufactured, profit earning capacity of the project, the experience and probity of the promoters and their financial contribution towards the cost of the project, and the quality of the management and the adequate and competence of the technical and administrative personnel likely to be avail able for the completion and operat on of the project."

— *20th Annual Report of the IFC*, 30th June 1968, p 26.

नवीनीकरण करने हेतु प्रदान किये जाते हैं जिनके लिए ऋणों की स्थायी सम्पत्ति, कच्चा या निर्मित माल आदि को धरोहर के रूप मे रखना पडता है।

अपने कार्यकाल के 20 वर्षो मे 30 जून, 1968 तक निगम ने 408 59 करोड रुपये की कुल वित्तीय सहायता स्वीकृत की (Gross financial assistance sanctioned)। 103 45 करोड रुपये के वापिस तथा रद्द हुए ऋणो का समायोजन करने के बाद निगम की शुद्ध स्वीकृतिया 305 05 करोड रुपये की थी।

नीचे की सारणियो मे निगम द्वारा दिये गये ऋणो का विवरण प्रस्तुत है :

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम द्वारा दिये गये (कुल) ऋण

(करोड रुपयो म)

अवधि	शुद्ध स्वीकृतिया	वितरित राशि
1 प्रथम योजना से पूर्व (1948 से 1951)	8 13	5 79
2 प्रथम योजना काल	27 02	10 94
3 द्वितीय योजनाकाल	50 09	40 62
4 तृतीय योजना काल	104 73	86 32
5 1 जुलाई 66 से 30 जून 68 तक	38 32	52 45
योग	228 79	196 12

उद्देश्यानुसार स्वीकृत ऋण

(30 जून 1968 तक)

(करोड रुपयो मे)

योजना	योजना की लागत	स्वीकृत राशि
1 नये सस्थान	181 05	140 62
2 पुराने सस्थान (अ) नवीन दिशा मे परिवतन	19 88	5 94
(ब) विस्तार	422 72	74 27
(स) नवीनीकरण व पुनर्स्थापन	26 56	5 73
(द) चालू पूंजी	—	2 23
योग	1250 21	228 79

निगम द्वारा दिए गये ऋणो का उद्योगानुसार वितरण

(30 जून 1968 तक)

(करोड रुपयो मे)

उद्योग	इकाइयो की सख्या	शुद्ध स्वीकृति
1 चीनी (सहकारी क्षत्र 52 66 क रु०)	82	60 50
2 रासायनिक	37	33 54
3 वस्त्र	70	31 06
4 नान फेरस मेटल्स	6	27 62
5 खाद	5	21 89
6 धातु उत्पाद	49	20 62
7 कागज	22	20 30
8 सीमेंट	27	18 85
9 मशीनरी	18	11 83
10 बिजली उपकरण	30	9 31
11 ओटोमोबाइल्स	15	9 09
12 रबड उत्पाद	7	8 05
13 सेरामिक्स तथा ग्लास	20	6 71
14 लोहा व स्पात	6	6 11
15. पैट्रोलियम व गैस	4	4 89
16 कृत्रिम रेशे	7	4 46
17 होटल	5	3 47
18 अन्य	33	6 75
योग	443	305 05

निगम द्वारा स्वीकृत ऋणो का क्षेत्रानुसार वितरण

(30 जून 1968 तक)

(करोड रुपयो म)

राज्य	इकाइयो की सख्या	शुद्ध स्वीकृति
1 महाराष्ट्र	92	59 18
2 तामिलनाडु	51	44 08
3 प० बगाल	55	32 66
4 आन्ध्र प्रदश	28	22 32
5 गुजरात	36	21 90
6 उत्तर प्रदश	32	21 83
7 बिहार	24	17 97
8 मैसूर	32	17 53

राज्य	इकाइयो की सख्या	शुद्ध स्वीकृति
9. राजस्थान	13	16 29
10. केरल	14	11 19
11. मध्य-प्रदेश	13	8 34
12. हरयाणा	17	7 92
13. उडीसा	13	7.43
14. ग्रासाम	6	6 68
15 पजाब	11	6 39
16. दिल्ली	4	2.63
17. पाडीचेरी	1	0 60
18. अडमान व निकोबार द्वीप समूह	1	0 11
योग	443	305 05

उपरोक्त सारिणियो पर दृष्टिपात करने से निम्न तथ्य सामने आते हैं—

(i) सर्वाधिक ऋण नये उद्योगो की स्थापना हेतु स्वीकृत किये गये हैं तथा पुराने सस्थानो के विस्तार के लिए प्रदत्त ऋण राशि का स्थान दूसरा है।

(ii) लगभग 20% ऋण चीनी उद्योगो को दिये गये हैं जिसमे 85% ऋण सहकारी क्षेत्र मे दिये गये हैं।

(iii) दुख द सत्य होते हुए भी स्पष्ट है कि विकसित राज्यो को स्वीकृत ऋण अविकसित राज्यो का स्वीकृत ऋण से कही अधिक हैं।

औद्योगिक जगत मे सहकारिता के तीव्र विकासार्थ इस क्षेत्र की समितियो को निगम ने 30. 6. 68. तक 62 चीनी मिलो, 7 सूती कताई मिलो तथा 1 वनस्पति तेल मिल को क्रमश 52 66 करोड, 3.96 करोड व 0.23 करोड रुपये के ऋण प्रदान किये।

निगम द्वारा 30. 6 68 तक 113 प्रार्थना पत्रो पर (कुल 135 प्रार्थना पत्र प्राप्त हुए) 32 54 मिलियन डालर (23 98 करोड रु०) 66.99 मिलियन मार्क (12 55 करोड रु०) तथा 12 26 मिलियन फ्रैंक (1 86 करोड रु०) के विदेशी मुद्रा ऋण दिये गये

ब्याज दर :

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम द्वारा ऋणों पर ब्याज दर (प्रतिशत मे)

वर्ष	1948	1660	1953	1957	1962	1965	1969
दर	5.5	6.0	6.5	7.0	7 5	8 0	8.0

उपरोक्त बढती हुई ब्याज दर के प्रतिशतो से स्पष्ट है कि निगम से लिये ऋणो पर 8% ब्याज देना पडता है जो कुछ लोगो के अधिक अनुसार है।

निगम के साधन (Resources of the Corporation) :

निगम अपनी पूँजी (जिसका विवरण दिया जा चुका है) के अतिरिक्त भारत सरकार से ऋण लेकर तथा ऋण-पत्र बेचकर पूँजी एकत्रित करता है। निगम को अपने निजी कोषो के 10 गुने तक ऋण लेने की अनुमति है। निगम के आर्थिक साधन निम्न तालिका से स्पष्ट हैं :

निगम के आर्थिक साधनों का ब्यौरा

(30 जून 1968 को)

(करोड़ रुपयो मे)

राशि का वितरण	राशि	अर्थ-स्रोत	राशि
1. रुपया ऋण Rs. 167 58		1 पूर्ण दत्तपूँजी	8 35
		2. संचय कोष	9 45
2. विदेशी चलन ऋण Rs. 28 54	196 12	3 बाड्स निगमन द्वारा प्राप्त ऋण राशि	43·29
3. अभिगोपन	17 39	4. केन्द्रीय सरकार से ऋण	72 25
4 प्रत्यक्ष अंशदान	1·91	5. विदेशी साख (credits)	28·54
		6 रुपया ऋण का भुगतान तथा विनियोगो की बिक्री	53 54
	215 42		215·42

निगम की आलोचना (Criticism) :

औद्योगिक वित्त निगम की ऋण नीतियो तथा कार्य प्रणाली की काफी आलोचनायें हुई हैं। आलोचकों के अनुसार निगम की ब्याज दर ऊँची है। मार्च 1968 मे बैंक दर मे कमी हो जाने के बाद यह आशा की जाती थी कि निगम की शुद्ध ब्याज दर (जो रुपया ऋणों पर 8 प्रतिशत है) मे कुछ कमी होगी परन्तु निगम ने ब्याज दर मे कोई कमी नही की है कुछ लोगो का कहना है कि निगम ने बडे बडे उद्योगपतियो तथा विकसित राज्यो को अधिकतर ऋण दिए हैं। निगम की ऋण-नीति के कारण उद्योगो का सतुलित विकास नही हुआ है। 30 जून 1968 तक निगम द्वारा स्वीकृत ऋणों का 45 प्रतिशत केवल 3 राज्यो—महाराष्ट्र, तामिलनाडु तथा प० बगाल—को दिया गया है। अविकसित राज्यो जैसे उडीसा का कुल ऋणों का 2 राजस्थान को 5 असम को 2 मध्य प्रदेश को 3 प्रतिशत भाग ही प्राप्त हुआ है।

निगम की उपर्युक्त आलोचनायें अशत ही सत्य हैं। निगम प्रयत्नशील होते हुए भी कुछ कारणोवश अपनी ब्याज दर 8 प्रतिशत से कम करने मे असमर्थ है। निगम अब अधिक उदारतापूर्वक ऋण देने की नीति अपना रहा है और आशा है कि निगम देश के सन्तुलित औद्योगिक विकास मे पर्याप्त योगदान करेगा।

(२) राज्य वित्त निगम
(State Financial Corporations)

औद्योगिक वित्त निगम की कार्य-परिधि म मध्यम व लघु उद्योगो की दीर्घकालीन साख की आवश्यकताओ की अभिपूर्ति न आ सकी अत: २८ सितम्बर, 1951 को भारतीय लोक सभा द्वारा राज्य वित्त निगम अधिनियम पारित किया गया जिसके अधीन प्रत्येक राज्य ने राज्य वित्त निगमो की स्थापना की है। केवल मद्रास राज्य मे 'मद्रास औद्योगिक निवेश निगम लि० है जो भारतीय प्रमडल अधिनियम के अन्तर्गत पजीकृत हुआ है। इस समय राज्यो के स्थापित निगमो की सख्या १८ है।

पूँजी (Capital) ·

राज्य वित्त निगम अधिनियम के अनुसार प्रत्येक राज्य के निगम की अधिकृत पूँजी 50 लाख रुपये से 5 करोड रुपये है। व्यवहार म, अधिकाश [1] निगमो की अधिकृत पूँजी 2 करोड रुपये तथा प्रदत्त पूँजी 1 करोड रुपया है। भारत के सभी राज्यो के निगमो की 'कुल प्रदत्त पूँजी' 20.01 करोड रुपये है। निगमो की पूँजी पर राज्य सरकारो, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंको, सहकारी बैंको तथा बीमा कम्पनियो का स्वामित्व सर्वाधिक है। जनता न कुल पूँजी मे 4% भाग विनियोजित किया है।

राज्य सरकारो द्वारा सम्बद्ध राज्यो के निगमो द्वारा वितरित लाभाश की न्यूनतम दर (3 से 4 प्रतिशत वार्षिक) निर्धारित कर दी है। यदि कोई निगम न्यूनतम लाभाश नही दे सकेगा तो उसकी पूर्ति के लिए सरकार उत्तरदायी है। साथ ही, कोई राज्य निगम 5% से अधिक लाभाश वितरित नही कर सकता।

कार्य (Functions) .

राज्य वित्त निगम निम्नलिखित कार्य कर सकते हैं:—

(1) औद्योगिक संस्थानो को 20 वर्षीय ऋण प्रदान करना अथवा उनके ऋण पत्र क्रय करना।

(2) औद्योगिक सस्थानो द्वारा (20 वर्षीय अवधि के) लिये ऋणो की गारटी करना, एव

(3) औद्योगिक सस्थानो द्वारा जारी किये गये अशो, बाड्स तथा ऋण पत्रो का अभिगोपन करना एव इस कार्य को करने से कुछ अश आदि खरीदने पडे तो 7 वर्ष के अन्दर-अन्दर उन्हे बेचना।

मद्रास निगम के अतिरिक्त अन्य किसी भी निगम ने अभिगोपन करने व ऋणपत्रादि क्रय करने के कार्य सम्पन्न नही किये हैं। राज्य वित्त निगम 15 हजार रु० से 20 लाख रुपये तक के ऋण दे सकते हैं।

---

1 केवल जम्मू-कश्मीर, मद्रास तथा आन्ध्र प्रदेश के वित्तीय निगमो की प्रदत्त पूँजी क्रमश: 0 5 करोड रु०, 2.35 करोड, 1.5 करोड रु० है।

ये निगम तथा भारतीय औद्योगिक वित्त निगम भी रिजर्व बैंक को अपनी क्रियाओं से सम्बन्धित कुछ नियतकालिक विवरण देते है। बैंक को अपनी वार्षिक रिपोर्ट तथा अकेक्षित खातो क विवरण देने के अतिरिक्त निगमो के लिए यह आवश्यक है कि औद्योगिक वित्त निगम प्रति वर्ष तथा राज्य वित्त निगम वर्ष मे चार बार, अथवा उतनी बार जितनी कि बैंक चाहे, अपने ऋण तथा निवेशो, गारटी ग्रहीत ऋण तथा अभिगोपन के वर्गीकरण का विवरण बैंक को दें।

राज्य वित्त निगमों की ऋण क्रियाएं

वर्ष	ऋण स्वीकृतियाँ	ऋण वितरित	ऋण शेष
1955–56	3 02	1 54	2 76
1960–61	9 16	4·75	17 13
1965–66	23 25	16 07	59 94
1966–67	20 0	17 3	—
1967–68	18 8	15 3	80 3

गत 12 वर्षों मे वार्षिक ऋण स्वीकृतियां 6 गुनी, वितरित ऋणों की राशि 10 गुनी तथा शेष ऋणो की मात्रा 29 गुनी हो गई है। राज्य सरकारो ने इन निगमो को उद्योगों को राज्य सहायता अधिनियम (State Aid to Industries Act) के अंतगत दिये जाने वाले ऋणो के लिए अभिकर्त्ता (Agent) नियुक्त किया है।

विभिन्न वित्त निगमो के कार्यों के साथ बैंक के निकट सम्पर्क ने उनकी क्रियाओं मे कुछ सीमा तक समन्वय स्थापित कराने मे सहायता दी है। इस प्रकार एक प्रथा स्थापित हो गई है जिसके अनुसार भारतीय औद्योगिक वित्त निगम सामान्यत 10 लाख रु० से अधिक रकम वाले प्रार्थना पत्रो को लेता है तथा राज्य वित्त निगम उनके विधानो द्वारा निर्धारित सीमा के अन्दर तथा किसी भी दशा म केवल 10 लाख रु० तक की मागो पर ही विचार करत हैं।

इन निगमो की स्थापना से नि सन्देह ही उद्योगो की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति मे कुछ सहायता मिली है। किन्तु देश म औद्योगिक वित्त की उपलब्धि के सस्थानात्मक कला विन्यास को दृढ करना होगा, विशेषत जहा तक मध्यकालीन वित का प्रश्न है। इस सम्बन्ध म वाणिज्य बैंकों का योग, उनके उद्योग एव वाणिज्य के साथ विस्तृत सम्पक तथा उनकी क्रियाओं के लोचदार होने के कारण, विशेष महत्व रखता है।

3 भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम

(Industrial Credit And Investment Corporation of India, Ltd)

भारतीय औद्योगिक साख एव विनियोग निगम लि० की स्थापना भारत सरकार, अमेरीका सरकार तथा विश्व बैंक के पारस्परिक विचार विमर्श के फलस्वरूप

हुई। निगम की स्थापना निजी उद्योगो (Private Sector) के विकास मे सहायता देने के लिए 5 जनवरी 1955 को हुई। निगम भारतीय बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत पजीयत है।

निगम की पंजी तथा अन्य साधन (Capital and other Resources) :

निगम की अधिकृत पूंजी 25 करोड रु० (25,000 सामान्य अश 1000 प्रति अश) है। विनियोग निगम इग्लैंड, अमरीका तथा भारत—उदेशो तथा विश्व बैंक द्वारा प्रदत्त ऋणो द्वारा स्थापित हुआ। भारत सरकार ने भी इसे 7 5 करोड रुपये का ब्याज मुक्त ऋण 15 वर्षों के लिए दिया। इसके वर्तमान वित्तीय साधन इस प्रकार है (31 दिसम्बर, 1968) :

अश पूंजी (निर्गमित व प्रदत्त)		
काप		7.50 करोड रु
ऋण लेने की क्षमता	भारतीय मुद्रा	4 99
	विदेशी मुद्रा	49 99
		136.90
	Rs	198.39

निगम के कार्य (Functions of the Corporation) .

भारतीय औद्योगिक साख एव विनियोग लि० के मुख्य कार्य इस प्रकार है :

(1) उद्योगो को मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना।

(2) कम्पनियो के नये निर्गमित अशो तथा प्रतिभूतियो का अभिगोपन कार्य करना।

(3) उद्योगो को प्रबन्ध सम्बन्धी तक्नीकी (Technical) तथा अन्य प्रकार का परामर्श देना।

साख एव विनियोग निगम केवल निजी क्षेत्र (Private Sector) के औद्योगिक सस्थाओ को वित्त सहायता देता है। यदि किसी निजी औद्योगिक सस्थान को सरकार से कोई वित्त सहायता प्राप्त हुई है तो वह निगम से सहायता प्राप्त करने की अयोग्यता नही है। निगम अधिकतर वृहद् उद्योगो (Large Scale Industries) को ऋण देता है।

निगम द्वारा दिये जाने वाले ऋण की ब्याज दर, अभिगोपन तथा गारटी का कमीशन तथा प्राविधिक सहायता आदि के शुल्क, सहायता देने के समय ही निश्चित कर लिये जाते है।

निगम के कार्यों का 31 दिसम्बर 1968 तक का विवरण आगे दी गई तालिका मे दिखाया गया है

भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम का कार्य विवरण

(31 दिसम्बर 1968 तक) (लाख रु० में)

मद	कम्पनियों की संख्या	शुद्ध स्वीकृति की राशि	वितरित राशि
1. ऋण व प्रत्याभूति			
रुपया मे	134	4,885	3,503
विदेशी मुद्रा मे	328	13,188	8,842
योग	462	18,073	12,345
2. अभिगोपन			
सामान्य अश	116	1,596	780
पूर्वाधिकार अश	76	958	505
ऋणपत्र	47	1,779	1,172
योग	239	4,333	2,457
3 प्रत्यक्ष अशदान (Subscription)			
सामान्य अश	55	429	418
पूर्वाधिकार अश	7	66	61
ऋणपत्र	2	150	150
योग	64	645	629
कुल योग	765	23 051	15 431

निगम द्वारा दिये गये ऋणो का उद्योगानुसार तथा राज्यवार (state wise) वर्गीकरण प्रस्तुत तालिकाओ म दिखाया गया है, :

निगम द्वारा दिए गये ऋणो का उद्योगानुसार वितरण

31 दिसम्बर 1968 तक (लाख रुपयो मे)

उद्योग	शुद्ध स्वीकृति की रकम (लाख रु०)	कुल स्वीकृति का %
1. ऑटोमोबाइल्स	1,681	7·3
2 सीमेंट	1,325	5 7
3 रसायन एव रासायनिक पदार्थ	4,571	19 8
4. विद्युत उपकरण	1,966	8 5
5. बिजली, गैस व स्टीम	545	2 4
6 खाद्य-उत्पाद (चीनी के अतिरिक्त)	284	1·2
7. काच के सामान, इत्यादि	677	2 9
8. मशीनरी	2,597	11 3
9 धातु पदार्थ—फेरस	3,655	15 9
10 धातु पदार्थ—नान फेरस	281	3 6
11. पल्प, पेपर तथा पेपर उत्पाद	1,104	4 8

उद्योग	शुद्ध स्वीकृति की रकम (लाख रु०)	कुल स्वीकृति का %
12 रबड उत्पाद	568	2 5
13. जहाजरानी	839	3 6
14. चीनी	267	1 2
15. सूतीवस्त्र	1,451	6 3
16 वुड, कार्क, हार्ड बोर्ड	181	0 8
17 विविध	519	2·2
योग	23,051	100

सारिणी से स्पष्ट है कि इस किगम द्वारा 'रसायन' तथा 'धातु' उद्योगो को सबसे अधिक ऋण सहायता प्रदान की गई है। दूसरी ओर यह सहायता चीनी, रबड बिजली गैस आदि उद्योगो म अत्यल्प है।

निगम द्वारा दिए गये ऋणों का क्षेत्रानुसार वितरण

(31 दिसम्बर 1968 तक)

(लाख रुपयो मे)

राज्य	कपनियो की सख्या	शुद्ध स्वीकृत राशि लाखरु	कुल स्वीकृति का प्रतिशत
1 आन्ध्र प्रदेश	13	943	4 1
2. आसाम	3	190	0 8
3 बिहार	17	1,739	7.5
4 गुजरात	74	2,698	11 7
5 हरयाणा	14	630	2 7
6 केरल	11	223	1 0
7 मध्य प्रदेश	6	318	1 4
8 तामिलनाडु	46	2,376	10 3
9. महाराष्ट्र	178	8,433	36 6
10. मैसूर	24	1,408	6 1
11. उडीसा	8	469	2 0
12 पजाब	2	15	0 1
13. राजस्थान	6	545	2 4
14. उत्तर प्रदेश	18	904	3 9
15 प० बगाल	60	1,855	8 1
16 केन्द्र शासित राज्य	6	305	1.3
योग	486	23,051	100 0

उपर्युक्त सारिणी से स्पष्ट है कि राज्यो को प्रदत्त आर्थिक सहायता म अत्यत विषमता है। निगम ने महाराष्ट्र, तामिलनाडु, गुजरात तथा पश्चिमी बगाल म 66 7% ऋण दे रखे है जबकि अन्य राज्यो मे केवल 32·3% ऋण ही दिये हैं।

निगम ने अपने कार्यकाल मे औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। आशा है कि भविष्य मे निगम नवीन क्षेत्रो मे जोखिम उठाकर देश के सन्तुलित औद्योगिक विकास मे पर्याप्त योगदान देगा।

4. औद्योगिक विकास बैंक
(Industrial Development Bank of India)

भारत मे उद्योगो की वित्त व्यवस्था के लिए 1948 मे भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (IFC), 1951 मे राज्य वित्त निगम (SFCs) तथा 1955 मे औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम (ICICI) की स्थापना के बाद भी औद्योगिक वित्त की पूर्ति आवश्यकताओ की तुलना मे बडी अपर्याप्त थी। विशेषकर पचवर्षीय योजनाओ मे औद्योगिक विकास की प्रस्तावित तीव्र गति के कारण देश मे औद्योगिक वित्त के पुनर्गठित तथा एकीकृत सस्थागत ढाचें के एक भाग के रूप मे एक नयी सस्था की आवश्यकता अनुभव की गई। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारतीय औद्योगिक विकास बैंक अधिनियम 1964 के अन्तर्गत 1 जुलाई 1964 को औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना हुई।

विकास बैंक के उद्देश्य
(Objects of IDBI)

देश मे औद्योगिक वित्त सस्थाओ के एकीकृत सगठन के शीर्ष सस्थान के रूप मे कार्य करने और इस दिशा म भावी दायित्व को निभाने के उद्देश्य से औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना की गई। अन्य वित्तीय सस्थाओ के[1] साधनो मे योगदान देना भी इस बैंक का उद्देश्य है। इस प्रकार यह बैंक पूर्व स्थापित पुनर्वित्त निगम (जिसका इसमे 1 सितम्बर 1964 से विलीनीकरण हो चुका है) के उद्देश्यो को अपने मे समाविष्ट करता है। रिजर्व बैंक के गवनर के शब्दो मे, 'बैंक यह प्रयत्न करेगा कि याजनाओ मे प्राथमिकता प्राप्त काई भी औद्योगिक सस्थान वित्तीय अभाव के कारण कठिनाई अनुभव नही करे।"

---

[1]. 'Industrial Development Bank of India was started as an apex institution coordinating and supplementing the operations of other institutions providing term finance to industry and as an agency for providing direct financial assistance by filling in the gaps that remain after taking into consideration the assistance available from other institutions."

—Report on Currency and Finance, 1964-65, p. 78.

औद्योगिक विकास बैंक बिल प्रस्तुत करते हुए 30 अप्रैल 1964 को तत्का-
लीन वित्त मन्त्री ने कहा था

"We are envisaging the new Industrial Development Bank
as a central co ordinating agency, which ultimately will be concer-
ned, directly or indirectly, with all problems or questions relating
to the long and medium term financing of industry, and will be in
a position, if necessary, to adopt and enforce a system of priori-
ties, in promoting future industrial growth"

बैंक के साधन (Resources of the Bank)

औद्योगिक विकास बैंक की अधिकृत पूँजी 50 करोड रुपये है जिसे रिजर्व
बैंक भारत सरकार की स्वीकृति मे 100 करोड तक बढा सकता है।
विकास बैंक की निर्गमित तथा दत्त पूँजी 20 करोड रुपये की है। विकास बैंक
ने अपने कुल आर्थिक साधन निम्नलिखित स्रोतो से प्राप्त किए हैं। (1) पूँजी तथा
कोष 24 16 करोड रुपये (2) भारत सरकार से प्राप्त ऋण : 119 करोड रुपये
(जिसमे पुनर्वित्त निगम द्वारा लिए गये 33·5 करोड रुपये का ऋण सम्मिलित
नहीं है) (3) रिजर्व बैंक से प्राप्त ऋण : 6 करोड रुपये।

विकास बैंक रिजर्व बैंक से दो प्रकार के ऋण प्राप्त कर सकता है। एक तो
90 दिन की अवधि तक के लिए ट्रस्टी प्रतिभूतियो की धरोहर पर और दूसरे 5 वर्ष
तक की अवधि के लिए प्रमाणित व्यावसायिक बिलो तथा प्रतिज्ञा पत्रो की धरोहर
पर ऋण प्राप्त किए जा सकते हैं।

विकास बैंक को दीर्घकालीन साधन उपलब्ध कराने के लिए उसकी स्थापना
के साथ ही रिजर्व बैंक अधिनियम मे संशोधन कर एक राष्ट्रीय औद्योगिक साख
(दीर्घकालीन)कोष [National Industrial Credit (Long Term Operations)
Fund] का निर्माण किया गया है। इस कोष का प्रयोग रिजर्व बैंक द्वारा विकास
बैंक के बाण्ड या ऋण पत्र खरीदने तथा विकास बैंक को अन्य वित्तीय तस्थाओ के
अंश, बाड या ऋण पत्र खरीदने के लिए ऋण देने के लिए किया जाता है।

बैंक के कार्य (Functions)

इसके कार्य अन्य वित्तीय सस्थानो की अपेक्षा अधिक लोचपूर्ण हैं। इस बैंक
द्वारा उन सभी सस्थानो को आर्थिक सहायता दी जा सकती है जो, चाहे सार्वजनिक
क्षेत्र मे हो या निजी क्षेत्र मे, निर्माण (Manufacturing) विधायन (Processing)
सभी प्रकार की शक्ति के उत्पादन व वितरण, खनन, परिवहन आदि से सम्बन्धित
हैं। प्रमुख रूप से इसके कार्यों का विवरण निम्नलिखित है—

(i) अन्य वित्तीय सस्थाओ की सहायता : सस्थाओ द्वारा दिये गये ऋणो का पुनर्वित्तीकरण (Refinancing), उन सस्थाओ मे प्रत्यक्षत पूंजी लगाने तथा उनके द्वारा अभिगोपन के कार्यों को गारटी करने के प्रमुख कार्य इसी निगम द्वारा किये जाते है। पुनर्वित्त के ऋणो की अदायगी IFC, SFCS तथा ICICI से 3 से 25 वर्ष तक तथा अनुसूचित व राज्य सहकारी बैंको से 3 से 10 वर्ष के अन्दर की जाती है। निर्यात साख का भी 6 माह से 10 वर्ष तक के लिए निगम पुनर्वित्तीयकरण करने की सुविधा देता है।

(ii) औद्योगिक वित्त सस्थाओ को प्रत्यक्ष सहायता : जैसे भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, तथा भारतीय साख व विनियोग निगम को यह अधोलिखित रूपो मे सहायता देता है—

(अ) ऋण व अग्रिम (Loans & Advances) स्वीकृत करना,

(ब) अश, बाड्स या ऋण-पत्रो मे धन विनियोजित करना, क्रय करना तथा अभिगोपन करना,

(स) अन्य पक्ष के प्रति औद्योगिक सस्थानो को देय स्थगित भुगतान (Deferred Payments) की गारन्टी करना,

(द) व्यापारिक–प्रपत्रो को भुनाना, स्वीकृत करना तथा पुन भुनाने की सुविधा देना।

(iii) विपणन–शोध (Marketing Research) तथा विनियोजन सर्वेक्षण और तकनीकी अध्ययन (Technical–Economic Studies) की व्यवस्था करके प्रेरणात्मक क्रियाऐं (Promotional activities) सम्पन्न करना, आदि।

कुछ समय पूर्व निगम द्वारा दीर्घकालीन ऋण देने के अतिरिक्त पटसन *तथा* सूती वस्त्र उद्योग को क्रयावक्रय (Hire purchase) आधार पर भारत मे निर्मित *मशीनें देना आरम्भ कर दिया है। इस योजना के अन्तर्गत ऋण-आर्थी को मशीन* की लागत का 25 प्रतिशत अग्रिम जमा कराना पडता है तथा प्रबन्ध अभिकर्ताओ *(Managing Agents) की गारन्टी दिलानी पडती है। यदि गारन्टी दिलाने की* व्यवस्था न हो सके तो मशीन की लागत का 40 प्रतिशत अग्रिम जमा करना पडता है। ऋणी सस्था द्वारा कुल ऋण पाच किस्तो मे चुकाना पडता है और शेष राशि पर 6 प्रतिशत वार्षिक ब्याज देना पडता है। अन्य उद्योगो के लिए भी इस प्रकार की सुविधा की व्यवस्था अपेक्षित है।

विकास बैंक द्वारा स्वीकृत एवं वितरित ऋण

(करोड रु० मे)

वर्ष	शुद्ध स्वीकृति	वितरित राशि
1964–65	21 3	18 7
1965–66	69 3	35 6
1966–67	57.9	49 8
1967 68	27 9	41 7

इस बैंक ने अपनी स्थापना से 31 मार्च 1968 तक 209.9 करोड रुपये की कुल वित्तीय सहायता स्वीकृत की जिसम स 170 4 करोड रुपए की राशि वितरित की गई। इसी अवधि मे बैंक ने 29 7 करोड रु० के ऋणो तथा बिलम्बित भुगतानो की गारन्टी की। 1967–68 वर्ष मे उद्योगो मे मदीजन्य परिस्थितियो के कारण बैंक द्वारा उद्योगो को दी जाने वाली सहायता मे लगभग आधी रह गई। (1966–67 मे कुल स्वीकृतिया 71 3 करोड रु० की थी जो 1967–68 से मात्र 36.5 करोड रुपये की रह गई।)

अन्य निगम तथा प्रन्यास (Other Corporations and Trusts)

भारतीय जीवन बीमा निगम
(Life Insurance Co poration of India)

भारतीय जीवन बीमा निगम वित्तीय साधनो की दृष्टि से भारत की बहुत सशक्त सस्था है। निगम अपन कोषो का विनियोजन विभिन्न क्षेत्रो मे करता है। निगम को प्रीमियम आदि के रूप मे जो रकम प्राप्त होती है वह दीर्घकाल के लिए ही प्राप्त होती हैं अतः निगम उसका दीर्घकाल के लिए विनियोजन कर सकता है।

जीवन बीमा निगम के 31 मार्च 1968 को कुल साधन 1400 करोड रुपये के थे। निगम के कोषो का विभिन्न क्षत्रो मे सापेक्षिक विनियोजन इस प्रकार है :

(1) सावजनिक क्षेत्र	72 6	प्रतिशत
(2) सहकारी क्षेत्र	7.8	,,
(3) सयुक्त क्षेत्र	0.6	,,
(4) निजी क्षेत्र	19 0	,,

निगम ने औद्योगिक प्रतिभूतियो मे अपने कोषों का बहुत कम भाग विनियोजित कर रक्खा है। निजी क्षेत्र की औद्योगिक प्रतिभूतियो मे कुल कोषो का केवल 20 प्रतिशत भाग ही विनियोजित किया गया है। 1959–69 के दस वर्षों मे निगम का कुल कोष (Total Life Fund) मे 90 करोड रुपये की वार्षिक दर से वृद्धि हुई हैं जबकि औद्यागिक प्रतिभूतियो मे केवल 12 करोड रुपये की वार्षिक दर से वृद्धि हुई है। यदि निगम को पंजी बाजार मे अधिक महत्वपूर्ण योगदान

करना है तथा दीर्घकालीन पूंजी निर्माण को प्रोत्साहित करना है तो उसकी विनियोग नीति में अधिक लोच लाना होगा।

विनियोजन के अतिरिक्त निगम औद्योगिक कम्पनियों के अंशों तथा ऋण-पत्रों का अभिगोपन (under writing) भी करता है जिससे उद्योगों में पूंजी विनियोग सुविधापूर्वक हो जाता है।

यूनिट ट्रस्ट आफ इन्डिया
(Unit Trust of India)

अल्प बचतकर्ताओं की अपनी बचतों के उपयुक्त भागों में विनियोजन को प्रोत्साहन देने हेतु 1 फरवरी 1964 को यूनिट ट्रस्ट आफ इंडिया की स्थापना हुई।[1] ट्रस्ट 10-10 रुपये की इकाइयां (units) बेचकर राशि का एकत्रीकरण करता है और फिर विवेकपूर्ण ढंग से उपयुक्त तथा लाभदायक क्षेत्रों में उनका विनियोजन करता है।

ट्रस्ट की प्रारम्भिक पूंजी 5 करोड रुपये है। इसकी पूंजी में 2 50 करोड रुपये रिजर्व बैंक, 75 लाख रुपये जीवन बीमा निगम तथा 75 लाख रुपये स्टेट बैंक समूह ने लगाये हैं तथा शेष 1 करोड रुपये अनुसूचित बैंकों तथा अन्य वित्त संस्थाओं ने लगाये हैं।

ट्रस्ट द्वारा किए गये विनियोगों का सापेक्षिक अध्ययन निम्न तालिका से किया जा सकता है :

यूनिट ट्रस्ट के विनियोग
(30 जून 1968)

प्रतिभूतियां	राशि करोड रुपयों में	कुल का प्रतिशत
1 सामान्य अंश	18 7	38 40
2 पूर्वाधिकार अंश	7 7	15 81
3 ऋण पत्र	19 9	40 86
4 सार्वजनिक निगमों के बाण्ड	0 9	1 85
5. ऋण पत्रों तथा पूर्वाधिकार अंशों के लिए अग्रिम	1 1	2 26
6 याचना राशि	0 1	0 21
7 कोषागार विपत्र	0 3	0 61
	48 7	100 00

[1] "The object of the Unit Trust of India Act, 1963 was to provide for establishment of a corporation with a view to encouraging saving and investment and participation in the income, profits and gains accruing to the corporation from the acquisition, holding, *management and disposal of securities.*"

उपर्युक्त आकड़ो से स्पष्ट है कि पूँजी के निर्माण तथा उसके विनियोजन मे यूनिट ट्रस्ट महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। विनियोग करने के अतिरिक्त ट्रस्ट औद्योगिक कम्पनियो को अभिगोपन सुविधायें भी उपलब्ध करता है।

ट्रस्ट के अध्यक्ष श्री आर एस भट्ट की एक घोषणा क अनुसार इकाइयो के विक्रय तथा बचत को प्रोत्साहन देन के लिए ट्रस्ट 1 जुलाई 1969 से दो नई योजनायें प्रारम्भ करने जा रहा है (1) ऐच्छिक बचत योजना (Voluntary Savings Plan) तथा (2) शिशुओ को उपहार योजना (Children's Gift Plan)। आशा है कि ये याजनायें अधिक लोकप्रिय होंगी।

ट्रस्ट द्वारा पहली बार जुलाई 1969 म इकाइयो (units) का विक्रय मूल्य 10 20 रुपये रखा गया है जा ट्रस्ट की आर्थिक सुदृढता तथा उसमे जनता के विश्वास का प्रमाण है। 1968-69 वर्ष म ट्रस्ट ने 7 10 प्रतिशत लाभांश की घोषणा की है।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम के उद्दश्यो तथा प्रक्रियाओ का वर्णन कीजिए। यह निगम अपने उद्देश्यो म कहा तक सफल हुआ है ?

[सकेत प्रथम भाग मे भारतीय औद्योगिक वित्त निगम के उद्देश्यो तथा कायकलापो का सविस्तार वर्णन कीजिए। दूसरे भाग मे निगम की सफलता का मूल्याकन कीजिए और उसकी आलोचना भी कीजिए।]

(2) 'भारत म औद्योगिक वित्त' पर एक सक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

(राज० बी० ए०, 1957)

[सकेत भारत मे औद्योगिक वित्त के प्रमुख स्रोतो तथा विशिष्ट वित्त निगमो का सक्षिप्त विवरण दीजिए। औद्योगिक वित्त के क्षत्र मे कठिनाइयो तथा उनको दूर करने के उपाय बताइये।]

(3) भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank of India) के उद्देश्यो तथा कायकलापो पर प्रकाश डालिए। औद्योगिक वित्त के क्षत्र म शीष सस्था के रूप मे बैंक कहा तक सफल हुआ है ?

[सकेत भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना के उद्दश्यो, उसकी पूँजी, प्रबन्ध तथा कार्यकलापो का विवरण दीजए और बताइये कि वह अपने उद्देश्यो मे कहा तक सफल हुआ है।]

38

व्यापारिक बैंक
(Commercial Banks)

"Banking in India may have developed on unplanned and uncontrolled basis in the past, it has assumed a course of regulated and well planned development in recent years."

व्यापारिक बैंक वे बैंक होते हैं जो व्यापार की वित्त व्यवस्था करे तथा अन्य सामान्य बैंकिंग कार्य करें। वैसे तो विनिमय बैंक तथा स्टेट बैंक भी व्यापारिक बैंकिंग कार्य करते हैं और व्यापारिक बैंक ही है परन्तु व्यापारिक बैंकों से सामान्यतया तात्पर्य विनिमय बैंक तथा स्टेट बैंक को छोडकर भारतीय कम्पनी कानून के अन्तर्गत पंजीयत अन्य उन बैंको से लिया जाता है जो व्यापार की वित्त व्यवस्था करते हैं, जमा राशि स्वीकार करते हैं तथा सामान्य बैंकिंग सेवायें करते है। कभी-कभी उन व्यापारिक बैंकों को संयुक्त पूंजी बैंक या मिश्रित पूँजी बैंक भी कहा जाता है क्योंकि उनका संगठन मिश्रित पूँजी आधार पर किया जाता है अर्थात् इनके अंश निर्गमित किए जाते हैं और पूँजी जनता द्वारा जुटायी जाती है। अत परम्परा के आधार पर सामान्य रूप से व्यापारिक बैंक तथा मिश्रित पूँजी बैंक को पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। भारत के प्रमुख व्यापारिक बैंकों के नाम उनके महत्व के अनुसार इस प्रकार हैं. (1) सेन्ट्रल बैंक आफ इन्डिया (2) पंजाब नेशनल बैंक (3) बैंक आफ बरोदा (4) बैंक आफ इन्डिया (5) युनाईटेड कार्माशियल बैंक आदि।

व्यापारिक बैंकों का वर्गीकरण
(Classification of Commercial Banks)

भारत मे व्यापारिक बैंकों को दो वर्गों मे बाँटा जाता है: (1) अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks) तथा (2) गैर-अनुसूचित बैंक (Non scheduled Banks)

(1) अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks): अनुसूचित बैंक वे बैंक हैं जिनका नाम रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट 1934 की दूसरी अनुसूची (Second Schedule) म सम्मिलित कर लिया जाता है। रिजर्व बैंक दूसरी अनु-

सूची मे उन्ही बैंको के नाम सम्मिलित करता है जो निम्नलिखित शर्तें पूरी करते हो :

(i) बैंको की दत्तपूँजी (Paid up Capital) : तथा सुरक्षित कोष मिलाकर 5 लाख रुपये से कम नही होने चाहिये।

(ii) रिजर्व बैंक को यह सतोष हो जाय कि बैंक का कार्य सचालन इस प्रकार से नही हो रहा है जिससे जमाकर्त्ताओ के हितो को हानि हो।

अनुसूचित बैंको को रिजर्व बैंक के पास अपने कुल देयो (Total Liabilities) का 3 प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास अनिवार्य रूप से जमा कराना पडता है। अनुसूचित बैंको को प्रति सप्ताह अपनी स्थिति का विवरण रिजर्व बैंक को भेजना पडता है। अनुसूचित बैंको द्वारा इन विशेष दायित्वो की पूर्ति के बदले रिजर्व बैंक उनको कुछ विशेष सुविधायें भी देता है जैसे बिलो के पुनः बट्टा की सुविधा तथा प्रेषण सुविधायें (Remittance facilities)। अनुसूचित बैंक ए, बी, सी, श्रेणियो मे विभाजित हैं।

(2) गैर अनुसूचित बैंक (Non-scheduled Banks) जो बैंक अनुसूचित बैंको की श्रेणी मे नही आते उन्हें गैर-अनुसूचित बैंक (Non scheduled Banks) कहा जाता है। अनुसूचित बैंको की तुलना मे इनके दायित्व कम होते हैं तथा रिजर्व का नियन्त्रण भी कम होता है। परन्तु इन बैंको के लिये भी यह व्यवस्था है कि वे अपने कुल देयो का 3 प्रतिशत भाग अपने पास या रिजर्व बैंक के पास नकद कोष मे रक्खे।

व्यापारिक बैंको की वतमान स्थिति
(Present Position of Commercial Banks)

पिछले दशाब्दी मे व्यापारिक बैंको ने महत्वपूर्ण प्रगति की है। अनुसूचित बैंको की कुल सख्या जो 1950–51 मे 93 थी, 1968–69 मे घटकर 73 रह गई है। अनुसूचित बैंको की सख्या मे कमी मुख्य रूप से बैंकों के एकीकरण (Amalgamations) के कारण रही है। दुर्बल बैंको का सशक्त बैंको के साथ एकीकरण बैंक व्यवस्था को सुदृढ करने की दिशा मे एक उपयुक्त प्रवृत्ति है।

भारतीय अनुसूचित बैंको की प्रगति तथा वर्तमान स्थिति का अनुमान अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से लगाया जा सकता है।

अनुसूचित बैंकों की स्थिति (करोड रुपयों मे)

वर्ष (अन्तिम शुक्रवार)	बैंकों की संख्या	निक्षेप (अन्तर बैंक जमाओं के अतिरिक्त)			कुल बैंक ऋण	ऋणों का कुल जमाओं से अनुपात
		माग	काल	कुल		
1960–61	89	719 72	1,026 34	1,746 06	1,319 54	75·6
1961–62	83	788 76	1,133 11	1,921 87	1,460·61	73·2
1962-63	79	867 11	1 175 14	2,042 26	1,588 01	77·8
1963–64	78	1,071 10	1,124 00	2,285 10	1,816 46	78·5
1964–65	76	1,239 35	1,343 95	2,583 30	2,033 70	78·7
1965–66	76,	1,426 86	1,522 97	2 949 8	2,088 14	77·6
1966-67	75	1,649 96	1,775 77	3 424 72	2,692 47	78·6
1967–68	73.	1,846 02	2,011 44	3,857·46	3,032 63	78 6
1968–69	73	1,922 34	2,406 70	4,329 04	3,369 66	77 8

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अनुसूचित बैंकों के कुल निक्षेप जो मार्च 1961 मे 1,746 06 करोड रुपये के थे, मार्च 1969 मे बढकर 4,329.04 करोड रुपये हो गये अर्थात् उनके निक्षेप इस काल मे लगभग ढाई गुने हो गये। अनुसूचित बकों द्वारा दिये गय ऋणों मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। उनके कुल ऋण जो मार्च 1961 मे 1319 54 करोड रुपये थे, मार्च 1969 मे बढकर 3369 66 करोड रुपये हो गये। इस काल मे कुल ऋणों मे 250 प्रतिशत वृद्धि हुई।

गैर अनुसूचित बैंकों की प्रगति तथा वर्तमान स्थिति निम्न तालिका से प्रकट होती है.

गैर अनुसूचित बकों को स्थित (करोड रुपयों मे)

वर्ष (अन्तिम शुक्रवार)	बैंकों की संख्या	निक्षेप			कुल वैंक ऋण	ऋणों का कुल निक्षेपों मे अनुपात
		माग	काल	कुल		
1960–61.	256	11 43	31 30	42 73	29 11	68·1
1961–62.	212	10·04	7 57	37 61	25 38	67·5
1962 63	211	.10 53	26 78	37 31	20 88	56 0
1963–64	183	9 49	20 96	30 45	20 20	66 3
1964–65	103	9 20	17 73	26 93	17 48	64 9
1965–66	33	8 13	15 69	23 82	14 14	59 4
1966–67	24	9 00	14 75	23 75	14 05	59·2
1967–68	19	10 07	15 09	25·16	14 21	56 5
1968–69 (जनवरी 1969)	17	10 54	16 07	26 61	13 07	49 1

उपर्युक्त आकडो से स्पष्ट है कि गैर-अनुसूचित बैंको की संख्या लगातार घट रही है। गैर-अनुसूचित बैंको की सख्या जो 1960–61 मे 256 थी, जनवरी 1969 मे घटकर 17 रह गई है। इसका मुख्य कारण बैंको मे एकीकरण की प्रवृत्ति है। इन बैंको के कुल निक्षेप जो 1960–61 मे 42.73 करोड रुपये थे जनवरी 1969 मे घट कर 29.61 करोड़ रुपये रह गये। इन बैंको के द्वारा दिये गये ऋण भी 1960–61 के 21.11 करोड़ के अक से घटकर जनवरी 1969 मे 13.07 करोड ही रह गये।

व्यापारिक बैंकों के दोष तथा कठिनाइया

(Defects and Difficulties of Commercial Banks)

हमारे देश की व्यापारिक बैंको के सगठन तथा क्रियाकलापो मे कई प्रकार के दोष पाये जाते हैं। उनके स्वस्थ तथा सतुलित भावी विकास के मार्ग मे कई प्रकार की कठिनाइया तथा अडचने है। व्यापारिक बैंको के मुख्य दोष तथा कठिनाइया निम्नलिखित है—

(1) बैंकिग संस्थाओ का असतुलित विकास (Imbalanced Development of Banking Institutions) : आयोजन काल मे भारतीय व्यापारिक बैंको का पर्याप्त विकास हुआ है परन्तु खेद का विषय है कि देश के विभिन्न क्षेत्रो मे बैंक सुविधाओ का विस्तार बडे असतुलित तथा असमान रूप से हुआ है। जहा केरल, गुजरात, मद्रास, मैसूर और पजाब आदि राज्यों मे बैंकिग सुविधाओ का विकास बडी तीव्रगति से हुआ, वहा दूसरी ओर उडीसा, असम, बिहार, कश्मीर, मध्यप्रदेश तथा राजस्थान आदि राज्यो मे बैंकिग विकास बहुत कम हुआ। ये राज्य तो पहल ही से बैंकिंग सुविधाओ की दृष्टि से पिछडे हुए थे। बैंको की शाखा विस्तार नीति इतनी दोषपूर्ण रही है कि बैंको ने बहुत सी शाखाये ऐसे स्थानो पर खोली जहा पहले से ही बैंकिंग सुविधायें उपलब्ध थी। इससे बैंको की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा मे ही वृद्धि हुई है।

(2) विनियोग की दोषपूर्ण नीति (Defective Investment Policy) : भारतीय व्यापारिक बैंको ने अपने विनियोगो का अधिकतर भाग सरकारी प्रतिभूतियो मे लगा रखा है जिससे उनके कोषो मे तरलता पर्याप्त मात्रा मे रहे। परन्तु इसका एक परिणाम यह हुआ है कि बैंको द्वारा बिलो तथा हुडियो के प्रति उदासीनता के कारण भारत मे एक सुसगठित बिल बाजार का विकास नही हो पाया है।

(3) अपर्याप्त पूँजी तथा कोष (Inadequate Capital and Reserves) : भारतीय व्यापारिक बैंकों की दत्त पूँजी तथा कोष उनके उत्तरदायित्व की तुलना मे बहुत कम है। परिणामत वे अपने कार्यकलाप अधिक उपयुक्त तथा मितव्ययी ढग से नही चला पाते।

(4) प्राथमिक क्षेत्रो को अपर्याप्त साख (Inadequate Credit to Priority Sectors) : भारतीय व्यापारिक बैंको ने कृषि, लघु उद्योगो तथा निर्यात के प्राथमि-

कता प्राप्त क्षेत्रों मे अपर्याप्त साख सहायता प्रदान की है। यह ठीक है कि कुछ समय पहले तक कृषि साख का उत्तरदायित्व सहकारी बैंको ना ही माना जाता था परन्तु फिर भी व्यापारिक बैंक सदा से ही लकीर के फकीर रहे हैं और देश के विकास की दृष्टि से प्रेरित न होकर सदा लाभ के परम्परागत दृष्टिकोण से ही कार्य क्षेत्रो का चयन करते रहे हैं। यही कारण है कि बैंको के राष्ट्रीयकरण की बढती माग के अनुरूप बैंको के सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत साख सहायता के क्षेत्र म बाह्य अनुशासन लागू कर बैंको को आवश्यक क्षेत्रो मे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है।

(5) अकुशल बैंकिंग सेवायें तथा कर्मचारी (Inefficient Banking Services and personnel) : भारतीय व्यापारिक बैंको द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवायें बडी अकुशल तथा असतोषजनक हैं। देश के जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे व्याप्त अकुशलता स बैंक भी अछूते नही रहे हैं। बैंको की कार्य प्रणालीया तथा रीतिया परम्परागत तथा प्राचीन हैं और नये युग के साथ उनमे बहुत कम परिवर्तन हुआ है। ग्राहको को भुगतान लेने के लिए काफी प्रतीक्षा करनी पडती है।

(6) बैंको का फेल होना (Bank Failures) : देश के समय समय पर बैंकिंग सकट के कारण बहुत से बैंक फेल हुए है जिसके फलस्वरूप बैंको मे जनता का पूर्ण विश्वास नही है। इसी कारण व्यापारिक बैंक जनता से निक्षेप प्राप्ति मे उतने सफल नही हो सके जितना उनसे आशा की जाती थी। 1960 मे पलाई सेन्ट्रल बैंक जो एक अनुसूचित बैंक था फेल हो गया और बैंक की आन्तरिक स्थिति का ज्ञान होते हुए भी रिजर्व बैंक ने अपने अधिकारो का प्रयोग नही किया। बैंको के फेल होने से बैंक व्यवस्था की दुर्बलता ही प्रकट होती है। यह अवश्य ही सान्त्वनादायक है कि 1960 के बाद बैंक फेल होने की कोई घटना नही हुई।

(7) बैंकों मे परस्पर प्रतिस्पर्धा (Competition among Banks) : बैंको मे परस्पर स्वस्थ प्रतिस्पर्धा स्वागत योग्य है क्योकि इससे बैंको की कार्यक्षमता बढती है परन्तु भारतीय व्यापारिक बैंक आपस मे अत्यधिक प्रतिस्पर्धा करते हैं। बैंको ने निक्षेप पर ब्याज दरो के सम्बन्ध मे समझौता किया था जो सिन्डीकेट बैंक की नीति के कारण चल नही सका। इसी कारण अब रिजर्व बैंक स्वय निक्षेप दरो को नियन्त्रित करने का विचार कर रहा है।

(8) बैंकों के लाभ तथा उत्पादकता मे कमी (Decline in Profitability and Productivity) : पिछले वर्षो म व्यापारिक बैंको की बढती लागतो तथा घटते प्रतिफलो के फलस्वरूप उनके लाभों तथा उत्पादकता मे अत्यधिक कमी आयी है। 1961--67 काल मे जहा अनुसूचित व्यापारिक बैंको के कार्य-व्ययो (Working

Expenses) म 35 8 प्रतिशत की वार्षिक औसत दर से वृद्धि हुई है वहा उनकी कुल आय म वृद्धि की दर 29 5 प्रतिशत ही रही है।

(9) विदेशी भाषा का प्रयोग (Use of foreign language) • बैंक अपने ग्राहको से प्रतिदिन म व्यवहार मे अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं जिसे देश की अधिकाश जनता नही समझती। इसस बैंक ग्राहको म एकाकार नही हो पाता और बैंक ग्राहक के सम्बन्ध खोखल रहत हैं।

भारतीय बैंक व्यवस्था क उपयु क्त दोष तथा कठिनाइया बैंको के विकास मे बाधा हैं और उन्ह दूर करना ही होगा।

व्यापारिक बैंको मे सुधार के उपाय
(Suggestions for Improvement in Commercial Banks)

व्यापारिक बैंको के सगठन तथा उनके द्वारा प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो को अपर्याप्त साख देन आदि दोषो का दूर करन क लिए के 1 फरवरी 1969 से बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था लागू की गई है जिसस सुधार की पर्याप्त आशा है। फिर भी व्यापारिक बैंक व्यवस्था मे सुधार के लिए निम्नलिखित दिशाओ म प्रयत्न किया जाना चाहिए •

(1) बैंकिग का तीव्रगति से सतुलित क्षत्रीय विकास हो (Speedy and balanced regional Development of Banking) बैंकिंग सुविधाओ के विकास का और भी अधिक तीव्र गति स आगे बढाना चाहिए। बैंको के विस्तार मे क्षेत्रीय असतुलन का दूर किया जाना चाहिए। उडीसा, बिहार, मध्य प्रदेश तथा राजस्थान एसे अविकसित राज्यो म बैंकिग शाखाओ क विस्तार को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। दो या दो से अधिक बैंको को मिलकर इन राज्यो के पिछडे क्षेत्रो मे सहायक बैंको का गठन करना चाहिए। कुछ विद्वानो ने बैंकिग विकास म क्षेत्रीय सतुलन बनाने क लिए बैंको को राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय बैंको मे वर्गीकृत करने का सुझाव दिया है।

(2) ग्रामीण क्षत्रो मे बैंकिग सुविधाओ का शीघ्र विकास (Early extension of banking facilities in rural areas) वैसे तो स्टेट बैंक की स्थापना, रिजर्व बैंक की शाखा विस्तार नीति तथा बैंको के सामाजिक नियन्त्रण के फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रो म शाखा विस्तार तथा कृषि क्षेत्र क लिए वित्त की व्यवस्था को पर्याप्त बल मिला है परन्तु इस दिशा म प्रगति की गति बडी धीमी है। यदि इसी मन्थर गति से ग्रामीण बैंकिंग विकास का विकास हुआ तो इसमे पचीसो वर्ष लग जायेंगे। अत ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंको की शाखाओ का तीव्र गति से विकास होना चाहिए। 'एक व्यक्ति शाखा, चलता बैंक' इत्यादि रीतियो से ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिग सुविधाओ का प्रारम्भ होना चाहिए। कुछ विद्वानो न द्वि बैंकिग पद्धति (Dual System

of Banking) एक ग्रामीण क्षेत्र तथा दूसरा नगरीय और औद्योगिक क्षेत्र के लिए—के विकास का सुझाव दिया है जिसकी सफलता म सदेह है। शायद इन दिशा म क्षेत्र—विकास दृष्टिकोण (Area Development Approach) अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सके जिसके अन्तगत एक बैंक को कुछ चुने हुए जिले निश्चित कर दिए जाते हैं जिनका विकास उसी बैंक का दायित्व होता है।

[3] कर्मचारियो की शिक्षा तथा प्रशिक्षण सुविधाओ का विस्तार) Expansion of Education and Tra ning of Banking personnel) बैंक कर्मचारियो की निपुणता बढाने के लिए उनकी शिक्षा तथा प्रशिक्षण सुविधाओ का विस्तार होना चाहिए। छोटे छोटे बैंको तथा सहकारी बैंको को मिलाकर देश म लगभग 20,000 बैंक अधिकारी हैं और बैंको म प्रतिवर्ष 2,000 नय अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं। परन्तु बैंकिंग सम्बन्धी वतमान प्रशिक्षण सस्थाओ की क्षमता केवल 1 650 व्यक्ति को प्रशिक्षण देने की है। आवश्यकता तथा पूर्ति के अन्तर को शीघ्र पाटा जाना चाहिए। हर्ष का विषय है कि रिजर्व बैंक द्वारा सितम्बर 1967 मे नियुक्त बैंकिंग उच्च कर्मचारियो के प्रशिक्षण तथा विकास पर बैंकिंग ग्रुप जिसके अध्यक्ष उप–गवर्नर श्री बी० एन० अदारकर थे, के द्वारा प्रस्तावित 'बैंक प्रबन्ध का राष्ट्रीय सस्थान' (The National Institute of Bank Management)–N I B M) की स्थापना कर दी गई है।

(4) बैंकिंग कार्य–प्रणाली मे सुधार हो (Improvement in Working Methods) : बैंको को अपनी काय प्रणाली मे आधुनिकतम विधियो का समावेश करना चाहिए। बैंकिंग रीतियो तथा व्यवहारो मे अनुसधान कर बैंको को नया खोजें (Innovations) करनी चाहिए। जहा तक सम्भव हो कुछ प्रक्रियाओ का यन्त्रीकरण भी करना चाहिए।

(5) भारतीय भाषा का प्रयोग (Use of National Languages) : जनता से निकट सम्पर्क स्थापित करने तथा अधिक से अधिक व्यक्तियो को बैंक की ओर आकर्षित करने के लिए बैंको का काय भारतीय भाषाओ में होना चाहिए। इस दिशा मे सबसे पहले ग्राहको द्वारा प्रयुक्त फार्मो, पास बुको इत्यादि को भारतीय भाषाओ म छापा जाना चाहिए।

(6) साख का उचित वितरण (Proper Distribution of Credit as between Regions and Sectors) बैंको द्वारा दी जाने वाली साख का वितरण इस प्रकार हो कि प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो जैसे कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात को

1 Report of Working Group on the Training and Development of Higher Banking Personnel under the chairmanship of Mr B N Adarkar, Deputy Governor, RBI, July 1968

पर्याप्त मात्रा म साख उपलब्ध हो सके । बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण का मुख्य रूप से यही उद्देश्य था । राष्ट्रीय साख परिषद् (National Credit Council) की स्थापना से अब यह आशा है कि व्यापारिक बैंको द्वारा साख का उचित तथा न्यायपूर्ण वितरण सम्भव हो सकेगा ।

(7) रिजर्व बैंक का अधिक प्रभावी नियन्त्रण (Effective Control of Reserve Bank over Banking System) : देश की बैंका के नेता के रूप मे रिजर्व बैंक को अपनी मौद्रिक नीति के क्रियान्वयन तथा बैंक व्यवस्था के प्रभावी नियन्त्रण के लिए अधिक सक्रिय होना चाहिए ।

व्यापारिक बैंकिंग की वर्तमान प्रवृत्तिया (Present Trends in Commercial Banking)

भारतीय व्यापारिक बैंक व्यवस्था पिछली दशाब्दी की तुलना मे अधिक सुदृढ तथा शक्तिशाली है । व्यापारिक बैंको की वर्तमान प्रवृत्तियो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं :

(1) निक्षेपों मे वृद्धि (Increase in Deposits) : स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बैंको के निक्षेपो म पर्याप्त वृद्धि हुई है । कुल बैंक निक्षेपो की राशि जो 19 0–51 म 880 6 करोड रुपये थी वह 1960 म बढकर 1855 करोड तथा 1968–69 म और बढकर लगभग 4450 करोड रुपये हो गई । पिछले कुछ वर्षों म बैंक निक्षेपो म वृद्धि का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है

बैंक निक्षेपो मे वृद्धि

(करोड रुपया मे)

वर्ष अन्तिम शुक्रवार	अनुसूचित बैंक		गैर अनुसूचित बैंक	
	माग	काल	माग	काल
1950–51	578 38	2/7 44		
1955–56	599 44	405 10		
1960–61	719 72	1,026 34	11 43	31 30
1965–66	1,426 86	1,522 97	8 13	15 69
1968–69[1]	1 954 51	2,460 91	10 54[2]	16 07[2]

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अनुसूचित बैंको के निक्षेपो मे तो लगातार वृद्धि हुई है, गैर–अनुसूचित बैंका के निक्षेपो मे कमी होती गई है यद्यपि 1968–69 मे थोडी सी वृद्धि हुई है । इसका कारण छोटे बैंको का बडे बैंको के साथ एकीकरण है ।

[1] Provisional

[2] Figures are for January 1969.

(2) ऋण तथा अग्रिमो में वृद्धि (Increase in Loans and Advances) गत वर्षो मे बैंको के ऋण तथा अग्रिमो मे भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। अनुसूचित बैंको द्वारा दी गई कुल साख मे वृद्धि निम्न तालिका से स्पष्ट है :

अनुसूचित बैंकों द्वारा दी गई कुल साख

(करोड रुपयो मे)

वर्ष	कुल साख (Total Bank Credit)	कुल साख का कुल निक्षपो से अनुपात
1950–51	458 90	53·6
1955–56	632 46	63 0
1960–61	1,319 54	75 57
1965–66	2,288 14	77 57
1968–69	3 369 66[1]	77 84[1]

उपर्युक्त आकडो के अनुसार अनुसूचित बैंको द्वारा दी गई कुल साख (ऋण, अग्रिम तथा विलो का क्रय और बट्टा) की राशि जो 1950–51 मे 458 90 करोड रुपये थी, 1968–69 मे बढकर 3369.66 करोड रुपये हो गई। इन्ही वर्षो मे साख–निक्षेपो का अनुपात भी 53.6 से बढकर 77.84 प्रतिशत हो गया।

(3) दत्त पूँजी तथा कोषो का निक्षेपो से अनुपात (Declining ratio of Paid-up Capital and Reserves to Deposits) · भारतीय व्यापारिक बैंको की दत्त पूजी तथा कोषो का निक्षेपो से अनुपात निरन्तर घट रहा है जो इस बात का परिचायक है कि बैंको म जनता का विश्वास अधिक दृढ होता जा रहा है।

भारतीय बैंको की दत्त पूँजी तथा कोषो का निक्षेपो से अनुपात निम्न तालिका से स्पष्ट है :

बैंको की पूँजी तथा कोषो का निक्षेपों से अनुपात

(प्रतिशत)

वर्ष	अनुसूचित बैंक	अन्य बैंक	कुल
1951	9	22	10
1956	7	16	7
1961	4	17	4
1966	4	15	4

1. Provisional.

उपर्युक्त प्रवृत्तियो के अतिरिक्त व्यापारिक बैंको का निरन्तर शाखा विस्तार हो रहा है। बैंको मे विलय आन्दोलन भी बैंकिग सगठन तथा ढाचे को अधिक सुदृढ बनाने मे योगदान कर रहा है। बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण योजना के कारण व्यापारिक बैंक अब प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात—को अधिक साख उपलब्ध करने मे क्रियाशील हो रहे हैं।

परीक्षा प्रश्न तथा उनके सकेत

(1) भारतीय बैंक व्यवस्था के मुख्य दोष क्या हैं? उसमे सुधार के सुझाव दीजिए।

[सकेत : प्रथम भाग मे भारतीय बैंक व्यवस्था के दोषो का विवेचन कीजिए। दूसरे भाग मे उसमे सुधार के लिए सुझाव दीजिए।]

बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण

(Social Control of Banks)

"The objective of social control as envisaged in India is to ensure, without actual take over of banks into pubic ownership, the achievement of those social ends that nationalisation could conceivably secure"

Deputy Governor, R B I

किसी भी देश मे उद्योग धन्धो के समुचित विकास हेतु अच्छी बैंक व्यवस्था का होना अत्यन्त आवश्यक है । अल्प विकसित देशो म तो पूजी अभाव के कारण इस बात की आवश्यकता और भी अधिक होती है । बैंक व्यवस्था के द्वारा देश के उपलब्ध साधनों को एकत्रित कर उनको उपयु क्त उद्योगो मे प्रयोग किया जा सकता है । इसी कारण देश के आर्थिक कलेवर मे उसकी उपयोगिता होती है । आर्थिक आयोजन के सदर्भ मे बैंक व्यवस्था कुशल होने के साथ साथ ऐसी होनी चाहिये ताकि आर्थिक व सामाजिक लक्ष्यो एव उद्देश्यो की पूर्ती हो सके । अत भारतीय बैंक व्यवस्था म व्याप्त दोषो तथा कमियो को यथा शीघ्र दूर किया जाना बडा आवश्यक है । भारत की बैंक व्यवस्था को सुधारने तथा उसे परिवर्तित परिस्थितियो के अनुकूल बनाने हेतु उठाये गये अनेक कदमो मे से एक कदम इस पर सामाजिक नियन्त्रण का भी है । यह स्मरणीय है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय बैंको के राष्ट्रीयकरण की बात उठी थी जिसने बाद मे काफी जोर भी पकडा था । चार अर्थशास्त्रियो द्वारा बैंको के कार्य की आलोचनाओ तथा भविष्य मे उनका राष्ट्रीयकरण करने के पक्ष मे एक रिपोट भी प्रकाशित की गई है । परन्तु कुछ राजनैतिक कारणो से तथा कुछ अन्य कठिनाईयो के कारण ऐसा सम्भव न हो सका ।

बैंको के राष्ट्रीयकरण का प्रश्न . बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे निम्न तक दिए जात हैं

1 बैंको द्वारा बडे-बडे व्यापारिक सगठनो को ऋण देकर असमानता का व्यवहार किया गया है और इनसे आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को बढावा मिला है ।

2 बैंको ने प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो [Priority Sectors) जैसे कृषि कार्यो, लघु उद्योगो, सहकारिता तथा नियात के लिये वित्त की पर्याप्त व्यवस्था नही की है, अत इनके साधनो का उपयोग पूर्णतया सही ढग से नही हुआ है ।

3 बैंको ने आर्थिक विकास के लिये निर्धारित की जानेवाली प्राथमिकताओ के अनुरूप ऋण की व्यवस्था नही की है।

4 ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंको ने अपनी सेवाओ का विस्तार अच्छे ढग से नही किया है, बैंको का कार्य क्षेत्र शहर तथा अर्द्ध-शहरी क्षेत्रो तक ही सीमित रहा है।

5. प्रजातान्त्रिक समाजवाद को ध्यान मे रखते हुये भी इनके राष्ट्रीयकरण को उचित समझा गया है।

6. बैंको के सचालक मडलो का गठन भी अनेक दृष्टियो से दोषपूर्ण रहा है, इनमे विभिन्न क्षेत्रो व हितो से सम्बन्धित व्यक्तियो का प्रतिनिधित्व भी ठीक से नही रहा है।

7. बैंको के द्वारा कई अवाछनीय कार्य किये जाते हैं। केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण के होते हुये भी इनके कार्य-कलापो म अनेक दोष सामने आते रहे हैं। बैंको की ऋण नीति बैंको के सचालको के हितो को ध्यान मे रखते हुये निर्धारित की जाती है तथा अधिकाश ऋण उन औद्योगिक इकाइयो को मिल पाते हैं जिनमे किसी न किसी रूप मे बैंक के सचालको का आर्थिक हित होता है। इसी प्रकार इन्होने ऋण एव बचत की दृष्टि से क्षेत्रीय भेदभाव किया है। इनके कार्यों से मुद्रा बाजार मे अस्वाभाविक प्रवृतिया पनपी हैं।

उपरोक्त तर्को मे से कतिपय को वास्तविक बताते हुये कुछ व्यक्तियो का कथन है कि बैंको के राष्ट्रीयकरण से देश की अर्थव्यवस्था को कठिनाईयो का सामना करना पड सकता है। उनके अनुसार राष्ट्रीयकरण की माग आर्थिक कारणो पर न की जाकर राजनैतिक विचारो से प्रभावित हुई दिखलाई पडती है। बैंक अगर अवाछनीय कार्य करते हैं तो उन पर ठीक नियन्त्रण की व्यवस्था नही है और व्यवस्था है भी तो उसका पालन नही किया जा रहा है। इसी प्रकार अगर उन्होने ग्रामीण क्षेत्रो म बैंकिंग सुविधाओ का विस्तार नही किया है अथवा कृषि, उद्योगो आदि का पर्याप्त साख प्रदान नही की है तो इन विपक्षियो का कहना है कि उनको उचित माग दर्शन नही मिला है। इस प्रकार ये कमिया ता कानून मे सशोधन कर नियन्त्रण को और कडा करके बिना राष्ट्रीयकरण क भी दूर की जा सकती है। राष्ट्रीयकरण से सरकार पर इनक प्रशासन सम्बन्धी व्यवस्था का भार भी पडेगा। सरकार स्टेट बैंक की प्रशासन व्यवस्था के लिये ही उचित व्यक्तियों की कठिनाई अनुभव करती है तो फिर सभी बैंको के राष्ट्रीयकरण से उत्पन्न समस्याओ का समाधान करना और भी कठिन होगा। 'आर्थिक दृष्टि से राष्ट्रीयकरण से सम्पूर्ण साख ढाँचा अव्यवस्थित हो जायगा तथा साख का सगठित से असगठित क्षेत्रो म हस्तान्तरण होगा इससे राजनैतिक दबाव अधिक बढेगे और साख प्रणाली का

व्यापारिक स्वरूप समाप्त हो जायेगा। प्रशासकीय दृष्टि से राष्ट्रीयकरण मे प्रतियोगिता के अभाव मे कुशलता चली जायेगी एव नियमो व लाल-फीताशाही मे वृद्धि होगी। वित्तीय दृष्टि से राष्ट्रीयकरण से क्षतिपूर्ति मे ही काफी साधन खप जायगे तथा विदेशी व्यापार व विदेशी सहायता पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगे।''[1] इन सभी बातो को ध्यान मे रखते हुये यह सही प्रतीत होता है कि स्वामित्व मे परिवतन लाने से पूर्व उनकी कार्यविधि मे परिवर्तन लाना अधिक आवश्यक है। कुछ मध्यम मार्ग अपनाकर ही बैंक व्यवस्था को सुधारा जाना चाहिये जिसस वर्तमान दोष दूर हो और बैंक आर्थिक प्रगति मे अपना अपेक्षित योगदान दे सकें। बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण इसी दिशा मे किया जाने वाला प्रयास है।

देश के आर्थिक ढाचे की बैंकिंग व्यवस्था महत्त्वपूर्ण कुंजी है। हमारा देश कृषि प्रधान है और कृषि की उन्नति पर ही हमारी आर्थिक प्रगति निर्भर है। देश मे मानव धन पर्याप्त है जिसका अनुकूलतम उपयोग आवश्यक है। निर्यात व्यापार का भी देश की अर्थव्यवस्था के लिये बहुत महत्त्व है। इन सभी क्षेत्रो की उन्नति के लिये आवश्यक है कि साख सुविधाओ को समय पर पर्याप्त मात्रा मे प्रदान किया जाय। भारत के व्यापारिक बैंकों ने कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात आदि को पर्याप्त मात्रा मे साख उपलब्ध नही की है और बैंक साख का अधिक भाग बडे और मध्यम श्रेणी क उद्योगो तक ही सिमित रहा है। कृषि क्षेत्र देश की राष्ट्रीय आय मे लगभग 50 प्रतिशत का योगदान करता है किन्तु उसे बैंक साख का केवल 0 2 प्रतिशत मिलता है। इसी प्रकार लघु उद्योग देश के औद्योगिक उत्पादन मे 35 प्रतिशत के लगभग योग देते हैं किन्तु उन्हे औद्योगिक साख का केवल 6 प्रतिशत मिलता है जबकि बडे उद्योग बैंक साख का 65 प्रतिशत प्रयाग करते हैं। इस सब का यह अभिप्राय नही है कि भारतीय अर्थव्यवस्था मे बडे उद्योगो का महत्व कम समझा जाय परन्तु आर्थिक विकास की दृष्टि को ध्यान मे रख कर देखे तो कृषि, लघु उद्योग तथा निर्यात भी महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं। राष्ट्रीय आय मे योगदान, रोजगार सम्बन्धी अवसरो को प्रदान करना, आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण आदि तत्वो के कारण वे सभी क्षेत्र महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। फिर बैंको की प्रबन्ध व्यवस्था मे व्यापारिक व औद्योगिक संस्थानो के प्रतिनिधियो का ही बाहुल्य है और साख सम्बन्धी निर्णयो मे छोटे उद्योगपतियो, कृषको आदि की कोई आवाज ही नही हैं। अतः बैंको के द्वारा दिये जाने वाले ऋणो का अधिक बडा भाग इन बडी संस्थाओ को ही पहुचता है और इनमे भी उनको जिनमे संचालको का आर्थिक हित होता है। इन सभी कारणो से सामाजिक नियन्त्रण को ठीक समझा गया है।

1. श्री एम. के मेहता "बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण" आर्थिक समीक्षा, 10 अप्रैल 1969, p, 14.

सामाजिक नियन्त्रण क्या है ?
(What is Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ है स्वामित्व म परिवर्तन किये बिना सामाजिक उद्देश्यो की पूर्ति हेतु बैंकिंग पद्धति का अतिरिक्त नियन्त्रण करना। अतिरिक्त नियन्त्रण इसलिये कि नियन्त्रण तो पहले से है ही पर उससे निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति नही हो सकी है। सामाजिक नियन्त्रण का अभिप्राय बैंकिंग साहस (Banking entrepreneurship) का विकास तथा बैंक प्रबन्ध का वैज्ञानिक ढग के पुनर्गठन से भी लिया गया है। स्टेट बैंक आफ इण्डिया के अध्यक्ष श्री आर. के. तलवार के अनुसार बैंको का सामाजिक नियन्त्रण देश के आर्थिक नियोजन की आवश्यकताओ का बैंक व्यवस्था से व्यावहारिक सम्बन्ध का साधन है जिससे बचत का सुन्दर सकलन तथा बैंक साख का सउद्देश्य वितरण सम्भव हो सके।[1] देना बैंक के अध्यक्ष श्री पी वी गान्धी के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण बैंकिंग सम्बन्धी विचारो तथा परम्पराओ, ऋण नीतियो, शाखा विस्तार, प्रबन्ध, प्रशिक्षण व अन्य क्षेत्रो मे होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तनो से सम्बन्धित बहुमुखी क्रान्ति की ही एक प्रक्रिया है।[2] स्वर्गीय श्री एन. एम चौकसी सामाजिक नियन्त्रण को एक ऐसा बैंकिंग सुधार मानते हैं ताकि बैंक व्यवस्था देश के आर्थिक विकास के अनुकूल हो सके।

बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण के निम्न उद्देश्य बतलाये गये हैं

(1) बैंक साख का अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रो म समुचित वितरण किया जाए अर्थात बैंको के द्वारा दिय जाने वाले ऋणो मे कृषि, लघु उद्योगो आदि क्षेत्रो को पर्याप्त राशि प्राप्त हो सके।

(2) बैंको की नीति तथा व्यवहार के द्वारा राज्य नीति के सामाजिक व आर्थिक उद्देश्यो को प्राप्त किया जाय जैसे प्रजातान्त्रिक समाजवाद का विकसित होना, पचवर्षीय योजनाओ का सफल होना, आदि।

---

1 Shri R K. Talwar chairman, State Bank of India, looks upon social control as a means of better alignment of the banking system to the needs of economic planning through a more purposeful distribution of credit & effective mobilisation of savings.

—Commerce, May 3 1969 p 866.

Shri P V Gandhi, Chairman of Dena Bank defines social control as "the process of a multipronged revolution signalising momentous changes in the fields of banking concepts and traditions, lending policies, branch expansion, management, personnel training & a host of other things"

—Commerce, May 3 1969 p, 866.

(3) बैंको के सचालक मडलो का व्यापक आधार पर गठन किया जाय तथा साख सम्बन्धी निर्णयो मे भी व्यापक प्रतिनिधित्व स्थापित किया जाय ।

(4) ग्रामीण क्षेत्र मे व्यापारिक बैंको का विस्तार, छोटे लोगो का अधिक साख सुविधा, निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित करना, साख सम्बन्धी असन्तुलनो को दूर करना आदि बातो की ओर ध्यान दिया जाय ।

(5) बैंकिंग व्यवस्था का समुचित अध्ययन करने हेतु एक बैंकिंग आयोग की नियुक्ति की जाय ।[1]

बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण की चर्चा सर्व प्रथम कांग्रेस दल न अपने 1966 से चुनाव घोषणा मे की थी। विचार विमश के पश्चात् सामाजिक नियन्त्रण के सम्बन्ध मे श्री मोरारजी देसाई ने भारतीय ससद मे 14 दिसम्बर 1967 को इसके लाभो को बतलाते हुये एक व्यक्तव्य दिया। 23 दिसम्बर 1967 को सामाजिक नियन्त्रण के लिये एक बिल, जिसे बैंकिंग कानून (सशधित) बिल 1967 कहा गया, ससद मे प्रस्तुत किया गया। जो 1968 मे पास हुआ। 1 फरवरी 1969 से इसे लागू किया गया है।

सामाजिक नियन्त्रण योजना की विशेषतायें

(Special Features of Social Control Scheme)

सामाजिक नियन्त्रण योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित व्यवस्थाय ह ।

1. राष्ट्रीय साख परिषद का गठन (National Credit Council) · सामाजिक नियन्त्रण की योजना मे राष्ट्रीय साख परिषद महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसे देश के लिये साख नीति निर्धारित करने हेतु निम्न ढग से गठित किया गया है।

1 अध्यक्ष, जो भारत सरकार के वित्त मन्त्री होंगे ।

1 उपाध्यक्ष, जो रिजर्व बैंक के गर्वनर होगे ।

3 स्थाई सदस्य, योजना आयोग के उपाध्यक्ष, वित्तमत्रालय के आर्थिक मामलो के विभाग क विशेष सचिव और कृषि पुनर्वित्त मण्डल के अध्यक्ष ।

20 अन्य सदस्य, जो व्यापारिक बैंक, सहकारी क्षेत्र, बडे, मध्यम तथा छोटे उद्योगो, कृषि व्यापार व व्यवसाय को प्रतिनिधित्व करने वाले होगे । इन सदस्यो का कार्यकाल अधिकतम तीन साल तक का रह सकता है ।

25 कुल सदस्यो की सख्या ।

1 श्री आर. जी सरैया की अध्यक्षता मे बैंकिंग आयाग नियुक्त कर दिया गया है जिसने माच 1969 से अपना कार्य शुरू कर दिया है। यह आयग अपना प्रतिवेदन 1970 के अन्त तक देगा ।

इस परिषद के निम्न कार्य हैं

1. निश्चित समयावधि के लिये विभिन्न क्षेत्रों मे बैंक साख सम्बन्धी मांग का अनुमान लगाना।

2. प्राथमिक क्षेत्रो विशेषतया कृषि, छोटे उद्योग व निर्यात, की आवश्यकताओ एव उपलब्ध साधनो को ध्यान मे रखते हुये विनियोग हेतु दिये जाने वाले ऋणो और अग्रिमो की प्राथमिकताओ को निश्चित करना। प्राथमिकताओ का निर्धारण करते समय परिषद उत्पादन क्षमता को वित्तीय सहायता का आधार मानेगी जबकि अब तक वास्तविक परिसम्पदा को आधार माना जाता रहा है।

3. उपलब्ध साधनो का अधिकतम अच्छे उपयोग हेतु विभिन्न व्यापारिक एवं सहकारी बैंको तथा अन्य विशिष्ट सस्थाओ द्वारा अपनायी जाने वाली ऋण व विनियोग नीतियो मे समन्वय स्थापित करना।

4. अन्य सम्बन्धित बातो पर विचार करना जो कि अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष द्वारा प्रस्तावित की जाय।

योजना के उद्देश्यो व राष्ट्रीय नीति के अनुकूल साख के उचित वितरण मे यह परिषद भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक को सहायता करेगी। परिषद की वर्ष मे कम से कम दो बार बैठक आवश्यक रूप से होगी। परिषद के निर्णयो के अनुसार बैंक कार्य करते हैं अथवा नही, इसकी देखा-भाली का कार्य रिजर्व बैंक के द्वारा होगा।

2. बैंकों के सचालक मंडल का पुनर्गठन (Reconstitution of Banks, Board of Directors) : व्यापारिक बैंको के सचालक मडलो का पुनर्गठन भी इस योजना के अन्तर्गत किया जायगा। यह इस ढग से होगा कि इन मण्डलो मे बहुमत ऐसे लोगो का हो जिन्हे हिसाब किताब, बैंक व्यवसाय, कृषि व ग्रामीण अर्थव्यवस्था सहकारिता, वित्त, लघुउद्योग अर्थशास्त्र व कानून का विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है। बैंको के सचालक मडल का सभापति पूर्ण-कालिक व्यक्ति ही होगा जिसकी नियुक्ति रिजर्व बैंक की अनुमति से पाच वर्ष तक की अवधि के लिये की जाएगी। सचालक मण्डलो के सभापति उद्योगपति नही हो सकेंगे, केवल व्यावसायिक बैंकर ही इस पद पर नियुक्त किये जा सकेंगे। यह इसलिये किया गया है जिससे प्रबन्धीय निर्णयो म बैंकिंग हित सर्वोपरी रह सकें। सचालको का बडे-बडे अथवा मध्यम स्तर के औद्योगिक या व्यापारिक सगठनो मे महत्वपूर्ण हित निहित नही होना चाहिए और नही उनसे मन्त्रिय सम्बन्ध ही।

3 विदेशी बैंकों के प्रबन्ध मडलो का पुनर्गठन – इसके के लिये अभी कोई व्यवस्था इस योजना के अन्तर्गत नही की गयी है। ये बैंक सलाहकार बोर्ड बना सकेंगे (जिनमे भारतीय सदस्य होगे) जिनके द्वारा राष्ट्रीय साख परिषद के निर्णयो की

जानकारी इन बैंको को दी जा सकेगी । तथा इन्ही बोर्डो की देखरेख मे ये बैंक अपनी ऋण नीतियो को निर्धारित करेंगे ।

4. केन्द्रीय बैंक का कडा नियन्त्रण (Stricter Control by Central Bank) . सामाजिक नियन्त्रण की योजना के अन्तर्गत व्यापारिक बैंको पर केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण को कडा करन की व्यवस्था है। अब तक जमाकर्त्ताओ के हितो को ध्यान मे रखकर ही रिजर्व बैंक को नियन्त्रण सम्बन्धी अधिकार प्रदान किये गये थे पर इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक मौद्रिक स्थिरता, आर्थिक वृद्धि, बैंको के साधनो का उचित विवरण आदि को ध्यान मे रखकर आदेश जारी कर सकता है । जैसा कि बताया जा चुका है सचालक मडलो के सभापति की नियुक्ति केन्द्रीय बैंक की अनुमति से ही होगी, उसको केन्द्रीय बैंक द्वारा अपदस्थ भी किया जा सकता है । बैंक के सचालक मण्डल मे केन्द्रीय बैंक पर्यवेक्षक भी नियुक्त कर सकता है । प्रस्तावित नियमो का उल्लघन करने पर केन्द्रीय बैंक सम्बन्धित बैंक को उचित दण्ड भी दे सकता है ।

5. अन्य व्यवस्थायें (Other provisions) : (i) बैंको के सचालको को तथा उन सस्थाओ को जिनमे इन सचालको का हित निहित हो किसी भी प्रकार के ऋण तथा अग्रिम देने पर कानूनी प्रतिबन्ध है । ऐसे वर्तमान ऋण करारो को इस कानून के लागू होने के 1 वर्ष की अवधि मे अर्थात् फरवरी 1970 तक वसूल (liquidate) किया जायगा ।

(ii) आवश्यकता पडने पर किसी बैंक को सरकार अपने नियन्त्रण मे ले सकती है परन्तु ऐसी परिस्थिति मे बैंक को मुआवजा देने की व्यवस्था है ।

बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण सम्बन्धी प्रगति
(Progress of Social Control on Banks)

यद्यपि सामाजिक नियन्त्रण सम्बन्धी कानून 1 फरवरी 1969 से लागू किया गया है पर यह कार्य वास्तव मे 1967 से ही शुरू हो गया जबकि इस सम्बन्ध का बिल ससद के समक्ष रखा गया था । 1968 मे हुई राष्ट्रीय साख परिषद की दो बैठको मे विभिन्न क्षेत्रो की साख माग का अनुमान लगाया गया एव व्यापारिक बैंको द्वारा प्राथमिक क्षेत्रो को दिये जाने वाले ऋणो का लक्ष्य भी निर्धारित किया गया। इनमे मिली सफलता की जाच के लिये रिजर्व बैंक ने एक विशेष जाच समिति (Special Review Committee) नियुक्त की जिसने बताया कि सामाजिक नियन्त्रण काफी सफल रहा है । यह कहना उपयुक्त ही है कि :

"The banks have structured themselves to the new pattern of social control with such a facile grace that most of the goals set for them will be reached long before the appointed ime"

(1) राष्ट्रीय साख पर परिषद ने जुलाई 1968 से जून 1969 तक के लिये व्यापारिक बैंकों द्वारा कृषि और छोटे उद्योगों को दिये जाने वाले अतिरिक्त ऋण का लक्ष्य क्रमश 35 करोड तथा 60–70 करोड रुपयों का रखा था। परन्तु मार्च 1969 को समाप्त होने वाले नौ महिनों में ही 20 प्रमुख व्यापारिक बैंकों द्वारा अतिरिक्त साख सीमा 190 करोड रुपये के लगभग कृषि के लिये तथा 106 करोड रुपये के लगभग छोटे उद्योगों के लिये मञ्जूर कर दी गयी है जिससे लगता है कि निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति आसानी से हो जायगी।[1] अब व्यापारिक बैंकों की ऋण नीति का आधार "किस पर ऋण" (What You Lend against) की जगह किस लिये ऋण' (What you are Lending for) बन रहा है ताकि प्राथमिक क्षेत्रों को साख–सुविधा आसानी से पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध की जा सके।

(2) व्यापारिक बैंकों ने ग्रामीण क्षेत्रों म साख सुविधाओं को पहुँचाने के लिये शाखा विस्तार कार्य का भी अपनाया है। 1968 मे उनके द्वारा कुल 675 शाखायें खोली गयी (जिनमे से 488 अर्द्ध-शहरी व ग्रामीण केन्द्रों मे और उनमे से भी 364 के लगभग ऐसे क्षेत्रों मे जहा पहले कोई बैंक शाखा नहीं थी) जब कि 1967 मे कुल 405 तथा 1966 मे 479 शाखायें खोली गयी थी।[2] यह ध्यान रहे कि राष्ट्रीय साख परिषद की मार्च 1969 मे हुयी बैठक मे यह निश्चय किया गया कि 1970 तक उन सभी क्षेत्रो मे जो जनगणना रिपोर्ट के अनुसार 10000 से अधिक की आबादी वाले क्षेत्र है, किसी न किसी व्यापारिक बैंक की शाखा होनी चाहिए। व्यापारिक बैंकों न रिजर्व बैंक को आश्वासन दे दिया है कि यह लक्ष्य निर्धारित समय तक पूरा कर लिया जायगा।

(3) सचालकों और उनसे सम्बन्धित संस्थाओं को दिये गये ऋणों के लिये जो नियम बनाया गया है उसम भी सफलता मिली है। 16 प्रमुख भारतीय बैंकों के 1968 के दिसम्बर के अन्त तक के आकडों को देखने से पता चलता है कि इस तरह के ऋणों का प्रतिशत 10 1 की जगह 3 1 रह गया है। (यानि यह ऋण राशि 224 करोड रुपये से घटकर 78 करोड रुपये हो गई है) आशा है 1970 तक ये ऋण पूर्णतया समाप्त कर दिये जा सकेंगे।

(4) बैंकों के सचालक मडलो के पुनर्गठन का काय भी काफी सम्पन्न हुआ है। वे सभी बैंक जिनकी जमा 25 करोड रुपये से ऊपर है इस कार्य को नये कानून लागू होने से पूर्व ही कर चुके हैं। 13 विदेशी बैंकों ने सलाहकार बोर्डों का गठन कर दिया। इस प्रकार बैंकों की कुल जमा रकम का 90 प्रतिशत से भी

[1] Commerce May 3 1969 के आधार पर

[2]. Bank of India, Bulletin, May 1969 के आधार पर

कुछ अधिक रखने वाले बैंकों ने पुनर्गठन कार्य पूरा कर लिया है। जिन बैंकों की जमा रकम 10 से 25 करोड़ रुपये की है वे भी इस काम को करने लगे हैं और जो समयावधि (तीन साल की) दी गयी है इसमें पूरा कर लेंगे।

उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि सामाजिक नियन्त्रण का प्रारम्भ अच्छा हुआ है। इसी प्रकार प्रगति होती रही तो हमारा सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य पूर्ण हो सकेगा।

सामाजिक नियन्त्रण की आलोचना
(Criticism of Social Control)

कुछ व्यक्तियों ने सामाजिक नियन्त्रण व्यवस्था से निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति होने के सम्बन्ध मे शंका व्यक्त की है और इसलिये कुछ आलोचनाये भी की गयी हैं जिनमे से निम्न मुख्य है —

(1) विभिन्न क्षेत्रों के चुने हुये व्यक्तियों की बैंकों के संचालक मंडल मे नियुक्ति होने मात्र से ही बैंकों की कार्य-विधि मे आधारभूत परिवर्तन नहीं लाया जा सकता।

(2) सामाजिक नियन्त्रण योजना से स्पष्ट नहीं हो पाया है कि इसमे ग्रामीण महाजनों—साहुकारों को किस ढंग से नियन्त्रण मे लाया जाएगा। ये ग्रामीण वित्त के महत्वपूर्ण अंग है और अपने कार्यों से मुद्रा बाजार को प्रभावित करते हैं। इन्हे आयोजन के क्षेत्र से बाहर रखकर कुशल साख आयोजन की पद्धति कैसे चालू रखी जा सकती है ?

(3) बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण साख आयोजन की ओर अधूरा और आंशिक कदम है। "सामाजिक नियन्त्रण को उन तमाम वित्तीय एवं गैर वित्तीय संस्थाओं पर लागू करने की आवश्यकता है जो आर्थिक एवं सामाजिक नीतियों को कमजोर बनाती हैं और अस्वाभाविक प्रवृत्तियों का जन्म देती तथा बढाती हैं।"[1]

(4) कुछ लोगों के अनुसार राष्ट्रीय साख परिषद का गठन भी अनावश्यक रूप से किया गया है क्योंकि इसके सारे कार्य तो रिजर्व बैंक के द्वारा भी किये जा सकते हैं।

(5) कुछ लोगों के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण वास्तव मे राज्य नियन्त्रण ही है और यह औद्योगिक विकास के लिये घातक सिद्ध होगा क्योंकि इससे शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता बैंकों मे नहीं रहेगी। सामाजिक नियन्त्रण को पिछले दरवाजे से राष्ट्रीयकरण लाना भी बतलाया गया है।

---

1. पुरुषोत्तम पाण्डेय 'बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण सफल कैसे हो' योजना 21 अप्रैल 1968 p. 26

(6) इस योजना मे बडे और मध्यम स्तर के उद्योगो का अल्पमत मे प्रतिनिधित्व दिया गया है; साख वितरण सम्बन्धी जो असन्तुलन अब तक रहा है उसका इस प्रकार निवारण, दूसरा पलडा (कृषि सहकारिता, छोटे उद्योग आदि) भारी कर देने से नही होगा ।

सामाजिक नियन्त्रण से सम्भावित लाभ व इसको सफल बनाने वाले मुख्य तत्व :

कुल मिलाकर बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण योजना का स्वागत किया गया है। यह आशा व्यक्त की गयी है कि व्यापारिक बैंको सम्बन्धी कमियो का इससे निवारण हो सकेगा। तथा अर्थव्यवस्था के प्राथमिक क्षेत्रो की साख सम्बन्धी जरूरतो को पूरा किया जा सकेगा। लघु उद्योग, कृषि क्षेत्र व नये उपक्रमियो को अधिक साख प्राप्त होगी; ग्रामीण क्षेत्रो मे साख सुविधाये बढेंगी, निर्यात व्यापार प्रोत्साहित होगा तथा देश के असन्तुलित विकास को सुधारने मे सुविधा होगी। यह कल्पित स्वप्न वास्तविकता मे तभी परिणित हो सकेगा जब की यह योजना सफलता पूर्वक चले। इस योजना की सफलता दो बातो पर निर्भर करती है —प्रथम तो यह कि राष्ट्रीय साख परिषद तथा बैंको के सचालक मण्डलो मे विभिन्न क्षेत्रो का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रतिनिधि सही प्रकार से निर्देशन कार्य करे। यदि कृषि, सहकारिता और छोटे उद्योगो के प्रतिनिधित्व के नाम पर राजनैतिक लोग परिषद व मण्डलो मे प्रवेश पा जाते है तो कार्य सुचारु रूप से नही चल सकगा। द्वितीय केन्द्रीय बैंक को जो नियन्त्रण सम्बन्धो अतिरिक्त अधिकार दिये गये है उनका सही रूप मे पालन हो।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी–बगलौर अधिवेशन जुलाई 1969 मे फिर राष्ट्रीयकरण की माग :

जुलाई 1969 मे बगलौर मे हुए A I. C. C के अधिवेशन मे प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाधी के आर्थिक नीति विषयक नोट[1] मे बैंको का राष्ट्रीयकरण करने का सुझाव दिय गया है। उसमे कहा गया है : "There is great feeling in the country regarding the nationalisation of Private Commercial banks . Either we can consider the nationalisation of the top five or six banks or issue directions that the resources of banks should be reserved to a larger extent for public purposes." साथ ही व्यापारिक बैंको द्वारा सरकारी प्रतिभूतियो मे विनियोग (13 जून 1969 को 24·57 प्रतिशत) को 5 प्रतिशत बढाने का सुझाव दिया गया है जिससे सार्वजनिक क्षेत्र के लिए 200 करोड रुपये उपलब्ध हो सकेंगे। श्री० मोरारजी देसाई ने अपने

1 Text of P M s note on Bank Nationalisation . Times of India July 11, 1969

भाषण में सामाजिक नियन्त्रण का पक्ष लिया है। श्री चह्वाण ने राष्ट्रीय करण का समर्थन करते हुए कहा है कि "Social Control without nationalisation is not possible just as nationalisation without Social Control is the greatest fraud"

14 बड़े अनुसूचित बैंको का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of 14 Big Scheduled Banks)

बैंगलौर कांग्रेस महासमिति अधिवेशन मे पारित आर्थिक नीति विषयक प्रस्ताव के अनुरूप भारत सरकार ने 19 जुलाई, 1969 को एक अध्यादेश जारी कर 14 बडे अनुसूचित बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया। जिन बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया है उनके नाम हैं—सेन्ट्रल बैंक आफ इन्डिया, बैंक आफ इन्डिया, पंजाब नेशनल बैंक, बैंक आफ बड़ौदा, यूनाइटेड कमर्शियल बैंक, कनारा बैंक, यूनाइटेड बैंक आफ इन्डिया, देना बैंक सिंडीकेट बैंक, यूनियन बैंक आफ इन्डिया, इलाहाबाद बैंक, इन्डियन बैंक, बैंक आफ महाराष्ट्र तथा इन्डियन ओवरसीज बैंक। 50 करोड से अधिक जमा वाले बैंको का ही राष्ट्रीयकरण किया गया है। देश के बैंको मे जमा धन का कुल 75 प्रतिशत राष्ट्रीयकरण के अन्तर्गत आ जायेगा। अधिकृत घोषणा के अनुसार राष्ट्रीय प्राथमिकताओं व लक्ष्यों के अनुकूल अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए यह कदम उठाया गया है। प्रत्येक राष्ट्रीयकृत बैंक का आवश्यक स्वरूप नये निगम के रूप मे रक्खा जायगा। प्रत्येक ऐसे नये निगम की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त व्यक्ति करेगा, उसे कस्टोडियन (Custodian) कहा जायगा और वह नये बैंक के मुख्य कार्यकारी अधिकारी के रूप मे कार्य करेगा। बैंको के अध्यक्षों को ही उनका कस्टोडियन नियुक्त किया गया है।

प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने बैंको के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे 19 जुलाई 1969 को अपने रेडियो भाषण मे कहा कि बैंको के राष्ट्रीयकरण से सट्टे तथा अनुत्पादक कार्यों के लिए दिए जाने वाले ऋणों पर रोक लगेगी और देश की योजनाओं को क्रियान्वित करने तथा तीव्र गति से आर्थिक विकास मे सहायता मिलेगी।

अधिकाश राजनीतिक दलो तथा श्रमिक सघो और बैंक कर्मचारी सघो ने सरकार के इस निर्णय का स्वागत किया है।

बैंकिंग आयोग
(Banking Commission)

"The banking system is at present in the throes of momentous changes In the years to come it will have to make even more rapid strides both functionally and in terms of geographical coverage with a view to mobilising deposits from all parts of the country and directing the flow of credit to all needy regions and needy sectors It is hoped that the Banking Commission will evolve appropriate guidelines for the long term development of the banking system in the context of the objectives and requirements of planned economic growth."

बैंकों पर सामाजिक नियन्त्रण की योजना के अन्तर्गत बैंकों की कार्य प्रणाली में दीर्घगामी परिवर्तन किए गए जिससे बैंक देश के आर्थिक विकास के उद्देश्य की पूर्ति कर सकें। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है कि बैंक व्यवस्था का वर्तमान संगठन तथा ढांचा बैंकों के नये सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए कहां तक उपयुक्त है। इसीलिए दिसम्बर 1957 में बैंकिंग अधिनियम (संशोधन) विधेयक को लोक सभा में प्रस्तुत करते हुए उप-प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने बैंकिंग उद्योग के विकास से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन करने के लिए एक बैंकिंग आयोग (Banking Commission) की स्थापना का आश्वासन दिया था। उसी के फलस्वरूप जनवरी 1969 में सरकार ने आयोग की नियुक्ति की घोषणा की। आयोग ने 1 मार्च 1969 से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

आयोग के सदस्य (Composition of the Commission) : आयोग के अध्यक्ष श्री आर० जी० सरैया (R. G. Saraiya) हैं जो प्रसिद्ध व्यापारी तथा सहकारी बैंकर हैं। आयोग के अन्य सदस्य हैं :

श्री एन रामानन्द राव, प्रबन्ध सचालक, स्टेट बैंक आफ इण्डिया

प्रो० भवतोष दत्त, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री, तथा

श्री वी० जी० पेन्डारकर, प्रमुख सलाहकार, रिजर्व बैंक

आयोग का अध्ययन क्षेत्र (Commission's Terms of Reference) : आयोग के लिए निर्धारित अध्ययन क्षेत्र बड़ा विशद तथा विस्तृत है आयोग विशेष

रूप से बैंको के आकार, कार्यकलापों के क्षेत्र तथा फैलाव को दृष्टिगत रखते हुये व्यापारिक बैंक व्यवस्था के वर्तमान ढाचो की विस्तृत जाच करेगा, व्यापारिक बैंको के भौगोलिक तथा कार्यात्मक क्षेत्र के विस्तार के लिए सिफारिशे करेगा तथा बैंको की कार्य सम्बन्धी रीतियो तथा तरीकों मे सुधार करने तथा उन्हे आधुनिक बनाने के लिए सुझाव देगा।[1] आयोग सहकारी बैंको की क्रियाओ का सर्वेक्षण करेगा और व्यापारिक तथा सहकारी बैंको के समन्वित विकास के लिए सुझाव देगा। उसके साथ-साथ आयोग विभिन्न प्रकार की गैर-बैंकिंग वित्तीय सस्थाओ तथा स्वदेशी बैंकरो का भी अध्ययन करेगा तथा उनके व्यवस्थित विकास के उपाय सुझायगा। इस प्रकार आयोग "अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो तथा पक्षों की म्र र आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए देश के लिए एक विस्तृत तथा एकीकृत वित्तीय ढाचे का सुझाव देगा।[2]

आयोग के समक्ष विचारणीय प्रश्न (Issues before the Commission). वैसे तो बैंकिंग आयोग की नियुक्ति की माग बार बार होती रही है परन्तु इसकी नियुक्ति पिछले आयोग के 40 वर्ष व्यतीत होने के बाद हुई। भारतीय बैंक व्यवस्था के समक्ष महत्वपूर्ण समस्याए है और देश के आर्थिक विकास मे बैंको के योगदान को प्रभावी बनाने के लिए उनका समाधान आवश्यक है। अत: बैंकिंग आयोग को मुख्य रूप से निम्नलिखित समस्याओ तथा प्रश्नो पर विचार कर अपने सुझाव देने होगे :

(1) **बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण की नीति का मूल्याकन** [Objective assessment of the policy of social control over banks] : आयोग बैंको पर सामाजिक नियन्त्रण की योजना की प्रगति का मूल्याकन करेगा। Professonalisation of banking constitutes the core of social control और उस उद्देश्य के प्राप्ति मे सामाजिक नियन्त्रण की सफलता सदिग्ध है।

---

[1] Commission's terms of reference include "a comprehensive enquiry into the existing structure of the commercial banking system, having particular regard to size, dispersion and area of operation, the making of recommendations for extending the geographical and functional coverage of commercial banks as well as suggestions for improving and modernising their operating methods and procedures."

[2] Thus, the commission is to suggest a comprehensive and integrated financial structure for the entire country, keeping in view the requirements of the different regions and different sectors of the economy.

(2) ग्रामीण क्षेत्रो मे बैंकिंग विकास (Extension of Rural Banking) आयोग ग्रामीण क्षत्रा म बैंकिंग सुविधाओ क विस्तार की प्रगति तथा उसमे सुधार के सुझाव दगा।

(3) बैंक व्यवस्था पुनर्गठन तथा विलय आन्दोलन (Structural Reorganisation of Banking system and Merger Movement) - इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बैंक व्यवस्था के सगठन तथा ढाचे म परिवतन के प्रश्न पर भी विचार होगा। इस सम्बन्ध म द्वि बैंकिंग व्यवस्था (Dual System of Banking) तथा क्षेत्र विकास दृष्टिकोण (Area Development Approach) इत्यादि सुझावा पर विचार करेगा। बैंकिंग क ढाचे के पुनगठन के प्रश्न भी जुडा हुआ है।

(4) साख का वितरण (Diversification of Credit) बैंको द्व विभिन्न भौगोलिक क्षत्रो तथा कार्यो की दृष्टि से साख के वितरण का प्रश्न भी ब महत्वपूर्ण है। कृषि लघु उद्योग तथा निर्यात के प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो को सा पर्याप्त मात्रा म किस प्रकार उपलब्ध हो जिससे देश का आर्थिक विकास तजी से हो सक। बैंक इस दिशा म अधिक लागत तथा नई जोखिमो का सामना कैसे कर, आदि प्रश्नो पर आयोग विचार करगा।

उपर्युक्त प्रश्नो के अतिरिक्त आयोग बैंक व्यवस्था से सम्बंधित अनेक पक्षो पर विचार करेगा जैसे निक्षेप प्राप्ति (Deposit Mobilisation), शाखा विस्तार (Branch Expansion), सेवाओ मे सुधार तथा नवीनीकरण (Improvement and innovation in Services) श्रम सम्बन्ध (Staff Management Relation) बैंको तथा रिजव बैंक का सम्बन्ध (Appropriate Relationship between Banks and RBI), मौद्रिक नीति का क्रियान्वयन, मुद्रा बाजार का एकीकरण इत्यादि।

आशा है कि आयोग उपयुक्त सभी प्रश्नो का विशद विवेचन कर बैंक व्यवस्था को अधिक सुदृढ करने तथा आर्थिक विकास मे बैंको के योगदान को अधिक प्रभावी बनाने के लिए महत्वपूर्ण सुझाव देगा। आयोग अपना प्रतिवेदन दिसम्बर 1970 तक पेश करेगा।